आँखन देखी

(हरिशंकर परसाई : व्यक्तित्व एवं कृतित्व)

सम्पादक

कमला प्रसाद

सम्पादन सहयोग

मलय

कपिलकुमार तिवारी

दूर-दूर तक फैले परसाई के पाठकों,
संघर्ष-सहयोगी साथियों,
और
उस अवाम के लिए, जो उनकी
रचनाओं से व्यवस्था में बदलाव के
लिए उत्तेजित होती है।

क्रम

आँखन देखी

व्यक्तित्व की पड़ताल

विश्लेषण

आँखन देखी

वाणी ने पाये प्राणदान

1

छूटने लगे अविरल गति से
जब परसाई के व्यंग-वाण
सरपट भागे तब धर्मध्वजी
दुष्टो के कम्पित हुए प्राण

2

धृतराष्ट्र दुखी होगे, नकली
भीमो का होगा अ-कल्याण
सदियो तक कुन्द नही होगे
गुरु परसाई के वचन-वाण

3

बहुजन-हित-व्रत की आँचो मे
यह शिल्प पगा, ये तीर ढले
परसाई वाली पीढी के
युगजीत चले, प्रणवीर चले

4

सूखी कलाइयो मे किसने
कब राखी बाँधी थी इनके
क्या और किसी ने मारे है
जन-युग के दुश्मन गिन-गिन के

5

रवि की प्रतिमा को नमस्कार
शनि की प्रतिमा को नमस्कार
वक्रोक्ति-विशारद, महासिद्ध
हरि की गरिमा को नमस्कार

6

यह निर्वाचन, यह कर्मकाड
यह माई जी, ये यत्र-मत्र
घट रही आयु, फट रहा पेट
अद्भुत है अपना प्रजातत्र

7

खारे जल वाले सागर का
गगाजल से कर लूं तर्पण ?
स्वीकार करो जन वाणी का,
युग की निवेदिता का अर्पण !

8

सौ वर्ष किये पूरे तुमने
सघर्षशील तरुणाई मे
देखी न गयी अनबन तुमसे
अपनो मे भाई-भाई मे

9

नेता जी टेढी मे बोले—
'परसाई को पढते किसान'
मैंने जोडा—'जी हाँ, फिर से
वाणी ने पाये प्राण दान'

10

छूटने लगे अविरल गति मे
जब परसाई के व्यग-बाण
सरपट भागे तब धर्मध्वजी
दुष्टो के कम्पित हुए प्राण।

—नागार्जुन

कागज में लिखे जाने का अर्थ··?

एक मेरा दोस्त है—जो पहले राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ से सम्बद्ध रहा है। इतनी गहरी सम्बद्धता कि उनकी अतरग समिति का सदस्य और 'बौद्धिक' के लिए शिक्षक तक नियुक्त किया जा चुका था। उसने बताया कि एक दिन 'बौद्धिक' के बीच एक राष्ट्रीय स्तर के सघ प्रचारक ने कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि 'काश्मीर से कन्याकुमारी, अटल से कटक तक, यह जो विशाल भारत याने कि अपना देश दिखाई देता है—इसके लिए हमारी लाखो पीढियो के बलिदान लगे है। हमारे स्वार्थी तथा अनुशासित न रहने से हमे विभिन्न जातियो ने गुलाम बनाया, लेकिन एक दिन सभी परास्त हुए। अब कोई एक है कुछ लिखना-विखता है—हरिशकर परसाई। लिखना चाहिए, पर लगता है—उसकी सारी दुश्मनी धर्म और सस्कृति से ही है—लेकिन हमारे पुरातन काल से चले आ रहे इस हिन्दू प्रवाह को यह परसाई रोक सकेगा क्या ? नही ! फिर हमे उसकी चिन्ता करना नहीं।' दोस्त के द्वारा सुनी सघ की परसाई के बारे मे प्रतिक्रिया मुझे याद हो गई है। यही नही, बडे-बडे लेखको, बुद्धिजीवियो और आम आदमियो मे से कोई भी जब परसाई के लेखन या व्यक्तिगत जीवन पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है—तो मैं उसे ध्यान से सुनता और प्रतिक्रिया के चरित्र की जाँच करता हूँ। हजारो ऐसी स्मृतियाँ अब चेतना मे गुँथ गयी है। अभी जब राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ की प्रतिक्रिया मेरे चेतन मे उभरी तो उसके साथ ही मध्य प्रदेश राज्य परिवहन के एक ड्राइवर की भी याद आ गयी। बस मे यात्रा कर रहा था। एक स्टैण्ड मे वह नीचे उतरा और बुक स्टाल से साप्ताहिक अखबार खरीद लाया। बार-बार पलटने के बाद एक झटके से पिछली सीट पर पटकते हुए बोला, 'सोचा था कि परसाई का कुछ होगा—इसमे। पैसा बेकार चला गया साला।' मैं उसके पीछे ही बैठा था। मैंने उससे कहा, 'यह तो ब्लिट्ज है, परसाई जी तो 'करट' मे लिखते है।' उसने कहा, 'इसी तरह का अखबार तो होता है—जिसमे लिखते है। मैं क्या जानूँ कि यह वह नही है।' मै उसे दोनो अखबारो के अलग होने के बारे मे बताता रहा। उसने माना कि अखबार का नाम याद रखना चाहिए था।

दोनो प्रतिक्रियाएँ एक साथ मुझे क्यो याद आई ? राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और बस ड्राइवर—क्या सम्बन्ध है ? यह न तो सपने की स्मृति है और न बेहोशी की। यह उस समय की याद है, जब मै सचेष्ट होकर परसाई पर दो शब्द

लिखना चाहता हूँ—पूरे मानसिक केन्द्रीकरण के साथ। तब क्या बात है—इस अन्तर्विरोधी स्मृति की ? इसका वैज्ञानिक कारण खोजना होगा। मुझे लगता है कि यह परसाई के व्यक्तित्व से साक्षात्कार है। उन्हे भी लिखते समय ये विरोधी स्मृतियाँ झकझोरती होंगी। उनकी स्मृतियों की घटनायें और चित्र अलग होंगे पर—चरित्र के रूप म कोई फर्क नही होगा। लेखक की रचना प्रक्रिया से यह मेरा पाठकीय तदाकार है। परसाई के समूचे लेखन से बना मानसिक व्यक्तित्व जब भी उभरेगा—ये प्रतिक्रियाएं उभरेंगी। कौन नही जानता कि परसाई ने अपने लेखन की शुरुआत रचना शास्त्रीय सवालो से उलझकर नही की—उन्होंने जीवन के अह प्रश्नो के बीच अपने आपको फेंककर, उनसे टकराकर अपन रचनात्मक व्यक्तित्व का सर्जन किया है। प्रश्नो और खुद के सस्कारो के सघष मे समस्याएँ सुलझी है। उनसे एक फक्कड, सघर्षजीवी, चौकन्ना, दृढ और परिवर्तनकामी व्यक्ति रच गया है। वे समस्याएँ और प्रश्न क्या है—? निश्चय ही उस ड्राइवर ने अपने प्रश्न और समस्याएँ परसाई के लेखन मे प्राप्त की है—इसीलिए उसकी रुचि उनके लेखन के प्रति है। अखबार मे छपी *अन्य खबरो, दूसरे लेखकों की रचनाओ और आश्वासनो की ओर उसका* विश्वास नही है। अखबार का मतलब उसके लिए परसाई है—लेख या रचना का मतलब परसाई है, चाहे वह ब्लिट्ज हो या करट—! उसके लिए कागज म लिखे जान का अर्थ केवल परसाई न होता—तो वह हाथा लगे पसीने के पैसे से खरीदे अखबार के प्रति क्रोध प्रदर्शित न करता। उसका क्रोध हर उस अखबार की प्रति पर है, जिसमे परसाई नही हैं। वह नहीं जानता कि यह लेखन की कौनसी विधा है, उसे केवल इतना ज्ञान है कि इस लेखक म उसके वर्ग की पहचान है। वह व्यक्तिगत रूप से न उन्हे जानता और न लेखक उस ड्राइवर से परिचित है, परन्तु एसी कोई चीज है—जिसमे दोना की प्रक्रियायें एक हैं। दोनो प्रक्रियाओं मे इतना मेल कैसे हुआ ? क्या यह जन्मजात प्रतिभा की दन है ? कदापि नही। यह परसाई की अर्जित दक्षता है। उन्होंने इतिहास के सबक से कुछ चीजें जानी और कुछ अपने जमाने से जूझते हुए और कुछ दुनिया के उन जैसे लेखको—कबीर गोर्की, चेखव, प्रेमचद, निराला, लोर्का, ब्रेख्त आदि से। इन सबने उन्हे क्या सिखाया ? यह कि गरीब और अमीर अलग-अलग कौमे है, वर्ग हैं। उनके अलग-अलग सिद्धान्त, हित धर्म, कर्म, नीयत और लक्ष्य है। प्रभावी वर्ग अपने सिद्धान्त, हित, धर्म और लक्ष्य को दूसरे वर्ग के सिद्धान्त और हित छीन कर—उन्हे अपने भीतर समेटता रहा है। अपन भीतर उनके हितों के साथ नहीं, बल्कि उच्छिन्न कर। यह सोच कर कि उनकी आत्मा म लक्ष्य प्रभुवर्ग के हों और शरीर मे श्रम उनका। गरीब का शरीर इस योग्य बना रहे कि वह प्रभुवर्ग के काम आये। परसाई ने समाज के इस विभाजन को न केवल पहचाना—वरन् मजदूरो तथा गरीब किसानो क साथ घुलमिलकर अर्जित किया। अर्जन के ही दौरान उन्हे यह मालूम हो गया कि देश के सामन्त और

पूँजीपति एक साथ हैं। उन्होंने जान लिया कि अपने देश में बढ़ते हुए मजदूरों के संगठित प्रभाव के कारण सामन्ती-पूँजीवादी गठजोड़ की सांस्कृतिक उपज राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ है। यह उस वर्ग की प्रतीक संस्था है। परसाई जी ने लगातार इस संगठन के खिलाफ लिखा है। इसका कारण यही है कि वे साम्प्रदायिक एवं जातीय शक्तियों के खिलाफ संघर्ष के औजार के रूप में अपने लेखन का उपयोग करते रहे हैं। उनके लेखन का एक प्रभाव ड्राइवर की मानसिकता है और दूसरा बौद्धिक सभा में उद्बोधन। दोनों स्थितियों में गुस्से की झलक है। एक में ड्राइवर का गुस्सा है—उसके वर्गहितों में तदाकार परसाई के लेखन के बहाने प्रभुवर्ग के अखबारों में तथा दूसरे वर्ग का गुस्सा है – हिन्दू संस्कृति की साम्प्रदायिकता के खिलाफ, परसाई के प्रहार से उत्पन्न ह्रासशील पराजय की हीन ग्रंथि के कारण। इसी हीन ग्रंथि का परिणाम था—इस संगठन द्वारा परसाई को पीटना। राष्ट्र और संस्कृति के नाम पर अविवेकपूर्ण, अवैज्ञानिक तथा शारीरिक शक्ति के अबौद्धिक उपयोग (ठीक-ठीक नाम का उच्चारण भी नहीं कर सकते) पर आधारित इस संस्था का परसाई को मारने का फैसला उनकी समूची बुनावट को खोल देता है। दूसरी ओर परसाई के लिए यह विजय का क्षण था—लेखन की सार्थकता का क्षण। इसलिए कि लेखक पीटता है—सम्प्रदाय की समस्याओं को—कागज पर कलम से और अन्ततः वह, आत्मविश्वास और उसके साथी जीतते हैं। यह इतिहास ही मनुष्य की विजय का है। परसाई की मानसिकता में जब ड्राइवर का वर्ग (आम आदमी) उपस्थित होता है, तभी सम्प्रदायिक शक्तियाँ भी विरोध के लिए हाजिर होती हैं। यह चेतना की द्वन्द्वात्मकता है। लेखन में तनाव और शक्ति का स्रोत यही द्वन्द्व है। जब तक गरीबों का राज नहीं तब तक यह द्वन्द्व रहेगा। इसके अभाव में रचनाकार क्या होगा—परसाई के शब्दों में, "सवाल यह है कि लेखक अपने को आम जनता से जोड़ता है या नहीं? जोड़ता है तो वह हर सही जन-आन्दोलन में साथ देगा—वरना कमरे में बैठकर कविता लिखेगा—कि हम तो मर गये हैं, हम सुअर हैं, हमारी मरणतिथि यह है।" (वैष्णव की फिसलन—पृष्ठ 110) नई कवितावादियों में से बहुतों की निराशा का राज क्या है?

परसाई ने अपनी या अपने वर्ग की मरणतिथि नहीं खोजी। अलबत्ता पीटे जाने के बाद उनके हौसले और बुलन्द हुए। उन्होंने सोचा कि उनके लेखन की नोटिस ली जाने लगी है। दुश्मन विरोधी नोटिस तब लेता है—जब उसकी बदनामी फैल जाय, वर्ग शत्रु उस बदनामी में सचेत होकर सामना करने के लिए कुनबुलाने लगे। परसाई ने पिटाई के कारण को जाना और पीटने वालों को और चिढ़ाते हुए लिखा, 'पिटाई की सहानुभूति के सिलसिले में जो लोग आये, उनकी संख्या काफी होती थी। मैं उन्हें पान खिलाता था। जब पान का खर्च बहुत बढ़ गया, तो मैंने सोचा—पीटने वालों के पास जाऊँ और कहूँ—जब तुमने मेरे लिए इतना किया है, यश फैलाया है, तो कम-से-कम पान का खर्च दे

दो। चाहो तो एक बेंत और मार लो। लोग तो खरोंच लग जाय तो भी पान का खर्च ले लेते है।" (वैष्णव की फिसलन—पृष्ठ 84)

जाहिर है कि परसाई किसी आदमी की सज्ञा के बजाय—एक वर्गशक्ति है। इस वर्गशक्ति की शिक्षा—उसने गोर्की की तरह जिन्दगी से पायी। जिन्दगी उसके लिए सबसे बडा विश्वविद्यालय है। वह जिन्दगी के करीब गया तो वर्गबद्ध जिन्दगी की ताकत ने उसकी चेतना को फौलादी बना दिया। अवसरवादी शील-सकोच, कायरता और आतक के कारण आम तौर से लोग बहुत-सी जेन्यून प्रतिक्रियाओ की हत्या करते रहते हैं। ये प्रतिक्रियायें दस-पाँच भी एकत्र नही हो पाती खोपडी मे। कैसे आत्मसकल्प पैदा हो। बाह्य के आभ्यन्तरीकरण बगैर सकल्प का कोई प्रश्न ही नही। सकल्प अकेले नही होता—इसीलिए मुक्ति अकेले मे नही मिलती। रचनाकार के रूप मे परसाई के दो गहरे साथी हैं—कबीर और मुक्तिबोध। कबीर की अक्खडता को उन्होंने उसी तरह आत्मसात् किया है जैसे निराला ने तुलसीदास को किया था। कबीर उसके व्यक्तित्व मे लीन है। बार-बार वह हाजिर होता है। कई बार तनाव के क्षणो मे परसाई को कबीर की पक्तियाँ—"हम न मरिहै मरिहै ससारा" अथवा "जो घर जारै आपना, सो चलै हमारे साथ"—"सब कहते कागज की लेखी, मै कहता आँखिन की देखी" दुहराते हुए पाया है। इन पक्तियो को दुहराते हुए उनका चेहरा लाल होता है—शरीर मे तेज और अकड। कोई भी महसूस कर सकता है कि भीतर समाज के सबसे बडे दुश्मन से सघर्ष जारी है। परसाई ने "सुनो भाई साधो, कबिरा खडा बजार मे माटी कहे कुम्हार से" जैसे कालमो मे कबीर की विरासत को ही तो आगे बढाया है। वह कबीर ही था—जो दुश्मनो से लडने का साहस इसलिए पा सका क्योकि अपने से लड सका था। "मुझसे बुरा न कोय" कहते हुए कबीर अपनी रूढियो का तोडता-फोडता है तो परसाई अपने साथ पूरे वर्ग का आत्मालोचन करते है, "मै काफी बेहया हूँ × × मै पहुँचते ही आयोजकों के चेहरो, व्यवहार और आवभगत से हिसाब लगाना शुरू कर देता हूँ कि ये हूँ, अच्छे पैसे देगे या नही ? कभी ऐसा भी हुआ है कि ज्यादा आवभगत करने वालो ने रुपये मुझे कम दिये है। लेखक का शकालु मन है। शका न हो तो लेखक कैसा ? मगर वे भी लेखक है जिनके मन मे न शका उठती है न सवाल।" (अपनी-अपनी बीमारी—पृष्ठ 106-107) परसाई का आत्मसघर्ष और आत्मव्यग्य कबीर से एक कदम आगे है। परसाई की इस प्रक्रिया मे ऊपरी उस नैतिकता को बिल्कुल झकझोर दिया गया है, जिसका मानसिक प्रतिक्रियाओ से मेल नही। लोग ऊपर-ऊपर स्वागत करते है—भीतर घृणा, लडकी से प्यार करते है—बात चरित्र की करते है, पाप सोचते है—पुण्य बोलते है। बाहर और भीतर के बेमेल सम्बन्धो के कारण सोच और कर्म मे फर्क है। लोगो को आखो देखी बातो पर विश्वास नही। कर्म सोच से दूर है—इसलिए उसकी ठोस शक्ल नही। विच्छिन्न मन से रचा जाता समाज कैसे गतिशील होगा ? कबीर की ही भाँति परसाई का सघर्ष इस अतराल को

पाटने का है। मतलब किन्हीं आदमियों और घटनाओं का नहीं है। यह वर्ग शत्रुता का परिणाम है। वर्ग शत्रुता की पहचान परसाई की बेहद बारीक है। वे हमेशा सजग रहते हैं। मुक्तिबोध की तरह वे भी निरन्तर अपने चारों ओर दुश्मन का जाल देखते हैं। ट्रेन में चलते—सी० आई० ए०, संघ का सदस्य या किसी दुश्मन का एजेन्ट दिखता है, रिक्शे में बैठकर सोचते हैं कि कहीं दुश्मन ने इसे मिलाकर उल्टा देने के लिए षड्यन्त्र न किया हो—हर समय दुश्मन आँखों के सामने नाचता है। विशेषता यह है कि मुक्तिबोध और परसाई दोनों ने असुरक्षा की इस ग्रंथि को निजता से उबारकर रचनात्मक रूपान्तरण किया है। रचनात्मक रूपान्तरण न होता तो वर्ग दृष्टि ही क्या प्रामाणिक होती? तब की असुरक्षा की भावना निजी स्वार्थ से प्रेरित होती। दोनों लेखकों का वर्ग चरित्र और जिन्दगी के संघर्ष के आयाम लगभग मिलते-जुलते रहे हैं, इसीलिए दोनों अटूट दोस्त थे। दोनों में प्रवृत्तिगत पहचान एक साहित्यिक घटना है। परसाई ने इसका जिक्र किया है। उन्होंने लिखा है कि एक बार अज्ञेय ने थॉट पत्रिका में उनकी एक कहानी का अनुवाद अंग्रेजी में छापा। अज्ञेय उस समय किसी संभावना-पूर्ण लेखक को इसलिए छापते थे कि वह अपनी चेतना को सामाजिक चेतना से सम्बद्ध न करे। वह सामाजिक संघर्ष का लेखक न बने। व्यक्तिवादी लेखकों का गिरोह खड़ा करने के लिए 'कांग्रेस फार कल्चरल फ्रीडम' जैसे विश्व प्रतिक्रियावादी संगठन की ओर से उन्हें मदद मिलती थी। परसाई की कहानी को मुक्तिबोध ने पढ़ा और 'नया खून' के तीन कालमों में टिप्पणी लिखी कि थॉट और परसाई की स्प्रिट में अन्तर है। दोनों की राजनीति भिन्न है। परसाई की राजनीति उस समय निर्माण प्रक्रिया में थी। मार्क्सवादी विचारधारा जीवन-दर्शन के रूप में निर्धारित नहीं थी—इसीलिए अज्ञेय ने फँसाना चाहा। उसी समय पाञ्चजन्य ने भी एक फैन्टेसी को पौराणिक कहानी समझकर छाप दिया। मुक्तिबोध ने जब थॉट और परसाई का भेद किया, तो इसका संकेत है कि उन्होंने अपना दोस्त खोज लिया था। बाद में वह दोस्ती ऐतिहासिक हो गयी। दोनों एक ही काम करते थे—चेहरों को झाँक-झाँक देखना, उनकी आत्मा के इतिहासों का अनुसंधान और फिर उसे कला में प्रतिबिम्बित करना। मुक्तिबोध ऐसा करते चले गये—परसाई सक्रिय हैं। परसाई कबीर की तुलना में शोषकों के कायरपन, चालाकी, षड्यन्त्र को अधिक व्यापक रूप से जानते हैं। वे उनके बाद के इतिहास को आगे बढ़ाते हैं। इनको युग का सबसे विश्वसनीय दर्शन 'मार्क्सवाद' सुलभ है तथा मजदूरों का राज्य भी। इस मामले में वे मुक्तिबोध के साथ हैं।

बीसवीं शताब्दी का प्रामाणिक भारतीय इतिहास संवेदनात्मक तरीके से कम ही लिखा गया है। जो इतिहास हैं वे छोटी-छोटी मशाओं को पूरा करते हैं। उनमें जनता की विकासमान जिन्दा सच्चाई का अभाव है। मुझे लगता है कि प्रेमचन्द का पूरा साहित्य आजादी के पूर्व का और परसाई का लेखन आजादी के बाद का इतिहास पेश करता है। मिथ है कि वाल्मीकि ने राम की कथा और

उनके युग का इतिहास उनके युग मे ही लिखा था। युगपुरुष राम और जनता के कर्म तथा रिश्तों की सभावना वे पहले से ही व्यक्त कर देते थे घटनायें बाद में घटती थी। राम और वाल्मीकि के इस मिथ मे से सच्चाई मेरी समझ मे यह है कि जीवन व्यापार मे पूरे चौकन्नेपन के साथ रमा लेखक अपने युग का इतिहास तो लिख ही सकता है, उसका अनुमान भी कर सकता है। उसका अनुमान दार्शनिक नही रह जाता, वह सवेदनात्मक चित्रों से उभरता है। समय के इतिहास और कल्पनात्मक सभावनाओ के द्वन्द्व मे से वह फूट निकलता है। प्रेमचन्द और परसाई ने यही काम किया है। जो लोग इन लेखको मे निहित सभावना के आदर्श नही पहचानते, उन्हे रचनात्मक सौन्दर्यबोध का गहरे मे अनुशीलन करना चाहिए।

पिछले दिनो आपात काल मे लेखको की भूमिका पर काफी कुछ लिखा गया। किसी को प्रतिक्रियावादी या प्रगतिशील घोषित किया गया। जो मौन रहे वे वीर हो गये। अक्सर मौन लोग दो चार वर्षों मे वीर हो जाते हैं। समय के घर्षण मे से छनकर कोई चीज निकलती है, तो कहते हैं कि वे वैसा ही सोच रहे थे। रोज घटिया बातें करते है, बडे व्यापक वर्ग मे जोड की चिन्ता छोड कॉफी हाउस के ग्रुपो मे जीते हैं, जमा तो प्रकाशक बन जाते हैं और खुद की पुस्तकों का व्यापार करते हैं। लेखकीय मित्रता का लाभ अपनी पुस्तकें बिकवाने मे करते है, कभी-कभी किसी वामपथी पार्टी में शामिल हो जाते है, कभी बाहर आ जाते हैं, रोजमर्रा की जिन्दगी मे मायावी परिवेश को अपने खून-पसीने से सीचते हैं और दो चार वर्ष के मौन के बाद किसी सजग लेखक पर टूट पडते है। जमाने की लडाई मे वे हर क्षण शामिल नही होते। हर घटना पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने का साहस नही रखते। और जब किसी पर टूटते हैं तो हीन ग्रथि को उदात्तता प्रदान करते हैं। उनकी कायरता जितनी गहरी होती है—वीरता की उत्तेजनापूर्ण आवाज भी उतनी ही ऊँची। परसाई जी की आपातकाल की भूमिका पर एक वरिष्ठ लेखक ने ऐसी ही हरकत की। उनके किसी निबध या उद्धरण को लेकर यह सिद्ध किया कि परसाई का लेखन सत्ता-परस्त है। उन्हे ऐसा कहने का हक इसलिए मिला क्योंकि वे उन दिनो मौन थे। राजनीतिक उतार-चढाव का लाभ जिस जगह दिखा—वही अपने को आगे कर, जैसे पूरी लडाई के वे ही प्रमुख कारक है—बुलन्दी से बोल पडे। यहाँ विषयातर इसलिए नही कि मैं परसाई जी की कमजोरियो पर पर्दा डालूं, बल्कि यह कहना चाहता हूँ कि गलतियाँ वही करता है, जो काम करता है, सघर्ष मे भाग लेता है, हर घटना के प्रति राय व्यक्त करता है, और निरन्तर चौकन्ना रहता है। इतिहास की लडाई मे अलग-थलग कभी कोई अच्छा काम नही करते, कभी गलती नही करते और मौन रस लूटते हैं। मौन रस वस्तुत तटस्थता अथवा यथास्थिति का पर्याय है। जो समय मौन रहकर खोया गया है, वह वापस नही आता। जो सघर्ष म लुढकता-घिसटता आगे बढता रहा है—वही गलतियो से सीख सघर्ष की धार

तेज करता है। उन्हे देखना चाहिए कि जनता के उस लेखक ने व्यवस्था के विरोध मे जो चिनगारी पैदा की है, वह अपना काम करेगी। परसाई की भूमिका निरन्तर विपक्ष मे रही है जनता के साथ। सत्ता मे परिवर्तन होता रहे—समाज के मूलशत्रु को उन्होने सदैव घसीटा है। इसकी कीमत उन्हे चुकानी पड़ी है। उन्होंने आपातकाल के आगे-पीछे भी इतिहास को देखा है। उनका लक्ष्य लेखकीय औकात के भीतर रहा है। मसलन, "लेखन के बारे मे मुझे गलतफहमी नहीं है, अनुभव ने सिखाया है कि लेखक का अहकार व्यर्थ है, हम कोई युग-प्रवर्तक नही हैं, हम छोटे-छोटे लोग हैं, हमारे प्रयास छोटे-छोटे हैं, हम कुल इतना कर सकते हैं कि जिस देश, समाज और विश्व के हम हैं और जिनमे हमारा सरोकार है, उनके उस सघर्ष मे भागीदार हों, जिससे बेहतर व्यवस्था और बेहतर इसान पैदा हों।" (माटी कहे कुम्हार से—पृष्ठ 6)। यहाँ परसाई की विनम्रता नही, यह विश्वास है कि क्रांति अन्तत सगठन या पार्टी ही करती है। लेखक केवल मानसिकता के निर्माण मे भूमिका अदा करता है। मानसिकता के निर्माण और यथास्थिति के रूपान्तरण मे वह आत्मसघर्ष और जनसघर्ष की द्वन्द्वात्मकता से गुजरता है। यह लेखक श्रमिकों के बीच से आया है, या पूरी तरह उनके वर्ग में लीन हो गया है, सघर्ष मे उनके साथ नागरिक की तरह सक्रिय है, तो उसकी रचना प्रक्रिया अधिक सार्थक, विश्वसनीय और दूरगामी होती है।

हरिशकर परसाई ने रचनाकार के रूप मे व्यग्य का सहारा लिया है। व्यग्य वस्तुत कथन की प्रकृति है, कथ्य की नही। कथ्य तो हर रचना मे चयन की प्राथमिकता और वर्ग रुचि के अनुरूप होता है। उसे रचना के रूप मे आकृति देने के लिए कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास या निबधों का सहारा लिया जाता है। व्यग्य तो विधा भी नही है। जैसे हास्य विधा नही उसी तरह व्यग्य भी। परसाई ने विधा के रूप मे कहानी, उपन्यास या निबध लिखे हैं। इनमे कथन की प्रकृति व्यग्य है, जो इतनी धारदार, पैनी, उत्तेजक तथा कायाकल्प करती है कि वह रचना के रूप के ऊपर मँडराती है। उसके मारक प्रभाव के कारण व्यग्य ढाँचे के रूप म याद रह जाता है। जैसे किसी की रूप-चकाचौध याद रह जाय—चरित्र भूल जाय। चरित्र के भूलने की गलती ज्यादातर वे करते है—जो उसे पहचानना नही चाहते।

चरित्र भूलने का ही प्रमाण है कि कथ्य के रूप मे उल्टे-सीधे प्रभाव स्वीकार कर लिए जाते हैं। कोई उन्ह मजाकिया, कोई रचित पात्र में अपना अक्स देखकर उनकी निजी बदनामी करने वाला कोई अगम्भीर लेखक, कोई अनैतिक, शिष्ट हास्य करने मे असमर्थ कहता है। प्रश्न है कि परसाई लेखक के नाते क्या उन सबके लिए लिखते हैं—जिनकी अर्थ ग्राहिका शक्ति इतनी कमजोर है। वे कहते है, "जीवन के प्रति व्यग्यकार की उतनी ही निष्ठा होती है, जितनी गम्भीर रचनाकार की—बल्कि ज्यादा ही, वह जीवन के प्रति दायित्व का अनुभव करता है।" (सदाचार की तावीज—पृष्ठ 8) वे और आगे लिखते हैं कि

वे सुधारवादी नही, परिवर्तनकामी लेखक हैं । "कोई सुधर जाये तो मुझे क्या एतराज है। वैसे मैं सुधार के लिए नही बदलने के लिए लिखना चाहता हूँ। याने कोशिश करता हूँ। चेतना मे हलचल हो जाए, कोई विसगति नजर के सामने आ जाये।" (वही—पृष्ठ 9) आशय यह है कि परसाई जी के व्यग्य का लक्ष्य परिवर्तन है। सामाजिक अनुपात बिगड जाने के कारण विसगति को उभारने तथा अनुपात ठीक करने का लक्ष्य होता है । यह लक्ष्य सीधा और सपाट होता तो अखबारी रपट हो जाती। इसकी एवज मे परसाई फैन्टसी का सहारा लेते हैं। कही वह बडी तथा कही छोटी होती है। 'रानी नागफनी की कहानी' की फैन्टसी अपेक्षाकृत बडी है। 'निठल्ले की डायरी' मे एक बडी फैन्टसी को छोटे-छोटे छह खण्डो मे विभक्त कर दिया गया है । उस कृति मे लेखक कथा-साहित्य के क्षेत्र मे बिल्कुल नया प्रयोग करता है। प्रत्यक्षत विभक्त 'निठल्ले का दर्शन', 'शिवशकर का केस', 'राम भरोसे का इलाज', 'युग की पीडा का सामना', 'राष्ट्र का नया बोध' तथा 'प्रेमी के साथ सफर'—रचनाएं मिलकर एक उपन्यास का आकार देती हैं। इससे आत्मकथा जैसा रचनात्मक सुख भी मिलता है। रचना की पहली इकाई का पात्र जगन्नाथ बाबा के बहाने लेखकीय चिन्तन का एक नमूना है कि, "गीता न कृष्ण ने कही न व्यास ने लिखी। गीता को फेडरेशन आफ इडियन चेम्बर आफ कामर्स एण्ड इडस्ट्रीज के अध्यक्ष न लिखा है या पैसा देकर लिखवाया है। प्रमाण मुझे मिल गया है। गीता मे लिखा है, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन' अर्थात् तुम्हारे अधिकार मे सिर्फ काम करना है, तुम फल की इच्छा मत करो। हे मजदूरो, भगवान का आदेश है कि काम करते जाओ तनख्वाह मत माँगो।" (निठल्ले की डायरी—पृष्ठ 10) परसाई के लेखन मे फैन्टसी के मूल चरित्र को समझते हुए व्यग्य की करवट के साथ लक्ष्य तक जाना सभव है। जो ऐसा करते हैं, उनमे प्रभाव बकौल यशपाल, "तुम्हारी लेखनी महान है, जिसे पढकर लोग तिलमिला जाते हैं और लाठी उठा लेते है।"

प्रेमचन्द के बाद परसाई हिन्दी म पाठको के लिए सबसे सम्पन्न लेखक हैं। बहुप्रचारित अखबारो, पत्रिकाओ और नियमित कॉलमो मे वे सप्ताह मे लगभग चार-पाँच लेख लिखते है, पर उनके पाठको की सख्या निरतर बढती जाती है। अज्ञेय, निर्मल वर्मा, जैनेन्द्र के पाठक घट रहे हैं, बच्चन और नीरज फीके पड रहे हैं—पर परसाई की माँग मे लगातार इजाफा। कारण, आम आदमी मे अपने वर्ग चरित्र के प्रति सतर्कता है। किसान-मजदूरो की राजनीतिक समझ बढी है और वे भाग्य, धर्म और बूर्ज्वा जनतत्र के रहस्य को जान गये हैं। इसी वर्ग के बीच, जिसका सबूत वह ड्राइवर है, परसाई के पाठक बढे है।

ताज्जुब है कि विश्वविद्यालयीन साहित्य के व्याख्याकारो ने इस लेखक के क्लैसिक को नही पहचाना। यह काम जब मैने हाथो मे लिया, तो नये लोगो ने उत्साहित किया। अनेक तथाकथित प्रतिष्ठित लेखको के पास परसाई जी की पुस्तकें खरीद-खरीदकर भेजी, उनमे से कुछ ने लिखा, कुछ पुस्तकें दबाकर

बैठ गये। उत्तर देना बन्द। हमारी चेष्टा थी कि ऐसे लोकप्रिय लेखक के विषय मे उन लेखको से भी लिखवाया जाय जो उनकी विचारधारा से मेल नही खाते। देखें कि उनको कौन-सी बुराई दिखती है। कई लोगों ने लिखा और बहुतो ने रुचि नही दिखाई। पूरी योजना मे नये लेखको ने मुझे लगता है कि प्रतिष्ठितो की तुलना मे गभीरता से लिखा है। इसे समग्र मूल्याकन नही कहा जा सकता। इतना ही दावा है कि एक शुरुआत की जा रही है। इससे शायद कुछ और तरह से सोचने का काम शुरू हो।

—कमला प्रसाद

व्यक्तित्व की पड़ताल

वक्तव्य

सार्त्र की मृत्यु के बाद देख रहा हूँ, उसके प्रशसको मे सार्त्र के बारे मे कोई खास उत्साह नही है। वे कामचलाऊ टिप्पणियाँ लिख रहे है—बेमन से। कुछ ऐसा कि था हमारी जाति का मगर बाद मे बिटर गया। चाडाल हो गया। जब वह चेतना की समस्या की बात करता था, व्यक्ति की स्वतत्रता और उसके चुनने के अधिकार की बात करता था, आध्यात्मिक मूल्यो की बात करता था, तब अच्छा था। चैतन्यवादी जैसा लगता था, तब अच्छा था। गो तब भी सार्त्र चैतन्यवादी नही था। मगर बाद मे उसने स्पष्ट घोषित ही कर दिया कि मैं मार्क्सवादी हूँ। दुनिया के अरबो भूखो और करोडो पददलित गुलामो की तरफ से बोलने-लडने लगा। *लेखको को ललकारने लगा कि आखिर तुम किनके लिए लिखते* हो ? तुम इने-गिने उच्चवर्गियो के विलास के लिए क्यो लिखते हो ?

सार्त्र जब रहस्यात्मक बोलता था, तभी इन प्रशसको को अच्छा लगता था। है भी और नही भी है। सबसे बडा अधिकार चुनने का अधिकार है—चुनने का का अधिकार अभिशाप है। स्वतत्रता से बडा मूल्य नही है—कोई भी पूरी तरह स्वतत्र नही है। मगर जब दुर्घटना हो ही गई सार्त्र मार्क्सवादी हो गया, तो इसे स्वीकार करना ही पडेगा।

मगर थोडा नाम करना पडेगा—'आपरेशन सापटनेस'। कहा जा रहा है —सार्त्र मनुष्य के लिए केवल रोटी, कपडा, मकान, चिकित्सा ही नही चाहता था। मनुष्य केवल इनसे सुखी नही हो सकता। उसे चाहिए—प्रेम, बधुत्व, मानवी सबध। सार्त्र ये भी चाहता था। मुझे कोई मार्क्सवादी ऐसा नही मिला जो प्रेम, मानवी सबध, बधुत्व नही चाहता हो। ऐसा कोई हो तो वह झूठा मार्क्सवादी है। मगर जब ये 'क्षमाप्रार्थी' बुद्धिजीवी रोटी और मानवीयता को एक-दूसरे के विरुद्ध खडा करते है तब वे यह स्थापित करना चाहते हैं कि मार्क्सवाद के अनुसार स्थापित समाजवादी व्यवस्था मे रोटी चाहे हो पर मानवीयता नही है, प्रेम नही है उदात्त मानवी भावनाएँ नही है। यानी ये चीजें पूँजीवादी व्यवस्था मे ही होती है और मनुष्य इनसे ही सुखी होता है। अस्तित्व का अर्थ पाता है। ये उस मनुष्य के प्रवक्ता है जिसे दूसरे की रोटी छीनने से केक मिलती है और जो केक खाकर कहता है—मेन लिव्ज नाट बाई ब्रेड एलोन। असल चीजें है—प्रेम, मानव बधुत्व, मानव गरिमा, उदात्त मानवीयता, जो मैं निभा रहा हूँ। मैंन इन बुद्धिवादियो को 'क्षमाप्रार्थी' इसलिए कहा कि सार्त्र की तरफ से ये उसके मार्क्सवादी हो जाने के लिए क्षमा माँगते है।

—हरिशकर

गर्दिश के दिन

लिखने बैठ गया हूँ पर नही जानता सपादक की मशा क्या है और पाठक क्या चाहते हैं, क्यों आखिर वे उन दिनो मे झाँकना चाहते हैं, जो लेखक के अपने हैं और जिन पर वह शायद परदा डाल चुका है। अपन गर्दिश के दिनों को, जो मेरे नामधारी एक आदमी के थे, मैं किस हैसियत से फिर जीऊँ ?—उस आदमी की हैसियत से या लेखक की हैसियत से ? लेखक की हैसियत से गर्दिश को फिर जी लेने और अभिव्यक्त कर देने म मनुष्य और लेखक दोनो की मुक्ति है। इसमे मैं कोई 'भोक्ता' और 'सर्जक' की नि सगता की बात नही दुहरा रहा हूँ। पर गर्दिश को फिर याद करने, उसे जीने मे दारुण कष्ट है। समय के सीगों को मैंने मोड दिया था। अब फिर उन सींगों को सीधा करके कहूँ—आ बैल, मुझे मार !

गर्दिश कभी थी अब नही है, आगे नही होगी—यह गलत है। गर्दिश का सिलसिला बदस्तूर है मैं निहायत बेचैन मन का सवेदनशील आदमी हूँ। मुझे चैन कभी मिल ही नही सकता, इसलिए गर्दिश नियति है।

हाँ,यादें बहुत हैं। पाठक को शायद इसमे दिलचस्पी हो कि यह जो हरिशकर परसाई नाम का आदमी है, जो हसता है, जिसमे मस्ती है, जो ऐसा तीखा है, कटु है—इसकी अपनी जिन्दगी कैसी रही है ? यह कब गिरा, फिर कब उठा ? कैसे टूटा ? कैसे फिर से जुडा ? यह एक निहायत कटु निर्मम और धोबी पछाड आदमी है।

सयोग कि बचपन की सबसे तीखी याद 'प्लेग' की है। 1936 या 37 होगा। मैं शायद आठवी का छात्र था। कस्बे मे प्लेग पडी थी। आबादी घर छोड जगल मे टपरे बनाकर रहने चली गयी थी। हम नही गए थे। माँ सख्त बीमार थी उन्हें लेकर जगल नही जाया जा सकता था। भाँय भाँय करते पूरे आस पास मे हमारे घर ही चहल-पहल थी। काली रातें। इनमे हमारे घर जलने वाले कदील। मुझे इन कदीलो से डर लगता था। कुत्ते तक बस्ती छोड गए थे, रात के सन्नाटे मे हमारी आवाजें हम ही डरावनी लगती थी। रात को मरणासन्न माँ के सामने हम लोग आरती गाते—जय जगदीश हरे, भक्त जनो के सकट पल मे दूर करे। गाते-गाते पिताजी सिसकने लगते, माँ बिलखकर हम बच्चो को हृदय से चिपटा लेतीं और हम भी रोने लगते। रोज का यह नियम था। फिर रात को पिताजी, चाचा और दो एक रिश्तेदार लाठी-बल्लम लेकर घर के चारो तरफ घूम-घूमकर पहरा देते। ऐसे भयकारी त्रासदायक वातावरण

मे एक रात तीसरे पहर माँ की मृत्यु हो गयी। कोलाहल और विलाप शुरू हो गया। कुछ कुत्ते भी सिमटकर आ गए और योग देने लगे।

पाँच भाई-बहनों मे माँ की मृत्यु का अर्थ मैं ही समझता था—सबसे बडा था।

प्लेग की वे रातें मेरे मन मे गहरे उतरी हैं। जिस आतक, अनिश्चय, निराशा और भय के बीच हम जी रहे थे उसके सही अकन के लिए बहुत पन्ने चाहिए। यह भी कि पिता के सिवा हम कोई टूटे नही थे। वह टूट गये थे। वह इसके बाद भी 5-6 साल जिए, लेकिन लगातार बीमार, हताश, निष्क्रिय और अपने से ही डरते हुए। धधा ठप्प। जमा-पूँजी खाने लगे। मेरे मैट्रिक पास होने की राह देखी जाने लगी। समझने लगा था कि पिताजी भी अब जाते ही हैं। बीमारी की हालत मे उन्होने एक बहन की शादी कर ही दी थी—बहुत मनहूस उत्सव था वह। मैं बराबर समझ रहा था कि मेरा बोझ कम किया जा रहा है। पर अभी दो छोटी बहनें और एक भाई थे।

मैं तैयार होने लगा। खूब पढने वाला, खूब खेलने वाला और खूब खाने वाला मैं शुरू से था। पढने और खेलने मे मैं सब भूल जाता था। मैट्रिक हुआ, जगल विभाग मे नौकरी मिली। जगल मे सरकारी टपरे मे रहता। ईंटें रखकर, उन पर पटिए जमा कर बिस्तर लगाता, नीचे जमीन चूहो ने पोली कर दी थी। रात-भर नीचे चूहे धमाचौकडी करते रहते और मैं सोता रहता। कभी चूहे ऊपर आ जाते तो नीद टूट जाती पर मैं फिर सो जाता। छह महीने धमाचौकडी करते चूहो पर मैं सोया।

बेचारा परसाई ?

नही, नही, मैं खूब मस्त था। दिन-भर काम। शाम को जगल मे घुमाई। फिर हाथ से बनाकर खाया गया भरपेट भोजन शुद्ध घी और दूध !

और चूहो ने बडा उपकार किया। ऐसी आदत डाली कि आगे की जिन्दगी में भी तरह-तरह के चूहे मेरे नीचे उधम करते रहे हैं, साँप तक सरसे रहे हैं, मगर मैं पटिए बिछा कर पटिए पर सोता रहा हूँ। चूहो ने ही नही मनुष्यनुमा बिच्छुओ और साँपो ने भी मुझे बहुत काटा है—पर 'जहर मोहरा' मुझे शुरू मे ही मिल गया। इसलिए 'बेचारा परसाई' का मौका ही नही आने दिया। उसी उम्र से दिखाऊ महानुभूति से मुझे बेहद नफरत है। अभी भी दिखाऊ सहानुभूति वाले को चाँटा मार देने की इच्छा होती है, जब्त कर जाता हूँ, वरना कई शुभचितक पिट जाते।

फिर स्कूल मास्टरी। फिर टीचर्स ट्रेनिंग और नौकरी की तलाश—उधर पिताजी मृत्यु के नजदीक। भाई पढाई रोककर उनकी सेवा मे। बहनें बडी बहन के साथ, हम शिक्षण की शिक्षा ले रहे हैं।

फिर नौकरी की तलाश। एक विद्या मुझे और आ गयी थी—बिना टिकट सफर करना। जबलपुर से इटारसी, टिमरनी, खडवा, इन्दौर, देवास बार-बार

चक्कर लगाने पडते। पैसे थे नही। मै बिना टिकट बेखटके गाडी मे बैठ जाता। तरकीबें बचने की बहुत आ गयी थी। पकडा जाता तो अच्छी अग्रेजी में अपनी मुसीबत का बखान करता। अग्रेजी के माध्यम से मुसीबत बाबुओ को प्रभावित कर देती और वे कहते—लेट्स हेल्प दि पूअर बॉय।

दूसरी विद्या सीखी—उधार माँगने की। मैं बिल्कुल नि सकोच भाव से किसी से भी उधार माँग लेता। अभी भी इस विद्या मे सिद्ध हूँ।

तीसरी चीज सीखी—बेफिक्री! जो होना होगा, होगा, क्या होगा? ठीक ही होगा। मेरी एक बुआ थी। गरीब, जिंदगी गर्दिश-भरी मगर अपार जीवन-शक्ति थी उसमे। खाना बनने लगता तो उनकी बहू कहती—बाई, न दाल ही है न तरकारी। बुआ कहती—चल चिंता नही। राह-मोहल्ले म निकलती और जहाँ उसे छप्पर पर सब्जी दिख जाती, वही अपनी हम-उम्र मालकिन से कहती—ए कौशल्या, तेरी तोरई अच्छी आ गयी है। जरा दो मुझे तोड के दे। और खुद तोड लेती। बहू से कहती—ले बना डाल, जरा पानी जादा डाल देना। मै यहाँ-वहाँ से मारा हुआ उसके पास जाता तो वह कहती—चल, कोई चिंता नही, कुछ खा ले।

उसका यह वाक्य मेरे लिए ताकत बना—कोई चिन्ता नही।

गर्दिश, फिर गर्दिश!

होशगाबाद शिक्षा अधिकारी से नौकरी माँगने गए। निराश हुए। स्टेशन पर इटारसी के लिए गाडी पकडने के लिए बैठा था, पास मे एक रुपया था जो कही गिर गया था। इटारसी तो बिना टिकट चला जाता। पर खाऊँ क्या? दूसरे महायुद्ध का जमाना। गाडियाँ बहुत लेट होती थी। पेट खाली। पानी से बार-बार भरता। आखिर बेंच पर लेट गया। चौदह घटे हो गये। एक किसान परिवार पास आकर बैठ गया। टोकरे म अपने खेत क खरबूजे थे। मै उस वक्त पर चोरी भी कर सकता था। किसान खरबूजा काटने लगे। मैंन कहा—तुम्हारे ही खेत के होंगे। बडे अच्छे हैं। किसान ने कहा—सब नर्मदा मैया की किरपा है भैया! शक्कर की तरह है। लो खाके देखो। उसने दो बडी फाँकें दी। मैंन कम से कम छिलका छोडकर खा लिया। पानी पिया। तभी गाडी आयी और हम खिडकी से घुस गये।

नौकरी मिली जबलपुर के सरकारी स्कूल म। किराये तक के पैसे नही। अध्यापक महोदय न दरी मे कपडे बाँधे और बिना टिकट चढ गये गाडी म। सामान के कारण इस बार थोडा खटका था। पास म कलेक्टर का खानसामा बैठा था। बातचीत चलन लगी। आदमी मुझे अच्छा लगा। जबलपुर आन लगा तो मैंने उसे अपनी समस्या बतायी। उसने कहा—चिन्ता मत करो। सामान मुझे दो। मैं बाहर राह देखूँगा। तुम कही पानी पीने के बहाने सीखचो के पास पहुँच जाना। नल सीखचो के पास ही है। वहाँ सीखचो को उखाडकर निकलने की जगह बनी हुई है। खिसक लेना। मैंने वैसा ही किया। बाहर खानासामा मेरा सामान

लिये खडा था। मैंने सामान लिया और चल दिया शहर की तरफ। कोई मिल ही जाएगा, जो कुछ दिन पनाह दे देगा, अनिश्चय मे जी लेना मुझे तभी आ गया था।

पहले दिन जब बाकायदा 'मास्साब' बने तो बहुत अच्छा लगा। पहली तनख्वाह मिली ही थी कि पिताजी की मृत्यु की खबर आ गयी। माँ के बचे जेवर बेचकर पिता का श्राद्ध किया और अध्यापकी के भरोसे बडी जिम्मेदारियाँ लेकर जिंदगी के सफर पर निकल पडे।

उस अवस्था की इन गर्दिशों का जिक्र मैं आखिर क्या इस विस्तार से कर गया? गर्दिशें बाद मे भी आयीं, अब भी आती हैं, आगे भी आयेंगी, पर उस उम्र की गर्दिशों की अपनी अहमियत है। लेखक की मानसिकता और व्यक्तित्व-निर्माण से इनका गहरा सम्बन्ध है।

मैंने कहा है—मैं बहुत भावुक, संवेदनशील और बेचैन तबीयत का आदमी हूँ। सामान्य स्वभाव का आदमी ठंडे-ठंडे जिम्मेदारियाँ भी निभा लेता, रोते-गाते दुनिया से तालमेल भी बिठा लेता और एक व्यक्तित्वहीन नौकरीपेशा आदमी की तरह जिंदगी साधारण सन्तोष से भी गुजार लेता।

मेरे साथ ऐसा नही हुआ, जिम्मेदारियाँ, दुःखो की वैसी पृष्ठभूमि और अब चारों तरफ से दुनिया के हमले—इन सबके बीच सबसे बडा सवाल था अपने व्यक्तित्व और चेतना की रक्षा। तब सोचा भी नहीं था कि लेखक बनूँगा। पर मैं अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की रक्षा तब भी करना चाहता था।

जिम्मेदारी को गैर-जुम्मेदारी की तरह निभाओ।

मैंने तय किया—परसाई, डरो किसी से मत। डरे कि मरे। सीने को ऊपर-ऊपर कडा कर लो। भीतर तुम जो भी। जिम्मेदारी को गैर-जुम्मेदारी के साथ निभाओ। जिम्मेदारी को अगर जिम्मेदारी के साथ निभाओगे तो नष्ट हो जाओगे। और अपने से बाहर निकलकर सब मे मिल जाने से व्यक्तित्व और विशिष्टता की हानि नहीं होती। लाभ ही होता है। अपने से बाहर निकलो। देखो, समझो और हँसो।

मैं डरा नही। बेईमानी करने म भी नहीं डरा। लोगों से नही डरा तो नौकरियाँ गयी। लाभ गये, पद गये, इनाम गये। गैर-जिम्मेदार इतना कि बहन की शादी करने जा रहा हूँ। रेल मे जेब कट गयी, मगर अगले स्टेशन पर पूडी-साग खाकर मजे मे बैठा हूँ कि चिन्ता नही। कुछ हो ही जायेगा। और हो जायेगा। मेहनत और परेशानी जरूर पडी या कि बेहद बिजली-पानी के बीच एक पुजारी के साथ बिजली की चमक से रास्ता खोजते हुए रात-भर मे अपनी बडी बहन के गाँव पहुँचना और कुछ घंटे रहकर फिर वही वापसी यात्रा। फिर दौड-धूप! मगर मदद आ गयी और शादी भी हो गयी।

इन्ही सब परिस्थितियों के बीच मेरे भीतर लेखक कैसे जन्मा, यह सोचता हूँ। पहले अपने दुःखो के प्रति सम्मोहन था। अपने को दुखी मानकर और मनवा-

कर आदमी राहत भी पा लेता है। बहुत लोग अपने लिए बेचारा सुनकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। मुझे भी पहले ऐसा लगा। पर मैंने देखा, इतने ज्यादा वेचारो मे मैं क्या वेचारा ! इतने विकट सघर्षों मे मेरा क्या सघर्ष !

मेरा अनुमान है मैंने लेखन को दुनिया से लडने के लिए एक हथियार के रूप मे अपनाया होगा। दूसरे, इसी मे मैंने अपने व्यक्तित्व की रक्षा का रास्ता देखा। तीसरे, अपने को अवशिष्ट होने से बचाने के लिए मैंने लिखना शुरू कर दिया। यह तब की बात है, मेरा खयाल है, तब ऐसी ही बात होगी।

पर जल्दी ही मैं व्यक्तिगत दुख के इस सम्मोहन-जाल से निकल गया। मैंने अपने को विस्तार दे दिया। दुखी और भी हैं। अन्याय-पीडित और भी है। अनगनित शोषित हैं। मैं उनमे से एक हूँ। पर मेरे हाथ मे कलम है और मैं चेतना-सम्पन्न हूँ।

यही कही व्यग्य-लेखक का जन्म हुआ। मैंने सोचा होगा—रोना नही है, लडना है। जो हथियार हाथ मे है, उमी से लडना है। मैंने तब ढग से इतिहास, समाज, राजनीति और सस्कृति का अध्ययन शुरू किया। साथ ही एक औघड व्यक्तित्व बनाया। और बहुत गम्भीरता से व्यग्य लिखना शुरू कर दिया।

मुक्ति अकेले की नही होती। अलग से अपना भला नही हो सकता। मनुष्य की छटपटाहट है मुक्ति के लिए, सुख के लिए, न्याय के लिए। पर यह बडी लडाई अकेले नही लडी जा सकती है। अकेले वही सुखी हैं, जिन्हे कोई लडाई नही लडनी। उनकी बात अलग है। अनगिनत लोगों को सुखी देखता हूँ और अचरज करता हूँ कि ये सुखी कैसे हैं ! न उनके मन मे सवाल उठते हैं न शका उठती है। ये जब-तब सिर्फ शिकायत कर लेते हैं। शिकायत भी सुख देती है। और वे ज्यादा सुखी हो जाते हैं। कबीर ने कहा है—

सुखिया सब ससार है, खावै और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे।

जगने वाले का रोना कभी खत्म नही होता। व्यग्य-लेखक की गर्दिश भी खत्म नही होगी।

ताजा गर्दिश यह है कि पिछले दिनो राजनीतिक पद के लिए पापड वेलते रहे। कही से उम्मीद दिला दी गई कि राज्य सभा मे हो जायेगा। एक महीना वडी गर्दिश मे बीता। घुसपैठ की आदत नही है, चिट भीतर भेजकर बाहर बैठे रहने मे हर क्षण मृत्यु-पीडा होती है। बहादुर लोग तो महीनो चिट भेजकर बाहर बैठे रहते हैं, मगर मरते नही। अपने से नही बनता। पिछले कुछ महीने ऐसी गर्दिश के थे। कोई लाभ खुद चलकर दरवाजे पर नही आता। उसे मनाना पडता है। चिरौरी करनी पडती है। लाभ थूकता है तो उसे हथेली पर लेना पडता है, इस कोशिश मे बडी तकलीफ हुई। वडी गर्दिश भोगी।

मेरे जैसे लेखक की एक और गर्दिश है। भीतर जितना बवडर महसूस कर रहे हैं, उतना शब्दो मे नही आ रहा है, तो रात-दिन बेचैन है। यह वडी गर्दिश

का वक्त होता है, जिसे सर्जक ही समझ सकता है।

यो गर्दिशो की एक याद है। पर सही बात यह है कि कोई दिन गर्दिश से खाली नही है। और न कभी गर्दिश का अन्त होना है। यह और बात है कि शोभा के लिए कुछ अच्छे किस्म की गर्दिशें चुन ली जायें। उनका मेकअप कर दिया जाये, उन्हें अदाएँ सिखा दी जाएँ—थोडी चुलबुली गर्दिश हो तो और अच्छा—और पाठक से कहा जाए—ले भाई, देख मेरी गर्दिश।

—हरिशंकर परसाई

आत्म-कथ्य

मैं उन वेहया लेखको मे हूँ जो अपने बारे मे कहने मे नही सकुचाते। यों यह भी सही हो सकता है कि जो सकुचाकर भी अपने बारे मे कह लेते हैं वे कुछ अधिक ही वेहया होते है। मैं अपनी तारीफ के लिए किसी का मोहताज नही हूँ। खुद कर लेता हूँ। अपनी बुराई भी खुद कर लेता हूँ। और यदि कम पड़े तो आसपास इतने उपकारी लोग तो है। मै अपने ऊपर हँस भी लेता हूँ।

मैं व्यग्य-लेखक कहलाता हूँ, और जानता हूँ कि मेरे लेखन की एक प्रतिष्ठा है। कई समझदार मेरे व्यग्य को श्रेष्ठ कहते हैं। मुझे कोई व्यग्य सम्राट भी कहने लगे है। मैं उन्हे समझदार इसलिए कहता हूँ कि ये मेरी तारीफ करते हैं। वैसे मैं कुछ टालू किस्म के वक्तव्य भी देखता हूँ। जैसे कि—अच्छा लिखते हैं, शिष्ट हास्य लिखते हैं अच्छा विनोद है, हिन्दी म इस प्रकार के साहित्य की कमी थी सो इसे पूरा कर रहे हैं। कहानी के बारे मे जब लिखा जाता है तो मुझे अक्सर कहानी-लेखक नही माना जाता और व्यग्य के बारे मे कोई क्या लिखे जबकि वह कोई विधा ही नही माना जाता।

अपनी कैफियत दूँ तो यह हँसना और हँसाना, विनोद करना अच्छी बातें होते हुए भी मैंने केवल मनोरजन के लिए कभी नही लिखा। मेरी रचनाएँ पढकर हँसी आ जाना प्रासगिक है—मेरा यथेष्ट नही। और चीजो की तरह मैं व्यग्य को उपहास, मखौल न मानकर, एक गभीर 'चीज' मानता हूँ। साहित्य के मूल्य जीवन-मूल्यों से वनते हैं। वे रचनाकार के एकदम अन्तर से पैदा नही होते। जो दावा करते है कि उनके अन्तर स ही सब मूल्य पैदा होते हैं, वे पता नही किस दुनिया म रहते हैं। तो जीवन जैसा है, उससे बेहतर होना चाहिए। तो फिर जो जीवन लेखक देखता है, उसमे कहाँ-कहाँ खोट है, कहाँ-कहाँ एकदम परिवर्तन चाहिए। कौन से मूल्य गलत है, और उन्हे नष्ट होना चाहिए। किन परम्पराओ को हम कैंसर की तरह पाले है, कहाँ विसगति, अन्याय, मिथ्याचार, शोषण, पाखण्ड, दो मुँहापन आदि है। मैं कोशिश करता हूँ, कि इन्हे देखूँ, गहरे जाकर इनका अन्वेषण करूँ, उन्हे अर्थ दूँ, कारण खोजूँ। और फिर ऐसे अनुभव को, विश्लेषित करके रचनात्मक चेतना का अग बनाकर कुछ इस तरह से कह दूँ कि एक तथ्य ताकत के साथ उद्‌घाटित हो जाये। मैं जीवन समीक्षा और अपने स साक्षात्कार के उद्देश्य म यह करता हूँ। यह काम और लोग और तरह से भी करते है। पत्रकार अखबारी कालम मे लिखते हैं। दूसरे लेखक कहानी-

उपन्यास मे बडी गभीरता से यही काम करते हैं। मैं दूसरी तरह से करता हूँ, पाखड के बारे मे कई तरह के लेख लिखे जाते है। मैं लेख न लिखकर कुल यह कह दूंगा—"कुछ लोग इतने दयालु और धार्मिक होते है कि रोज सुबह मछली को दाना चुगाते हैं और रात को फिशकरी खाते है।" यह व्यग्य हो गया।

जब मैं जीवन, उसका विश्लेपण, अर्थ आदि की बात करता हूँ तब सवाल उठता है, कि मैं किस तरह जीवन की व्याख्या करता हूं। एक ही बात की व्याख्या भिन्न-भिन्न लोगो के लिए भिन्न भिन्न होती है। इसलिए एक विचारधारा जरूरी है, जिसमे जीवन का ठीक विश्लेपण हो सके और ठीक निष्कर्षो पर पहुँचा जा सके। इसके बिना लेखक गलत निष्कर्ष का शिकार हो जाता है। मेरा विश्वास मार्क्सवाद मे है। इस बौद्धिक विश्लेपण बौद्धिक विश्वास के साथ ही मेरी सवेदना भी तय हो जाती है। यही मे प्रतिबद्ध लेखन का विवादास्पद प्रश्न खडा हो जाता है। प्रतिबद्ध लेखन को जो पार्टी लेखन मानते हैं वे अनजाने या जानकर भूल करते है। प्रतिबद्धता एक गहरी चीज है जो इस बात से तय होती है कि समाज मे जो द्वन्द्व है उसमे लेखक किस तरफ खडा है—पीडितो के साथ या पीडको के साथ। कोई यह स्वीकार नही करेगा कि वह पीडको के साथ है। पर यदि वह अपने को किनारे को या बीच की स्थिति मे रख लेता है तो वह निश्चित रूप से पीडकों का साथ देता है। अपने पक्ष के निर्वाचन से कोई बचाव नही सिवा छल के। बहुत-से लोग इस झझट से बचने के लिए कोरे भाववादी हो जाते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि व्यग्य मे कटुता होती है। कुछ तो यहाँ तक कहते है कि व्यग्य अमानवीय होता है। सही व्यग्य लेखक मे कटुता आ जाय यह बात अलग है। एक सचेत लेखक यदि गलत और घातक व्यवस्था के प्रति कटु है तो यह कटुता पवित्र है। पर व्यग्य-लेखक किसी व्यक्ति से नाराज होकर उसे कलम से नही पीटता। उसे वह जूते मार सकता है। यह एक रास्ता हुआ। फिर भी 'लेम्पून' और 'हजो' भी लिखा जाता है। लेकिन यह घटिया लेखन है। जहाँ तक मानवीयता का प्रश्न है यदि व्यग्य-लेखक को मानव-जीवन से गहरा सरोकार न हो तो वह क्यो रोए कि मेरे भाई तुममे यह बुराई है। तुम अच्छे हो जाओ।

व्यग्य मैंने कई रूपो मे लिखा है—कहानी, निबध, रिपोर्ताज, नाटक, उपन्यास। इसके अलावा मैं पत्रकार भी हूँ। पत्रो मे साप्ताहिक व्यग्य स्तम्भ भी लिखता हूँ, जो मुख्यत राजनैतिक होता है। राजनीति से मुझे परहेज नही। जो लेखक राजनीति से पल्ला बचाते हैं, वे वोट क्यो देते हैं? वोट देने से ही राजनीति तय होती है। बुद्धिजीवी चाहे सक्रिय राजनीति मे भाग न ले, पर वह अराजनैतिक नही हो सकता। जो अराजनैतिक होने का दावा करते है, उनकी राजनीति बडी खतरनाक और गदी है।

—हरिशंकर परसाई

साक्षात्कार

प्रश्न—आपने लेखन लगभग किस सन् मे आरंभ किया ?

मैंने सन् 48 के आसपास लिखना शुरू कर दिया परन्तु जमकर मैंने 50-51 मे लिखा।

प्रश्न—यह वह समय था जब भारतीय साहित्य मे अलगाव की प्रवृत्ति लेखको मे प्रमुख थी। परन्तु आपकी भूमिकाओ तथा 'गर्दिश के दिन' जैसे आत्म-कथ्य से मालूम होता है कि आपने लेखन अलगाव से नही, लगाव से शुरू किया —ऐसा क्यो ?

मेरे साथ ऐसा हुआ कि एक ओर तो मैं कुछ समय किशोरावस्था मे भोगे व्यक्तिगत दुखो और उनकी स्मृतियो से आक्रात था, दूसरी ओर जबलपुर मे मेरा साथ उस समय ऐसे लोगो से हो गया जो साहित्य और राजनैतिक क्षेत्र के बुलन्द लोग थे। व्यक्तिगत दुख का मोह 2-3 सालो मे समाप्त हो गया। जिन लोगो के साथ मैं था, वे काग्रेस के भीतर के समाजवादी थे, तथा 1942 के भारत छोडो आदोलन के 'हीरो' थे। वे उग्र समाजवाद के नारे के साथ काग्रेस के बाहर आ गये, मैं इनके साथ हो गया। यह आदोलन तब बहुत उग्र और 'पाजिटिव' था, बाद मे 'निगेटिव' हो गया। पर इन वर्षों मे एक आदोलन मे शामिल होने का बोध और उत्साह मेरे भीतर था। इसलिए कुठा, निराशा, निर्वासन, अकेलेपन का प्रश्न ही नही था।

दूसरे महायुद्ध के बाद निर्वासन की प्रवृत्ति यूरोप मे बढी, उसके विशिष्ट कारण थ। एक तो युद्ध का महानाश, दूसरी ओर फासिस्ट पूँजीवाद और बुर्जुआ लोकतात्रिक पूँजीवाद के बीच के सघर्ष मे भौतिक, नैतिक और आत्मिक विनाश हुआ। इसका कोई कारण पश्चिमी यूरोप के बुद्धिजीवी की समझ मे नही आ रहा था। इसलिए वहाँ के लेखक अपनी नियति के बारे मे अनिश्चित हो गये। सामूहिक नाश भोगे हुए लोग व्यक्तिगत हालात से घबरा उठे, ऐसे मे उनकी आस्थाएँ टूट गयी। वे उस परिवेश मे अपने को अकेला और निर्वासित महसूस करने लगे। ध्यान देने की बात यह है कि आखिर इन लेखको, कवियो मे पुनर्निर्माण का उत्साह क्यो नही है ? उसी समय रूस का हर कवि नष्ट कार-खाने के फिर खडे होने म उल्लसित होता था और कविता लिखता था। जबकि पश्चिमी यूरोप म पुनर्निर्माण के बावजूद लेखक निराश, कुठित और निर्वासित अनुभव कर रहा था।

भारत मे स्वतत्रता आयी ही थी, युद्ध का विनाश इस देश ने नही भोगा था। विभाजन और नरसहार अवश्य भोगा था। नव स्वतत्र देश मे निर्माण के उत्साह के बजाय निराशा और कुठा आखिर क्यो थी? कारण—एक तो यह है कि स्वतत्रता आदोलन मे भावुकता अधिक थी और आर्थिक-सामाजिक क्राति के तत्त्व लगभग नही थे। हमने स्वतत्रता मे बहुत जल्दी बहुत अधिक आशा कर ली और एक क्राति के बाद निर्माण का जो उत्साह होता है वह गायब था। फिर बहुत जल्दी राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक क्षेत्र मे भ्रष्टाचार फैल गया। उस समय जो लिखा गया उसके कुछ कारण तो ये थे, पर ऐसा लेखन बहुत कुछ झूठा और नकल थी।

प्रश्न—आपके लेखन मे राजनैतिक चेतना की शुरुआत कब से होती है? इसके पीछे जीवन की शिक्षा है, कोई घटना, कोई व्यक्ति, या कोई विचार-धारा?

आरभ मे ही राजनैतिक लोगो के साथ रहने के कारण राजनैतिक चेतना मुझमे थी। वे लोकतात्रिक समाजवादी लोग थे जिनके नेता जयप्रकाश नारायण थे। पहिले आम चुनाव मे इनका सफाया हो गया। इनमे खीझ आयी और 'फ्रस्ट्रेशन' आया और ये टूट-फूट गये। सयोग से तभी मेरा सम्पर्क कम्युनिस्ट पार्टी से हुआ और मार्क्सवादी दर्शन तथा साहित्य से मेरा परिचय हुआ। अध्ययन से और साम्यवादियो के सम्पर्क से मैंने बहुत कुछ सीखा। अब मेरी दृष्टि साफ है। मैं श्रमिक आदोलन से भी तभी सम्बद्ध हो गया। मेरा अनुमान है कि सन् 53-54 मे मार्क्सवाद के प्रभाव मे आ गया। तभी मेरा सम्पर्क मुक्तिबोध जी से हुआ और उन्होंने मेरे मार्क्सवादी विश्वासो को मजबूत किया तथा दृष्टि को बिल्कुल साफ और सही कर दिया।

प्रश्न—आपके नाम के साथ व्यग्य-शिल्पी, व्यग्यकार जैसे शब्द जुड गये हैं। अर्थात् आपका व्यक्तित्व मूल रूप मे, या कहे केवल व्यग्य-लेखक का मान लिया गया है। आपने व्यग्य माध्यम ही अभिव्यक्ति के लिए क्या चुना?

एक तो इस प्रकार का लेबिल लगाना ठीक नही है, परन्तु जिम्मेदारी कुछ मेरी भी है। मैंने यह तय करके लिखना शुरू नही किया कि व्यग्य नाम की चीज ही लिखूंगा। वास्तव मे हर लेखक जीवन की खोज और समीक्षा करता है और जीवन से साक्षात्कार करता है। इसके लिए किसी विशिष्ट शैली या रूप का चुनाव सहज ही हो जाता है। मैंने वही लिखा है जो दूसरे लेखको ने दूसरे ढग से लिखा है पर कुछ तो मेरी मानसिक प्रवृत्ति और चेतना तथा सामाजिक जीवन के प्रति मेरी प्रतिबद्धता थी जिसके कारण मैंने विसगतियो, विद्रूपियो, अन्याय, शोषण, पाखड, दोमुँहापन, ढोंग इत्यादि को पकडा। इन पर लेख भी लिखा जा सकता है या अखबारी टिप्पणी भी। पर एक रचनाकार के नाते इन्हें अभिव्यक्त करने के लिए मुझे व्यग्य का माध्यम अनुकूल पडा।

प्रश्न—आपके पहिले से और आपके समय में भी हास्य और विनोद की

परम्परा थी। आपने हास्य और विनोद की इस परम्परा का जान-बूझकर त्याग किया था ?

हास्य विनोद अच्छी चीजें हैं। हँसना स्वास्थ्य का लक्षण है, पर हर बात पर हँसना गैर जिम्मेदारी और मूर्खता है। जीवन मे हर बात पर हँसी नहीं आती। किसी बात पर करुणा पैदा होती है, किसी से घृणा होनी है, किसी से क्रोध होता है। इसलिए केवल विनोद और हास्य का लहजा गैर जिम्मेदारी का काम है। कोई हास्य-लेखक पीटने वाले पर भी हँसे कि कैसे मजे म पीट रहा है और पिटने वाले पर भी हँसे कि कैसे मजे म पिट रहा है, तो ऐसे लेखक को आप क्या कहेंगे ? जानवर कहेंगे न ? मगर जानवर हँसते नही हैं, मेरा मतलब है यह समझ चाहिये कि क्या हँसने लायक है क्या रोने लायक है अर्थात् सहानुभूति तय होनी चाहिए, इसके लिए लेखक को ठिठोली और छिछोरापन छोड करके सामाजिक जीवन मे अपने को शामिल करना होता है, उसकी सम्बद्धता होनी चाहिए, यहीं से मात्र हास्य विनोद और सामाजिक चेतना सम्पन्न व्यग्य अलग हो जाता है।

प्रश्न—क्या आप व्यग्य को स्वतत्र विधा मानते हैं ?

इसका जवाब लेना चाहिए शास्त्रियों से। मेरे मत मे व्यग्य कोई विधा नही है। इसका अपना कोई 'स्ट्रक्चर' नही है। यह एक 'स्प्रिट' है, जो हर विधा मे आ सकती है। कहानी मे, नाटक मे, उपन्यास मे। बर्नार्ड शॉ का प्रधान स्वर व्यग्य है, लेकिन उनका मूल्याकन नाटककार के रूप मे होता है। व्यग्य कविता से लेकर उपन्यास तक मे आ सकता है।

प्रश्न—जीवन के प्रति व्यग्य का लहजा क्या हम दार्शनिक रूप मे एक अस्थिर और सिनिक नही बना देता ?

व्यग्य एक पाजिटिव चीज है, उसे नकारात्मक नहीं मानना चाहिए। व्यग्य लेखक यही तो बताता है कि समाज म यह बुरा है, यह असगत है, यह अकल्याणकारी है। वह ऐसा इसलिए करता है कि क्योकि वह दुखी है कि इतना बुरा क्यो हुआ ? वह एक बेहतर मनुष्य, एक बेहतर समाज-व्यवस्था के प्रति आस्था रखता है इसलिए जो बुराई आज उसे दिखती है उन्ह इंगित करता है। डाक्टर अगर मरीजो को रोग बताता है तो वह निराशावादी, नकारात्मक और 'सिनिकल' नही है, वह आदमी को स्वस्थ करना चाहता है, इसलिए रोग बताता है। अगर वह रोगी से कह दे कि वह तो स्वस्थ है ता वह मर जायेगा। यह लहजा क्या सकारात्मक है ?

प्रश्न—परसाई जी, मैं आपके सामने एक समस्या रख रहा हूँ। यह बतायें कि व्यग्य अगर विसगति मे ही पैदा होता है, जैसा आप मानते हैं, तो क्या यह विधा ससार के साहित्य मे अस्थायी तौर पर है ?

जब सारी दुनिया समाजवादी सगति मे व्यवस्थित हो जायेगी तो व्यग्य कहाँ जायेगा ?

उत्तर—यह सही है कि पूंजीवादी व्यवस्था मे सामाजिक, आर्थिक विषमताएँ बहुत होती है, अन्याय और ढोंग भी भरपूर होता है, इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था मे व्यग्य के मुद्दे बहुत होते हैं, लेकिन समाजवाद स्थापित होने के बाद व्यग्य की जरूरत नही रहेगी ऐसी बात नही। वास्तव मे दो मनुष्य, उनका चरित्र, उनके काम करने के तरीके, कभी एक जैसे नही हुए। समाजवादी व्यवस्था मे भी व्यक्ति और समाज मे विसगतियाँ रहेगी। जहाँ समाजवाद है, वहाँ ये हैं और उन पर लिखा जा रहा है। रूस मे नौकरशाही की बहुत विसगतियाँ हैं। सरकारी फार्मो सहकारी दूकानो मे विसगतियाँ हैं, कारखाने के मैनेजर तरह-तरह के होते है और उनमे तरह-तरह की सनक भी होती है, अति औपचारिकता के उबाऊ नारे भी होते हैं।

यह कल्पना नही की जा सकती कि रूस के किसी सहकारी स्टोर मे अच्छे विदेशी जूते आये हो और स्टोर के मैनेजर ने उनमे दो-चार जोडी अपने लोगो के लिए बुक न कर लिए हों, यह होता है और रूसी लेखक इस तरह के व्यग्य भी करते हैं। रूसी पत्रिका 'क्रोकोडाइल' मे छपा एक व्यग्य बताता हूँ।

कोआपरेटिव स्टोर पर नोटिस लगा था—पाँच सौ इटालियन जूते अमुक साइज के आये हैं, इनम से चार सौ पचास जोडी की माँग पहिले से बुक है, उनचास जोडी कार्यकर्त्ताओ ने ले लिये है, अब एक जोडी बचा है, सब ग्राहको से अनुरोध है कि वे आकर उस जूते को देख लें और अपनी पसद का ले जायें। और उदाहरण देता है। एक रूसी उपन्यास 'पाट होल्स' मे है। सहकारी कृषि फार्मों का सेक्रेटरी एक मरते हुए आदमी को चार-पाँच मील दूर डाक्टरो के पास नही ले जाने देता, वह कहता है कि ट्रैक्टर खेती के लिए है, दूसरे काम के लिए नहीं। उसे आखिर किसी तरह डाक्टर के पास तक ले जाया जाता है, पर डाक्टर उसे देखकर कहता है कि यह अभी-अभी मर गया। क्या तुम इसे कुछ पहिले नही ला सकते थे? उसके साथ के लोग उसे बताते हैं कि सहकारी फार्म के सेक्रेटरी ने ट्रैक्टर नही दिया। डाक्टर खीझकर कहता है—वह एक नौकरशाह है जो हत्यारा हो गया। देखिये, विसगतियाँ हर मनुष्य समाज मे होती है, वे चाहे कम हो, उनका रूप बदला हुआ हो और उनका प्रतिफलन चाहे उतना घातक न हो।

प्रश्न—आपकी धारणा है कि आप सुधारवादी नही हैं, आप परिवर्तन के लिए लिखते है, या लिखना चाहते है। कृपया यह बतायें कि योजना-आयोग, विज्ञान सस्थाएँ, न्यायपालिका, ससद, प्रकाशन सस्थान, रेडक्रॉस, सामाजिक क्लब, कानून और परिवार—ये सभी ससदीय तत्र, वर्तमान हालत मे लेखन शास्त्र और लेखन शस्त्र म परिवर्तित हो सकेंगे? क्या साहित्य मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो सकेगा?

मैं सुधार के लिए नही बल्कि परिवर्तन के लिए लिखता हूँ, यह कहने का मेरा यह अर्थ नही है कि मैं और मेरे जैसे परिवर्तनकामी लेखक केवल लेखन मे

समाज बदल देंगे। ऐसा दावा करना तो अहकार और मूर्खता है। क्रांतिकारी परिवर्तन, क्रांतिकारी आदोलन से ही होते हैं। भारत में एक प्रयोग जैसा हो रहा है। जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय बुर्जुआ के नेता थे, परन्तु उन्होंने सार्व-जनिक उद्योग क्षेत्र खोल दिया और योजना आयोग बैठा दिया। आयोग पूंजी-वाद की नही, समाजवाद की चीज है, इससे कम्युनिस्ट और गैर-कम्युनिस्ट दोनो भौचक थे। ये कैसा बुर्जुआ है, जो 'पब्लिक सेक्टर' खोलता है? जवाहरलाल ससदीय तरीके से धीरे-धीरे समाजवाद को विकसित करना चाहते थे। 'पब्लिक सेक्टर' का विस्तार होता जायेगा, वह कभी जाकर 'प्राइवट सेक्टर' को खतम कर देगा ऐसा यह प्रयोग है। साम्यवादी पार्टियाँ भी रणनीति के हिसाब से ही सही ससदीय मार्ग अपना रही हैं। उन्हे काम करने के लिए ससदीय लोकतत्र की आवश्यकता भी है। योजना आयोग, न्यायपालिका, शिक्षा-पद्धति आदि पूँजीवादी तत्र की है समाजवाद की नहीं, इसलिए देखा जा रहा है कि 33 वर्ष बाद भी कोई विशेष परिवर्तन हुआ नही। मेरा ख्याल है कि पूरी व्यवस्था का बदले बगैर कुछ होने वाला नही है और इसके लिए वर्ग-सघर्ष जरूरी मालूम होता है, ऐसे वर्ग-सघर्ष की तैयारी कब होगी यह मैं नही कह सकता। हम लेखक कुल इतना कर सकते है कि इस व्यवस्था की सडांध को उजागर करें और परिवर्तन की चेतना का निर्माण करें।

प्रश्न—वैष्णव की फिसलन की भूमिका म आपने लिखा है कि कुछ लोग आपकी रचना 'अकाल उत्सव' पढकर सोचने लग है कि लेखक का विश्वास ससदीय लोकतत्र से उठ रहा है। 'श्याम बेनेगल' की फिल्म 'अकुर' और आपके 'अकाल उत्सव' के अत मे हिसा का सकेत है। आपने अपनी भूमिका 1973 म लिखी थी और कहा था कि इस आरोप का उत्तर अभी मैं नही दूँगा।

क्या आज 7 वर्ष बाद आप कोई उत्तर दे सकते है? उसी भूमिका से मैं आपका एक वाक्य दोहराता हूँ कि "इतिहास एक हद तक समय देता है, मेरा ख्याल है हम तीन साला से ज्यादा का समय नही है।"

उत्तर—अकाल उत्सव' जैसी और भी कहानियाँ मैंने लिखी है। एक कहानी 'चूहा और मैं' है। इसमे हिसा का सकेत है। यह अजब बात है बल्कि षड्-यन्त्र है। कि जब शापित लोग लडने लगते है तब ही यह शोर हो जाता है कि हिसा हो रही है। शोषक वर्ग की हिसा सिर्फ 'ला एण्ड आर्डर प्रावलम्' कहलाती है। शासन की हिसा सवैधानिक बन जाती है।

एक प्रश्न है—'न्यूनतम मजदूरी'। खेत मजदूरो को न काग्रेस सरकार दिला सकती है न वामपथी मोर्चे की सरकार। यह तथ्य है। न्यूनतम मजदूरी का कानून ससद और विधानसभा द्वारा पास करके रखा हुआ है। सरकार के आदेश M F इसके लिए अलग विभाग भी है, कानून भी है और प्रोपेगेण्डा और मशीनरी भी। मगर खेत मजदूरो को 'न्यूनतम मजदूरी' नही दिलायी जा सकी, वे माँगते है तो उनकी पिटाई। जमीदार, पुलिस, श्रम विभाग के अफसर,

स्थानीय विधायक, संसद-सदस्य तथा प्रदेश का राजनैतिक नेतृत्व सब मिले हुए हैं। ऐसी हालत में खेत-मजदूर क्या करे ? वह यह करता है कि संगठित होकर, हथियार धारण करता है और किसी जमीदार को मार डालता है और इस आतंक के कारण क्षेत्र में डरे हुए भूमिपतियों से न्यूनतम मजदूरी ले लेता है। फिर पुलिस आती है, मिलेट्री आती है, सभी बच्चों-पुरुषों को मार डालती है, गाँव नष्ट कर देती है। मगर मजदूर संगठित होकर फिर वही करता है। जिसे नक्सलवाद नाम दिया गया है वह इन्हीं हालातों में पैदा हुआ है। आम आदमी का विश्वास लोकतांत्रिक संस्थाओं पर से डिग रहा है, क्योंकि वे बारबार नहीं और शोषक वर्ग का साथ देती हैं। 1973 में आसार दिखने लगे थे कि इस व्यापक जन-असंतोष और क्रोध का उपयोग 1971 के चुनाव में हारे हुए दक्षिणपंथी, प्रतिक्रियावादी राजनैतिक दल करेंगे। उन्होंने 74-75 में किया। 'सम्पूर्ण क्रांति' का आंदोलन इन्हीं दलों ने जनता से कराया। हालाँकि यह जन विरोधी आंदोलन था। एशिया, अफ्रीका के पिछड़े हुए तथा विकासशील देशों में या तो कम्युनिस्ट सरकारें हैं या फौजी तानाशाही है। संसदीय लोकतंत्र कहीं नहीं है। श्रीलंका और मिस्र में राष्ट्रपति की तानाशाही कायम हो गई। 1980 के चुनाव में जनता ने फिर से दो तिहाई बहुमत से कांग्रेस (इंदिरा) को सत्ता सौंप दी। अब यदि लोगों की अपेक्षाएँ पूरी नहीं हुईं तो उन पर यह प्रतिक्रिया होगी कि संसदीय लोकतंत्र की आखिरी परीक्षा हो गयी, अब क्या हो ? इंदिरा गांधी कहती हैं, 'लोगों की इच्छाएँ पूरी नहीं हुईं तो वे लोकतंत्र को लात मार देंगे।' तब क्या ऐसी स्थिति आयगी कि वामपंथी क्रांतिकारी आंदोलन के काफी संगठित और ताकतवर न होने के कारण या तो इंदिरा गांधी संवैधानिक तानाशाही ले आयें या फौज का शासन हो जाये ? ये प्रश्न विचारणीय हैं। इस स्थिति को तभी बचाया जा सकता है जब वामपंथी ताकतें बहुत तेजी से बढ़ें और विकल्प का रूप धारण करें।

प्रश्न—कबीरदास की असफलता के क्या कारण थे ? वही कारण क्या आपकी असफलता के नहीं हो सकते ?

कबीरदास कवि थे। आंदोलनकर्त्ता नहीं। मैं भी लेखक हूँ, आंदोलनकर्त्ता नहीं। लेखन की क्षमता और परिणामों की सीमाएँ होती हैं। कबीरदास पर निर्णय ऐसे नहीं दे सकते थे कि वे सफल हुए कि असफल। देखना होगा कि कबीरदास का क्या उद्देश्य था। कबीरदास विद्रोही थे। धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र में वे मूर्तिपूजा और कर्मकांड के विरोधी थे तथा सामाजिक क्षेत्र में वे जातिवाद के विरुद्ध थे। काव्य में उनका आंदोलन लोकतांत्रिक आंदोलन है। पर आंदोलन बहुत फैला। जितने भी कवि हुए और वे नीची जातियों के हुए जिन्होंने समता और लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना के लिए काव्य रचा। अब जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैंने कभी यह दावा नहीं किया कि मेरे लेखन मात्र से कोई परिवर्तन हो जाने वाला है। असंख्य लोग हैं—मजदूर हैं, किसान हैं, गरीब लोग हैं .

जो परिवर्तन के लिए लड रहे हैं। यही सफल होंगे, मैं इनके साथ कलम लेकर पैदल चलने वाला हूँ।

प्रश्न—घोर अवसरवाद के झझावात मे विरुद्ध खडे रहने का काम आगे बढा है क्या ? क्या आपको ऐसा नही लगता कि हास्य-व्यग्य का साहित्य खतरो की तुलना म यशोपार्जन, धनोपार्जन से ही ज्यादा जुडा है ?

साहित्य मात्र से अब यश और धन मिलते है। इन्ह कोई नकार नही सकता। केवल व्यग्य लिखने वाले से ही यश और धन के प्रति निर्मोही होने की और खतरा उठाने की अपेक्षाएँ नही होनी चाहिए। खतरे हर प्रकार के लेखन मे है—कविता मे, उपन्यास म। आजादी की लडाई के जमाने मे यह जो गीत था—'विजयी विश्व तिरगा प्यारा, झडा ऊँचा रहे हमारा' यह वाक्य तो नही है पर खतरनाक नारा था और इसे गाते हुए लाखो लोग जेल गये। खतरे का सवाल इस तरह पैदा होता है कि जो लिखा गया है वह किन हितो के विरुद्ध है ? और उसकी कितनी व्यापक अपील है। 'इमरजेंसी' के वक्त तो यह लिखना कि शहर मे 'तेल की कमी है' खतरे से खाली नही था, फौरन प्रेस मे खुफिया और सेंसर के लोग आ जाते थे। यह सही है कि बहुत कुछ जो व्यग्य और विनोद के नाम पर लिखा जा रहा है, तीव्र सामाजिक चेतना से हीन है। इसमे गुदगुदाने और हँसाने की प्रवृत्ति ही देखी जाती है। कुछ लेखक अर्थसत्ता और राज्यसत्ता की मुँहदेखी भी करते है, कुछ लेखक बहुत अच्छे है मगर ऊँची सरकारी नौकरी पर। वे तो मेरी तरह नौकरी खोने का खतरा नही ले सकते। कुछ लेखक निश्चित रूप से और जान-बूझकर शापक वर्ग के समर्थन मे लिखते हैं। ये भी व्यग्य लिखते है, पर इनकी चोट जनवादी शक्तियो पर होती है, ये धन और सुरक्षा के लिए ऐसा करते हैं, कुछ लेखक है जो लोकप्रिय भी है, जिनकी भाषा सधी हुई है, खूब पढे भी जाते हैं, लेकिन सामाजिक-राजनैतिक रूप से मूर्ख हैं। प्रगतिशील लेखन आदोलन का विरोध कुछ सम्पादक, लेखक जिम्मेदारी के कारण करत हैं तो कुछ मूर्खता क कारण। ये शासन के पीछे खडे होकर दुम हिला रह हैं और समझत है कि वह हम चला रहे है। कुछ ऐसे लेखक भी है जिनसे कुछ भी लिखवाया जा सकता है। परन्तु नयी पीढी के लेखको मे मैंने देखा है कि तीव्र सामाजिक चेतना आ रही है, वे लेखन का केवल मनोरजन नही मानन। उनमे वग चेतना भी है। अभी मैंने कुछ नय व्यग्य-लेखको की सग्रहा की भूमिका देखी। मैं उस पढकर चमत्कृत हो गया कि बीस साल से जो मैं चिल्ला रहा हूँ वह इन नये लेखको ने स्वीकार किया है। यह सही है कि प्रकाशन एक वर्ग के हाथ मे होन के कारण दबाव बहुत है, पर फिर भी बहुत अच्छा लखन चाहे न रहा हो लेकिन चेतना बराबर बढ रही है।

प्रश्न—पश्चिम क उल्लेखनीय साहित्य में आज व्यग्य की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति नाटक की विधा मे देखी जा रही है। क्या आप इस दिशा मे भी प्रयास करने जा रहे हैं या आप किसी विशेष विधा की गतिशीलता के साथ उसमे अनु-

शासन को नापसद करते हैं ?

नाटक बहुत सशक्त माध्यम है। मैं भी महसूस करता हूँ कि नाटक के माध्यम से व्यग्य अधिक कारगर हो सकता है। कुछ छुटपुट एकाकी के बिना कोई नाटक मैंने लिखा ही नही। इसका एक कारण तो यह है कि निबध, कहानी, कालम आदि मे मैं अपने को अभिव्यक्त कर लेता हूँ। असल मे जितने जमकर और साधकर नाटक लिखा जाता है उतना समय और सुविधा मुझे कभी नही मिली। नाटक लिखना जरूर चाहता हूँ और आगे लिखूँगा। हर विधा का अपना अनुशासन होता है और नाटक मे अनुशासन के प्रति मेरा उपेक्षा भाव नही है बल्कि उस अनुशासन को निभाने मे मैं अभी समर्थ नही हो पाया।

प्रश्न—सम्मान, पारितोषिक और अभिनदन के सबध मे आपकी धारणा क्या है ? इस समय देश मे कई स्तरो पर कई प्रकार से ये पुरस्कार जारी है ? क्या आप ऐसे किसी सस्थान या राज्य सस्था से पुरस्कार लेना मजूर करेंगे जो साहित्यकारो के बारे मे गैर साहित्यिक कारणो से निर्णय करती हो ?

सम्मान और धन किसी को बुरा नही लगता। मुझे किसी अभिनदन समारोह मे माला पहिनने और अभिनदन पत्र लेने मे कोई रुचि नही है। मेरी रुचि उन पैसो के ऊपर रहे जो मिलता है। कोई मेरा सम्मान करना चाहे तो मैं उससे कहूँगा कि मुझे देने के लिए धन का इतजाम तुम कर लो और अभिनन्दन पत्र मैं खुद लिखकर छपा लूँगा। सच्चा सम्मान तो वह है जो पाठको से मिलता है, या आम जनता मे। पुरस्कार या तो राज्य सत्ता देती है या पैसे वाले लोग। इनमे केवल साहित्यिक कारणो से निर्णय होता हो और ऐसा भी नही है कि साहित्यिक गुणो की कोई अवहेलना होती है, यह जरूर है कि पुरस्कार देने वाले के अपने वर्ग हित, मान्यताएँ और विश्वास निर्णय पर प्रभाव डालते हैं।

यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' को साहित्य अकादमी पुरस्कार न देना गैर साहित्यिक कारणो से हुआ। मैंने एक बार उत्तरप्रदेश साहित्य-परिषद का और एक बार म०प्र० कला परिषद का पुरस्कार लिया। म० प्र० कला परिषद ने एक बार मेरा सम्मान भी किया था। कला परिषद शासकीय सस्था है। मैं काग्रेस सरकारो का विकट आलोचक रहा हूँ, पर मेरा सम्मान किया गया। प्रश्न यह है कि लेखक क्या पुरस्कार के लिए समझौता करता है ? यदि नही तो पुरस्कार लेने मे कोई हर्ज नही है। हमारे देश मे अभी ऐसा नही हुआ है जैसा 'नोबल प्राइज' के साथ हो गया है कि पुरस्कार के साथ विशेष प्रकार की पक्षधरता जुड गयी है। फिर यह निर्णय करना भी सभव नही है कि अमुक सस्था गैर साहित्यिक कारणो से पुरस्कार देती है, इसलिए इस सबध मे कोई नियम नही बनाया जा सकता।

प्रश्न—आप स्वभाव से बेचैन, मित्रवत्, भावुक, साहित्यिक, निर्मल, अतरग और मानवीय हैं और आपकी वैचारिकता सघर्षपूर्ण है—यह स्थिति आधुनिक क्लैसिक की रचना के सर्वथा उपयुक्त है, फिर इसका लाभ आपने अभी तक क्यो

नही उठाया ?

क्लैसिक इरादा करके नही लिखा जाता बल्कि वह हो जाता है। क्लैसिक के लिए अन्य बातो के अलावा सम्पूर्ण जीवन का चित्रण होना चाहिए मैं खण्ड-खण्ड चित्रण करता हूँ। शायद मुझमे 'एपिक टेलेण्ट' नही है और मैं परम्परागत अर्थों मे महाकाव्य या उपन्यास नही लिख सकता। 'फेंटसी' मुझसे सधती है। मेरा बहुत कुछ सोचना फेंटेसी मे होता है। मैं अब कोशिश कर रहा हूँ कोई लम्बी 'फेंटेसी' लिखूँ जैसी 'डान क्विक्जोट' है।

प्रश्न—जब आपने सन् 52-55 के आसपास 'फ्रीलांसिंग' शुरू किया तब लेखन का न अच्छा पारिश्रमिक था और न प्रकाशन की अच्छी सुविधाएँ और न कालम-लेखन की कोई ऐसी परम्परा, फिर आपने यह खतरा कैसे उठाया ?

मैं हाई स्कूल मे अध्यापक था। लिखने की तीव्र प्रेरणा मेरे भीतर थी। मेरा सबसे अच्छा समय और बहुत-सी शक्ति स्कूल मे चली जाती थी। मैंने स्वतत्र लेखन का फैसला किया, तब इसलिए कर लिया कि मैं अकेला था। मेरी बहिन के परिवार का उत्तरदायित्व नौकरी छोडने के 6 माह बाद आया और मैं सचमुच घबडा गया। मेरे पास शिक्षण शास्त्र की डिग्री थी, मैं अध्यापक फिर से कभी भी हो सकता था। इसके अलावा स्थानीय एक दैनिक पत्र मे मेरा नियमित कालम चल रहा था। मैंने बहुत तीव्र गति से लिखा और प्रकाशन और पारिश्रमिक की स्थितियाँ बेहतर होती चली गयी। जैसी मेरी नौकरी थी वैसे मेरे 'कालम' हो गये। कठिनाइयाँ बहुत आयी, पर मैं बिल्कुल असुरक्षित कभी नही रहा। -

—ज्ञानरजन

एक अंतरंग बातचीत

(1) आज के संदर्भ में रचनाकार का उत्तरदायित्व क्या हो सकता है ? क्या आज के लेखन में वैविध्यपूर्ण जटिल तथा सूक्ष्म मानवीय अनुभवों की समग्र अभिव्यक्ति का अभाव है ?

लेखक हो, कवि हो, चित्रकार हो, उसे जनजीवन के संघर्ष से जुड़ना चाहिए। आज के लेखन में मैं देख रहा हूँ जिस मोर्चे पर खतरा नहीं है, वहाँ लेखक क्रांतिकारी होता है—जैसे 'सेक्स' के मोर्चे पर। सेक्स दुनिया के किसी देश में खतरनाक नहीं रह गया है। इस मामले में जो लेखक क्रांतिकारी बातें लिखते हैं, वे मुझे बच्चे लगते हैं।

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संघर्षों में खतरा होता है। ये लोग इस खतरे से बचकर केवल 'सेक्स' में क्रांतिकारी होते हैं।

मुझे लगता है, आज के लेखन में जीवन के कई नये पक्ष फिर भी उद्घाटित हो रहे हैं।

(2) यह सही है कि साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण करता है, लेकिन समकालीन साहित्य के राजनीति पर खड़े होने के कारण उसका मूल स्वर एकांगी होता जा रहा है। क्या यह स्थिति किसी मोहभंग की द्योतक है ?

कोई लेखक अराजनैतिक नहीं हो सकता। 'नेरूदा' ने खुद 'शुद्ध कविता' का विरोध किया था। मैं 'शुद्ध हास्य' का विरोध करता हूँ। कोई सामाजिक क्रांति अराजनैतिक नहीं हो सकती। यदि आज के लेखन में राजनीति का मूल स्वर है तो चिंता की बात नहीं। चिंता की बात सचमुच यह है कि राजनीति के मूल स्वर में जीवन के अन्य पक्ष न खो जायें। मोहभंग तो लेखक का इस सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था से हुआ ही है। वह नये मूल्यों की तलाश में है और सही राजनीति तलाश रहा है। सही राजनीति वामपंथी राजनीति है।

(3) भारतीय साहित्य में अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के योग्य कितना भण्डार है ?

पहिले भारतीय बुद्धिजीवी को वेद, उपनिषद, लोकायत पढ़ना चाहिए। चिंतन की जड़ें इसमें मिल जायेंगी। पर कोई पढ़ता ही नहीं है। यम और नचिकेता का संवाद ये लोग समझते नहीं है, मगर उसके बारे में बोलते हैं। यम और नचिकेता का संवाद जीवन पर मृत्यु की विजय नहीं है—जीवन का मृत्यु से द्वन्द्व है। यह मैंने पुराने भारतीय साहित्य की बात की।

विज्ञान'सांख्य-दर्शन' और बर्कले की 'मेटा फिजिक्स' साथ रखकर पढ़ें, तब

उन्हे भारतीय चिंतन समझ मे आयेगा।

अतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा कई कारणो से होती है, वह केवल 'साहित्यिक मूल्याकन' से नही होती। राजनीति से भी होती है—वरना यशपाल को 'दिव्या' तथा 'झूठा सच' पर नोबुल पुरस्कार मिलना चाहिए था।

(4) जीवनानुभूतियों को तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने मे क्या कहानी या व्यग्य अन्य विधाओ की अपेक्षा अधिक सक्षम है ?

जीवनानुभूति पहिले व्यक्तिगत होती है। लेखक साधारण आदमी की तरह इसे भोगता है। सघर्ष करता है, दुखी भी होता है।

व्यग्य साहित्य के अनुसार कोई विधा नही है—व्यग्य एक 'स्प्रिट' है। कहानी, उपन्यास नाटक के Structures है। व्यग्य का साहित्य में कोई साहित्य का Structure नही है। पर आज नही कई शताब्दियो पहिले से व्यग्य ही वह माध्यम है जिसने जीवन की विसगति, खोखलेपन और पाखड को उजागर किया है। स्पेनी लेखक का उपन्यास 'डान की होट' पढो। सर्वेंटीज ने उस समय के सामतवादी अहकार को उसम नगा कर दिया है। चार्ल्स डिकेन्स ने 'पिकनिक पेपर्स' में यूरोप के नवबुर्जुआ वर्ग का पर्दाफाश किया है। व्यग्य एक माध्यम है।

(5) साहित्य की अनेक विधाओं म (नाटक, कहानी, व्यग्य) अमूर्त्तता के प्रयोग किये जा रहे है। इन प्रयोगो की सभावना तथा सार्थकता के प्रति आप कहाँ तक आश्वस्त हैं ?

यह सवाल Abstraction का सवाल है। पश्चिम मे ब्रेख्त ने इसका सामना किया। और आज यूरोप का स्टेज बदल गया। वहा ब्रेख्त के नाटक चलते है। बर्नार्ड शॉ, समरसेट मॉम चले गये। वे स्टेज पर नही हैं।

सवाल है—लोकचेतना और सघर्ष को जीवत रूप मे सही माध्यम से जनता के सामने लाने का। अमूर्त्तता (Abstraction) भीएक माध्यम है। पर सवाल है, विचार का कैसे Convay करें ? यही मुख्य प्रश्न है, प्रेषणीयता का। चित्रकला मे अमूर्त्तता को मान्यता मिल गयी है। साहित्य मे अमूर्त्तता कठिन है। कविता मे अमूर्त्तता आई है पर सदर्भ उसके यथार्थ के है।

(6) क्या आज का साहित्य असबोधित (अप्रतिबद्ध) है ? यदि सबोधित है तो किसके प्रति ?

अज्ञेय अपने आपको सबोधित करते हैं। मुक्तिबोध के सबोधन का दायरा अपने से बाहर निकलकर बहुत व्यापक था। मगर मैं आश्वस्त हूँ कि अनेक युवा लेखक अपन सीमित व्यक्तित्व से बाहर निकलकर सामान्य जन को सबोधित कर रहे हैं।

प्रतिबद्धता के सवाल पर बहस कई सालो से चल रही है। इधर कुछ सालो से सार्त्र साफ कह रहे है कि मैं प्रतिबद्ध हूँ। एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के लोगो के मानवीय अधिकारो के सघर्ष के प्रति। कोई लेखक अप्रतिबद्ध नही रह सकता। या तो वह जन-आकाक्षा से प्रतिबद्ध होगा, या फिर

शून्य से।

(7) साहित्य को व्यक्तिगत कुठाओ के प्रकाशन का माध्यम बना डालना कहाँ तक उचित है?

व्यक्ति, व्यक्ति है। व्यक्ति को नकारा नही जा सकता। व्यक्ति को रोटी चाहिए, कपड़े चाहिए, सेक्स चाहिए। साहित्यकार को मनुष्य मानना चाहिए। पर रचना से साहित्यकार को व्यक्तिगत कुठाओ से बाहर निकलकर सामाजिक संघर्ष को लिखना चाहिए।

कुठा एक रोग है। हीन भावना का रोग। रोग भी साहित्य रचता है। नार्वे के नोबल पुरस्कार विजेता की रचना। 'हगर' (भूख) पढो। उसमे रोटी और सेक्स की भूख का मार्मिक चित्रण है, पर वह खुली रचना है, उसमे कुठा नही है। जीवन मे सर्वहारा की पीढी की अभिव्यक्ति है।

(8) क्या भारतीय साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित होने के लिए प्रयत्नशील है? नही है तो क्यो?

भारतीय आदमी हीनता की भावना से ग्रस्त है। अतर्राष्ट्रीय स्तर पर मुक्तिबोध जैसा कवि विरला होगा। टालस्टाय के बाद दूसरा लेखक है जिसने इतना बडा परिवेश लिया है—यशपाल—'झूठा सच' मे। पर भारतीय की हीन भावना गयी नही है। भारतीय साहित्य प्राचीन भी है। उसे विश्व-ख्याति मिल चुकी है। जर्मन विद्वान मेक्समुलर ने 'अभिज्ञान शाकुतल' के सिवा भी बहुत कुछ पश्चिम को समझाया। पर आधुनिक साहित्य मे 'स्टट' चल रहा है। भारत मे रहकर पश्चिम की जीवनानुभूति चित्रित करने वाला भारतीय लेखन दुनिया मे झूठा माना जायेगा। यही हो रहा है।

(9) साहित्य के नाते 'दायित्व' और 'प्रतिबद्धता' जैसे शब्द आपके लिए क्या अर्थ रखते हैं?

मैं एक समाज का अग हूँ। लेखक और मजदूर की राशन दूकान एक ही है। इसलिए मैं प्रतिबद्ध हूँ, उन लोगो से जो मेरी ही राशन दूकान से अन्न लेते है। दायित्व का प्रश्न उलझा प्रश्न है। मै लेखक के नाते सारे समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए अपना दायित्व मानता हूँ। इस जन सामान्य के सघर्ष मे मैं साथ हूँ, इसीलिए प्रतिबद्ध हूँ। जो अप्रतिबद्ध है वे न इस तरफ है, न उस तरफ। बहुत-से भारतीय बुद्धिजीवी इसी झमेले मे फँसे हैं। उन्ह साफ-साफ अपनी प्रतिबद्धता की घोषणा करनी चाहिए।

(10) क्या आप यह महसूस करते है कि अनजाने मे आपसे किसी राजनैतिक विचारधारा को प्रश्रय मिल रहा है और नही मिल रहा है तो क्यो?

मैं मार्क्सवादी हूँ। बेवकूफ मार्क्सवादी नही हूँ, इसीलिए अनजाने बौद्धिक गलती का सवाल मेरे सामने है ही नही। मैं मार्क्स की इतिहास की व्याख्या मानता हूँ। वर्ग-सघर्ष मे विश्वास करता हूँ। पर यह भी मानता हूँ कि मानव नियति और आगे बढेगी। निश्चित रूप से मैं वैज्ञानिक समाजवादी हूँ।

लेखक क्या प्रश्रय देगा ? उसके विचारो से किसी पार्टी को लाभ हो तो वह ले ले। पर मेरे लेखन और विचार से अतर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद और पूँजीवाद को प्रश्रय नही मिलेगा। मैं ठेठ जनवादी हूँ, और यदि मार्क्सवादी दलो को मेरे लेखन से सहायता मिलती है, तो ठीक बात है। *यो मार्क्सवाद के नाम पर जो झगडे* चल रहे है, मैं उनसे परेशान जरूर हूँ।

(11) आपके व्यक्तिगत जीवन की ऐसी कौन-सी घटना है जिसके कारण आपके मन मे सामाजिक विसगतियो पर आघात करने की प्रेरणा मिली ?

यह लबी बात है। रचनाकार की मानसिकता एक घटना से नही बनती, *लगातार अनुभवो और उनके अर्थो से बनती है। लगातार व्यक्तिगत सघर्ष से* मेरी दृष्टि बनी है, फिर अध्ययन मे।

व्यक्तिगत पीडा के प्रति एक मोह होता है। मनोविज्ञान मे इसे 'मेसाफिज्म' कहते है—याने स्वय-पीडा प्रमोद। मैं इस स्वय-पीडा के प्रमोद के मोहजाल से जल्दी मुक्त हो गया और मेरी अनुभूति व्यापक होती गयी। मैंने समझ लिया कि रोने से कुछ नही होगा—*लडने मे होगा और वह व्यापक पैमाने पर होगा।*

(12) क्या व्यग्य-लेखक जीवन और समाज से तटस्थ रहकर व्यग्य लेखन की प्रक्रिया का निर्वाह कर सकता है ? यदि नही तो क्यो ?

कोई लेखक तटस्थ नही होता। जो लेखक तटस्थ होने का ढोग करते हैं वे ही किनारे बैठकर तटस्थता की मछली फँसाते हैं।

जो जीवन मे तटस्थ है, वह व्यग्य-लेखक नही 'जोकर' है। कोई भी सच्चा व्यग्य-लेखक सामाजिक सघर्ष के सदर्भो से कटकर नही रह सकता। आखिर व्यग्य किस पर किया जायेगा, उन्ही पर न जो समाज मे झूठ, पाखड, अन्याय, विसगति पैदा करते हैं। *फिर व्यग्य-लेखक तटस्थ कैसे रहेगा ?* उसे सम्पृक्त होना ही पडेगा। बिना सामाजिक सघर्ष म शामिल हुए व्यग्य नही लिखा जा सकता—गैर जिम्मेदारी का मसखरापना किया जा सकता है।

(13) आपकी रचनाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि आप मार्क्सवादी चितन से सम्बद्ध है क्या यह आपके प्रारभिक कटु अनुभवो के कारण है ?

नही। जीवन के प्रारभिक कटु अनुभवो से यह होता तो मैं किसी सेठ का मुनीम हो गया होता और खूब नबर दो के रुपये मारता। मैंने दर्शन और इतिहास बहुत पढा है। भारतीय दर्शन मैंने पूरा पढा है। पश्चिम में सुकरात से लेकर काट, हीगेल, मार्क्स सब पढा है। पर मुझे विश्वास हुआ कि समाज मे *मानवीय सबधो का न्यायपूर्ण हल मार्क्सवाद ने ही दिया है। लेकिन कोई चितन अन्तिम चिन्तन नही होता।* ऐसा हो जाए तो मनुष्य और गधे मे कोई अन्तर नही रहेगा। लेखक का सबध उस बुनियादी दर्शन से सवाल-जवाब का होता है। मैं मार्क्सवादी होकर भी मार्क्सवाद से ( ) पाता हूँ।

(14) आपकी लेखन प्रक्रिया के क्षणो म समाज किस रूप मे आपके सामने खडा हो जाता है—बिम्ब, प्रतीक, द्वन्द्व प्रतिद्वन्द्व का जहाँ तक प्रश्न है।

कवि बिम्बों मे सोचता है। नेरूदा बिम्बों में सोचते थे। मुक्तिबोध तो एक विचार के लिए 6-7 बिम्ब दे देते थे। मैं अनुभव और विचार—इनका निष्कर्ष पहिले लेता हूँ। तब बिंब मेरे मानस मे आते है। इसी कारण मेरे लगभग 50 निबंध-कविताएँ हैं, क्योकि उनमे लगातार बिंब हैं।

(15) आपने सामाजिक सघर्ष के परिप्रेक्ष्य मे चुनौतियो को स्वीकार करते हुए क्या यह अनुभव किया है कि आप व्यग्य के माध्यम से उसका उत्तर दे पाये हैं? यदि नही दे पाये है तो क्या?

व्यग्य एक माध्यम है, व्यग्य कोई राजनैतिक पार्टी नही है। व्यग्य उजागर और सचेत करता है। अमेरिका म 'अक्ल टाम्स केबिन' ने नीग्रो लोगो को सचेत किया। इतिहास यही करता है। व्यग्य-लेखक उत्तर नही देता, वह उत्तेजित करता है कि—'समझो और लडो'—सामाजिक न्याय के लिए।

(16) नये समाज के भविष्य की कल्पना मे, तथा रचना मे क्या आपका प्रतिबद्ध लेखन खरा उतरा है?

मैं नही जानता, इसका मूल्याकन दूसरे लोग करें।

(17) उपर्युक्त प्रश्न के सदर्भ मे आपने समाज के जिस रूप की कल्पना की है, क्या वह साहित्य के माध्यम से मूर्त्त हो पा रही है?

समाज मे परिवर्तन की प्रक्रिया बहुत जटिल होती है, वह केवल लेखन से नही होती। दर्शन, लेखन, क्रांतिकारी सगठन के द्वारा होती है। भारत मे दर्शन और क्रांतिकारी सगठन मिलकर सघर्ष नही कर पा रहे हैं, यह मेरा दु ख है।

सामाजिक परिवर्तन सामाजिक सघर्ष से होते हैं, साहित्य उसमे विज्ञान के शब्दो म 'केटेलिटिक एजेंट' होता है।

(18) शासन के प्रभावों से पूर्णत मुक्त रहकर लिखा जा रहा साहित्य क्या समाज की यथार्थता और अपेक्षाओं की अभिव्यक्ति दे रहा है? अथवा साहित्य-रचना पर आप शासन का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष नियत्रण मानते है? यदि उचित मानते हैं तो किस सीमा तक?

जो लेखक सरकारी नौकरी मे हैं, उन पर बधन हैं। जो स्वतत्र लेखक पुरस्कार-सम्मान के लिए लालायित हैं, वे भी बधन में।

मैंने किसी सत्ता को खुश करने के लिए कभी नही लिखा। मध्यप्रदेश की सरकार (पहली अप्रैल 1973 को) जो 'बेवकूफो का दिन' कहलाता है, मेरा सम्मान करती है। तो मैं यह मानता हूँ कि राजनैतिक सत्ता सस्कृति से अपने को जोडना चाहती है।

(19) व्यग्य के लिए आप अनगिनित पात्र कैसे चुनते रहते हैं?

बडा अजब प्रश्न है। पात्र मैं जीवन से लेता हूँ। सालो उनके चरित्र का अध्ययन करता हूँ, तब व्यग्य चरित्र बनता है। मेरे मित्र कहते है 'तुम इस आदमी को यो ही चिपकाये रहते हो'—मैं कहता हूँ, 'यों ही नही। मैं 'स्टडी' कर रहा हूँ, आगे इस का परिणाम पढना। इस तरह मैं चरित्रो का अध्ययन करता हूँ और इसमे

भेद नही करता कि यह मेरा है या पराया। लेखक के लिए पिता भी एक पात्र होता है और मैंने पिता तथा चाचा पर लिखा है। मित्रों पर भी। पर वह चरित्र-हनन नही है, लेखक की सहानुभूति है।

(20) आपने अपनी व्यग्य लेखन प्रक्रिया मे 'प्रतीक' से 'बिंब' की यात्रा आरभ कर दी है? इससे आप कहाँ तक सहमत है?

मै सचमुच 'प्रतीक' से 'बिंब' की तरफ जा रहा हूँ क्योकि मुझे बिम्ब इस समय अभिव्यक्ति का ठीक माध्यम लगता है तथा मेरे अनुभव शायद बिंब से ज्यादा सफलता से प्रकट हो सकें। पर यह एक प्रयोग है, सफल न होऊँगा तो 'किस्सा-गोई' करने लगूँगा। सामाजिक विकृतियो की अभिव्यक्ति मैं बिम्बो मे प्रकट करता हूँ। यह सही है कि मैं आजकल बिम्बो मे सोचता हूँ, कवि की तरह। मुझे मुक्तिबोध याद आते है बिंब के मामले मे—वे चाद का बिंब देते हैं—

"बीमार सभ्यता की मा
चाँद को लिए है, जो गर्भपात की दवा की शीशी है।
यह बीमार सभ्यता अपनी बेटी के
अवैध गर्भ को गिरवायेगी।"

(21) व्यग्य लेखन मे मानवीय सवेदना का अत्यन्त विराट् रूप अभिव्यक्त होकर करुणा की अतर्धारा को निरन्तर प्रवाहित करती है। अपनी रचनाओं के परिप्रेक्ष्य मे इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

मैं केवल यह कहूँगा कि व्यग्य मानवीय करुणा, शुभचिंता का ऊँचा शिखर है। व्यग्य मे करुणा की अतर्धारा चेखव मे देखी की जा सकती है। चेखव का व्यग्य बहुत सशक्त है, पर इसके नीचे *मानवीय करुणा की अतर्धारा देखी जा सकती है।* चेखव की हर रचना मे यह है। बर्नार्ड शॉ मे नही है। 'शॉ' मे बौद्धिक Shock है। एक प्रहार है—'मैन एण्ड सुपरमैन' तथा 'डाक्टर्स डाइलेमा' मे शॉ की करुणा दिखती है, बाकी सब 'द्रविड बौद्धिक प्राणायाम' है।

(22) सृजन प्रक्रिया के समय आपके सामने कोई पात्र चुनौती बनकर खडा हो जाता है उस समय आप कैसे उसे पूर्णता प्रदान करते हैं?

हर रचना, हर पात्र लेखक के लिए एक चुनौती होता है। जब भी मैं किसी पात्र का अध्ययन करके लिखता हूँ तब मुझे लगता है कि मैं शत्रु के सामने खडा हूँ। मुझे सृजन प्रक्रिया म इस शत्रु पर विजय पाना ही पडता है। यह बहुत कठिन सघर्ष है, क्योकि लेखक अकेला नही है, वह समाज से जुडा है। पात्र जीवित चरित्र होते हैं। मुझे इन सघर्षों का सामना करना पडता है और तब मैं एक ईमानदार लेखक की तरह उसके सारे सबधो को भूलकर उस पात्र को एक चरित्र की तरह लिख देता हूँ, इसके खतरे होते हैं और मैं इन खतरो को समझकर ऐसा लिखता हूँ।

(23) आपकी व्यग्य रचनाओ मे व्यक्त व्यक्ति और समाज के क्षेत्र मे आपका व्यक्तित्व किस रूप मे समाहित रहता है?

भुई अजब प्रश्न है। क्या तुम 'इलियट' की बात कर रहे हो कि व्यक्ति और सर्जक से व्यक्तित्व अलग होना चाहिए ? मेरा सर्जन और मेरा व्यक्तित्व अलग नही है। व्यक्ति सामान्य आदमी है, उसके जीवन की जरूरतें होती है, फिर यदि वह लेखक है तो उसकी रचनात्मक चेतना होती है। इन सबमे तालमेल बैठा कर ही साहित्य सृजन होता है।

मैं इलियट क व्यक्ति और सर्जक के अलगाव को नही मानता। सृजन प्रक्रिया बहुत उलझी हुई चीज है। उसे फार्मूलो से व्याख्यायित नही किया जा सकता।

—रमाशकर मिश्र

जबलपुर और लेखक के रिश्ते

जबलपुर मोटर स्टैंड के चिरपरिचित पान अधिष्ठाता रुपराम कहते हैं—"प० हरिशंकर परसाई बहुत बड़े आदमी हैं" यह बात बहुत कम लोग स्वीकार करने को तैयार हैं। मित्र तो उन्हें कुछ भी मान लेंगे, पर शत्रु तो उनमें बड़प्पन की एक भी बात मानने के लिए तैयार नहीं हैं। ऐसी दशा में प० हरिशंकर परसाई के पिटने का समाचार छपा और उनके शत्रुओं में प्रसन्नता की लहर फैल गयी। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कुछ नासमझ युवकों ने उन्हें इस कारण पीटा कि वे *उनके संघ और उसके नेताओं पर नव-नव प्रहार करते रहते हैं।* बस, इस घटना के बाद वे शत्रुओं में भी बड़े आदमी बन बैठे। अब तो उनके लिए मुक्ति-बोध की शैली में यह कहना बहुत आसान हो गया है, *कि पार्टनर दुश्मनों के बीच* भी अब अननोटिस्ड नहीं रह गया हूँ। तो जो आदमी अननोटिस्ड' या अनउल्लेखनीय न हो वही तो बड़ा आदमी बन जाता है—ऐसा बड़ा आदमी साधु से लेकर शैतान तक की कोटि में आता है और परसाई इस साधु और शैतान की कोटि में कोई अन्तर नहीं मानते है और इस कारण उन्हें मेरी इस बात पर कोई एतराज नहीं है कि परसाई जैसे रामकृष्ण परमहंस के वचनामृत कई भागों में प्रकाशित हुए हैं, तुम्हारे भी ऐसे ही 'वचनामृत' की जगह 'विष-वमन' के कई भाग प्रकाशित होते। और, आगे आने वाली पीढ़ियों को वे बीच में बात को काटते हुए कहते हैं, 'विष पिलाकर शकर की तरह आगे की भटकती पीढ़ियों को सबसे बढ़िया और सशक्त 'बीटनिक गाड बना दूंगा और तुम्हारे श्री अरविन्द और माताजी का काम भी पूरा करूँगा क्योंकि वे आदमी को देवता या गाड ही तो बनाना चाहते हैं।"

"पर, तुम तो गाड के खिलाफ हो, फिर उन्हें क्या बनाना चाहते हो ?"

"मुझे अपने शत्रु बनाने में जो सुख मिलता है वह किसी बात में नहीं मिलता है। भगवान का काम तो केवल भक्त तैयार करना है, पर मेरा काम उससे बड़ा है—भक्त तो अपने आप तैयार होते हैं, पर शत्रुओं को तो बनाना पड़ता है। हनुमान के काम आसान नहीं हैं।"

"शत्रु बनाने में सबसे अधिक कठिनाई आपको तो साधुओं के बीच ही हुई होगी, क्योंकि वे तो बैर-प्रीत से परे होते हैं।" इस बात को सुनकर परसाई जी ने बहुत आहिस्ते से कहा जैसे कोई बड़ा रहस्य उद्घाटित कर रहे हैं—"नहीं भाई, उन्हें शत्रु बनाना सबसे आसान काम सिद्ध हुआ। हर साधु-संत में ईर्ष्या और

अहंकार होता है। वे सोचते है, उन्होंने भगवान को पाने के लिए समार-सुख का त्याग कर दिया। तो मैं उनसे केवल यही कहता हूँ, कि तुमने केवल ससार-सुख का त्याग किया, अरे ! मैंने तो उसके बनाने वाले भगवान तक को त्याग दिया— तो त्याग मे कौन बडा हुआ ? बस, यह कहा और साधु भी कुपित हो शत्रु बन गया।

तो परमाई का सुख शत्रु बनाना है। परमाई के इस आम सुख का एक खास रहस्य है जो उन्होंने कबीर की उलट वासी मे पकड लिया है और एक दिन मुझे और मुक्तिबोधजी को उस समय उद्घाटित किया जब मुक्तिबोधजी हमारे और उनके बीच हो रही 'लिगपुलिग' से विचलित होकर कह उठे कि पार्टनर इतनी 'लिगपुलिग' ठीक नही, किसी दिन आप लोग एक-दूसरे के शत्रु बन जाओगे। तब परसाई ने कहा कि हनुमान मे शत्रुता हो गयी तो फिर इनके मारे शत्रु मेरे मित्र हो जायेंगे और एक ही जगह फिर कई मेरे मित्र मिलेंगे।—तो परमाई दुनिया के इस आम सत्य पर अपना बहुमत बनाते हुए चल रहे है कि यहाँ कोई नही जिसके शत्रु न हो—ईर्ष्या और द्वेष ने जब शत्रुओं की इतनी बडी जमात पैदा कर रखी है तब फिर उसका सचेतन होकर लाभ क्यों न उठाया जाय और अपना बहुमत पैदा कर किसी दिन अपनी सत्ता कायम कर ली जाय।

परमाई ने सत्ता हासिल करने मे बडी सफलता पा ली है, इसमें तो अब कोई सन्देह है नहीं। हिन्दी मे तो शायद ही कोई ऐसा लेखक हो जिसको यह आराम है कि घर बैठे उसके पास लिखने की सामग्री आती हो। अनेक पत्र आते हैं, जिनमे उनके पाठक लिखते है कि 'परमाई जी, अमुक आदमी के बारे मे आपकी कलम नही चली। मैं कुछ सामग्री भेज रहा हूँ उपयोग कर लीजिए। यह घटना है इस पर आपके व्यग्य की अपेक्षा है।" परसाईजी के पास जितनी सख्या मे चिट्ठी-पत्री आती हैं उतनी ही सख्या मे उनके पाठक और मित्र आकर अपने सुझाव दे जाते हैं कि इस पर कुछ-न-कुछ लिखा जाना चाहिए। सुझावों मे कोई विषय अछूता नही—राजनीति, अर्थनीति से लेकर सामान्य रोजमर्रे तक की घटनायें लोग लिखकर भेज देते है और कहते है कि इस पर लिखा जाने। इतना ही नही, वे यह भी लिख भेजते है कि यह बात उनके अमुक कालम म आनी चाहिए। और अभी तो जब से भाई मायाराम सुरजन के देशबन्धु मे उनके लिए प्रश्नोत्तर का कालम खोल दिया है तब से तो परमाई के पास अब उनके पाठकों की ठेकेदारी कायम हो गयी है और वे मनमाने सवाल पूछने है और परमाई को भी मनमाने उत्तर देने की आसान विद्या मिल गयी है। पहिले फिकरा-परस्ती चर्चाओं और लघु कथाओं तक ही सीमित थी अब सवालों मे सहज ही मेंबर कर आ गयी है—हास्य और व्यग्य के लिए इसमें अच्छा माध्यम और क्या हो सकता है ? पर, परसाई को परेशानी है प्रश्नों के सपाटपन से और इस परेशानी को जब उन्होंने भाई मायाराम सुरजन के सामने रहते हुए कहा, "यार मायाराम, तुम्हारे अखबार के पाठक बडे सवाल पूछते हैं।" तो तुरन्त मायाराम ने कहा कि "वे

बेचारे भोले-भाले है उन्हे क्या पता कि तुम अपने चुटकुलों और मसखरेपन को साहित्य मे हास्य और व्यग्य बना बैठे हो ?" और तब परसाई ठहाका मारते हुए बोले, "देखो हनुमान, अब हिन्दी-साहित्य का क्या होगा कि प्रदेश के साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष को चुटकुलो और हास्य-व्यग्य मे अन्तर नही मालूम ?" "पर, मसखरापन तो मैं समझता हूँ और इस कारण परसाई तुम्हे साहित्य-सम्मेलनो मे बुला लेता हूँ ।" मायारामजी ने तुरन्त उत्तर दिया ।

ऐसे अनेक प्रसग और घटनायें हैं, जो परसाई के साथ जुडी हुई हैं। या कहना चाहिए कि उनका दैनिक जीवन और साहित्य दोनो ही जुडे हुए हैं। वे जो लिखते है वही जीते हैं—जो भाषा बोली जाती है वही लिखी जाती है। उसमे कोई भेद नही है और यही कारण है कि अन्य लेखको मे भिन्न वे ऐसे एकमात्र लेखक है जिनकी रचनाओ मे उनके पाठकों का बहुत एक्टिव पार्टिसिपेशन (सक्रिय योगदान) है। उनका हर पाठक उनके साथ चलता है। जमाना बदल गया वरना परसाई चिमटा बजाते चलते और उनके पीछे फक्कड साधुओं की जमात होती जो एथेन्स के साथ सुकरात के भक्तो की तरह हर स्थापना को तोडकर नयी बनाने के लिए बगावत करते नजर आती। पर आज छापाखाना बीच मे आ गया और बीच मे आ गये छापाखाने के मालिक जो धन-दौलत और पार्टीगत स्वार्थ की भूल-भुलैयो मे परसाई की उस वाणी को फटकने नही देत है, जो वास्तव म परसाई को कबीर बनाने मे समर्थ हुई है। इस कबीर के कितने 'सुनो भाई साधो' के कालम छापने से रुक गये क्योकि छापखाने का मालिक दम कबीर की फक्कडता को नही झेल सकता है। इतना ही नही, जिस राजनैतिक पार्टी के साथ परसाई जुडे है, वह पार्टी भी परसाई की दो टूक बात को सहन करने के लिए तैयार नही।

स्वार्थ के घेरे मे फँसे व्यक्ति या पार्टियाँ परसाई के अन्दाजे-बयाँ को सहन करने की क्षमता भले न रखते, पाठक या श्रोता उनके हर इशारे को समझ लेता है और वह इतना सजग कि परसाई यदि कही लगाम लगाकर बात करते है तो वह उसे बेलगाम बयान कर देता है। उनकी इस शैली और सीधी सच्ची बात का परिणाम यह हुआ है कि परसाई बिना कोई सघ बनाये नयी पीढी के बीच सबसे लोकप्रिय लेखक बन गये। और जब तक वे चल-फिर सकते थे तब वे मसीहा की तरह आमत्रित किये जाते थे और छात्र छात्रायें उन्हे घेर कर कहती थी कि इस सडी गली शिक्षा-प्रणाली को उखाड फेंकने मे हमारा मार्गदर्शन कीजिए। परसाई का मार्गदर्शन विश्वविद्यालयो की यथास्थिति से समझौता करने की नीति को झकझोर देता था जब वे कहते थे कि परीक्षाओ मे नैतिकता के लिए लडने वाले अध्यापक और अधिकारी अपनी और समाज की नैतिकता क्यो नही देखते ? पैसे लेकर ट्यूशन करना, कक्षाओ मे पढाना नही और खुद भी डिग्री लेने के बाद पढना नही, अक बढाने के लिए सौदेबाजी करना और अपनी ही छात्राओ को कामुकता की नजर से देखने समय जब अध्यापको की नैतिकता नही जागती तो

परीक्षार्थी को नकल करते देखकर कैसे जाग जाती है ? घूसखोर बाप का बेटा घूस के भरोसे अव्वल आने मे सफल हो तो गरीब लडका अपने ही भरोसे पर नकल भी नही कर सकता। परसाई के लिए हर थोथी मान्यता एक सामाजिक बेईमानी है और इस समाज मे कितनी बेईमानी की परते है, ये परसाई से छिपी नही है।

परसाई ने कबीर की तरह ही दुनिया को देखा है। हर आडम्बर और कुठा के साये म घूम फिरकर देखा है, कि कही कुछ उसम बचाने लायक है तो बचा लिया जाय, अन्यथा क्या फर्क पडता है अगर उसकी धज्जियाँ उडा दी जायें। बेईमानी और आडम्बर के प्रति निर्मोह परसाई मे जागा तो उसके साथ ही जागी इस सनातनी मानवी सत्ता की वह सभ्य और सुसस्कृत परम्परा जिसने बुद्ध और काइस्ट को जन्म दिया था, जिसने पैगम्बर और गाधी को सघर्ष के लिए तैयार किया था। तुलसी की रामायण न जहाँ परसाई को मर्यादा का पाठ पढाया वहाँ कबीर और सुकरात ने उन्ह मिथ्या तत्त्व पर प्रहार करने का जोरदार सबल दिया। जब मन की अतल गहराइयो में तुलसी और कबीर ने अपने को परसाई के भीतर सत्ताधारी बना लिया तो प्लेटो से किर्केगार्ड तक, वेदव्यास से प्रेमचन्द तक और चासर तथा सरवान्टेज से चेखव और बर्नार्ड शा तक सभी परसाई क लिए अपनी-अपनी झोली मे से कुछ-न-कुछ निकाल कर देने लगे। परसाई मे पहले झिझक थी कि कही कुछ कोई कह न बैठे, किसी को कुछ बुरा न लग जाय। इस कारण जब-तब कुछ लिखते थे तो अपने से वरिष्ठ साहित्यिक मित्रो से चर्चा कर लेते थे। फिर उसे सँवारकर सुकोमल भावनाओ की धरातल पर उतारते थे। उक्त निबन्ध भी लिखते थे तो उनमे भी किसी को आघात न लगे इस पर कुछ ज्यादा ध्यान देते थे और शिष्ट-हास्य पर लाकर बात छोड देते थे। आरभिक कहानियो मे भी यही बात थी। हँसते हैं, रोते हैं और 'तट की खोज म' परसाई की यह भावुकता और उनकी एक पाठिका के शब्दो म कहे कि 'सुहृदयता' भली-भाँति दिखाई देती थी। ये रचनाएँ उस काल की हैं, जब परसाई जबलपुर मे आये-आये ही थे। छोटे गाँव और कस्बे के जीवन की कुठाओ और मानसिक चक्रव्यूहो के द्वन्द्व मे फँसा यह अभिमन्यु जब सन् 1948 मे जबलपुर आया तो शहर उसके लिए नया नहीं था, क्योकि इसके सात वर्ष पूर्व वह डिप्टी के प्रशिक्षण हेतु यहाँ आ चुका था और जूनियर स्कूल मास्टर का गत जबलपुर का वह सत्य ग्रहण कर चुका था, जहाँ दुनिया की विशालता म उसका अपना अस्तित्व नगण्य था। इस आरभिक अनुभूति ने परसाई के मन से अह भाव को सदा के लिए निकाल दिया और इस कारण जब वह दूसरी बार या कहें कि सदा के लिए जब वह जबलपुर मे आया तो उसके भीतर अहकार नही था। वह लिखना जानता है, इसका भी अहकार नही था और उसकी लेखनी के लोग कायल हो रहे है, इस का भी अहकार नही था।

पजामा और कुर्ता पहने बाजू मे रुपये-डेढ रुपये की कपडे की लम्बी थैली

लटकाये चप्पलें चटकाते परसाई जी को उन दिनों कहीं भी देखा जा सकता था। साइकिल चलाना तो अभी तक नहीं आया इस कारण रिक्शा या पैदल गति बाँधने का साधन उनको सुलभ था। पर रिक्शा मे पैसा लगता तो पैदल ही चलना होता। फिर उनके घर से उनके अड्डे भी कोई अधिक दूर नही थे। तिलकभूमि का राष्ट्रीय होटल और प० भवानी तिवारी के घर का प्रहरी कार्यालय और इन दोनो दूरियो के बीच श्याम टाकीज पर पंडितजी की पान की दुकान के बाजू म रखा तख्त। इन तीन स्थलो पर परसाई को पा लेना कभी भी कोई कठिन कार्य नहीं था। सन् 1950 के बाद तो दो-चार बरस तक पंडित की पान की दुकान जबलपुर का साहित्यिक अड्डा ही बन गया था। उमसे पहिले यह अड्डा राष्ट्रीय होटल और जवाहरगज का पत्रिका आफिस था जो बाद म जबलपुर साहित्य सघ का दफ्तर ही बन गया था। इस साहित्यिक मडली के निर्द्वन्द्व स्थायी अध्यक्ष थ प० भवानी प्रसाद तिवारी जो सध्या समय डोलते हुए आते और तख्त पर आसीन होते और फिर उनके आसपास आ जुटते सभी छोटे-बडे स्थानीय साहित्यकार जिनमें नयी-पुरानी पीढी का कोई भेद नही था। प० मातादीन शुक्ल या ब्यौहार राजेन्द्रसिह जैसे वयोवृद्ध साहित्यकारो को भी इस मच तक आने मे कठिनाई नही थी। प० रामेश्वर प्रसाद शुक्ल अचल, नर्मदा प्रसाद खरे, प० केशव पाठक सभी जब-तब यहाँ पहुँच जाते थे। पर इस तख्त के स्थायी सदस्य थे प० भवानी प्रसाद तिवारी और हरिशकर परसाई। इनके बाद स्थायी सदस्यो मे प० रामेश्वर गुरू, प० गोविन्द तिवारी और श्री नत्थूलाल सर्राफ का नम्बर आता है। उस समय के युवा लेखकों और कवियो मे रामकृष्ण दीक्षित विश्व, स्व० प्रभात तिवारी, पुरुषोत्तम खरे, श्रीबाल पाडेय, वशगोपाल सर्राफ आदि लोग आते है। पत्रकारो मे श्री नर्मदा प्रसाद सर्राफ, अरगरे श्यामसुन्दर शर्मा, कुज-बिहारी पाठक, मोहन सिन्हा आदि। नवभारत के प्रकाशन के बाद श्री मायाराम सुरजन भी जब-तब इन अड्डो पर आ पहुंचते। नगर की साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक गतिविधियो की रूपरेखा यही तैयार होती और आगे उन पर अमल अलग-अलग लोग करते चलते। प० भवानी प्रसाद तिवारी का व्यक्तित्व इस अर्थ मे अद्भुत था और परसाई म जो मस्ती साहित्य और राजनीति मे दिखाई देती है उसका बहुत बडा हिस्सा प० भवानी प्रसाद तिवारी की देन है। उन्हे समाजवादी विचारधारा के निकट लाने का श्रेय भी प० तिवारी को है। तिवारी जी का घर, उनकी राजनीति और उनका व्यक्तित्व कितना विशाल था, इसकी कल्पना वे ही लोग कर सकते है जिन्होने प० तिवारी के साथ जीवन के कुछ क्षण बिताये हैं। प० तिवारी से परसाई ने क्या नही लिया? प० तिवारी ने परसाई को वह सब कुछ दिया जो एक सुहृदय बडा भाई अपने छोटे भाई को दे सकता है और फिर उससे भी ज्यादा उन्होंने परसाई को वह स्वाधीनता और विश्वास दिया कि परसाई यदि प० तिवारी की राजनीति और उन पर भी व्यग्य की फब्तियाँ कस दें तो उन्हे किस आनन्द के साथ ग्रहण कर कहते थे—'वाह!

परसाई क्या बात है ?' तन और मन के उजले प० तिवारी के साथ रहकर परसाई ने अपने भीतर की कुंठा के हर काले धब्बे को धो दिया और स्निग्ध चाँदनी की शीतलता को मन में लेकर अपनी बौद्धिकता के प्रखर सूर्य रोशनी को लेकर सामाजिक यथार्थ की तंग और विस्तृत गलियों में बेखटके फेरे लगाने लगा। वह तिलमिलाने की सीमा तक आघात करने का तत्पर है पर मर्मान्तक प्रहार वह नहीं कर सकता है, क्योंकि वह सामाजिक यथार्थ से परिचित है। द्वन्द्वात्मक समाज विकास के ज्ञान न परसाई को घृणा, आक्रोश और क्रोध से दूर कर दिया और उनके स्थान पर उसके हृदय म परिस्थितियों की विवशता के बीच कराहती मानवता के प्रति ऐसी सहानुभूति उभर आयी जिसमे संघर्ष और निर्माण की शक्ति है। वह जोनाथन स्विफ्ट के व्यग्य की कटुता को तिलाजलि देकर डिकिन्स की भावात्मक व्यग्य शैली का अपनाते है। अपने पात्रों की दुर्बलता को उभारने से कहीं नहीं चूकते है पर उन्हे वे उपहास अथवा घृणा का पात्र नहीं बनने देते हैं। उनमे वे एक समूचे वर्ग की दुर्बलता अथवा खोट को सामने लाकर रख देते हैं। उनकी कथाओ और रेखा-चित्रों म अकित अधिकांश पात्र उनके आस-पास के ही पात्र हैं। वे व्यक्ति या घटना को पकडकर एक ऐसा सर्वमान्य ताना बाना बुनते हैं कि उससे समूचा समाज और सभ्यता का खोखलापन बाहर आ जाता है। समाज की विद्रूपता और भौंडे आदर्श परसाई के लिए रुचिकर नही। आदर्श अथवा जीवन मूल्य ड्राइगरूम सजाने के तोहफे नहीं है। या तो व जीवन का मकंग बनकर चले अथवा उन्हे तिलाजलि ही दे दी जाय इस कारण परसाई जी के लिए आदर्श उतना ग्राह्य नहीं जितना यथार्थ—फिर वह कितना ही घिनौना क्यों न हो। यह यथार्थ कभी घृणावश और कभी आक्रोशवश अपने को बदलकर नूतन के निर्माण की ओर उन्मुख तो होना ही है।

परसाई समाज की रचना और उसके विकास क्रम को कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं। प० भवानी तिवारी के सम्पर्क मे वे समाजवाद के पक्षधर बने पर भारतीय समाजवादियों की नीति-रीति से उनका विरोध सन् 1952 के प्रथम आम चुनाव के बाद ही शुरू हो गया और तब उनका सम्पर्क स्थानीय साम्यवादी नेताओ से हुआ जिनमे सृष्टिधर मुकर्जी और पी० के० ठाकुर विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने परसाई को कम्युनिस्ट विचारधारा के मध्य मे लाकर खड़ा कर दिया। उसी काल मे प्रगतिशील लेखक सघ के लेखको और आलोचको न भी परसाई को विशेष प्रभावित किया। डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदान सिह चौहान और अमृतराय तथा मुक्तिबोध इधर हिन्दी म हैं तो उधर रूसी और अन्य पाश्चात्य देशो के लेखको ने भी परसाई की साम्यवादी विचारधारा को पुख्ता बनाया। युद्धोत्तर फ्रास और रूस के लेखकों की अनेक रचनाएँ सामने आयी और परसाई उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। रूसी क्रान्ति के बाद और पहिले के लेखको मे परसाई को जिन्होंने सबसे अधिक प्रभावित किया उनमे डास्टोवस्की, टालस्टाय, चेखव, गोर्की और शोलोखोव हैं। इसी

तरह फ्रास के लेखको मे मोपासा, अनातोले फ्रास बालज़क और लुई एरागा और बाद मे कामू और सार्त्र। इगलिश के लेखको मे शेक्सपियर और डिकिन्स के बाद परसाई को सबसे प्रिय यदि कोई लगा है तो बर्नार्ड शा, वेल्स और उपन्यासकारो मे जेनआस्टिन और टामस हार्डी। अमरीकी लेखको मे ओ० हेनरी, सिन्क्लेयर लुईस, हेमिग्वे आदि। इनके अतिरिक्त कुछ नये लेखक जो पूर्वीय यूरोप और अफ्रीकी देशो के हैं, उनकी रचनाओ को भी परसाई ने खूब रुचि के साथ पढा और उनमे नये जीवन का सघर्ष देखा। लेटिन अमरीकी कवि पेबलो नेरुडा और रूसी कवि माइकोवस्की तो जैसे कुछ दिनो तक परसाई के सिर पर भूत की तरह सवार थे।

इतने सारे लेखको के प्रभाव की बात मैं इसलिए कर रहा हूँ कि सन् 1954-55 के वे दिन जब 'वसुधा' मासिक निकालने की तैयारी हो रही थी और फिर जब वह निकल आया तब परसाई, प्रमोद वर्मा, प्रो० नागराजन और मैं कभी-कभी आधी रात तक इन सब साहित्यकारो पर चर्चा करते रहते। हम सभी तब घरेलू जिम्मेवारियो से अपेक्षाकृत मुक्त थे और कही भी किसी एक के घर बैठकर भोजन कर लेते और साहित्य की चर्चा मे जुट जाते। उन दिनो कुछ नयी किताबें भी चर्चा का विषय थी, जिनमे एक लूकाच की किताब 'स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म' थी और इधर हिन्दी मे भी कुछ किताबें आयी थी जिनको हम सफलतापूर्वक पढ सकते थे, क्योकि सुभद्रा कुमारी चौहान के ज्येष्ठ पुत्र श्री अजय चौहान ने तब पुस्तको की दूकान भी खोल ली थी। यह नया अड्डा हम सबके लिए सहज बन गया जो फिर धीरे धीरे शेषनारायण राय की पुस्तक की दूकान यूनिवर्सल बुक डिपो तक जा पहुँचा। श्री शेषनारायण राय की दूकान अब नही है। और श्री राय कम्युनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक नेता बन गये है। आज जब श्री राय के बारे मे सोचता हूँ तो लगता है कि परसाई ने राय जैसे सामती प्रवृत्ति के व्यक्ति को कैसे सर्वहारा की पार्टी मे ढकेल दिया। परसाई के ऊपर शेषनारायण राय अपना सामतपन नही लाद पाय पर परसाई ने उनका सामतीपन नाश कर दिया। सोचता हूँ परसाई ने क्या राय को कम्युनिस्ट बनाकर यह तो सिद्ध नही किया कि वे बुर्जुआ सस्कृति को मिटाने की क्षमता रखते हैं। यह बात इसलिए और मन मे आती है कि मुक्तिबोध ने एक दिन मेरे घर डाईनिंग टेबिल देखकर कहा था, परसाई यार ये हनुमान तो बुर्जुआ होता जा रहा है। पार्टनर कही ये वर्ग-सघर्ष से दूर न हो जाय। और तब परसाई ने कहा था, मुक्तिबोध जी बुर्जुआ सस्कृति तो अपनी मौत मर जायगी पर हाँ, उसकी हड्डी चचोरने वालो के लिए अवश्य कुछ करना होगा—सो आप चिन्ता न करें मैं सबको ठीक कर दूँगा। बात हँसी मे चली गयी पर शेषनारायण राय के जमींदाराना अन्दाज के गायब होने को जब देखता हूँ तो लगता है कि यह परसाई की ही करामात है।

ऐसी साहित्यिक करामातें भी परसाई की कम नही हैं। कितने ही नये लेखक

और कवि अपनी भावुकता मे कुछ लिखकर जब परसाई के पास आते हैं तो वे गौर स उनकी रचनाओ को सुनते है और फिर उनसे समाज और उसके यथार्थ की बात करने लगते हैं। नौजवान लेखक जिस पुलकित भाव से कलम पकडकर चला था वह छूट जाती है। भावुकतापूर्ण गीत भी तब वह नही लिख पाता है। सहज प्रेम-कथायें भी लिखने की प्रेरणा वह परसाई से जब नही पाता है तो या तो लिखना बद कर देता है या फिर किसी अन्य मिडलची के आस-पास घूमने लगता है, जो उसकी प्रतिभा को गीतो म ही कुठित कर देता है। और जिसकी परिणति सिनेमा के गीतो के रिवाइवल मे ही होती है। परसाई की प्रतिबद्धता जितनी दृढ हुई उतनी ही उमग भरी पीढी उनसे दूर हो गयी और विगत वर्षो मे एक दो लोग ही नये आये शेष सबके सब परसाई के विरोधी मिडलची गीतकारो, व्यग्यकारो और तुकबदी करने वालो के आस पास घूमते नजर आते है। जो रह भी तो वे आलोचक बन जाने मे अपना हित समझने लग गये। नगर म आज बहुत कम युवा साहित्यसेवी है जो परसाई के निकट साहस से जाने की इच्छा रखते है, कुछ उनकी प्रतिबद्धता और राजनैतिक व्यग्य मे इतने रुष्ट है कि उनसे मिलने मे उत्साह भी नही दिखाते। प० श्रीबाल पाडेय जो कभी हरिशकर परसाई के साथ मित्र बने घूम रहे थे अब उनसे बहुत दूर नजर आते है। और कभी-कभी लगता है कि उन्होने अपनी धूनी अलग रमा ली है। बाहर के ऐस ही अभिन्न मित्रो मे शरद जोशी और श्रीकान्त वर्मा है। साहित्य और राजनीति मे परसाई विचारो से बँध गये पर पार्टी से नही। न राजनेताओ की पार्टी से और न ही साहित्यकारो की पार्टी से इसी कारण उन्हे अपन पास आते लोग मिले और फिर दूर जाने वाले भी मिले। कभी धर्मयुग बिना उनके कालम के नही निकलता था तो अब वर्षो बीत गये धर्मवीर भारती ने रचना ही नही माँगी। सारिका का प्रकाशन भी उनकी रचना के कारण रुक गया। 'नयी दुनिया' इन्दौर मे 'सुनो भाई साधो' सेंसर होकर छपता रहा। कल्पना म और 'अत मे' भी बन्द हो गया। परसाई की कलम को पूरी आजादी दिये कोई बैठा है तो वह हैं मायाराम सुरजन का 'देश बन्धु'। इसमे परसाई को छूट है कि वह महात्मा गाधी से लेकर मायाराम सुरजन तक सब पर जैसा प्रहार करना चाहे करें। पर परसाई व्यर्थ प्रहार के आदी नहीं और वे तब तक किसी बात का नोटिस लेने के लिए तैयार नही जब तक वह समाजवादी विकास के क्रम मे बाधा बनकर उनके सामने न आ जाये। यदि परसाई समाजवादी क्रांति और उसके लिए वामपथी एकता मे विश्वास करते हैं तो फिर वे उन समाजवादियो और वामपथियो के विरुद्ध है जो इसमे रोडा अटकाने का काम करते है। मार्क्सवादी कम्युनिस्टो से यही उनका मतभेद है। चीनी कम्युनिस्टो के विरुद्ध वे इसी कारण है कि उन्होने अतर्राष्ट्रीय समाजवादी एकता मे फूट पैदा की। जयप्रकाश और लोहिया से भी वे इसी कारण नाराज है कि वे सब समाजवादियो की एकता मे विश्वास क्यो नही करते है—और समाजवादियो तथा साम्यवादियो के स्थान पर पूजीवादियो से

समझौता करने की सलाह क्यो देते रहे। उनके लिए विचार और कर्म की एकता का जो महत्व है वह किसी का नही—इसी कारण वे जवाहरलाल नेहरू को किंचित पसन्द करते हैं और कहते है—वह आदमी कुछ ठीक था, उसने सोचा-विचारा और अपनी क्षमता के अनुकूल कार्य किया। उसने कभी समाजवाद की स्थापना की बात नही कही। उस ढग की समाज की आशा व्यक्त की। फिर उसने तटस्थता की बात की और कहा, युद्ध और शाति के बीच तटस्थता नही—शाति के प्रति पक्षधरता जाहिर होनी चाहिए। वह सही अर्थों मे सिकुलर था। परसाई की जवाहरलाल के विचारो से निकटता बहुत कुछ समझा देती है और उनकी इस निकटता को बल देने मे जबलपुर नगर का अपना चरित्र भी सहयोगी है। जिसमे बडी बेमेल बातो के बीच भी सस्कारधानी का एक गौरव है—परसाई एक ओर गोभक्त हिन्दी सेवक बाबू गोविन्ददास को बुजुर्ग कहकर टालने को तैयार हैं तो दूसरी ओर वे *अकविता और बीटनिक या भूखी पीढ़ी के* लोगो को भी नासमझ मानकर चलने को तैयार है। उनके लिए पुख्ता जीवन दर्शन और उसकी जन-अभिव्यक्ति एक आवश्यकता है। वे समाज को रूढ़ियों और कुठाओ की बेडियों मे देखना पसद नही करते। फिर वे बेडियाँ कितने ही सुनहरे परम्परागत आदर्श की क्यो न हो। उनकी इस चिन्तनधारा ने उन्हे लोकप्रिय बनाया, पर कोई नारी उन्हे वरण करने का साहस नहीं कर सकी, क्योंकि "जबान से प्रेम की बातें करना आया ही नहीं है।" ये शब्द है मेरी पत्नी के जिसको उन्होंने एक बार कहा था कि "मै आजकल जरा पतिव्रताओ से प्रेम करने की सोच रहा हूँ।" तो मेरी पत्नी ने तुरन्त जवाब दिया था, "तब हो गया आपका प्रेम, क्योंकि पतिव्रताएँ मिलेंगी कहाँ जो आपको प्रेम करें—एकाध दो हम जैसो को छोड दीजिए। परसाई जी, पतिव्रताओ को छोडिये, वे आपके किसी काम की नही है।' और तब से परसाई कहते रहते हैं, "मैं जरा पतिव्रताओ से बचकर चलता हूँ क्योंकि वे मेरे किसी काम की नही है।"

सच है पतिव्रताएँ परसाई के किसी काम की नही हैं—पतिव्रताएँ—जीवन-मूल्य रूपी, आदर्श रूपी, विचार रूपी, धर्म और नैतिकता रूपी—किधर है? सभी कुछ तो खडित है, सभी कुछ विद्रूप है और अपवित्र है—सभी पतिव्रताएँ खो गयी हैं—परसाई उन्हे प्यार करने की खोज म है और वे अपना पतिव्रत धर्म खोये बैठी है। इन्ही खडित पतिव्रताओ को लेकर परसाई का काम चल रहा है। इस उम्मीद मे एक दिन उनकी मनचाही पतिव्रता समाज निर्मित होगी।

—हनुमान प्रसाद वर्मा

विषवमन धर्मी रचनाकार

हरिशंकर परसाई से पहला परिचय हुए लगभग तीस साल हो गये। इतने वर्षों के मित्रता-प्रसंग को सिलसिलेवार लिख पाना यों ही कठिन काम है। तिस पर वह परसाई जैसे व्यक्ति के बारे में जिसकी अपनी निजी जिन्दगी केवल दूसरों की समस्याओं की कहानी हो, अपनी कहने को कुछ नहीं। शायद इस लेख में मुझसे यह अपेक्षा भी नहीं की जा रही कि मैं उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के बारे में कुछ कहूँ। और सच तो यह है कि इस सम्बन्ध में मुझसे अधिक अधिकारी व्यक्ति बहुत हैं। मेरी अपनी कठिनाई यह है कि जिस आदमी से कभी उसके सुख-दुख की चर्चा ही न हुई हो उसके निजी जीवन के बारे में क्या लिखूँ। जब कभी कोई बात होती भी है तो यही कि अमुक मित्र की यहाँ मदद करना है या कि अमुक सूमिनार हाथ में ले लिया है इसे पूरा कराना है।

काम-काज का यह लेन-देन भी इकतरफा नहीं है। 1962 में जब मैं नयी दुनिया जबलपुर (अब नवीन दुनिया) से अलग हुआ तो यह निश्चय परसाई का ही था कि मुझे जबलपुर नहीं छोड़ना चाहिए। यह भी लगभग उनका ही फैसला था कि जबलपुर में ही एक दैनिक अखबार शुरू किया जाए। अखबार शुरू करने का इरादा तो ठीक है। उसके लिए पूँजी का क्या इतजाम होगा। सो एक पब्लिक लिमिटेड कम्पनी बना डाली गयी। गोकि उसमें हजार दो हजार देने वाले चार-छः लोग भी शामिल हुए लेकिन सौ-सौ रुपये देने वालों की सख्या सैकड़ों में है। रूपराम पान वाले और लोकमन पटेल होटल वाले जैसे अनेक सदस्य परसाई की ही देन हैं।

1949-50 में जब मैं दैनिक नवभारत के जबलपुर सस्करण के प्रकाशन के सिलसिले में जबलपुर आया तब परसाई को अपने समय के सुयश प्राप्त साप्ताहिक 'प्रहरी' के माध्यम से पढ़ता-सुनता रहा था। मैं नहीं कह सकता कि उन्होंने लिखना कब शुरू किया, लेकिन मेरा ख्याल है कि 'प्रहरी' में प्रकाशित

इस लेख का शीर्षक मेरा नहीं है। 'विषवमन' तो हरगिज नहीं। दरअसल यह हनुमान प्रसाद वर्मा की सूझ है। एक बार हल्के-फुल्के क्षणों में मैंने यह प्रस्ताव किया था कि परसाई के समस्त साहित्य का प्रकाशन 'परसाई ग्रन्थावलि' के रूप में किया जाये। हनुमान वर्मा ने फौरन सुझाव दिया कि ग्रन्थावलि की जगह 'परसाई विषवमन' भाग—1, 2, 3 ·· (इस प्रकार) परसाई साहित्य का प्रकाशन ठीक होगा। हनुमान के इस शीर्षक को मैंने थोड़े हेरफेर के साथ अपना लिया है। वे इस उधारी के लिए क्षमा करें।

उनकी रचनायें प्रारंभिक ही रही होंगी। उन दिनों जबलपुर के अधिकांश चोटी के राजनीतिज्ञ साहित्य में भी बराबरी का दखल रखते थे। चाहे स्व० सेठ गोविन्द दास हों या प० द्वारिकाप्रसाद मिश्र, स्व० चौहान दम्पति (श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान और श्री लक्ष्मणसिंह चौहान) हों या स्व० श्री भवानीप्रसाद तिवारी, राजनीति के साथ ही साहित्यकारों की श्रेणी में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके थे। या यों कहना अधिक ठीक होगा कि वे साहित्यकार होने के साथ ही साथ राजनीति में भी पूरे दमखम से थे। साहित्य और राजनीति का यह सगम स्वाधीनता संग्राम काल में जितना महाकोशल और विशेषकर जबलपुर में मुखर था उतना उत्तरप्रदेश के अतिरिक्त देखने में कम ही आया है। शायद व्यक्तिगत तौर पर ऐसे उदाहरण बहुत होंगे किन्तु एक पूरा समाज ही साहित्य और राजनीति में एकरंग हो गया हो, यहविशेषता कम स्थानों पर ही देखी जा सकती थी। आयु के हिसाब से स्व० प० भवानीप्रसाद तिवारी साहित्य और राजनीति दोनों में ही तरुणों का नेतृत्व करते थे। स्वाभाविक है उनके पास तरुण रचनाकारों का जमघट लगा रहता था। 'प्रहरी' उन दिनों अपनी प्रतिष्ठा के शिखर पर था। इसलिए परसाई भी 'प्रहरी' समाज के एक मुखर अंग के रूप में उभरे। अपनी विशिष्ट चुटीली शैली के कारण परसाई को अपेक्षित सफलता मिलना उनका स्वाभाविक हक था।

इन तीस वर्षों में परसाई और मैं इतने निकट आ गये हैं कि कभी यह सोचने की जरूरत नहीं पड़ी कि हम पहली बार कब और कहाँ मिले। लेकिन जब स्मृति की पर्तें कुरेदता हूँ तो ख्याल यही आता है कि हम लोगों की पहली मुलाकात स्व० प० भवानीप्रसादजी तिवारी के यहाँ ही हुई। वे उन दिनों माडेल हाई-स्कूल, जबलपुर में शिक्षक थे। शासकीय सेवा में रहते हुए भी उनके पैने व्यंग्य किसी को बख्शते नहीं थे। और 1952 में बालिग मताधिकार के बाद मध्यप्रदेश में जो शासन आया, उसे परसाईजी के व्यंग्य शायद सहन नहीं हुए। एक तो वैसे ही 'प्रहरी' विरोधी दल का पक्षधर और दूसरे शासन या अधिकारियों पर ऐसी सीधी चोट कि जाहिर तौर पर कोई कार्रवाई मुमकिन न हो। नतीजा साफ था कि ऐसे 'कुटिल' व्यक्ति का स्थानान्तरण कर दिया जाये। सो (शायद हरदा) हो गया। मैं उन दिनों तक उनके निकट नहीं आया था। और आ भी जाता तो उनका ट्रांसफर रद्द कराना सम्भव नहीं था क्योंकि वह बहुत ऊँचे स्थान से तय हुआ था। तब तक परसाई कुछ और साहित्यिक पत्रिकाओं में छपना शुरू हो गये थे। अतः उन्होंने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र देना ही उचित समझा।

लगभग उन्हीं दिनों 'प्रहरी' का प्रकाशन स्थगित हो गया। मेरा ख्याल है कि 'प्रहरी' के प्रकाशन से परसाई को कोई आर्थिक लाभ नहीं होता था। तब उनका नाम भी इतना बड़ा नहीं था। देश के कुछ साहित्यिक पत्रों में जिसमें 'कल्पना' भी शामिल है, उनकी रचनायें जरूर प्रकाशित होती थी। लेकिन इतना जीवन-यापन के लिए काफी नहीं था। सयोग कुछ ऐसा था कि परसाई का अपना

परिवार तो वडा नही था लेकिन जिम्मेदारियाँ वहुत थी। उस पर वे एक विधवा वहिन और उसके 3-4 छोटे वच्चों को अपने साथ रहने के लिए ले आये।

किसी अल्पसिद्धि प्राप्त लेखक को प्रकाशक मिलते ही कहाँ है, वही स्थिति परसाई की हुई। एक तो तव तक उन्होने वहुत अधिक कुछ लिखा भी नही था। जो लिखा भी था उनमें लम्बी रचनायें कम और छोटे-छोटे व्यग्य अधिक थे। अत उन्होंने अपनी रचनायें खुद प्रकाशित करने का निश्चय किया। "हँसते हैं, रोते हैं" उनकी पहली प्रकाशित पुस्तक है। परसाई स्वय उसे वेचते थे। कीमत डेट रुपया। मित्र समुदाय भी सहायक हुआ। "हँसते है, रोते है" की रचनायें छोटी-छोटी ही हैं पर व्यग्य वहुत पैन है। यो तो वहुत लेखकों ने अपनी कृतियां प्रकाशित की हैं, पर इस प्रकाशन की वात कुछ अलग थी। यह एक वेरोजगार युवक साहित्यकार के अपने पैरो पर खडे होने का प्रयत्न था।

अपनी कृति वेचने मे यदि झिझक पैदा हो जाती तो शायद परसाई वह न होते जो आज है। मुझे याद आता है कि उन्होंने एक पुस्तक वीच वाजार मे मुझे थमा दी। मैंने सोचा, एक सम्पादक के लिए शायद यह लेखक की भेंट होगी। किन्तु उन्होंने मुझसे पूरे पैसे वसूल लिये। दो रुपये का नोट दिया तो उसे जेव मे रखते हुए पुस्तक के पहले पृष्ठ पर लिखा गया "श्री मायाराम सुरजन को दो रुपये मे सस्नेह"। जव मैंने आठ आने वापिस माँगे तो उत्तर मिला—क्या आठ आने का स्नेह नही हो गया। इस उत्तर के वाद हम दोनो ही हँस दिये। और शायद परसाई और मेरे निकट आने की घटनाओं का यह क्रम शुरू हुआ।

परसाई विचारो से मार्क्सिस्ट हैं, यह कहकर मैं कोई भूल नही कर रहा हूँ। ऐसी विपम स्थितियो मे रहकर कोई भी सोचने-समझने वाला आदमी मार्क्सवादी हो ही जायेगा। वढती हुई जिम्मेदारियाँ और घटते हुए आर्थिक स्रोत। समाज की सहानुभूति से ही तो नही जिया जा सकता। परसाई को समाज ने मीठे कम, कडवे ज्यादा अनुभव दिये। लेकिन जीवन की इस कडवाहट का उन्होंने सदुपयोग किया। वे अपने निराश क्षणो मे समाज की सहानुभूति वटोरने मे लगने के वजाय आर्थिक प्रसग मे राजनीति और साहित्य का अध्ययन करने मे जुट गये। हिन्दी मे ऐसे वहुत कम रचनाकार हैं जिन्हे विश्व की राजनीति और साहित्य का इतना सधा हुआ वोध है। सामान्यत यह माना जाता है कि हिन्दी का लेखक अपने आप मे मस्त रहता है। लेकिन परसाई की दृष्टि अपने चारो ओर फैले समाज मे उलझी रहती है।

उनकी कोटि का कोई और लेखक जव पहिले दर्जे म यात्रा करता है तो परसाई दूसरे दर्जे मे और दिन मे यात्रा करना पसन्द करते हैं। ऐसी ही एक वस यात्रा मे उतरते हुए मैंने कहा कि तुम्हारे साथ सारा दिन खराव हो गया और वस के धक्के खाये सो अलग। उनका उत्तर था कि "दिन मे यात्रा मे मैं समाज के ज्यादा नजदीक होकर उसे वारीकी से देख पाता हूँ। आखिर मेरी रचनाओं के प्लाट यहीं तो मिलते हैं जव यात्रीगण अपने किसी सहयात्री से अपनी वीती वतियाते हैं,

छोटा अफसर अपने बड़े अफसर की 'पोल' खोलता है या कोई शोषित व्यक्ति अपने शोषक के कर्म सुनाता है।" अपने प्लाट खोजने के लिए वे जबलपुर से भोपाल की यात्रा सीधी रात्रि ट्रेन से करने के बजाय दिन की किसी पैसिंजर बस से करते हैं।

परसाई की राजनीतिक विचारधारा के सिलसिले में स्व० गजानन माधव मुक्तिबोध और श्री महेन्द्र वाजपेयी का प्रसंग आना बहुत जरूरी है। श्री महेन्द्र वाजपेयी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कर्मठ कार्यकर्ता तो रहे ही हैं अनेक नव-युवकों को वामपंथी विचारधारा में दीक्षित करने का भी उन्हें श्रेय है। मजदूरों को संगठित करते रहते हुए भी वे इन्टलेक्चुअल क्लास के लोगों से मिलते जुलते रहे हैं। जबलपुर में ऐसे अनेक पढ़े लिखे व्यक्ति हैं जो महेन्द्र वाजपेयी के अनवरत प्रयासों के कारण जाने-अनजाने वामपंथी हो गये हैं भले ही उन्होंने किसी राज-नीतिक पार्टी की सदस्यता न ली हो। सरकारी नौकरी छोड़ देने के बाद परसाई के पास काफी समय था, और महेन्द्र वाजपेयी ने उन्हें मार्क्सवादी साहित्य पढ़ने में लगा दिया। निश्चय ही उनकी मार्क्सवादी विचारधारा के पीछे महेन्द्र वाजपेयी की छाप है।

मुक्तिबोध से परसाई प्रारम्भ से ही प्रभावित रहे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, मुक्तिबोध से उनका परिचय नागपुर में हुआ। फिर मुक्तिबोध चाहे नागपुर में रहे हों या राजनांद गाँव में परसाई का सम्पर्क निरंतर बना रहा और वे एक-दूसरे की शंकाओं का निराकरण करते रहे। यह प्रक्रिया निजी पत्रों के माध्यम से या 'वसुधा' के कालमों से चलती रही। यद्यपि परसाई पर मुक्तिबोध का प्रभाव स्पष्ट है फिर भी यह भी उतना ही सच है कि मुक्तिबोध भी परसाई से उतने ही प्रभावित रहे। यदि मैं यह कहूँ कि मुक्तिबोध को अपनी कोठरी से बाहर निकालने में परसाई का अदृश्य हाथ था तो जरा भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। मुक्तिबोध संकोची स्वभाव के व्यक्ति थे। वर्षों से लिखी जा रही उनकी पाण्डुलिपियाँ इकट्ठी होती जा रही थीं। परसाई ने ही उनके क्रमबद्ध प्रकाशन की व्यवस्था की। मुक्तिबोध और परसाई का साथ मुक्तिबोध के असामयिक निधन से ही छूटा। उनकी बीमारी में राजनांद गाँव से लेकर भोपाल और दिल्ली तक की व्यवस्था में परसाई कहीं-न-कहीं प्रयासरत थे। तत्कालीन मुख्यमंत्री पं० द्वारिका-प्रसाद मिश्र या प्रधानमंत्री स्व० लालबहादुर शास्त्री तक उनकी बीमारी का हाल पहुँचाने और इलाज का इन्तजाम तो परसाई और उनके मित्रों के माध्यम से हुआ ही लेकिन उनकी बीमारी में लगभग पूरे ही समय परसाई मुक्तिबोध के पास रहे। इन दिनों के वैचारिक आदान प्रदान ने एक-दूसरे की विचारधारा को और पक्का किया। बीमारी के दौरान भी बहस का यह क्रम घटों अबाध चलता रहता था।

साहित्य में परसाई की अपनी अलग जगह बन गयी है। दरअसल हिन्दी को व्यंग्य की विधा देने वालों में परसाई का नाम सबसे ऊपर है। उनके पास किसी के

लिए कोई रियायत नही है। ऐसे भी प्रसग आये है जब बडे-बडे अखबारो ने उनसे रचनाएँ मँगवाकर इसलिए वापिस कर दी कि शायद उनके अभिजात्य वर्गीय मालिको या पाठको के न्यस्त स्वार्थो के अनुकूल नही बैठती। ऐसे भी बहुत प्रसग है जब उन्होंने स्वनामधन्य साहित्यकारो पर भी गहरी चोट की है फिर वे चाहे जैनेन्द्रकुमार हो या भगवतीचरण वर्मा।

यों तो परसाई 'कल्पना' जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं मे भी नियमित रूप से प्रकाशित होने लगे थे, किन्तु एक कालमिस्ट के नाते उनका नाम 'सुनो भाई साधो' के प्रकाशन के साथ ही उभरा। यह कालम उन्होंने जबलपुर से प्रकाशित होने वाले एक मजदूर साप्ताहिक (शायद 'आवाज') के लिए लिखना शुरू किया था। लेकिन यह पत्र एक-दो अक निकलने के बाद ही बन्द हो गया। उस कालम का पुनर्प्रकाशन नयी दुनिया, इन्दौर के जबलपुर सस्करण के प्रकाशन से प्रारम्भ हुआ। पहले यह नयी दुनिया के जबलपुर (अब नवीन दुनिया) तथा रायपुर (अब देशबन्धु) सस्करणों मे छपता था, किन्तु उसकी लोकप्रियता के कारण इन्दौर सस्करण मे भी लिया जाने लगा। नयी दुनिया, इन्दौर ने जब अपने पाठकों का सर्वेक्षण किया तो 91 प्रतिशत पाठक वे थे जिनका 'सुनो भाई साधो' सबसे अधिक पसन्द कालम था। अब यद्यपि यह कालम उतना नियमित नही रहा लेकिन पाठक उसी उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा करते है। 'सुनो भाई साधो' की लोकप्रियता का अन्दाज इससे ही लग सकता है कि अनेक पत्रो ने 'कबिरा खडा बजार में', 'कबीर उवाच' आदि अनेक शीर्षको मे स्तम्भ शुरू किया और असफल हो गये। 'सुनो भाई साधो' के बाद उनके पास अनेक पत्रो से व्यग्य स्तम्भ शुरू करने के आफर आये। अभी उनके जो स्तम्भ स्थायी रूप से चल रहे है—वे हैं जनयुग मे 'माजरा क्या है', करट मे 'देख कबीरा रोया' तथा कथा-यात्रा मे 'रिटायर्ड भगवान की कथा'।

यों ऊपरी तौर पर परसाई बहुत सतुलित और स्वस्थ दिखते हैं, लेकिन भीतर-ही-भीतर कोई कचोट उन्हे भेद रही है, यह कम लोग ही समझ पाये है। दरअसल वे अपनी बात किसी से कहते नही है और उनके अत्यन्त निकटस्थ मित्र भी नहीं जानते कि वे अन्दर-ही अन्दर किस पीडा के शिकार हो रहे हैं। बहिनो और उनके परिवार पालने के लिए उन्होंने विवाह नही किया। कमजोरी के ऐसे ही किसी क्षण मे अपना गम गलत करने के लिए उन्होंने शराब पीना शुरू कर दिया। पहिले वे दूसरो के खर्च पर शराब लिया करते थे, वह भी कभी-कभार। पर फिर शराब पीना नियमित हो गया। मित्रो ने किनाराकशी की तो अपने पैसा से शुरू कर दिया। जब खुद की हालत खस्ता होने लगी तो 'देसी' पर उतर आये।

शराब पीना उन्होंने क्यो शुरू किया इसका सिर्फ अन्दाज लगाया जा सकता है। मेरा ख्याल है कि शौकिया शुरू हुई आदत एक व्यसन बन गयी। न कभी मैने पूछा और न कभी उन्होंने बताया कि उन्हे यह लत क्यो लगी। यह भी सम्भव

है कि छोटे भाई गौरी (गौरीशकर परसाई) का कामधाम ठीक न चलने के कारण भी उन पर आर्थिक बोझ बढ गया और उसके शादी कर लेने के बाद वे और अधिक क्षुब्ध हो गये। इस व्यसन ने उन्हें इस स्थिति पर पहुँचा दिया कि वे मित्रो तक को अनसुना करने लगे। हालत यहाँ तक पहुँच गयी कि मित्रो ने मुझे रायपुर से जबलपुर पहुँचने के लिए फोन पर फोन किये। उन्हे जब यह मालूम हुआ तो उन मित्रो पर भी बिगडे, "साले, क्या तुम समझते हो कि मायाराम मेरा गार्जियन है? वह आकर क्या कर लेगा मेरा?' लेकिन जब मैं जबलपुर पहुँचा तो परसाई बिल्कुल प्रकृतिस्थ। मैं 2-3 दिन जबलपुर रुका, उनको साथ लिये रहा। लेकिन उन दिनो उन्होने मछुए तो क्या अगूरी को भी हाथ नही लगाया। बातचीत की तो सीधा उत्तर, "अरे यार कभी कभी ले लेता हूँ तो सालो ने बात का बतगड खडा कर दिया।" फिर टालते हुए बोले, 'हाँ, बोलो तुम्हारा क्या हाल है 'आदि-आदि'" मैंने फिर सीधे सवाल किये तो निरुत्तर होकर बगलें-सी झाँकने लगे। जब कोई बात ही न करे तो उससे क्या उगलवाया जाये।

इसी बीच एक और हादसा हो गया। परसाई राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के कट्टर विरोधी हैं। लगातार उन्होने आर० एस० एस० और जनसघ के खिलाफ गुहार लगाई तो कुछ वालटियर्स ने घर आकर उनको पीट दिया। किसी लेखक के साथ यह घटना अपने-आपमे हिला देने वाली थी। पुलिस मे रिपोर्ट लिखा दी गयी और आर० एस० एस० के स्थानीय सचालक ने आकर खेद व्यक्त करते हुए उन्हें आश्वस्त किया कि अब यह नही होगा। लेकिन घटनाक्रम से ऐसा महसूस होता है कि उन्हे इससे बहुत आघात पहुँचा। इस घटना के बाद वे महीनो तक हर कालम मे इसका जिक्र करते रहे। पर इस घटना का सबसे अधिक बुरा असर यह हुआ कि उनकी पीने की मात्रा और बढ गयी। अब यह आदत दिन मे भी उनका पीछा नही छोडती। मित्रो मे और अधिक बेचैनी फैल गयी। उनकी रचनाओ की ताजगी खत्म होकर पुनरावृत्तियाँ होने लगी। मैंने कहा कि, "अब तुम बासी होते जा रहे हो, रचनाओ म रिपीटीशन हो रहा है।" तो एक वाक्य मे उत्तर "जब घटनायें रिपीट होगी तो लेखन भी रिपीट होगा।" हालत कुछ इस तरह हो गयी कि स्वास्थ्य गिरने लगा। मदहोशी की हालत मे हाथ पैरो मे फ्रेक्चर होने लगे, लिवर की शिकायत हो गयी।

उनके असयत और एकाकी दिनों मे मित्रो ने विचार किया कि यदि परसाई को शादी के लिए राजी कर लिया जाये तो उनका जीवन-क्रम बदलने की सभावना हो सकती है। प्रश्न यह था कि पचास साल की उमर मे न केवल एक समवयस्क वरन परसाई को सम्हाल सकने योग्य वधू कहाँ मिलेगी। सोचते समझते एक ऐसी महिला का ख्याल आया जो इस काम को बखूबी अजाम दे सकती थी। डॉ० रामशकर मिश्र ने उससे बात की तो वह उस प्रस्ताव से सहमत भी हो गयी। दरअसल वह परसाई की प्रशसक ही नही थी वरन् बरसो से उनसे परिचित भी थी। अब समस्या थी कि परसाई कैसे तैयार हो, वह जवाबदारी मुझे

सौंपी गयी। दो-चार दिन वातावरण बनाने मे लग गये। फिर धीरे से ये प्रसग शुरु किया। बात जब गभीरता पर आयी तो प्रतिक्रिया यह कि "यार तुम मुझ को इतना बेवकूफ मत समझो कि तुम्हारी चिकनी-चुपडी मे फँस जाऊँगा, यह भी तो हो सकता है कि एक अच्छी खाती-कमाती लडकी का जीवन और दुखी हो जाये।" यह वाक्य उनकी पीडा का प्रतीक था या जवाबदेही से कतराने का प्रयास, मैं अभी तक नही समझ सका। किस्सा कोतायह कि बात खत्म हो गयी।

इसे मैं परसाई की मेहरबानी कहूँ या अपना दबदबा, अगर वे किसी का थोडा-बहुत डर मानते थे तो केवल मेरा। लेकिन रायपुर रहकर जबलपुर मे उन्हे नियत्रित करना सम्भव नही था। अत मैंने जबलपुर रहने का निश्चय किया। मेरे जबलपुर पहुँच जाने से इतना फर्क पडा कि उन्होंने दिन मे शराब पीना बन्द कर दिया और रात्रि को जब हम लोग अलग हो जाते तो घर पहुँचकर वे अपने किसी मित्र, रिश्तेदार या कोई न मिला तो किसी रिक्शेवाले से ही देसी मँगवा लिया करते। चूँकि साथ लगभग दिन-भर का ही रहता, इसलिए उनके कार्यक्रम तय करने मे भी मेरा दखल होने लगा। आने-जाने की राशि नगद और पारिश्रमिक बैंक ड्राफ्ट से दिलवाया जाने लगा। अनेक जगह मैं भी साथ हो लिया करता। थोडी-बहुत छूट तो देनी ही पडती।

मेरे अपने कार्यक्रम इतने अनिश्चित होते है कि कब, कहाँ जाना पडे, कुछ पता नही। और मेरी गैरहाजिरी मे परसाई अपने पुराने ढर्रे पर आ जाते। आखिर उनके कुछ कार्यक्रम छत्तीसगढ क्षेत्र मे रखवाये। पारिश्रमिक के बैंक ड्राफ्ट अलग रखे जाने लगे। चि० ललित लगभग चौबीस घटे ही उनके साथ रहने लगे। वे लगभग डेढ महीने रायपुर रहे। शराब की एक बूंद नही। स्वास्थ्य अपने-आप ठीक होने लगा। पाँच-सात किलो वजन बढ गया। डेढ महीने बाद जब उन्हे रवाना किया गया तो ललित ने कहा कि "ड्राफ्ट जबलपुर भेज रहे हैं, आप वही ले लेना" तो जिद करके लगभग एक हजार रुपयो के ड्राफ्ट अपने साथ ले गये। हम आश्वस्त हो गये थे कि अब नही पियेंगे। पियेंगे भी तो हिसाब से पियेंगे। लेकिन हमने माथा ठोक लिया जब मालूम पडा कि सारे ड्राफ्ट बिलासपुर मे ही भुना लिये गये। सबकी शराब पी ली गयी। थोडी-बहुत रकम लेकर कटनी होकर सीधा रास्ता छोडकर गोंदिया की तरफ से जबलपुर के लिए रवाना हुए। नशे की हालत मे गोंदिया मे बन्द कर दिये गये और पैसे किसी यार ने उडा लिए। फिर वैसी ही हालत मे राजनादगाँव आये। वहाँ से पैसे लिए। पी और वापिस हुए। डेढ महीने की रखवाली बेकार गयी।

फिर वही रवैया शुरु हो गया। भोपाल के एक होटल से मुझे फोन किया कि इन्दौर से लौटा हूँ। आवाज से साफ जाहिर हो रहा था कि पिये हुए हैं। मैं होटल पहुँचा तो स्वाभाविक ही घर चलने का आग्रह किया। तुनुककर बोले—"तुम्हारे घर नहीं जाऊँगा। साले, तुम बाप-बेटे मुझको हाउस अरेस्ट मे रखते हो। मैं कोई तुम्हारा दबैल नहीं हूँ।" मैंने कहा—"तुम्हें दो चाँटे लगाऊँगा तो सारा नशा

काफूर हो जायेगा।" उत्तर मिला—"मैं भी तुम्हे दो लातल गाऊँगा।" बमुश्किल उन्हे घर लाया। लुक-छिपकर थोडी-बहुत पीते रहे पर ठीक-ठाक रहे, फिर कुछ दिन बिलकुल नही पी।

जबलपुर वापिस पहुँचने पर फिर वही बेकाबू स्थिति। भाई हनुमान वर्मा ने समझाया कि रोज पियो, हम खुद तुम्हे ऊँची-से-ऊँची पिलायेंगे, लेकिन हिसाब से पियो। पर सारी कोशिशें बेकार, बहिन और भाजो को भी उन्होने दूसरे मकान मे भेज दिया। कुछ दिन भाई और बहू साथ रहे, वे भी अलग हो गये। हालत इस हद तक खराब हो गयी कि लीवर की शिकायत बढ गयी। 'सिरोसिस' होने का भय हो गया। न डाक्टरो की मनुहारा और न मित्रो की मिन्नतो का कोई असर। हम लोगो को लगा कि अब सात-छह महीने के ही मेहमान है ये। सभी हताश हो गये।

फिर भी परसाई के बुलावे निरंतर आते रहे। कभी जाते और कभी नही। रायपुर मे फासिस्ट विरोधी सम्मलन के लिए टिकट कटाकर रेल मे बिठा दिया गया तो शहडोल मे उतर गये। ग्वालियर मे स्टुडेण्ट फेडरेशन के अधिवेशन का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया, गये नही। सतना मे प्रगतिशील लेखक सघ का अधिवेशन हुआ तो उन पर पूरी निगरानी रखनी पडी। रायपुर मे आयोजित कबीर उत्सव मे शामिल हुए पर बीमार हो गये। गरज ये कि परसाई एक अविश्वसनीय व्यक्तित्व हो गये। हालत बद मे बदतर होती चली गयी।

इन्ही दिनो म मॉरीशस मे दूसरा विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित हुआ। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष के नाते मैंने प्रयास किया कि सम्मेलन की ओर से एक अधिकृत प्रतिनिधि मण्डल भेजा जाये जिसका नतृत्व परसाई करें। यह मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लिए तो गौरव का विषय होता ही, सारे विश्व के हिन्दी विद्वानो के बीच उनकी अलग पहचान होती। केन्द्रीय शासन ने सबसे पहिले उनका नाम स्वीकृत किया। पर जब पासपोर्ट की तैयारी के लिए और प्रतिनिधियों के साथ उन्हे भी मैंने भोपाल बुलाया तो मालूम हुआ कि गिर पडे है, अस्पताल मे भरती है। मल्टीपल फ्रेक्चर हुआ है। पैर काटने की स्थिति भी आ सकती है।

जब यह खबर मुझे मिली तो जी धक रह गया। जबलपुर मे उनका इलाज सम्भव नही था। आर्थिक साधन ऐसे नही थ कि दिल्ली या बम्बई से जाकर इलाज कराया जा सके। श्री श्यामाचरण शुक्ल उन दिनो मध्यप्रदेश के मुख्यमत्री थे। उन्होंने पाँच हजार रुपये का प्रबन्ध कराया। कला परिषद से भी एक हजार रुपया मिला। दिल्ली मे श्रीकान्त वर्मा ने तत्कालीन स्वास्थ्य मत्री डॉ० कर्णसिंह से कहकर चिकित्सा का प्रबन्ध किया। लगभग 8-9 महीने सफदरजग अस्पताल मे कटे। पैर तो कटने से बच गया लेकिन खोट रह गयी सो अभी तक ठीक से चल-फिर नही सकते। चार साल हो गये तब से शराब नही छुई। घर से बाहर निकलना लगभग नही होता।

लेकिन शराबखारी का यह जिक्र परसाईनामा नही है। उनकी अच्छाइयो के साथ इस लत का उल्लेख कर देना भी मैंने उचित समझा है। यों इरादा कर लें तो बिना किसी चौकीदारी के भी महीनो बिना पिये रह लिए है।

मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि विचारो से परसाई मार्क्सिस्ट है। शोषित तबके के लोगो से उनकी आत्मीयता फौरन बढ जाती है। वे राजनाद गाँव आयेंगे तो शरद कोठारी के रसोइये से पाचक चूरन की शीशी खरीदना नही भूलेंगे। मेरा एक ड्राइवर इकबाल उन्हे घटो अपनी शायरी सुना देता और वे ऐसे सुनते जैसे—उसमे ही डूब गये है। किसी ने अपना दुखडा सुनाया तो उसकी मदद चाहे वह उनके बस की बात न हो, करने मे सबसे आगे, भले ही फिर उसका बोझा दूसरे उठायें। सरकारी तत्र को वे प्रपचतत्र कहते है। सरकारी अमले मे उनकी कही कोई पैठ नही है। लेकिन किसी की सिफारिश करने कराने का मौका आ पडे तो स्वीकृति यो दे देंगे कि बस काम हो ही गया। और फिर चिट्ठियाँ दौडेंगी—यह काम कराना ही है, तुम्हारे भरोसे ही मैंने हाँ कर दी है।

परसाई के व्यक्तित्व का विकास ही कुछ इस तरह हुआ कि वे अपने आसपास के वातावरण से अछूते नही रहे। आचार्य (अब भगवान) रजनीश को देखकर उन्होंने 'टार्च बेचने वाला' की रचना की थी। शेषनारायण राय की हत्या के एक झूठे मुकदमे मे फँसाने वाले एक तिलकधारी पुलिस इन्सपेक्टर ने उन्हे 'इन्सपेक्टर मातादीन चाँद पर' लिखने के लिए प्रेरित किया। एक आला अफसर की बीबी को पुरस्कार मिलने पर उन्होंने 'खीर प्रतियोगिता' का सृजन किया। श्रीमती विजयाराजे सिंधिया द्वारा 1967 मे मध्यप्रदेश के कुछ विधायको को अपनी तरफ कर लेने पर 'विधायको की चोरी' की रचना हुई। गणेश विसर्जन के जुलूस मे कौन सा गणेश पहले क्रम पर रहे इस विवाद ने उनसे लेख लिखा लिया। ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते है जब परसाई ने समाज मे जहाँ-तहाँ बिखरी हुई घटनाओ को कथानक का रूप दे दिया है।

दरअसल परसाई का रचनाधर्मी व्यक्तित्व 'वसुधा' के प्रकाशन से प्रकाशन मे आया। श्री रामेश्वर गुरु, प्रमोद वर्मा, श्रीबाल पाडे, हनुमान प्रसाद वर्मा, डॉ० रामशकर मिश्र आदि कुछ मित्रो ने सहयोग कर 'वसुधा' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। कहना न होगा कि वसुधा' न सिर्फ अपने जमाने की वरन् अभी तक प्रकाशित साहित्यिक पत्रिकाओ मे सर्वश्रेष्ठ नही तो श्रेष्ठतम मे एक जरूर थी। दुर्भाग्य की बात है कि अर्थाभाव के कारण इस पत्रिका को बन्द हो जाना पडा। उसे जीवित रखने के लिए परसाई और श्रीबाल पाडे लगभग घर-घर घूमे। किन्तु साहित्यिक पत्रिकाओ का जो हश्र होता है, वसुधा को उससे नही बचाया जा सका। वसुधा ने परसाई की पहचान न केवल अच्छे सम्पादक के रूप मे कराई वरन् उन्हे अच्छे रचनाकार के रूप मे भी स्थापित किया।

'वसुधा' के प्रकाशन ने परसाई को अखिल भारतीय श्रेणी के साहित्यिक सम्पादको मे बैठाया। इन्ही दिनो मे उनके अध्ययन मे तेजी भी आई। इतनी

पैनी नजर से विश्व के घटनाक्रम को कम साहित्यकारों ने समझा होगा। मैंने देखा कि अखिल भारतीय स्तर के कतिपय समाचार पत्रों या पत्रिकाओं में जमे हुए साहित्यकार विश्व राजनीति में किस प्रकार उनके तर्कों को स्वीकार किया करते हैं। बरन् मुझे तो इन चर्चाओं के दौरान यह एहसास हुआ कि साहित्यिक मञ्च के, खास तौर पर हिन्दी के शीर्षस्थ लोग वर्तमान राजनीति से कितने अनभिज्ञ या अपरिचित होते हैं।

परसाई की बेलाग लेखनी ने उन्हें प्रगतिशील तबके में तो लोकप्रिय बनाया ही है, सर्वहारा वर्ग भी उनके प्रति काफी श्रद्धा रखता है। इस सम्बन्ध में एक-दो घटनाओं का जिक्र करना अनुचित न होगा। मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन को लेकर उठाये गये एक विवाद के सिलसिले में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्थायी समिति में मुझे भाग लेना था। परसाईजी भी इस स्थायी समिति के सदस्य थे। मैंने उन्हें भी साथ ले लिया। सम्मेलन मुद्रणालय में कर्मचारियों एवं प्रबन्धकों के बीच कुछ झगड़ा चल रहा था। जब कर्मचारियों को मालूम हुआ कि बैठक में परसाई भी भाग ले रहे हैं तो अपना पक्ष बताने के लिए उन्होंने परसाई को पकड़ लिया। जब स्थायी समिति में यह विषय चर्चा के लिए आया तो प्रबन्धकों ने अपना पक्ष प्रस्तुत किया। परसाई ने कर्मचारियों का पक्ष लेते हुए ऐसी दलीलें रखीं उनसे व्यवस्थापकगण कतराने लगे। प्रबन्धक बोले—मोनो मशीनें लगी हैं, कल-पुर्जे आयात करने पड़ते हैं, इतना खर्च हो जाता है कि बचत नहीं होती"'आदि-आदि। परसाई कब चूकने वाले थे। सुझाव दिया, 'ये मायाराम बैठे हैं, इनके यहाँ भी दो मशीनें लगी हैं, आप इन से सलाह कर लीजिये।" व्यवस्थापकों ने बात ही बदल दी।

जबलपुर में परसाई की अपनी अलग हस्ती रही है। हालाँकि पैर की कमजोरी की वजह से उनका नगर-पर्यटन का क्रम टूट गया है, लेकिन वह भी एक जमाना था जब वे शहर के हर प्रगतिशील आन्दोलन के साथ चलते-फिरते भी दिखाई पड़ते थे। यह क्रम खत्म हो गया हो, यह तो हरगिज नहीं, अन्तर केवल इतना है कि अब अपने सिंहासन पर पड़े-पड़े ही आन्दोलन का संचालन करते रहते हैं। इस संदर्भ में 1962 की एक घटना याद रखने योग्य है। चीन ने भारत पर हमला किया और सारे देश की ही तरह जबलपुर विश्वविद्यालय के छात्रों में भी उफान आया। उन दिनों में विश्वविद्यालय छात्रसंघ ऐसे बली छात्रों के हाथ में था जो अपनी समझ के आगे किसी की भी सलाह अनसुनी करने के लिए प्रसिद्ध हो चुके थे। छात्रसंघ अध्यक्ष कुछ दिन पहले ही एक हत्या-काण्ड से बरी हुए थे। छात्रों ने तय किया कि एक विशाल जुलूस निकाला जाये। बात यहीं तक सीमित रहती तो कोई बात नहीं थी। हम लोगों को पता चला कि यह भी योजना बनाई गई है कि चीनी डाक्टर, चीनी रेस्तराँ, इण्डियन काफी हाउस और कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर को आग लगा दी जाये। रैली का मार्ग भी तय हो गया। सारे शहर में सन्नाटा कि दस-बारह हजार उत्तेजित छात्रों की रैली कैसे सम्हाली

जाये। आखिर हम कुछ लोग बैठे और निश्चय किया कि छात्रों की रैली में नगर के कुछ सम्भ्रान्त नागरिकों को भी शामिल कर लिया जाये। इस योजना के अनुसार महापौर मुलायमचन्द जैन, विधान सभाध्यक्ष स्व० कुंजीलाल दुबे, भूतपूर्व महापौर श्री सवाईमल जैन और रामेश्वर प्रसाद गुरु आदि अनेक राजनयिकों से बात की और धीरे-धीरे उन्हें जुलूस के रास्ते में शामिल करते चले गये। परसाई और मैं छात्र-नेताओं के साथ लग गये। कुछ लोगों को जुलूस के खास-खास ठिकानों पर जमा दिया। चीनी डाक्टर और चीनी रेस्तरां के सामने से जुलूस निकला तो परसाई और मैं उन दुकानों के सामने खड़े हो गये। कुनर-मुनर करते हुए भी छात्र-नेता हम लोगों की बात मानते रहे और जुलूस का रास्ता भी इस तरह बदल दिया कि कॉफी हाउस और कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर अलग रह गये। बाद में छात्र-नेताओं की गालियाँ परसाई और मैंने मुस्कराकर सुन ली लेकिन उस दिन होने वाले अग्निकाण्ड से शहर जरूर बच गया।

अपने निजी जीवन में परसाई शुद्ध रूप से धर्मनिरपेक्ष आदमी हैं। न तो वे किसी धार्मिक क्रियाकलाप में विश्वास रखते और न जात-पाँत में। वैसे वे अपने आपको एंग्लो इंडियन कहते हैं। पहले जबलपुर में कहीं साम्प्रदायिक उपद्रव हो जाया करते थे। वे उत्पीड़ितों की रक्षा में पहली पंक्ति में खड़े मिलते हैं। 1961 में एक ऐसी ही भयानक घटना हो गयी थी। एक बहुसंख्य वर्ग की लड़की के साथ दो अल्पसंख्य किशोरों द्वारा बलात्कार ने साम्प्रदायिक दंगे का ऐसा स्वरूप लिया कि जबलपुर में तो अनेक निर्दोष परिवार लूटे-मारे गये। करीब के ही एक गाँव सरूपा में 13-14 अल्पसंख्य जिन्दा जला दिये गये। सागर आदि शहरों में भी उपद्रव हुए। सारे देश में चिन्ता का वातावरण फैल गया। जबलपुर के सांसदों तथा विधायकों तक के पैर उखड़ गये थे उस आँधी में। प्रधानमंत्री नेहरू ने विशेष प्रतिनिधि भेजे। सांसद द्वय श्रीमती अनीसा किदवई और सुभद्रा जोशी महीनों जबलपुर आते जाते रहे। उन दिनों मेरी जो दुर्गति हुई, वह तो अलग चर्चा का विषय है लेकिन यदि परसाई उन दिनों मेरे बाजू से कुछ ऊपर खड़े न होते तो जाने क्या और बीतती। उनके निर्भीक व्यक्तित्व से उन दिनों वातावरण शान्त होने में बहुत कुछ मदद मिली। बाद में तो बहुत लोग आगे आ गये लेकिन प्रारम्भ के वातावरण की याद करते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

जिस तरह परसाई के प्रशंसक हैं, वैसे ही उनके निन्दकों (या घृणा करने वालों) की कमी नहीं है। आर० एस० एस० का उदाहरण मैंने दिया है। जनता शासन के तीन वर्षों में उन्हें राज्य या केन्द्रीय शासन के किसी साहित्यिक कार्यक्रम में आमंत्रित नहीं किया गया न किसी कमेटी में रखा गया। जब कभी किसी अधिकारी या संस्था ने उनका नाम सुझाया भी तो बहुत हिकारत से काट दिया गया।

यद्यपि परसाई किसी राजनीतिक दल के सदस्य नहीं हैं लेकिन कम्युनिस्ट

पार्टी में उनको बहुत आस्था से देखा जाता है। पार्टी के कार्ड होल्डर हिन्दी के एक प्रख्यात प्रगतिशील कथाकार सम्पादक को प्रगतिशील लेखक संघ या इससे सम्बन्धित आन्दोलन मे अलग करने का फैसला किया गया। उन्होने परसाईजी तक अपनी खबर पहुँचाई और परसाई ने शीर्षस्थ नेताओं से चर्चा कर मामला रफा-दफा किया।

परसाई को जबलपुर से कुछ मोह हो गया था। सरकारी नौकरी छोडने के बाद वे जबलपुर मे ही रहना चाहते थे। एक-दो प्राइवेट स्कूलो मे अध्यापक भी हो गये। लेकिन वहाँ माध्यमिक शिक्षको की हडताल करा दी। माध्यमिक शिक्षक अपने अधिकारो की लडाई लडने को भी तैयार नही था। इन्होने 60-70 शिक्षको को लेकर जो कुहराम मचाया कि प्राइवेट स्कूल की नौकरी से भी हाथ धोना पडा। कुछ दिनो या एक-दो साल बाद शाजापुर मे नवस्थापित कालेज के प्रिंसिपल नियुक्त करने का ऑफर आया तो उसे भी स्वीकार नही किया। जनयुग के सम्पादक बनाने का प्रस्ताव आया, वह भी छोड दिया। श्रीमती सुभद्रा जोशी ने दिल्ली से एक राजनैतिक साप्ताहिक के सम्पादन की जिम्मेदारी सौंपनी चाही, मना कर दिया।

बिना किसी नियमित आमदनी के परसाई आर्थिक सकट मे उलझे ही रहते है। कभी किसी अखबार की माली हालत ठीक नही हुई या किसी अखबार मे लम्बी हडताल हो गई तो उनकी रचनाओं का पारिश्रमिक भी समय पर नहीं आता। स्नेह सम्मेलनों या उत्सवो मे न जा सकने के कारण भी आमदनी पर आघात हुआ ही है। घर-खर्च की बात अलग, टेलीफोन कटने तक की नौबत आ जाती या मकान का किराया पट नही पाता। ऐसे वक्त पर स्व० भाई नर्मदा प्रसाद खरे हम लोगो के काम आते थे। या खरेजी परसाई के प्रकाशक भी थे, पर हिसाब कभी-कभी ही हो पाता था। जब जैसी जरूरत हुई हम लोग उनके यहाँ पहुँच जाते और जरूरत से दुगनी तिगनी रकम की माँग पेश कर देते। तब जरूरी राशि तो खरेजी से सही आते थे। अब खरेजी नही है, परसाई बाहर नही निकल पाते। बडे अखबारो मे परसाई का लेखन लगभग बन्द है। तो निश्चय ही परेशानियाँ बढ गयी है। छोटा भाई अस्वस्थ है और बेरोजगार भी। उसकी सहायता भी करनी होती है। लेकिन स्वाभिमान ऐसा कि किसी की मदद नही लेते। किसी मुलाकाती ने उनके नाम पर अर्थ सग्रह की अपील निकाल दी तो उसका खण्डन फौरन प्रकाशित कर दिया। और किसी तरह गाडी चल ही रही है।

जबलपुर मे वे अकेले नही होते। जब भी जाइये कुछ नवयुवक 'मार्गदर्शन' के लिए वहाँ जरूर बैठे मिल जायेंगे। वे जयपुर और शिमला से भी आ सकते है और झुमरी तलैया से भी। वे केरल के भी हो सकते है और असम के भी। उनकी रचनायें हिन्दुस्तान की सभी भाषाओं मे अनूदित हुई हैं। दरअसल उनके लेखन ने उनको छोटे तबके का प्रतिनिधि बना दिया है। हिन्दी मे व्यग्यकार होने का

दावा बहुत लोग कर सकते है, लेकिन परसाई के लेखन मे लफ्फाजी नही है। उनकी हर रचना मे एक उद्देश्य होता है और कम शब्दो मे ज्यादा सारगर्भित बात कह देने मे उनका कोई मुकाबला नही है।

इन तीस वर्षों के 'सत्सग' को घटनावार क्रम मे प्रस्तुत कर सकना सभव नही है। अब परसाई का जबलपुर से बाहर निकलना नही होता। जिस दिन मुझे उनके पैर टूटने की खबर मिली, उस क्षण सचमुच ही मै दुखी था। लेकिन तब ही मैने उस अपघात को आभार माना कि शायद उससे परसाई अपने पुराने फार्म मे आ जायें। उनके वर्तमान लेखन मे ताजगी है, क्या वह मेरे इस विश्वास की साक्षी नही है?

—मायाराम सुरजन

हमकूं मिल्या जियावनहारा

बचपन मे माँ मे अक्सर कहानियाँ सुनता था। उनमे से एक मुझे बेहद पसद थी जो बात की बात मे जाने कितनी फैंटेसिया मेरे मन मे बो देती। एक राजा था जिसकी दो रानियाँ थी। छोटी बहुत सरल और निष्कपट थी। बडी उससे डाह करती थी। एक दिन दोना सरोवर मे नहाने गयी। बडी ने छोटी को गहरे पानी मे ढकेलकर डुबो दिया। सच्ची बात भला किसे मालूम होती ? रो-पीट कर राजा ने कलेजे पर पत्थर रख लिया। दूसरे दिन लोगो ने देखा उस तालाव मे बेहद सुन्दर कमल खिला है। राजा ने उसे तोडने के लिए ताल म नौकर उतारे। लेकिन वह किसी के हाथ न आता। तब राजा खुद तालाब मे उतरा। इस बार कमल अपनी जगह से नही हिला। राजा ने जैसे ही उसे नाल से अलग किया *कि छोटी रानी उसकी बाँहो मे आ गयी।*

यह कहानी मुझे आज दिन तक हॉण्ट करती है। सचमुच समूह मे डूबे बिना आदमी व्यक्तित्ववान नही बनता। मैं हमेशा परसाई की कल्पना सरोवर मे खिले कमल के रूप मे करता हूँ। इस कमल मे खेत है। खेत मे धान। धान के पकने पर किसान हँसिये लेकर काटने आ जाते हैं। फिर चावल दूकान पहुँचता है। दूकान बनिये की है। किसान द्वारा उपजाया चावल बनिये को मुनाफा दिए बिना मजदूर की हाँडी मे नहीं पक सकता। नेताजी आकर मजदूर सभा मे राष्ट्र-हित के लिए उत्पादन बढाने का उपदेश करते है। शब्द-कोश मे आजाद रहन का मतलब भूखा मरना बतलाया जाता है। मजदूर की औरत चिल्लाती है, देखो घर मे कुत्ता घुसा और मजदूर हथौडा लेकर भूख के पीछे दौडता है। इतने मे सारे चित्र गड्ड-मड्ड हो जाते है। यह माँ की कहानी है या मेरी कविता या आज के हालात या हरिशकर परसाई का लेखन ? परसाई क्या सिर्फ आज के हालात के बारे म लिखता है ? क्या उसका लेखन समकालीन राजनीति पर की गयी टिप्पणियाँ मात्र है ? फिर वह मुझे अपनी माँ की याद क्यों दिलाता है ? और मुझे उसम अपनी भी कविता के क्रिस्टल्स जडे क्या दिखाई देते हैं ?

हिन्दी ही नही शायद सभी भारतीय भाषाओ मे भी आज हरिशकर परसाई जैसा कोई लेखक नही है यह जानने के बाद ही सुनियोजित ढग से उसकी उपेक्षा की जा सकती थी। व्यक्तिवादी-कलावादियों का उसके प्रति ठडापन तो फिर भी समझ मे आता है (हालाँकि यहाँ यह विस्मृत करना हद दर्जे की बेईमानी होगी कि तब के वरिष्ठ नये लेखकों मे मुक्तिबोध के अलावा एक अज्ञेय ही ऐसे थे

जिन्होंने परसाई की संभावनाओं को उसके आरम्भिक लेखन में ही पढ़ लिया था और उसकी एक रचना को आज के पच्चीस-छब्बीस साल पहले अंग्रेज़ी में अनुवाद करने योग्य समझा था) लेकिन नामवरसिंह ? वे तो परसाई की ही पार्टी के आदमी हैं। फिर, सुनते हैं, उनके कान भी बेहद सुर-अभ्यस्त हैं। उनका ध्यान निर्मल वर्मा की भाषा के संगीत की तरफ तो खट से जाता है, लेकिन लगभग बच्चों की-सी सरल भाषा का आदिम संगीत रचते परसाई की तरफ कभी क्यों नहीं गया ? कहीं ऐसा तो नहीं कि वे भी सिर्फ सोल म्यूज़िक या रॉक-पॉप को ही आदिम संगीत मानते है ? जलते अलावों के इर्द-गिर्द हमारे यहाँ भी प्राय: नित्य ही बेहद उद्दाम और जीवंत संगीत रचा जाता है इसकी खबर कम से कम साहित्य के वामाचारियों को तो होनी ही चाहिए थी। इसी तरह भाषा के मूल्यन-अवमूल्यन पर कड़ी नज़र रखने वाले स्वघोषित सृजनधर्मी आलोचकों को भी परसाई के यहाँ झाँके बिना सकट-सकट गुहारते सुनना अपने आपमें एक दिलचस्प अनुभव है। अपना मुहावरा रचना कला का स्वाभाविक धर्म ज़रूर है लेकिन यहाँ एक जबरदस्त कैच यह है कि सावधान न रहने पर कला अपने मुहावरे में ही क़ैद हो कर दम तोड़ सकती है। इसका एक मुख्य कारण मेरी समझ में यह है कि अपनी भाषा रचने की कोशिश करती कला बाहर की भाषा से कटती भी जाती है। सिर्फ लेखक नहीं पाठक भी एक खास तरह की भाषा और मैनरिज़्म का आदी बनता जाता है। परसाई की तरह ज़िन्दगी को किसी प्रचलित और चालू मुहावरे में न देखने वाले लेखक कलावाद के गले में मछली के काँटे की तरह फँसने लगते हैं। सदियों से कलानुभवों को व्यक्त करने वाले मुहावरे के बदले कला के बाहर अर्थात् लोक-व्यवहार की भाषा में कला-रचना करना कितना मुश्किल काम है यह इसी से जाना जा सकता है कि जैनेन्द्र, अज्ञेय या निर्मल नुमा गद्य के नमूने तो हिंदी में काफी मिल जाएँगे लेकिन परसाईनुमा शायद एक भी नहीं। हिंदी गद्य मुख्यत बीसवीं सदी की उपज है—एक नाटक को छोड़कर गद्य की सभी विधाएँ हमने पश्चिम से ही ली। इतना ही नहीं, पश्चिम ने हमारी भाषा के व्याकरण और संरचना को भी प्रभावित किया। हम अपने जिस सॉफिस्टिकेटेड गद्य से अभिभूत हैं वह दरअसल पश्चिम-केन्द्रित मुहावरा मात्र है। आज हिन्दी का लेखक होने के लिए हिन्दी से ज़्यादा अंग्रेज़ी जानना ज़रूरी समझा जाता है। वैसे अंग्रेज़ी का ज्ञान परसाई का भी किसी भी क्षेत्रज्ञ से कम नहीं है और मातृ-भूमि के अलावा उसकी भी एक पितृ-भूमि है जिसके दर्शन वह आज के बीस साल पहले कर आया है—लेकिन न तो उसकी मातृ-भाषा पर पितृ-भाषा हावी हो सकी और न मातृ-भूमि पर पितृ-भूमि ही। परसाई खालिस हिन्दुस्तानी लेखक है। मुक्तिबोध की तरह उसने भी अपनी सारी पढ़ाई भारत के ही किसी प्राइमरी स्कूल में पूरी की जहाँ बैठने के लिए टाट-पट्टी होती है और ज़रा-सी बात पर गालों पर चाँटों के आघात झेलने पड़ते हैं। परसाई के इस प्राइमरी स्कूल के हेड मास्टर का नाम है इंशा अल्ला खाँ। भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमचंद,

गुलेरी, और रामचन्द्र शुक्ल वगैरह इस स्कूल के नायब मास्टर हैं। ये सभी मास्टर खुसरो, कबीर, सूर, तुलसी, बिहारी, घनानन्द, और गालिब वगैरह के पढ़ाये हैं। परसाई खाँटी देसी भाषा का लेखक है—विलायती हिन्दी का नहीं। अपने पुराणों और मिथकों को उसने खूब दुहा है। इनका रचनात्मक उपयोग करते हुए अपना निराला ही क्लेसिकी-यथार्थ बनाया। भाषा का वास्तविक आभिजात्य उसमें है या उधार की पूँजी के बल पर व्यापार चलाने वाले उसके समकालीन नव-अभिजनों में?

परसाई को खाँटी देसी कहने का मतलब यह नहीं कि पश्चिम से भारत की सांस्कृतिक मुठभेड़ के फलस्वरूप स्वायत्त होने वाले नये मूल्यों से उसे इनकार है। कोई चाहे तो भी ऐसा नहीं कर सकता। फिर परसाई कैसे करेगा जिसकी मूल दृष्टि ही मूल्य-केन्द्रित है। मेरे खयाल से तो मूल्यों के प्रति अतिशय आग्रहशीलता ही भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता है। जहाँ मूल्य हो वहाँ नैतिकता होगी और जहाँ नैतिकता है वहाँ विचार कैसे नहीं होगा? विचार-धारा इस लिहाज से विचारात्मकता की चरम परिणति ही प्रतीत होती है। इस तरह पश्चिम के साथ जातीय मुठभेड़ के फलस्वरूप स्वायत्त होने वाले मूल्यों में रेशनेलटी और उसके द्वारा अब तक विकसित होने वाले दर्शनों में सबसे कम इम्परफेक्ट लगने वाली मार्क्सवादी विचार-धारा की तरफ परसाई का स्वाभाविक झुकाव भी मुझे उसके मूल भारतीय चरित्र के ही अनुरूप लगता है। इसीलिए उसके साहित्य की बुनावट में मुझे क्लेसिसिज़्म और यथार्थवाद ताने-बानों की तरह दिखलाई देते हैं। पता नहीं, इतने जटिल लेखक को कोई सरल कैसे मान बैठता है। लेकिन ऐसा समझने वाले बहुत बड़ी तादाद में हैं। एक साथ इतने लोग कैसे गलत हो सकते हैं? फिर तो इसका यही मतलब हुआ कि जटिल को सरल करने का गुर परसाई ने हासिल कर लिया है कबीर की तरह। बेचारा परसाई! अपने मूल्यांकन के लिए शायद उसे भी कबीर की तरह पाँच सौ साल इन्तजार करना पड़ेगा। मैं भी कैसा पागल हूँ! जिसके इतने बरस जीवित रहने की संभावना दिखाई दे रही हो उस अभागा कहना चाहिए या भाग्यवान?

ऐसा नहीं है कि हिन्दी में परसाई की चर्चा किसी कोने से नहीं हुई या उसका कोई नोटिस नहीं लिया गया। इसके विपरीत एक खास हल्के में वह तो जैसे पूजा ही जाता है। लेकिन मैं समझता हूँ कि मूर्तिभंजक परसाई को ही वह सब बहुत पसन्द नहीं होगा। पूजने के बजाय उसे समझने की कोशिश होनी चाहिए थी। अगर महज उसके पार्टी एलाइनमेंट के कारण परसाई को महत्वपूर्ण लेखक माना जाता है तो इसका सीधा मतलब तो यही हुआ कि कर्म से ज्यादा उसके कनविक्शन को महत्त्व दिया जा रहा है। मार्क्स ने मनुष्य के होने को उसके काम से जोड़ा था, उसके फेथ से नहीं। विचार और आचरण की दुई के लिए मार्क्सवाद में कोई जगह नहीं है। कला की स्वायत्तता के सवाल को सिर्फ इसलिए नहीं चरकाया जा सकता क्योंकि इसे पश्चिम ने उठाया है। बल्कि तब तो उसका

सामना करना और भी ज्यादा जरूरी है। कलाकार की स्वतन्त्रता का मतलब मनचाहा लिखने की स्वतन्त्रता बताया जाता है। सिर्फ इतना ही सिद्ध कर देने से काम नहीं चलेगा कि पूँजीवादी देश के लेखकों को भी यह स्वतन्त्रता हासिल नहीं है और वे भी अनत किसी खास वर्ग की हित-रक्षा के लिए ही लिखने को स्वतन्त्र हैं। पूँजीवाद की तरह समाजवाद किसी खास वर्ग की नहीं बल्कि पूरे मनुष्य समाज की सम्पूर्ण मुक्ति की बात करता है। ऐसे मुक्त समाज म भला लेखक ही अपना स्वैच्छिक कर्म करने को कैसे स्वतन्त्र नहीं होगा? यदि समाजवादी देश के लेखकों का वह स्वतन्त्रता मिली नहीं दिखाई देती तो उसके लिए वहाँ का जड तन्त्र ही जिम्मेदार है, मार्क्सवादी दर्शन कतई नहीं। मैं समाजवादी देश म नहीं रहता। इसलिए वहाँ के तन्त्र की जडता मेरी मजबूरी नहीं है। मैं भी वाल्टर बेंजामिन की तरह प्रतिबद्धता के सवाल को रचना की स्तरीयता से जोड कर देख सकता हूँ। आर्टिस्ट एज ए प्रोड्यूसर शीर्षक अपने लेख म प्रतिबद्ध रचनात्मकता पर विचार करते हुए बेंजामिन ने कहा है कि रचना में अन्तर्निहित प्रवृत्ति राजनीतिक दृष्टि से तभी सही हो सकती है जब साहित्यिक दृष्टि से भी सही हो। सभी सही (जोर मेरा) राजनीतिक प्रवृत्तियों स सीधे या जटिल तरीके से जुडी यह कलात्मक प्रवृत्ति ही (जोर मेरा) रचना का स्तर तय करती है। ब्रेख्त न उत्पादन के साधनों को मुक्त करने की कोशिश करते प्रगतिशील बुद्धिजीवियों द्वारा रूप और उत्पादन के औजारों के रूपान्तरण को भी वर्ग सघर्ष म हिस्सेदारी माना था। यह कहना गलत नहीं है कि व्यापक वर्ग-सघर्ष म परसाई एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है—लेकिन यह समझने के बाद कि ऐसा वह अपने ही कार्य क्षेत्र मे, अर्थात् अपने लेखन के माध्यम से कर रहा है। ऐसे सघर्ष मे लेखक की भूमिका ब्रेख्त के शब्दो मे फक्शनल ट्रासफर्मेशन की ही हो सकती है।

मैंने अन्यत्र भी लिखा है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए सक्रिय तत्वो मे साहित्य की भूमिका गौण और आनुषंगिक न होकर स्वतन्त्र और अनुपूरक होती है। मार्क्स के ही अनुसार साहित्य का मुख्य काम मानव मन की रचना करना और उसे अधिकाधिक सवेदन समृद्ध बनाना है। समझदार और सवेदनशील आदमी ही शोषण का विरोध और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए सन्नद्ध हो सकता है। मेरी समझ मे नहीं आता कि लेखक को उसकी अपनी जमीन पर अपने ही औजारो से काम करने क्यों नहीं दिया जाता और पार्टी से बतौर कार्यकर्ता जुडने का आग्रह क्यों किया जाता है। पार्टी मे तो उसी की शर्तों पर जुडा जा सकेगा, लेखन की शर्तों पर नहीं। गैर-रचनात्मक शर्तों पर रचनात्मक काम तो सिर्फ हुकूमत के बल पर कराया जा सकता है। सोचने की बात है कि ऐसा काम कितना वास्तविक रचनात्मक होगा। कम से-कम मैं तो उसे आदर्श मार्क्सवादी लेखन मानने को तैयार नहीं हूँ। मैं अपने मार्क्स को जानता हूँ। लेखक के लिए मार्क्सवाद निरा कनविक्शन नहीं, इस कनविक्शन से प्रसूत लेखकीय कर्म

ही हो सकता है। मैं मार्क्सवादी दर्शन की शिक्षा लेने के उद्देश्य से प्रगतिशील साहित्य की तरफ नही जाता, इस दर्शन से गढे निष्पाप रचनात्मक मन मे जुडने के लिए जाता हूँ। इतना मूर्ख नही हूँ कि अधिरचना को आधार मान लूं।

शायद यही कारण है कि मुझे परवर्ती की तुलना मे पूर्ववर्ती परसाई ज्यादा प्यारा लगता है। परवर्ती परसाई तो अक्सर कल्चरल कोमिसार की भाषा मे बात करता जान पडता है। इस परसाई की समीक्षा करने के लिए पार्टी-लाइन की समीक्षा करनी पडेगी। मैं राजनीति का आदमी नही हूँ इस मूल अयोग्यता के अलावा इसलिए भी उसकी तफसील मे नही जाना चाहूँगा क्योकि पिछले दिनो का, खास तौर से सन् 69 से 77 तक का, उसका रिकार्ड इस लायक नही है। राजनीति मे कब नीति रणनीति मे और रणनीति नीति मे बदल जाये इसका ठिकाना नही। लेकिन साहित्य मे तो सिर्फ धर्म-युद्ध जायज माना जाता है। पार्टी की मुसलसल कलाबाजी न परसाई को भी बाजीगर बनने पर मजबूर किया। विश्वसनीयता घटने पर लेखक की रचनाशीलता कैसे ज्यो की त्यो बनी रह सकती है ? कोई मुझसे पूछे कि तुम्हारे समय की सबसे बडी दुर्घटना क्या है तो मै बेखटके कहूँगा, लेखक परसाई पर उसके पत्रकार की विजय। यह नही कि मै जर्नलिज्म को साहित्य-रचना से कोई कम जरूरी काम मानता हूँ। जर्नलिज्म-बजातेखुद रचनात्मक होने के अलावा लेखक की सहजात रचनाशीलता को भी परिपुष्ट कर सकता है। अगरेजी, रूसी और अनेक दूसरी भाषाओ मे भी इसके कई उदाहरण मिल जायेंगे। हमारे यहाँ के कविया मे मुक्तिबोध और गद्यकारो मे परसाई खुद इसका उदाहरण है। आलोचना के क्षेत्र म हमारे यहाँ दुहरे मानदड कितने खुल्लमखुल्ला तरीके मे अपनाये जा रहे हैं यह इसी से जाना जा सकता है कि अखबारी अदाज मे अखबारी हलचलो को अपनी कविता मे विन्यस्त करने वाले रघुवीरसहाय का काम तो महत्त्वपूर्ण ठहराया जाता है लेकिन गद्य के क्षेत्र मे जमाने स ऐसा करते परसाई को *एक क्रिएटिव जर्नलिस्ट कहकर टाल दिया* जाता है। इसमे शक नही कि पत्रकारिता परसाई के परवर्ती लेखन की सीमा बनती गयी—लेकिन क्या यह सिर्फ परसाई के साथ हुआ, रघुवीरसहाय के साथ बिल्कुल नही ? इसके अलावा क्या वह सिर्फ सीमा है उसकी, शक्ति कही से भी नही ? मेरे ख्याल से तो पत्रकारिता परसाई के लेखन के मूल स्वभाव मे है—और मूलत इसी कारण समकालीन गद्यकारो मे वह एकदम अलग से पहचान लिया जाता है। परसाई की अतिशय सामाजिक-राजनीतिक सजगता का मुख्य श्रेय मैं उसके भीतर के इस पत्रकार को ही देना चाहूँगा जिसके कारण देश के किसी भी कोने से ककड उछालकर फेंक देने से परसाई के ताल मे लहरें उठने लगती है। जार्ज आरवल की तरह उसके भीतर के पत्रकार ने कभी परसाई के लेखक को भी बेहद परिपुष्ट किया था। सडक पर वन व ट्रैफिक हो जाने से पिछले कुछ सालो से जरूर इन दोनो के बीच परस्पर आदान-प्रदान का सिलसिला लगभग समाप्त हो गया प्रतीत होता है। लेखक परसाई को एक डायवर्शन मे ढकेलकर

पत्रकार परसाई मुख्य मार्ग पर चलने लगा है। ट्रैफिक पुलिस चौकन्नी थी। डेवियेशन नही होना चाहिए पार्टी-लाइन से ! लाखो की तादाद मे बिकने वाली और एक मिनट मे दस बार हवा मे पलटने वाली पत्रिकाओ मे प्राय छपने वाली परसाई की रचनाएँ वेस्ट सेलर होती गयी। दुख से आपूरित वह रचनात्मक मन उसमे से धुँधलाता गया जो हमेशा मुझे अपने व्यक्तिगत दुख से ऊपर उठा कर व्यापक दुख से जोड देता था। पत्रकार के उसके लेख पर हावी होने से परसाई की रचना मे अन्तर्विष्ट क्लेसिकी तत्त्वो को सचमुच बहुत नुक्सान उठाना पडा।

क्लेसिक्स हमारे सामूहिक अवचेतन की सचाई हैं। जिस दिन यह सचाई मर जायेगी आदमी इस दुनिया मे नही रहेगा। आदमी दुनिया मे है और उसे निरतर बेहतर बनाने मे लगा हुआ है, यह बतलाता है कि उसके भीतर की सचाई अभी पूरी तरह जीवित है। सत्य तो सीधा और सरल होता है लेकिन उस तक जाने का रास्ता बेहद पेचीदा और घुमावदार। रास्ता क्या खासी भूलभुलैया है। टोह लेने के लिए हम, जाहिर है उस पर बहुत भरोसा होने के कारण ही, पहले अपना अग्रगामी दस्ता भेजते है। इस दस्ते की गलती या लापरवाही, एडवेंचरिज्म या समझौतापरस्ती, हमे भी ले डूबती है। पूरे का पूरा काफिला गुमराह हो जाता है। अभी पिछले दिनों ही हमने देखा कि आपातकाल के दौरान सी० पी० आई० का भी काफिले का काफिला भटक गया था। बदकिस्मती से इसम परसाई भी शामिल था। उसकी बदकिस्मती यह नही थी कि वह सगठन के साथ था—दल के महत्त्व से इन्कार करके किसी अमूर्त्त धारणा से प्रतिबद्धता की बात करने को मैं शुद्ध चालाकी समझता हूँ—बल्कि यह कि वह ऐसे सगठन के साथ था जिसके शीर्षस्थ नेताओ का अपने ही निचले काडर और सामान्य जन से सम्पर्क टूट गया था। शायद खुद परसाई का हाथ भी कुछ देर के लिए जन-समूह की नब्ज पर से हट गया था वरना वह फौरन समझ जाता कि दल के नेतृत्व का अपने आधार स कोई सम्पर्क नही रह गया है और जाने अनजाने पार्टी ने ऐसा स्टैंड ले लिया है जो व्यापक तौर से जन-विरोधी स्टैंड है। इमरजेंसी के दौरान सी० पी० आई० से जुडे रहने के कारण परसाई की विश्वसनीयता के बारे मे भी अनेक युवा लेखक शकालु हो गये थे। जिस दौर से हम गुजर रहे है वह घडी भर के लिए भी अपनी कमर-पट्टी ढीली करने की इजाजत नही देता। ऊधे कि मरे।

परसाई कमोबेश तीस साल से लगातार लिख रहा है। मेरे विचार से छठा दशक उसकी रचनात्मकता का उत्कर्ष-काल था। सातवें दशक मे तो परसाई स्थापित लेखको की श्रेणी मे आ गया था। बडी पत्रिकाएँ उसका मुँह जोहती। उसकी किताबो के लिए बडे प्रकाशको मे होड लगने लगी। क्रातिकारी परसाई बडे सूक्ष्म ढग से लोकप्रिय बनाया जाने लगा। चोट करने के बदले उसके व्यग्य मजा देने लगे। बडे लोगों से उसका मेलजोल बढने लगा। **अपने लोगों से** कम

होने लगा। ये बड़े लोग पार्टी के भी थे और पार्टी के बाहर के भी। परसाई का एक पैर भोपाल में तो दूसरा दिल्ली में टिक गया। उसको बहुत दिनों तक पता ही नहीं चला कि कैसे सूक्ष्म तरीके से वह अपने आत्मा के सहचरों में ही बिलगाया जा रहा है। और जब पता चला तो बहुत देर हो चुकी थी। वह अपने घर तक से कट चुका था। उसने उन लोगों को भी छोड़ दिया था जिन्हें उसने अपना खून देकर पाला-पोसा था। उसने अपने आपको शराब में डुबो दिया। चार साल पहले रायपुर में आयोजित कबीर-उत्सव की याद करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के एक संवेदनशील और कर्मठ कार्यकर्ता ने मुझसे एक बार कहा था कि परसाई जी उन दिनों इस कदर पीने लगे थे कि हम दुख के साथ-साथ शर्मिन्दगी भी महसूस करते। मैंने छूटते ही कहा था, "उन दिनों की पार्टी-लाइन को नशे में धुत होकर ही स्वीकार किया जा सकता था, कामरेड।" गलत और अनैतिक समझौते आदमी के प्राण ले लेते हैं। मैं जानता हूँ उन दिनों परसाई कितना टूट गया था। वह ऐसी व्यथा थी जिसे वह किसी के भी साथ नहीं बाँट सकता था। वह एक मिनट भी नहीं सो पाता। सारी रात जागता, बोतल की सील तोड़कर एक साँस में पूरी निप खाली कर देता और सींकचे में बन्द शेर की तरह कमरे के चक्कर लगाता व्याकुल स्वरों में बुदबुदाया करता, "सुखिया सब ससार खावै अरु सोवै दुखिया दास कबीर जागै अरु रोवै।" वह तो परसाई था कि कफन फाड़कर फिर से उठ खड़ा हुआ। ऊँघते को हम सबने मरा मान लिया था। देखिए, किस हेकड़ी के साथ फिर से खड़ा होकर कह रहा है—"हम न मरैं मरिहै ससारा हम कूँ मिल्या जियावनहारा।"

मैं जानता था परसाई बहुत दिनों तक हाथी दाँत के मीनार में नहीं रह सकता और एक दिन अपनी धरती पर वापिस जरूर आयेगा। प्रखर बौद्धिकता से दीप्त तेज-तर्रार परसाई के भीतर बैठा टिमिरनी गाँव का हरिशंकर उसे चैन नहीं लेने देगा। शहराती लोग नहीं जानते, ऊपर-ऊपर से निहायत भोलाभाला दिखने वाला हिन्दुस्तान का देहाती कितना घाघ और काइयाँ होता है। परसाई के भीतर भी ऐसा ही एक घाघ देहाती बैठा है। वह एक बार धोखा खा सकता है, बार-बार नहीं। दूसरी आजादी का हमें शुक्रगुजार होना चाहिए जिसकी वजह से पहली आजादी का परसाई हमें फिर से वापिस मिल गया है। गलतियाँ कौन नहीं करता। जो जिन्दगी भर फेम पर बैठे रहते हैं वही नहीं करते होंगे। भूल-गलती की सीढ़ियाँ ही हमें ऊपर तक ले जाती हैं। भूल आलमगीर। मेरी आपकी कमजोरियों के स्याह / लोहे का जिरहबख्तर पहन खूँख्वार / हाँ खूँख्वार आलीजाह / वो आँखें सचाई की निकाले डालता / इतने में हमीं में से / अजीब कराह-सा कोई निकल भागा / महसूस होता है कि वह बेनाम / बेमालूम दर्रों के इलाके में / सचाई के सुनहरे तेज अक्सों के धुँधलके में / मुहैया कर रहा लश्कर / हमारी हार का बदला चुकाने आयेगा / संकल्पधर्मा चेतना का रक्त-प्लावित स्वर।

कम-से-कम मुझे तो लगता है कि गहरे आत्ममथन के दौर से गुजरकर परसाई फिर अपने रचना-लोक में लौट आया है। मैं खुद चाहूँगा कि निर्मल वर्मा 'कल्पना-लोक की शर्तों पर" ही परसाई के साहित्य की भी परीक्षा करें। यदि उनका वाम विरोध इर्रेशनेल्टी की हदों तक पहुँच चुका हो तब तो कुछ भी कहना-सुनना बेकार है वरना वे भी इस नतीजे पर पहुँचे बिना नहीं रह सकेंगे कि 'रूप और रास्ते' की खोज के मामले में भी मुक्तिबोध ही नहीं कोई भी महत्वपूर्ण प्रगतिशील लेखक कलावादियों से बहुत पीछे नहीं रहता। ऐसा करने के लिए निर्मल की तरह 'अनुभव के शार्टकट' का महत्त्व कम करना उसे बिलकुल जरूरी नहीं लगता क्योंकि वह जानता है कि रूप-तत्त्व की तरह वस्तु-तत्त्व के भी रूपनिबद्ध होने से रचना खंडित और अप्रामाणिक ही बन पड़ेगी। प्रगतिशील लेखक मछली पकड़ने के लिए तो जाल का उपयोग कर सकता है लेकिन कला-वादियों की तरह कुहरा पकड़ने के लिए नहीं। कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, निराला, रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी या मुक्तिबोध की तरह परसाई का भी शब्द-लोक कोरा माया-दर्पण नहीं है।

—प्रमोद वर्मा

विश्लेषण

मध्यप्रदेश का जाज्वल्यमान कथाकार

श्री हरिशंकर परसाई मध्यप्रदेश के उन कथाकारो में से हैं, जिनकी कि आज तक हिन्दी साहित्य मे काफी चर्चा होनी चाहिए थी। इसका कारण यह नहीं है कि श्री परसाई जी महान् हैं, और उनकी कृतियाँ महान् हैं, वरन् यह कि उनकी कहानियाँ खरी है। इस खरेपन में खुरदुरापन है, जो मौजूदा यथार्थ का एक गुण है, किसी आत्मग्रस्त सबजेक्टिव वृत्ति का लक्षण नही। यदि सस्कृति का अर्थ मौजूदा यथार्थ से भागना है, या उस पर मुलम्मा चढाकर उसे नकली सौन्दर्य प्रदान करना है, तो वह सस्कृति बेकार है। इस सस्कृति के जाने-अनजाने ज्योतिर्धरो का प्रकाश अँधेरा फैला रहा है, और उसकी छायाएँ खरे लेखकों पर फैलकर, साहित्य के विस्तीर्ण क्षेत्र मे उन्हे चर्चा का विषय भी नही बनने देती। लेकिन वहस जरूरी है—साहित्य के विकास के लिए।

साफ कह दूँ कि विदेशो मे जिन मौजूदा भारतीय लेखको की कृतियो का ठाठ से प्रकाशन हुआ है उन लेखको मे से बहुतेरे अत्यन्त साधारण है। श्री परसाई कलात्मक दृष्टि से प्रगतिशीलता के क्षेत्र म, उनसे कही अधिक समर्थ है। परसाई जी बडे आदमी नही हैं कि जिन्हे खुश करने के लिए यह लिखा जा रहा हो, किन्तु उनकी कृतियो म प्रकाशित दिशाकाश की उपेक्षा नही की जा सकती।

मानदण्डो का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए। यदि परसाई जी की तुलना, रोम्याँ रोलाँ, गोर्की और तारसतॉय से करने लगें, तो हमारी बुद्धि की दिक्काल-सवेदना लुप्त हो गयी समझिये। किन्तु कौन जानता है कि भारतीय धरती की उर्वरता श्री परसाई जी के कला-हृदय से फूटनेवाली हो? यह सही है कि बीज आज भव्य वृक्ष नहीं है। किन्तु कौन कह सकता है कि वह सघन-छाय नही होगा? शायद ऐसा न भी हो, और श्री परसाई आगे उन्नति न कर सकें, और अनेक प्रख्यात किन्तु मन्द लेखकों में ही उनका स्थान बना रहे। किन्तु आलोचक का यह धर्म है कि वह कृतियो के भीतर से सूचित सामर्थ्य-सम्भावनायें लेखक तथा पाठक के सामने रखें।

श्री परसाई जी के मामले मे यह और भी जरूरी है। इसलिए कि उनकी कृतियों मे प्रकट खरेपन का एक व्यक्तित्व है, उसका एक उद्देश्य है, और गुण-समन्वित उसकी एक पृथक् शैली है। इतनी उपलब्धि के लिए भी बहुत तपस्या लगती है।

जो पाठक 'तब की बात और थी' पढ़ेंगे, उन्हें परसाई जी की क्षमता का

पता लग जायेगा। मेरे ख्याल से, उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी 'एक घंटे का साथ' है, जो वस्तुत हिन्दी की उच्चकोटि की कहानियों में से है। परिस्थितियों के फल-स्वरूप चरित्र में विपर्यासपूर्ण असन्तुलन का जो चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है वह बहुत ही ट्रैजिक है। किन्तु करुण नहीं। वह विद्रूप है। हाँ, अलबत्ता, कुल मिलाकर इस विद्रूप का उद्घाटन मानव-सुलभ करुण सहानुभूति से किया गया है। उनकी इस क्षमता का दूसरा किन्तु साधारण, नमूना 'स्मारक' कहानी है। बड़ी-से-बड़ी बात उड़ते-उड़ते कहने की सहज-सुलभ बहिर्मुखी वृत्ति के कारण, वह कहानी अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच नहीं सकी। किन्तु उसमें जो कुछ भी है वह परफेक्ट है। किन्तु वह परफेक्टपन हमेशा ऊँचाई नहीं होती, यद्यपि हो सकती है। हो सकने और होने के बीच का फर्क महत्त्वपूर्ण है। जो हो, उनकी कुल चीजें पढ़ जाने पर यही लगता है कि चरित्र की आन्तरिकता के प्रति श्री परसाई जी का ध्यान कम है। ध्यान दिया जाये तो क्या कहना!

किन्तु, परसाई जी का सबसे बड़ा सामर्थ्य संवेदनात्मक रूप से यथार्थ का आकलन है, चाहे वह राजनैतिक प्रश्न हो या चरित्रगत। हमारे यहाँ की साहित्यिक संस्कृति ने सचाई के प्रकटीकरण पर जो हदबन्दी करके रखी है, उसे देखते हुए श्री परसाई जी की कला सहज ही वामपक्षी हो जाती है। समाज और जनता से दूर, अभिजातवर्गीय 'शिष्टता', 'भद्रता' और 'सौजन्य' ने जो मानसिक सेंसर लगा रखे हैं, वे सबसे पहले हमारे जीवन के सामाजिक और राजनैतिक यथार्थ पर लागू किये जाते हैं। इस सेंसर से ग्रस्त कलात्मक अभिरुचि मौजूदा यथार्थ को ठीक-ठीक ढंग से प्रकट नहीं होने देती। यह तो श्री परसाई जी की व्यक्तिमत्ता है कि वे इस प्रकार के साहित्यिक सौन्दर्य के झमेले में नहीं पड़े। उग्र और तीव्र प्रतिक्रियाओं को काट-छाँटकर उन्हें 'सौम्य' बनाने, यानी शेर को बकरी बनाकर उससे घास चरवाने का उद्देश्य इस अभिरुचि की विशेषता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि श्री परसाई भौंडे ढंग से प्रगतिशील हैं नारेबाज हैं। यह बिल्कुल नहीं। किन्तु असलियत को छुपाने के लिए उसे बिगाड़ देने की कला उनके पास नहीं है। उनकी कला यथार्थ प्रकट करने के लिए अनेक मार्गों, यहाँ तक कि दन्तकथाओं तक का प्रयोग करती है। 'भेड़ें और भेड़िये' एक ऐसी ही महत्त्वपूर्ण दन्तकथा है। श्री परसाई इनमें, वस्तुत, मौजूदा तरुण पीढ़ी की राज-नैतिक, सामाजिक तथा मानवीय दृष्टि प्रकट करते हैं। लेखक की कमजोरियाँ तथा सामर्थ्य, दोनों की विशेषताएँ प्रतिनिधिक हैं।

परसाई जी की और भी बृहत् सफलताओं के हम आकांक्षी हैं। हम उनके आगे के विकास को देखते रहेंगे।

—ग० मा० मुक्तिबोध

[(सम्भवत) नया खून के दीपावली विशेषांक, 1956 में प्रकाशित]

अपनी शताब्दी का कबीर

व्यग्यकार मानवीय मूल्यो का विचारक होता है, साहित्य उसका लक्ष्य नही उसका माध्यम है उसका लक्ष्य तो है मनुष्य और मानवीय मूल्य—इसलिए मैं हरिशकर परसाई को यद्यपि वे गद्य लेखक है—मूलत एक कवि और द्रष्टा के रूप मे स्वीकार करता हूँ।

साहित्य के एक आस्थावान पाठक के नाते प्रारम्भ मे जब कोई पत्रिका उठाता था तो पहिले उसमे कविताएँ पढता था। धीरे-धीरे जाने कैसे इस स्थिति मे आ गया हूँ कि पहिले वह पृष्ठ पढता हूँ जहाँ हरिशकर परसाई की कोई रचना होती है। शायद किशोर पाठक से वयस्क पाठक की यात्रा का यही या यह भी एक मार्ग है। हरिशकर परसाई ही नही और भी व्यग्य-लेखकों की रचनाएँ पहिले पढता हूँ—परन्तु हरिशकर परसाई से व्यक्तिगत परिचय और आत्मीय सम्बन्ध होने के कारण शायद ज्यादा लगाव है और मैंने उनकी करीब-करीब सभी रचनाएँ पढी हैं और किसी न किसी प्रकार उनसे प्रभावित हुआ हूँ—उसी तरह जैसे एक साधारण पाठक होता है। आज मैं स्मृति को टटोलकर पूछता हूँ कि मैंने परसाई को पहले-पहल कब पढा? तो याद आता है कि बहुत पहले यानी 1953 मे 'हँसते है रोते हैं' की कहानियाँ पढी थी। सोचता हूँ कि प्रतिक्रिया क्या थी? याद है कि उनकी समस्त कहानियो ने उत्कृष्ट कविताओ की तरह अभिभूत किया था। आज जान पाया हूँ कि उत्कृष्ट और ईमानदार काव्य के लिए यह आवश्यक है कि उसमे मानवीय सवेगो की रागात्मकता और चिन्तन की तटस्थता का सश्लेषण हो। इसके लिए यह नितान्त अनिवार्य है कि रचनाकार प्रतिबद्ध हो। हरिशकर परसाई की प्रतिबद्धता यथार्थवादी वैज्ञानिक वैचारिक निष्ठा पर आधारित है और उजागर है, और उसका मूल उनकी मानवीय सवेदना और रागात्मकता में है।

'हँसते है रोते हैं' की कहानियाँ उन्हे द्रष्टा की कोटि मे स्थापित करने के लिए पर्याप्त हैं। सारी कहानियो मे वैचारिक आस्था वाले यथार्थवादी की दृष्टि और व्यग्य की गगा-यमुना तो उजागर है ही, करुणा की सरस्वती भी अन्त सलिला की तरह अपनी उपस्थिति का आभास देती है। 'भीतर का घाव' कहानी कुत्सित यथार्थ की मार्मिक तस्वीर है, और हिन्दी की गिनी-चुनी कहानियों मे गिने जाने योग्य है। पाखण्ड प्रदर्शन आर्थिक दबावो से उत्पन्न कलुषित मानसिकता वाले माता-पिता और चाची के चरित्रो की पीठिका पर सहज स्नेहमय भैया और

भाभी का चरित्र जिस प्रकार इस कहानी मे उभरा है वह किशोर मन मे बैठे हरिशकर परसाई के प्रौढ रचनाकार की उपस्थिति का द्योतक है। कहानी की सरचना शिल्प व्यक्तिगत सवेदना के सस्पर्श से काव्य के उसमे भी ऊँचे स्तर को छूता है जो महाकवि वाल्मीकि के क्रौंच-वध के सन्दर्भ म नि सृत प्रथम श्लोक मे प्राप्त हुआ है अत ज्यादा गहन और मार्मिक है। इस कथा का आधार प्रथम पुरुष मे सस्मरणात्मक होते हुए भी हमारी सामाजिक चेतना को झकझोरने वाला है। कहानी करीब तीस वर्ष पूर्व लिखी गयी थी परन्तु आज भी उतनी ही प्रामणिक है—शायद उससे भी ज्यादा अध्ययन-अध्यापन करने वाला आदर्श पुत्र, माता-पिता और चाची के लिए महत्वहीन है, क्योकि वह अल्पवेतन पानेवाला अध्यापक है। दहेज न लेकर आनेवाली उसकी पत्नी को तो सास-ससुर मनुष्य का दर्जा भी देने को तैयार नही है। हमारी पूंजीवादी सस्कृति की यह अनिवार्य परिणति है।

हरिशकर परसाई की 'भीतर का घाव' कहानी किसी सुधारवादी दृष्टि-कोण पर आधारित दहेज-विरोधी रचना नही है। वह समाज की बुनियादी विकृति पर आघात करने वाला हथियार है और युग को मूलगत गहराई तक आन्दोलित करने वाला दस्तावेज। किसी भी रचना को यह बल, सवेदन की सघनता रचनाकार की चेतना के जीवन्त स्पन्दन और वैज्ञानिक चिन्तन से प्रखर हुई प्रज्ञा से मिलता है। वास्तव मे इस कहानी मे परसाई सच का केवल बखान ही नही करते वे पाठक को झकझोरते भी है। और अभी तक वह जिसकी उपेक्षा करता रहा है उसकी ओर देखने को बाध्य करता है। परसाई जिस तरह स्थितियो और मूल्यो को स्वय देखते और समझते है, पाठको को भी उसी तरह देखने और समझने को उत्तेजित करते हैं। वे पाठको के भ्रमो, पाखडो और कुठाओ को नेस्तनाबूद करते चलते हैं, वे सचाई के ऊपर पडे उस नकाब को उठा-कर वास्तविकता को प्रत्यक्ष कर देते हैं, इस अर्थ मे वे खतरनाक लेखक है। परसाई की कोई भी रचना पढकर हम ठीक वही नही रह जाते जो हम उस रचना को पढने के ठीक पहले होते हैं।

जिस प्रकार 'भीतर का घाव' कहानी कालान्तर म आज भी प्रासगिक है उसी प्रकार इस कहानी-सग्रह की अन्य कहानियाँ भी समसामयिक सन्दर्भों मे प्रासगिक हैं। 'पडोसी के बच्चे' परिवार कल्याण नियोजन की सन्दर्भ मे लिखी गयी रचना नही है, न वह जनसख्या के विस्फोट को रेखाकित करती है। यह कहानी मानव के बीच समान अधिकार की अप्रत्यक्ष वकालत है और गैर बराबरी पर चोट करती है। रचना-काव्य प्रधान होते हुए भी उसमे व्यग्यकार का तेजस्वी स्वर मुखर है। इसी प्रकार सग्रह की सातवी कहानी भ्रान्ति हो गयी सम्पूर्ण क्रान्ति के अवैज्ञानिक सभ्रम जन्य नारे का उपहास करने के लिए नही लिखी गयी। यद्यपि आज पढे जाने पर ऐसा ही लगेगा। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि पुस्तक मई 1953 मे प्रकाशित हो चुकी थी। रचना की जीवनी

शक्ति इसी मे है कि बदलते परिवेश भिन्न आयामो और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बदलाव के बावजूद रचना ने अपनी प्रासगिकता नही खोई है। यह लेखक हरिशकर परसाई की अस्मिता का मूल तत्व है।

'क्या कहा' और 'साडी का रग' दोनो कहानियाँ पूँजीवादी समाज मे प्रचलित प्यार—प्रेम के ढकोसले को उजागर करती है और प्लेटानिक लव के बारे मे चली आ रही किशोर मन वाली बचकाना धारणा की जड पर आघात करती है। दोनो रचनाएँ सशक्त व्यग्य कथाएँ हैं।

'नरक से बोल रहा हूँ' और 'भूख का स्वर' सामाजिक उत्पीडन को रेखाकित करती हैं तथा समस्त स्थापित सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था के खिलाफ जिहाद करने के लिए, विद्रोह करने के लिए जाग्रत करने वाली रचनाएँ है।

सग्रह की अन्य रचनाएँ भी पठनीय है और उनमे करुणा के साथ व्यग्य की विकृतियो का मूलोच्छेदन करने वाली धार भी है।

हिन्दी के पहले विद्रोही कवि कबीर ने परसाई को बहुत प्रभावित किया है। यदि हरिशकर परसाई 15वी या 16वी शताब्दि म पैदा होते तो कबीर होते और यदि कबीर बीसवी शताब्दि मे पैदा होते तो हरिशकर परसाई होते। व्यग्य के साथ करुणा का पुट—समस्त रचनाओ को एकदम असामान्य भूमिका प्रदान करता है। कुछ विचित्र और विरोधी तत्त्वो का घोल है—परन्तु वह घोल सपृक्त घोल है और हरिशकर परसाई मे ही वह नैसर्गिकता प्राप्त कर सका है। रचना मे इस प्रकार की अन्योन्याश्रित गुम्फन हर रचनाकार के वस की बात नही है। इस तरह की बात अभ्यास-जन्य शिल्प से पैदा हो सकती है कि नही यह विवादास्पद विषय हो सकता है, परन्तु चूँकि यह बात हरिशकर परसाई की प्रारभिक रचनाओ मे भी है अत मैं इसे उनके कलाकार के साथ सहजात मानता हूँ। किसी भी वास्तविक जनवादी लेखक के लिए ये विशेषताएँ अनिवार्य हैं। हरिशकर परसाई की रचना मे धीरे-धीरे व्यग्य की धार तेज हुई है परन्तु उनमे मानवीय करुणा का अश धीरे-धीरे घट गया है। शायद कालम राईटिंग म इसे साध पाना सभव भी नही। उनका नियमित लेखन जो पत्र पत्रिकाओ के कालमो म देखने को मिलता है वह अधिकाश मे असपृक्त व्यग्य लेखन है और समसामयिक राजनैतिक षड्यन्त्रो, पाखडो और विकृतियो के प्रति पाठको मे वितृष्णा पैदा करता है।

आज का हिन्दी व्यग्य-लेखन विकास के क्रम मे प्रौढ हो चुका है परन्तु उसमे हल्का हास्य और हल्के से प्रहार करने की कलाकारीय कोमलता शेष है। परन्तु परसाई मे हल्का आघात करते समय वह हल्की कलाकारीय कोमलता नही है। उनके परवर्ती लेखन मे जो प्रहार हैं वह आक्रोश की स्पष्ट अभिव्यक्ति हैं और उसमे पौरुष स्पष्टत परिलक्षित होता हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि परसाई का केन्द्र अब व्यक्तिगत मनुष्य की तुलना मे

मनुष्यता को बनाने-बिगाडने वाली सस्थाएँ या प्रतिष्ठान हो गये हैं, परसाई अब जुवेनल या पोप की तरह पाखण्ड या भ्रष्टाचार को केवल बेनकाब कर सतुष्ट नही हो जाते, वे हमारे भविष्य का निर्माण करने वाली, उन्हें नियत्रित करने वाली शक्तियो के पाखण्ड या उनकी फिसलन के बारे मे चिन्ता करते है और चाहते हैं कि समय रहते हम सावधान हो जावें। इसलिए वे सुनार की कोमलता से नही लुहार की पौरुषता से प्रहार करते है।

—कृष्णकुमार श्रीवास्तव

सामाजिक-राजनीतिक चेतना का राडार

"सही व्यग्य व्यापक जीवन परिवेश को समझने से आता है। व्यापक सामाजिक, राजनीतिक परिवेश की विसगति, मिथ्याचार, असामजस्य, अन्याय आदि की तह मे जाना, कारणों का विश्लेषण करना, उन्हे सही परिपेक्ष्य मे देखना—इससे सही व्यग्य बनता है। जरूरी नही कि व्यग्य मे हँसी आये। यदि व्यग्य चेतना को झकझोर देता है, विद्रूप को सामने खडा कर देता है, आत्म साक्षात्कार कराता है, सोचने को बाध्य करता है, व्यवस्था की सडांध को इगित करता है और परिवर्तन की ओर प्रेरित करता है तो वह सफल व्यग्य है। जितना व्यापक परिवेश होगा, जितनी गहरी विसगति होगी, जितनी तिलमिला देनेवाली अभिव्यक्ति होगी, व्यग्य उतना ही सार्थक होगा।"

व्यग्य के बोध, उसके सगठन और उद्देश्यों का यह विवेचन हरिशकर परसाई का ही है। परसाई की कलम ने ही, हिन्दी के पाठकों को व्यग्य की वह आधुनिक चेतना और धार दी जो आज हर अखबार और साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक को, व्यग्य का कॉलम चलाने पर मजबूर कर रही है। हास्य और व्यग्य को एक ही घडे मे रखने वाले चतुर सुजानों को, व्यग्य की भीतरी मार, अथाह करुणा, विसगति से दो-दो हाथ कर उसे नष्ट करने की रचनात्मक छटपटाहट और क्षणिक खिलखिलाहट उपजाने वाले हास्य मे कोई अतर नजर नही आता था। यदि अतर समझ मे आ भी जाता था तो वे उसकी आँख से आँख मिलाने मे डरते थे।

समय लेकिन किसी की नहीं सुनता। वह अभिव्यक्ति के रास्ते खोज लेता है। कबीरदास चौराहे पर खडे होकर ही अपनी बात कह लेते है। उनके व्यग्य-बाणों को, गाली बनाकर आप फागों मे बदल दीजिए, करुणा और सघर्ष की अतर्धारा से फूटे उनके बोल सदी पर सदी पार करते हुए बार-बार हमारे मर घटकर बोलेंगे।

सन् 60 के आसपास भारतीय राजनीति का वह समय था जबकि आधुनिक वैज्ञानिक सोच विरोधी, प्रगति विरोधी यथास्थिति परक, व्यवस्था हित समर्थक शक्तियाँ नये सिरे से अपनी ताकत बटोरकर दृश्य पर बहुत तेजी से उभर रही थी। सभी जानते है कि साम्प्रदायिक और निजी पूँजी परस्त चेहरे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों का हित एक-दूसरे की मजबूती मे है, इसीलिए तमाम दुनिया मे ये मिली हुई हैं। कभी राष्ट्रवाद के नाम पर, कभी धर्म के सहारे, कभी भाषा

और सस्कृति की धुजाएँ उठाकर ये हर समाज कीउ न कमजोरियो को पोसने के प्रयत्न करती रहती है जिनसे उन्हें रस मिलता है। सन 60 के आसपास पतन-शील प्रवृत्तियों के ये सभी मोहरे बिसात पर बहुत तेजी से आगे बढ रहे थे।

उस व्यक्ति को, जो इतिहास, दर्शन और सस्कृति का गभीर अध्येता हो, जिसने बहुत कम वय से आगे बढने के लिए निरन्तर सघर्ष किया हो और अपने साथ तथा अपने आसपास घटी हर घटना को तटस्थ होकर अनुभव और चेतना मे बदला हो, उसके कार्य-कारण सम्बन्धो की वैज्ञानिक दृष्टि से जाँच की हो, ऐसा समय ललकारता है। पतनशील प्रवृत्तियों की बारूद भरी तोपें सम्वेदनशील प्रगतिकामी चेतना के सामने थी। इनसे बडे पैमाने पर निपटना जरूरी था। बडे पैमाने पर लडाई लोगो के मन-मस्तिष्क तैयार करके ही लडी जा सकती है और इस तैयारी का सहजतम और सफलतम माध्यम अखबार हो सकता है। हरिशकर परसाई यह जानते थे। मुहिम शुरू हुई और सन् 1961 मे किसी इतवार से कबीर ने अपने 'प्रवचन' शुरू किए। प्रवचन इसलिए कि भारत साधु-सतो का देश है और बतकही के इस अन्दाज मे, एक साथ, अधिक से लोगो के साथ बेलौस बात की जा सकती है। हर सप्ताह 'सीस काटके' 'भुंई' धरने का काम शुरू हुआ और कबीर अपने श्रोताओं-पाठको से बात करने लगे।

हर सप्ताह कोई खबर (सामाजिक, राजनीतिक) ली जाती। उसमे निहित व्यग्य के ताने-बाने अलग किये जाते, उसके हर रग का मर्म सामने लाया जाता और पाठक को खुद-बखुद उन प्रवृत्तियो के दर्शन होने लगते जो उस खबर की जड मे है। इन स्तम्भों को पढते हुए आप भारतीय इतिहास से, उसके वर्तमान से और उसी अनुपात मे दुनिया के इतिहास और वर्तमान से साक्षात्कार करते हुए भविष्य गढने की एक स्वस्थ, तार्किक और जनपरक दृष्टि उपलब्ध करते हैं। इस प्रक्रिया मे आप धीरे-धीरे मनुष्य को—याने बहुसख्यक शोषित को—मुक्ति दिलाने की मुहिम मे शामिल होते जाते है।

'मिलावट की सभ्यता' जून 61 मे छपा। आर्थिक भ्रष्टता की यह खबर इस तत्र के कितने मुखौटे एक साथ उजागर करती है—देखिये। कबीर कहते है—

"साधो…चुनाव प्रपच मे फँसे तुम लोग इस बात पर ध्यान नही दे रहे हो कि हमारी सभ्यता पर विदेशो मे प्रहार हो रहे हैं। हाल ही मे भारत सरकार के एक ऊँचे अफसर ने कहा है कि विदेशों में भारतीय माल की खपत मे कठिनाई आती है क्योंकि भारतीय व्यापारी मिलावटी माल देते हैं। ··

साधो बात बहुत गम्भीर है। ये विदेशी भारत को अभी तक नही समझ पाये है। भूल जाते हैं कि हमारी हजारो सालो की महान सस्कृति है और यह *सस्कृति समन्वय सस्कृति है यानी यह सस्कृति द्रविड, आर्य, ग्रीक, मुस्लिम आदि*

सस्कृतियो के समन्वय से बनी है। इसीलिए स्वाभाविक है कि महान सस्कृति वाल भारतीय व्यापारी इलायची मे कचरे का समन्वय करेंगे, गेहूँ मे मिट्टी का, शक्कर मे सफेद पत्थर का, मक्खन मे स्याहीसोख कागज का।'''

माधो, मुझे प्रसन्नता है कि व्यापारियो को लेकर यहाँ राजनैतिक दल बन गये है ''

माधो, कुछ भी हो, अपनी सभ्यता-सस्कृति नही छोडे जाते। यह राष्ट्रीय विशेषता है और हम यह बच्चो को छोटी उम्र से ही सिखाते हैं। उनके सस्कार के लिए गणित मे यह पढाते हैं—एक ग्वाला 21 रु० मन के भाव से 3 मन दूध खरीदकर उसमे बीस सेर पानी मिलाता है और एक रुपये मे दो सेर के भाव से बेचता है तो उसे कितना लाभ होगा ?' ''

कितनी बातें उजागर हुई ? हम तो खैर रचनाकार है—और हर भारतीय रचनाकार चाहे उसकी उम्र या रचनाकाल की क्यो न हो जानपाँडे रहता है—गर्भ मे व्यूहभेदन सीखकर आया अभिमन्यु। उसे पढने-लढने की भला क्या जरूरत ! लेकिन वे हजारो, लाखो जन जो सहज मन से सब झेलते हैं, वे जो महाजनो की बात को पत्थर की लकीर समझते हैं, वे बच्चे और किशोर जो गणित के प्रश्नो मे घुटी हुई चेतना बदल, चेतना निर्माण घुट्टी पीते हुए बडे होते है, उनके लिए शुद्ध पवित्र सस्कृति का, यथास्थिति पोषक शिक्षा पद्धति का (जो मिलावट को लाभ के लिए एक सहज क्रिया के रूप मे रखती है), व्यापारी दलो के स्वतत्र व्यापार वाली 'महाजनी सभ्यता' की राजनीति का गणित हल करना इतना आसान नही है। उनके लिए हर युग मे एक कबीर चाहिए, जो अपने पेट का धधा हाशिए पर रखकर, बाजार मे आ जाए। चौराहे पर खडे होकर मुँडी भेडो को वास्तविकता सभी को समझाए।

एक समाचार आया—भोपाल सचिवालय के अहाते मे जो वटवृक्ष जवाहरलाल ने रोपा था उसे बकरी चर गई। कहते है पौधे के आसपास जो चबूतरा था उस पर चढकर बकरी पत्ते खा गई। कबीर को यह खबर लगी। अगले इतवार कबीर ने खबर मे समाए रूपक की पर्ते खाली—

'साधो ! तुम सुनते आ रहे हो कि बागुड खेत को खा गई और नाव नदी को लील गई और यह भेद किसी ने नही जाना, तुम इन उलटबासियो के दार्शनिक अर्थ निकाल लेते हो और रूपको को समझ लेते हो, इसीलिए इनका अर्थ खोलो—

यह भी ध्यान रखो कि रक्षक चौकीदार और भक्षक बकरी मे कोई गुप्त समझौता है'''यह राष्ट्रीय निर्माण का पौधा है। इसके आसपास तमाम योजनाओं के चबूतरे बनाए गए हैं ''इसकी रक्षा के लिए चौकीदार खडे हो गए है—यानी बडे अफसर, मत्री और नेता। साधो, मगर ज्योही पौधा बढा, भ्रष्टाचार की बकरी आई''' ''

'माधो ' हाल ही राष्ट्रीय एकता का पौधा लगा था'' उधर उत्तर प्रदेश

की साम्प्रदायिक बकरी उसे चर गई। जवाहरलाल ने 1950 में प्रजातंत्र का पौधा लगाया था, उसे फासिज्म की बकरी चरने के लिए लपक रही है, और चौकीदार उसे बढ़ने दे रहा है…"

"साधो, अब तो एक बडा मजबूत भयानक बकरा छुट्टा घूम रहा है। वह धर्म और संस्कृति की कंठी पहने फासिज्म का बकरा है…इसके सींगो से चौकीदार तक डरने लगे हैं।"…

चौकीदार और बकरियों की यानी रक्षक और भक्षक की शोषक और शासक के मिली भगत जारी है। यह माया बडी विचित्र है। अगर हमने अपनी स्मृति नही खोई है तो हमें याद होगा कि 'तिरगुन फांस लिये कर डोले, बोलें मधुरी बानी' को चरितार्थ करती हाल ही अढैया बनकर गुजरी है और अब ' भ्रष्टाचार का यह बकरा के० सथानम की अध्यक्षता वाली भ्रष्टाचार जाँच समिति की पकड मे भी नही आया (साधो—12-5-63)। व्यापारियों के सरगना को भ्रष्टाचार दूर करने सम्बन्धी चर्चा के लिए आमत्रण देते समय (जो ठुकरा दिया गया) सथानम यह भूल गए थे कि 'साधो बडे को लाभ हर सत्ता म मिलना है, वह चाहे भगवान की सत्ता हो या कांग्रेस की। इसी लाभ पद्धति को भ्रष्टाचार कहते है।' इन दिनो फासिज्म का गर्राया बकरा आसाम में और त्रिपुरा मे घूम रहा है और उसकी गध सारे देश मे फैली हुई है।

क्या आपने कभी हाकिमों का सामना किया है, सच्चे हाकिमों का ? क्या अब भी आप 'हिन्दी हैं हम वतन हैं हिन्दोस्तां हमारा' की खुशफहमी मे पगे यह नही जान पा रहे है कि 'इंगलिश हैं हम वतन हैं आंग्ल-अमेरिका हमारा'—यदि ऐसा हो तो यह खबर देखिए—नेहरू की शवयात्रा पर बनी फिल्म मे 'सारी रोशनी ब्रिटिश और अमरीकी नेताओ पर फेंक दी। वही-वही दिखाए गए।' यह खबर 'बर्बर' अफरीकी प्रतिनिधियो और 'मानवाधिकार विरोधी' रूसी नुमाइन्दो न भारतीयो को दी। वे बेचारे नही जानते थे कि 'स्वतन्त्रता के बाद भी हमारे कितने अफसरों और सेक्रेटरियो को पछतावा हो रहा था कि हाय रे, हम भारतीय क्यो हुए। अग्रेज क्यो नही हो गए।' वे अगर कबीर से मिलते तो वे बताते कि 'साधो, ये सब तबियत से, वेशभूषा से, विचारों से और आस्थाओं से अग्रेज हैं' और इसीलिए हमारे समूचे तत्र का आतरिक झुकाव उसी ओर है। (साधो—15-6-64—फिल्म डिवीजन मे अग्रेज)

लेकिन अगर आप इस तरह का कोई आरोप लगाएँगे तो सरकार एक जाँच कमेटी बैठा देगी, क्योंकि 'कमेटी वह दीवार है जिसके पीछे सरकार छिप जाती है।'

इस व्यवस्था के चलते कबीर अब भी बाजार मे खडा है। आपकी और मेरी यहाँ तक कि ईश्वर के अपने कबीर की मदद से मिली ईश्वर की शुभकामना भी किसी का साथ नही देती, क्योंकि आज के जमाने मे "सुख और दुख देने वाले दूसरे हैं। मैं कहूँ कि तुम्हे सुख हो। ईश्वर भी मेरी बात मानकर अच्छी फसल

दे, मगर फसल आते ही व्यापारी अनाज दबा दे और कीमतें बढ़ा दे तो तुम्हें सुख नहीं होगा "साधो सीधे रास्ते से इस व्यवस्था में कोई सुखी नहीं होता..." (10-1-62—नया साल)

परजीवी व्यवस्था के कुचक्र में फँसे हम अगर अपनी मेहनत से सुखी हो गये और हमारे खीसे में चार पैसे इकट्ठे हो गये तो उनके जेबकतरे हमें नहीं छोड़ेंगे, क्योंकि अपने यहाँ 'स्वयंसेवकों' के वेश में (यहाँ—कांग्रेस अधिवेशन में) कुछ जेबकतरे भी घुस आये हैं "साधो ये जेबकतरे पकड़े काहे आज गये हों, पर ये सन् 47 से ही कांग्रेस के अन्दर घुस आये थे" सबसे पहले उन्होंने कांग्रेस की जेब से प्रतिष्ठा काटी और उसे बाजार में बेच दिया "कांग्रेस की जेब में बरसों का संचित ईमान भी रखा था। जेबकतरों ने थोड़ा-सा ईमान भी काट लिया और उसे भी नीलाम कर दिया "साधो पिछले वर्षों से कांग्रेस अपनी जेब में एक बहुमूल्य चीज रखे हुए है जिसे समाजवाद कहते है, और चीजों की तरह इसे भी जेब में लापरवाही से डाल लिया है। जेबकतरे बड़े चतुर होते हैं। वे जानते हैं कि यदि इसे पूरा चुरा लिया तो पकड़े जायेंगे और बड़ा हल्ला मचेगा। इसलिए वे उसमें से समय-समय पर थोड़ा सा हिस्सा काट लेते हैं और बेच देते हैं 'साधो दुर्गापुर अधिवेशन में पहली बार पकड़ में आई (यह सचाई) कि जो कांग्रेस का बिल्ला लगाये हैं उनमें भी जेबकतरे हैं। मगर ये एक-दो नहीं, पूरा गिरोह है' जेबकतरों में भी तरक्की पाकर बड़े नेता हो गये होंगे। सरकार में भी पहुँच गए होंगे '" (दुर्गापुर में जेबकतरे)

'सुनो भाई साधो' महज कॉलम नहीं राडार है—समाज में घट रही घटनाओं का, उनकी ऐतिहासिक और वर्तमान मानसिक बुनावट का, दुश्मन की आक्रामक गतिविधियों को जानने का नापाई उपकरण, सेन्सरी चेतना से युक्त। जो लोग 'डॉस केपिटल' या 'लेनिन-ग्रन्थावली' या लूकाच के माध्यम से ही आज काम कर रही ताकतों के पेचोखम की खबर पाते हैं वे 'जुल्फ के सर होने तक' जीने का इन्तजाम कर लें लेकिन जिनने शोषण के पीछे कारगर ताकतों और उन्हें जीवन देने वाली रसधाराओं को अपने जीवनानुभवों और कबीर की राह ठेठ, साहसी, आक्रामक बोली-भाषा में दिये गये प्रवचनों को आत्मसात कर जाना है वे जोखिम उठाने के ज्यादा हकदार हैं (हरिशंकर परसाई पर डंडेबाजों द्वारा घर में घुसकर किया गया हमला नहीं भूला जाना चाहिए)। 'सुनो भाई साधो' ने ऐसे कितने लड़के तैयार किये—पोथी पढ़े बिना प्रगतिशील दृष्टि के—इसकी गिनती नहीं की गयी। इस भारत भूमि पर अन्य किसी कॉलम ने, कलम ने, इतने बड़े पैमाने पर, सचाई से आलोकित जुझारू चेतना वाले लोग तैयार किए हों मुझे मालूम नहीं। भाषा का ऐसा सहज व्यापक असर भरा और विसंगति के हर अँधेरे कोने को सामने लाकर रख देने वाला प्रयोग भी 'कबीर' की ही विशेषता है। खुद को जनवादी मानने वाले हर रचनाकार के लिए ऐसी उद्देश्यपरक रचनात्मकता जिसमें कलात्मक क्षय की कोई छूट न हो, सदा एक

चुनौती है।

बीच-बीच की एकरसता, कभी-कभी के अतिसाधारणीकरणों और एकाधिक बार की उबाऊ पुनरावृत्तियों के बावजूद 'सुनो भाई साधो' अब भी चल रहा है और लाखों लोग अब भी चरित्र उद्घाटन की प्रक्रिया से गुजरते हुए खुद को एक व्यापक परिवर्तन के लिए तैयार होता महसूस कर रहे हैं।

—सोमदत्त

तट की खोज : गुलामों और मेहरबानों को नकारते हुए

मैंने उसे पहिली ही नजर मे पहिचान लिया। उसको पिछली बार करीब 25 साल पहिले जबलपुर मे देखा था। तब वह 23-24 साल की नवयुवती थी। पर इतने अन्तराल के बाद भी उसे पहिचानने मे मुझे कोई कठिनाई नही हुई— वही गोरा रग, वही तीखे नैन-नक्श, वही पतले कसे हुए सकल्प प्रकट करते हुए होठ, वही ऊचा माथा, वही लापरवाही से बँधा हुआ बालो का जूडा, वही तन-कर, सिर उठाकर बैठने और चलने की अदा, आँखों मे वही चुनौती देता भाव। हाँ, समय ने रग पर रूखेपन की परत चढ़ा दी थी और तीखे नैन-नक्शो मे एक स्थायी वैराग्य उतर आया था। आँखो मे चुनौती के भाव के साथ परिवेश के प्रति एक हल्का विद्रूप का भाव भी झलकता था—जैसे कह रहा हो—मैं सब को जानती हूँ—कायर, दब्बू या अहकारी वह मुझे भोपाल के न्यू मार्केट मे दिखी थी। अकेली। और मुझे देखकर पहिचानने की कोशिश कर आगे बढ जाना चाहती थी कि मैंने उसे बिल्कुल ठीक-ठीक पहिचान लिया और बिल्कुल सामने आकर उससे कह ही दिया—"यदि मैं गलती नही करता तो आप शीला जी हैं।" मेरे द्वारा पहिचाने जाने पर और नाम से पुकारे जाने पर उसके चेहरे पर अकित दूरी का भाव कुछ कम हुआ और उसने भी मुझे पहिचान लिया। डी० पी० आई० के कार्यालय से अपना काम निपटाकर वह कुछ चीजें खरीदने न्यू मार्केट आयी थी और फ़ुरसत मे थी। इसलिए कॉफी हाउस मे बैठकर मेरे साथ कॉफी पीने का प्रस्ताव उसने स्वीकार कर लिया।

शीला को मैंने हरिशकर परसाई के यहाँ जबलपुर मे 1956 मे देखा था। मैं शहीद स्मारक स्थित शोध-सस्थान मे हिन्दी का व्याख्याता होकर नया-नया जबलपुर पहुँचा था। परसाई हनुमान वर्मा और प्रमोद वर्मा के मित्र थे। मै दोनो मेरे। इसलिए भैराशिक के अनुसार परसाई से मेरी मित्रता होने मे देर नही लगी। परसाई का नाम तब साहित्य के क्षेत्र मे नया-नया ही था। कुछ स्थानीय प्रकाशको से उनके दो-तीन सकलन छप चुके थे और 'हसते हैं रोते हैं', 'भ्राति हो गयी' और 'तब की बात और थी' के लेखक के रूप मे परसाई जबलपुर की साहित्य-मडली मे स्थापित हो गये थे। अध्ययनशील, प्रबुद्ध, प्रगतिशील तरुणों का दल परसाई से लेखन और जीवन-दर्शन मे सलाह-मशविरा करने लगा था। परसाई तब लगभग 30 बरस के रहे होगे। माँ थी नही, पिता भी नही थे। एक छोटा भाई था और एक बहिन, यार-दोस्तो की कमी नही थी। जगल **विभाग की**

नौकरी छोड आये थे और जबलपुर के एक स्कूल मे मास्टर हो गये थे। काली शेरवानी, पँजामा और सेण्डल पहनकर स्कूल के बच्चो को पढाने जाया करते थे और सभा-गोष्ठिया मे पाखण्डपूर्ण जीवनादर्शों और रूढियो पर हँस-हँसकर बखिया उखाड चोटें किया करते थे। तब *राजनीति की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों* की मिथ्याचारिता परसाई का खास निशाना थी। व्यग्य एक स्वतत्र सत्ता के रूप मे साहित्य मे प्रतिष्ठित नही हो पाया था और पढे-लिखे लोगो मे भी यह तमीज पैदा नही हो पायी थी कि हास्य और व्यग्य मे, कोई स्तरगत अतर है। मुझे याद है कि 1956 मे, दिसम्बर माह मे, रूसी युवको का एक दल जबलपुर आया था, पैगोडा होटल मे जबलपुर के साहित्यकारो को उनसे मिलाने के लिए नगरपालिका की ओर स एक आयोजन किया गया था। परिचय कराने का कार्य इतिहास के एक प्रोफेसर स्नहव के जिम्मे था। उन्होंने परसाई का परिचय कराते हुए कहा था—Meet Mr Hari Shankar Parsai a writer of Hood He writes very funny things अतिथियों के Really Really कहने पर हम सब थोडी दर के लिए तो हतप्रभ हो ही गये थे। यह सब इसलिए था कि परसाई अभी विभिन्न विधाओ म हाथ आजमा रहे थे और न उनकी और न व्यग्य की ही छवि अभी पूरी तरह उभर पायी थी। वे जीवित और *जीवन मूल्या के रनिंग कमटेटर' बनना* चाहते थे। पर *कभी 'नैरेटर' बन जाते* थे, कभी थिकर। आसपास के जीवन की सच्ची घटनाओं को आत्मकथा से सपृक्त कर कमेटेटर, नैरेटर और थिकर' के व्यक्तित्वो को एक साथ मिलाकर उन्होंने एक उपन्यास लिखा 'तट की खोज । इस उपन्यास मे एक निम्न मध्यम वर्गीय दर्पीली प्रवुद्ध लडकी के फौलादी चरित्र और निर्भ्रान्त नैतिक सामाजिक दृष्टि के माध्यम से मध्यम वर्गीय समाज मे नर-नारी के आपसी रिश्तो की सचाई को विश्लेषित करने का सकल्प प्रकट होता है। इस सचाई को उजागर करने के लिए परसाई ने दो मध्यम वर्गीय नवयुवको की सृष्टि की है, जिनमे एक भीतर से रूढियो का गुलाम है और लोग क्या कहेगे से निरन्तर अपनी रीढ की हड्डी को घुलता हुआ अनुभव करता है पर बाहर से विद्रोह और *क्राति की बडी* ओजस्वी बातें करता है और दूसरा हमदर्दी को प्यार समझने वाला सदाशय, उदार युवक। नारी के प्रति ये दोना 'इटर एक्शन' समस्या को केवल टालते है और उसे धुँधला बनाते हैं। ये दोना पैसिव रोमास की गिरफ्त म पडे हुए नारी की उसकी अस्मिता की खोज मे बाधा पहुँचाते है। शीला, महेन्द्रनाथ और मनोहरलाल हमारे समाज की जीती-जागती सच्चाइयां है और परसाई ने एकाध स्थल पर जैनेन्द्रियन गिमिक को छाडकर इन सच्चाइया को बडी यथार्थवादी सवेदना से अकित किया है।

शीला प्रेमचन्द की सुमन या शरच्चन्द्र की कमल या जैनेन्द्र की मृणाल से हटकर गढा हुआ चरित्र है। मैं मन ही मन यह सब सोच ही रहा था कि शीला ने मुझसे कहा कि कान्तिकुमारजी, इस रूप मे मुझे देखकर आपको भल

आश्चर्य न हो रहा हो, पर बहुतों को होता है। हमारे समाज मे और हमारे साहित्य में समाज से उपेक्षित या पुरुष से प्रवंचित नारी या तो वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेती है या गंगा मैया की शरण चली जाती है। ये दोनों रास्ते मैंने नहीं अपनाये। मैं चाहती तो शरच्चन्द्र की कमल की तरह या जैनेन्द्र की मृणाल की तरह छद्म विद्रोह का रास्ता अख्तियार कर सकती थी, पर मैंने वैसा नहीं किया। क्या रूढ़ियों की गुलामी स्वीकार करने को अप्रस्तुत या फिद्दी पुरुषों की भीरुता या पाखंड के कारण प्रवंचित और लांछित लडकी के लिए वेश्यावृत्ति, आत्महत्या या आतंकवादी राजनीति या दिखाऊ विद्रोह के अलावा सहज सामान्य जीवन की शैली का कोई विकल्प नहीं है? कमल बड़ी चिन्तनशील और जागरूक नारी है पर शरच्चन्द्र ने उसे अपने विचारों के संवहन के लिए इतना गम्भीर बना दिया है कि वह असामान्य बन गयी है। मुझे शरच्चन्द्र का उपन्यास पढ़ते हुए प्रायः कमल के दिमाग की नसों के फटने की आवाज सुनाई पड़ती है। और जैनेन्द्र की बुआ तो न्यूराटिक है। अच्छा हुआ परसाई जी ने मुझे कमल या मृणाल बनने को बाध्य नहीं किया। मैं सामान्य लडकी थी, बी० ए० पास कर लिया था, लडकी होने की हीनता मेरे मन मे बिल्कुल नहीं थी, हां, बूढ़े सेवा-निवृत्त अकेले पिता की चिंता जरूर मुझे व्यथित करती रहती थी। पिता को केवल यही चिन्ता थी कि किसी तरह मेरा विवाह हो जाये—"वे जगह-जगह विवाह की बात चलाते पर हर बार लड़के वालों की मांग उनके सामर्थ्य की सीमा लांघ जाती। वे सब लोग हाथ में तराजू लिये हुए थे, जिसके एक पलवे पर बेटे को रखे थे। मुझे मेरी समस्त विद्या, बुद्धि, चेत और सौन्दर्य के साथ दूसरे पलवे पर रखकर देखते तो हर बार मेरा ही पलवा हल्का पाते। तब पलवे बराबर करने के लिए, मेरे साथ रुपयों का वजन रखने को कहते। पिताजी जब ऐसा नहीं कर पाते, तब वे अपनी तराजू लेकर दूसरे द्वार पर पहुँच जाते।"[1] मेरी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। हां, यह अवश्य था कि मैं सचेत होकर जीती थी। बनी-बनाई

1 क तट की खोज, पृ० 5

1 ख मिलाइये

"मुझे याद है। बचपन में मेरे पड़ोस के बड़े किसान कमर मे रुपयों की थैली बांधकर बैल खरीदने मेलों में जाया करते थे। अब देखता हूं, अनेक मनोहरलाल थैली बांध कर अपनी कन्याओं के लिए वर खरीदने निकलते हैं. हमारे समाज मे वर भी मवेशियों की तरह नीलाम होते हैं और जिस तरह अच्छी नस्ल के बैल ऊंची कीमत पर बिकते हैं, उसी तरह ऊंचे कुल के पढ़े लिखे लड़के कीमती होते हैं। गरीब किसान मरियल, मरियल बैल से ही काम चला लेता है और गरीब पिता कुरूप, रोगी को अपनी लड़की सौंपकर शान्ति की सांस लेता है। बाप का रोना जब समाप्त होता है, तभी से बेटी का रोना आरम्भ होता है।"

—हरिशंकर परसाई, तब की बात और थी, पृ० 11

धारा मे बहना मेरी आदत नही थी।[1] मेरे स्वभाव मे नही था। मैं जानती थी, जो डरते है, समाज उनका जीना असम्भव कर देता है।[2] जीने के लिए प्रयास करना पडता है और मैं जीने के लिए केवल तन मे ही नही, मन से भी, प्रयास करना आवश्यक समझती थी। महेन्द्रनाथ अपने जीने के इसी सचेत प्रयास मे आये थे। वे वही जबलपुर मे एक महाविद्यालय मे व्याख्याता थे और मैं जहाँ-तहाँ पत्रो मे उनके लेख पढती थी। "उनके लेखो मे बडा ओज, बडा विद्रोह होता था। समाज की जर्जर रूढियो पर, पाखड पर, मिथ्याचार पर वे बडे कटु प्रहार करते। उनके लेखन मे बडी सम्वेदना, बडी करुणा होती। ऐसा लगता था कि भावी सामाजिक क्रान्ति का वह अग्रदूत सिद्ध होगा। नये समाज की रचना उनके ही हाथो होगी, यह सोचकर मैंने उनके साथ अपना जीवन एक कर देने का निश्चय किया था।" पर महेन्द्रनाथ ने मुझे नीचा दिखाया। मुझे उम्मीद नही थी कि पत्रो मे क्रांति और विद्रोह और नारी मुक्ति के लम्बे-चौडे लेख लिखने वाला युवक इतना मेरुदण्ड विहीन निकलेगा। हवा के पहले ही झोके मे महेन्द्रनाथ क्या भरभराया, पुरुष वर्ग मे मेरी आस्था ही खण्डित हो गयी। अब जीवन के इतने उतार-चढाव देखने के बाद मुझे लगता है कि ऐसा वाग्वीर और कलमवीर अकेला महेन्द्र ही नही था। हमारे नवयुवको की पूरी जमात की जमात झूठी, कायर और बेईमान है। वास्तव मे हमारे उपन्यासकारो ने भी ऐसे दिखावटी वीरो का कभी पर्दाफाश नही किया।[3]

महेन्द्रनाथ के प्रति कडुवे बोल बोलकर शीला का चेहरा तमतमा आया था। छले जाने की कडुवाहट के कारण इतने वर्षों बाद भी शीला के चेहरे पर एक काली रगत उतर आयी थी। महेन्द्रनाथ शीला का पहला प्यार था, अपने सपनो का उसने उसमे रूप देखा था। मैंने देखा कि वह मनस्विनी प्रौढा अपने पहले प्यार को भुला नही पाई थी और महेन्द्रनाथ की बात करते करते उत्तेजित हो जाती थी। मैंने उसे थोडी राहत पहुँचाने के लिए कहा—"हाँ, यह तो सच

1 मिलाइये

"अपने ही अनुभव से मुझे यह लगता है कि हम सचेत होकर नहीं जीते—एक धारा मे बह जाते हैं। सचेत होकर जीने का अर्थ है—अपने दैनिक अनुभव सवेदनो के प्रति जागरूक होना। उन्हें बटोरना, उन पर विचार करना, उनका विश्लेषण करना और नये अर्थ खोजना। कितने ही मूल्यवान और अर्थवान विविध प्रकार के अनुभव सवेदन हम खो देते हैं। जो हम लेते हैं उसका निर्वाचन, दिमागी आदत के कारण और पूर्वाग्रह के कारण, एक ही प्रकार का हो जाता है।"

—हरिशकर परसाई (नयी कहानी सदर्भ और प्रकृति) पृ० 60

2 मिलाइये

'मैंने तय किया—परसाई—डरो किसी से मत। डरे कि मरे। सीने को ऊपर से कड़ा कर लो।—'

—हरिशकर परसाई, सारिका (गर्दिश के दिन) जून 72 पृ० 23।

है कि अपने यहाँ लडके का बाप जितना रूढिप्रिय और लोभी है, उससे ज्यादा खुद लडका है। पिताजी तो लडके के लिए दहेज चाहता ही है, लडके भी अपने बलबूते पर स्कूटर न खरीदकर दहेज मे मिले स्कूटर पर ऐश करना चाहते हैं। आज 25 वर्ष बाद भी लडको की इस मनोवृत्ति मे कोई अन्तर नहीं आया है। कहाँ गये सजय ब्रिगेड के वे सूरमा जिन्होने दहेज न लेने की सामूहिक प्रतिज्ञा की थी और अखबारो मे अपने फोटो छपवाये थे? दहेज मे स्कूटर, फ्रिज न ला सकने के लिए पत्नियों की जितनी हत्याएँ हो रही हैं, क्या वे आज के तरुण की मानसिकता पर कालिख नही पोतती? जिस देश का तरुण इतना स्वार्थी और क्लीव हो उससे क्या आशा की जाये?" शीला को मेरे इन शब्दो से राहत मिली। वह आश्वस्त हुई। बोली — "नही, इस मामले मे सारा दोष पुरुषो का ही नही है। नारी की अवनति के लिए हम नारी भी कम उत्तरदायी नही हैं। उस रात महेन्द्रनाथ के घर से आने के बाद मुझे पुरुषो ने जितने ताने दिये, औरतो ने उससे ज्यादा। सच तो यह है कि बरसो की परतत्रता और आदर्शो की मोहकता ने उसे भी जड बना दिया है। वह पुरुष का अन्याय सहकर गौरवान्वित होती है। जैसे बेस्टील के पतन के बाद कैदी जेल से बाहर आने को तैयार नही थे। वैसे ही हिन्दुस्तान की मध्यम वर्गीय औरत भी आजादी नही चाहती है।"

शीला बात करने के मूड मे आ गयी थी। पुरानी कहानी दुहराना उसे अच्छा लग रहा था। बोली—"महेन्द्रनाथ मुझे एक बार मिले थे। मैं जगदलपुर मे प्राचार्या थी। महेन्द्रनाथ वहाँ डिप्टी कलेक्टर होकर आये थे। उनके मूल्यो के पब्लिक सेक्टर और प्राईवेट सेक्टर मे बडा अन्तर था। मुझे महेन्द्रनाथ की पत्नी पर बडी दया आयी और महेन्द्रनाथ के प्रति मेरी घृणा और प्रगाढ हो गयी। पत्नी उनकी सुन्दर थी। इसलिए वे निरन्तर शकालु बने रहते थे। दहेज वे अपने साथ खूब लाई थी। महेन्द्रनाथ को मैंने कभी पत्नी के साथ बाहर घूमते हुए नही देखा। अच्छा ही हुआ मेरा उससे विवाह नही हुआ।" मैंने कहा—"पर उस दिन महेन्द्रनाथ यदि चुपचाप आपको भीड का सामना करने के लिए अकेला छोडकर पिछले दरवाजे से खिसक न गये होते तो आपके श्रीमती महेन्द्रनाथ बनने मे क्या देर थी?" शीला ने उसाँस दबाते हुए कहा — "हाँ, यह तो सच है। पर मैं महेन्द्रनाथ पर नही, विद्रोही लेखों से निर्मित महेन्द्रनाथ की छवि पर रीझ गयी थी। मुझे क्या मालूम था कि क्रान्ति का बिगुल फूँकने वाला व्यक्ति इतना लिजलिजा और कमजोर साबित होगा? महेन्द्रनाथ रूढ़ियों का और बदनामी के भय का गुलाम था। ऐसे गुलामों से न तब और न अब कोई आशा की जा सकती है।"

मुझे मनोहरलाल की याद आयी। मनोहरलाल जबलपुर मे पुस्तक का व्यवसाय करता है। और इस बीच कई बार मेरी उससे मुलाकात हुई है। उसके मन मे बराबर यह शिकायत बनी हुई है कि शीला ने उसे गलत समझा और उसके प्रति अन्याय किया। शीला का बिना कुछ कहे-सुने चले जाना और अपने

परिवार से विरोध कर शीला को स्वीकार करने को तैयार होने के बावजूद शीला द्वारा उसे अस्वीकार कर दिया जाना मनोहरलाल भूल नही पाते थे। शीला को जब मैंने मनोहरलाल के ये मनोभाव बताये तो वह तनिक भी विचलित नही हुई। बोली—"परसाई जी ने मुझे स्टीफेन ज्विग की पुस्तक 'विवेयर आफ पिटी' पढने को दी थी। इस तरह की अनेक पुस्तकें मैंने उनसे लेकर पढी थीं। मनोहरलाल मुझसे प्यार नही करते थे। वे मुझे लांछिता, निराश्रिता जानकर मुझ पर मेहरबानी कर रहे थे। वे मेरा सहारा बन रहे थे, जबकि मैं अपने पति को अपने पूरक के रूप मे प्राप्त करना चाहती थी। फिराक मेरे प्रिय शायर नही हैं, पर मेरी उस समय की मनस्थिति, पत्र मे उल्लिखित सारी बातें फिराक के इस शेर द्वारा कही जा सकती हैं

मेहरबानी को मुहब्बत नही कहते ऐ दोस्त
आह ! अब मुझ से तेरी रंजिशे-बेजा भी नही।

मुझे मनोहरलाल को छोडकर चले आने का कोई अफसोस नही है। मैंने उनका अपमान नही किया, हाँ, थोडा निर्मोह अवश्य प्रकट किया। पर वह अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए बेहद जरूरी थी।"

वह फिराक का शेर कहकर थोडी हल्की हो आयी थी। मैं उससे कुछ निजी बातें करना चाहता था। "आपने विवाह नही किया"—"नही' उसने बिना किसी सकोच या उद्विग्नता के सीधे मेरी आँखो मे देखते हुए कहा। "महेन्द्र और मनोहर के अनुभवो के बाद, मैं यह तो नही कहना चाहती कि मुझे पुरुष जाति से घृणा हो गयी है। पर हाँ, पुरुष को अपने सरक्षक के रूप मे स्वीकार करना मेरे लिए कठिन हो गया है। पुरुषो से मैं मिलती नही—यह नही। यह भी नही कि मुझे उनकी सगति अच्छी नही लगती। पर मैं उनसे सदा बराबरी के स्तर पर ही मिलना चाहती हूँ। अब किसी से विवाह करने का सकल्प ही नही उठता। मैं तो अब किसी पुरुष को स्वय को पेट्रोनाइज भी नही करने देती।"

मैं वातावरण के हल्केपन को कायम रखना चाहता था। मैंने कुछ शरारत से ही पूछा—"शीला जी, विवाह आपने नही किया। ऐसा करने के आपके अपने तर्क हैं। विवाह परसाई जी ने भी नही किया। यह महज कोई सयोग है या "

"नही-नही कान्तिकुमारजी ! यह आप क्या शुरू कर बैठे। इस तरह के सकेत मैंने कुछ और लोगो से भी सुने हैं। परसाई जी मुझे अच्छे लगते हैं। इन्टलेक्चुअली वे मुझे बहुत सेटिसफाई करते हैं। पर उन्होने विवाह किस लाचारी मे नही किया, यह तो आप उनसे ही पूछलें। अब तो विवाह की बात मेरे लिए बस ऐकेडेमिक इन्टरेस्ट की रह गयी है।"

शीला मुझे बहुत दिनो बाद मिली थी। इस तरह की नाजुक बातो के लिए कॉफी हाउस कोई आदर्श जगह भी नही थी। मैंने इस सारे प्रसग को खूबसूरत मोड देते हुए पूछा—'परसाई जी से फिर आपकी कभी भेंट नही हुई ?'' "प्राय होती है। मुझे शासकीय कार्य से प्राय भोपाल आना होता है। समय निकालकर

मैं जबलपुर जाकर परसाई जी से जरूर मिल आती हूँ। परसाई जी की मैं बहुत कृतज्ञ हूँ, कि उन्होंने मुझे लिजलिजी भावुकता से बचा लिया और छद्म विद्रोहिणी की ध्वजा उठाने से रोक लिया। मैं सामान्य नारी हूँ और नारी का सम्मानजनक जीवन बिताना चाहती हूँ। भारत में मुझ जैसी स्त्रियों की कमी नहीं है जो पढ़ी-लिखी है और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है और जो पुरुषों से समानता का व्यवहार चाहती हैं। अपनी इच्छा का सम्मानपूर्ण जीवन हम क्यों नहीं बिता सकतीं? परसाई जी ने मेरे लिए तट की खोज कर उसे मेरे ऊपर लादने की कोशिश नहीं की। अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए अपना तट खोजने की उन्होंने मुझे पूरी छूट दी। इस भारतीय आर्ष कथन का कि यदि पुरुष गृह-त्याग करता है तो वह साधु है। पर यदि नारी गृह-त्याग करती है तो वह कुलटा है, परसाई जी ने प्रत्याख्यान किया। परसाई जी ने स्वतन्त्रता के वरण का यह अवसर न दिया होता तो या तो मैं जैनेन्द्रकुमार की बुआ बन गयी होती या शरच्चन्द्र की पारो। बहुत होता, अज्ञेय की शशि बन जाती। क्या आपको यह नहीं लगता कि हिन्दी उपन्यासों में जिन गीताओं (यशपाल) या जिन रीतियों (कृष्णा सोबती), की सृष्टि सम्भव हुई है, उसका श्रेय मुझ जैसी शीला के निर्माता परसाई को है।"

परसाई जी के बारे में बातें करते हुए शीला को थकान नहीं लगती। यह तो मैं स्पष्ट देख ही रहा था। मैंने शीला को परसाई जी के बारे में और कुछ कहने के लिए उकसाते हुए पूछा—"अच्छा शीला जी—कभी परसाई जी से आपने यह नहीं पूछा कि तट की खोज कर चुकने वाली शीला को—उसके परवर्ती जीवन को उन्होंने अपने किसी उपन्यास का विषय क्यों नहीं बनाया?"

इस पर शीला हँसी, अपनी वही खुली खनखनाती हुई हँसी। बोली—"पूछा था। कान्तिकुमार जी, पूछा था। जबलपुर छोड़ने के बाद जब मैं अध्यापिका बनकर रायपुर पहुँची थी और जीवन में कुछ सेटल हुई थी, तो मैंने परसाई जी को जबलपुर के बाद की अपनी कथा सुनायी थी। और पूछा था—'मैं तो अब अपना तट खोज चुकी। मेरी नयी कहानी अब आप कब लिखेंगे?' परसाई जी ने जो उत्तर दिया था, आपसे ज्यादा उसे कौन जानता है। तट की खोज छप चुकने के बाद आपने ही तो परसाई जी से कहा था कि 'उपन्यास उनकी विधा नहीं है—आप तो समाज और राजनीति के रनिंग कमेंटेटर हैं। उपन्यास का फार्म आपको रास नहीं आता। उपन्यास प्रेमचन्द को भी रास नहीं आता था। मोहन राकेश का भी उनकी प्रतिभा कहानियों की प्रतिभा थी। रेणु कहानी नहीं लिख पाते थे। उनकी कहानियाँ उपन्यासनुमा हो जाती थीं। आपकी विधा, निबन्ध, रिपोर्ताज, की विधा है। आप उपन्यास मत लिखिये।' परसाई जी ने आपकी बात पर गौर किया था और उन्हें आपकी बात जम गयी थी। 1956 के बाद उन्होंने एक उपन्यास 'ज्वाला और जल' जरूर लिखा था। पर उसकी

असफलता ने मानो परसाई को उपन्यास की विधा को तिलांजलि देने पर बाध्य कर दिया।"[1]

'हाँ," मैंने कहा, "यह गुनाह तो मैंने किया है, यह अच्छा है। परसाई उपन्यास या कहानियाँ नहीं लिखते। मैंने उनके प्रारम्भिक संकलन 'हँसते हैं रोते हैं' की कहानियाँ पढ़ी हैं। इन कहानियों में परसाई जी भावुकता से ग्रस्त हैं और छायावादी जीवन-दृष्टि से मुक्त होने की कोशिश कर रहे हैं। तट की खोज में ही आपने महेन्द्रनाथ को जो उत्तर दिया है वह प्रसाद की कामायनी के लज्जा सर्ग का सार संक्षेप ही तो है।[2] दुख के प्रति आत्ममोह के कारण इन दिनों की कहानियों में समाज की समस्याओं के प्रति वह यथार्थवादी विश्लेषक, प्रखरता और बौद्धिक निर्ममता नहीं है जो परसाई की परवर्ती रचनाओं की खास पहचान है।"

शीला बोली—"मैं कह सकती हूँ कि सामाजिक बुराइयों के प्रति सामाजिक करुणा और सामाजिक ताप जाग्रत करने का काम परसाई जी ने तट की खोज के माध्यम से ही प्रारम्भ किया और मुझे इस बात से बहुत गर्व का अनुभव होता है कि परसाई जी की दृष्टि साफ करने में मैं निमित्त बनी। वैसे तट की खोज में हिन्दी के अध्यापकों को जैनेन्द्रिय सिसिक, बक्शी जी के अमिता-नमिता के वार्त्तालापों वाली शैली या प्रेमचन्द की मुहावरेदानी की झलक मिल जायगी। पर परसाई जी फार्म के नहीं, कंटेंट के साहित्यकार हैं। वे दुनिया को बहतर बनाने में लगे हुए हैं। और जन-शिक्षा का जितना बड़ा काम हमारे दौर में अकेले परसाई जी ने किया है उतना किसी अन्य हिन्दी लेखक ने नहीं।"

शीला में छिपी अध्यापिका प्रकट होने लगी थी। और मुझे डर लगा कि कहीं मेरा प्रोफेसर जाग्रत न हो जाये। और इतनी अच्छी शाम बराबर न हो जाये। अपने को बहुत रोकते-रोकते इतना तो मैंने कह ही दिया कि शीला जी, आप में और परसाई में एक गुण समान है—घृणा करने का। "आप दोनों समाज को चूँकि बहुत शिद्दत से प्यार करते हैं, इसलिए समाज के कलुष और पाखण्ड से घृणा भी बहुत शिद्दत से करते हैं। ऐसा करना आपकी विवशता है। आप दोनों की घृणा का जन्म गहरी मानवीय करुणा की कोख से होता है।" अंमत में शीला ने मेरी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, "संक्रमण काल में मेरी जैसी स्त्रियों की लड़ाई लंबी और कड़ी होती है। ऐसे संक्रमण काल में आर्थिक रूप से पिछड़े शापित वर्ग को जो प्रचलित जीवन-मूल्यों की अपेक्षा ऊँचे और अधिक मानवीय मूल्यों के लिए संघर्षरत होते हैं, बहुत निर्मम ताकतों से निपटना पड़ता है। फलतः

1 "मुझे किसी विधा का अपेक्षाकृत शिथिल रूप ही अनुकूल बैठता है। निबन्ध की विधा मेरे लिए सबसे काम की है क्योंकि मैं उससे मनचाहा सलूक कर सकता हूँ। फैंटेसी भी मेरे काम की है।"—परसाई जी का पत्र

2 तट की खोज, पृष्ठ 16

बिना घृणा और निर्ममता के ऐसे वर्गों का काम चलता नही, चल नही सकता।"[1]

वैरा बिल ले आया था। शीला अपना बटुआ खोजने लगी थी। मैंने कहा, "नही शीला जी, आज पेमेंट मैं करूँगा।" शीला तमक गयी। बोली, "फिर वही पुरुषाना अहकार—क्यो, पेमेंट आप क्यो करेंगे? आपसे मिलकर मुझे ज्यादा खुशी हुई है। पेमेंट मैं करूँगी।" मैंने उसका विरोध नही किया। पेमेंट मैंने उसे ही करने दिया।

—कान्तिकुमार

1. दे० ए० लूनाचास्की—प्रान लिटरेचर एण्ड आर्ट, पृ० 310

इतिहास के साथ

परसाई की व्यग्यकृतियों पर रामविलास शर्मा की यह उक्ति सटीक ढग से लागू होती है कि गद्य का कवित्व उसका व्यग्य है। हिंदी समीक्षा के सामने परसाई के कृतित्व ने एक चुनौती पेश की है। इसे समझने की जरूरत है। इस समझ से परहेज करनेवाले परसाई-भक्त समेत अनेक आलोचको ने परसाई को एक शाश्वत व्यग्यकार के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि हिंदी के आधुनिक साहित्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम मे परसाई के अभ्युदय को एक महान प्रतिभा के आकस्मिक अभ्युदय के रूप मे समझाने की कोशिश की जाती रही है। प्रश्न यह है कि गद्य के इस कवित्व की ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति का कार्य·· व्यग्य को लोकप्रिय तथा उन्नत स्तर पर प्रतिष्ठित करने का यह प्रयास नयी कहानी आदोलन तथा साठोत्तरी पीढ़ी के साथ ही क्यो किया गया ? नयी कहानी आदोलन तथा साठोत्तरी पीढ़ी के लेखन के भीतर मौजूद इस जीवन्त धारा का महत्व नही समझा गया। यह समझने का भी प्रयास नही किया गया कि परसाई को परपरा क्या मिली थी तथा परसाई की तीक्ष्ण वर्णनात्मकतावाली गद्यशैली अतत श्रीलाल शुक्ल से लेकर ज्ञानरजन तक पहुँच कर हिंदी को कितना कुछ दे गयी। कहानी आदोलन के भीतर मौजूद यह धारा एक जटिल ऐतिहासिक सदर्भ प्रस्तुत करती है। परसाई के पास भारतेंदु-मडल के लेखको की जिंदादिली है, प्रेमचद की 'स्वत्वरक्षा' और 'अधिकारचिंता' जैसी व्यग्यधर्मी रूपक-कथाओ की मिसालें है और उसके साथ ही अमृतराय के 'तिरगे कफन', रागेय राघव के 'तूफानो के बीच', शमशेर के कहानी-सग्रह 'प्लाट का मोर्चा' जैसे प्रगतिशील साहित्यिक आदोलन के दौरान किये गय कथा प्रयोग हैं। स्वाधीन भारत के शासकवर्ग के चरित्र की सटीक पहचान मे भूला-भ्रातियो और तज्जन्य नुकसानदेह परिणामो के बावजूद परसाई के सामने यथार्थ की असगतियो का एक पूरा ससार है। व्यग्यलेखक के नाते इन्ही असगतियो पर उनकी दृष्टि जाती है। मध्यवर्ग के घर-ससार की सीमित दुनिया की असगतियो से तडपन वाले नयी कहानी आदोलन के कहानीकारो की यथार्थ-सबधी चयन-दृष्टि और परसाई की चयन-दृष्टि मे बुनियादी फर्क है। इस फर्क को बार-बार रेखाकित करने की जरूरत है। परसाई जिस वर्ग की मनोभूमि से पूरे समाज के क्रिया-कलाप को देखते है, वह निश्चय ही कोरी मध्यवर्गीय मनोभूमि नही है। प्रेमचद की जनवादी यथार्थ-दृष्टि को स्वाधीन भारत की परि-

स्थितियों में जिस सीमा तक परिणति प्राप्त हो सकती थी, उस सीमा तक परसाई के कृतित्व की बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शासक-वर्ग के किस हिस्से की तरफ से तानाशाही का खतरा भारत के उत्पीड़ित जनगण के सिर पर मँडराने लगा है, इसकी सही समझ न होने के कारण परसाई की व्यंग्यशक्ति का ह्रास हुआ है, यह बात अब तो स्पष्ट हो ही जानी चाहिए।

व्यंग्य की साहित्यिक विधा को परसाई प्रेमचन्द से काफी आगे ले आये, इसमें संदेह नहीं। यह विवाद का मुद्दा हो सकता है कि सर्वहारा चेतना की आधारभूमि से परसाई तत्कालीन भारत को देखते हैं या नहीं? मेरा यह निष्कर्ष है कि परसाई की चूक का कारण यहीं छुपा हुआ है। मध्यप्रदेश के राजनीतिक परिवेश के सीमित संसार के दबाव के कारण परसाई का लेखन शासक-वर्ग के सर्वाधिक खतरनाक हिस्से को अपने व्यंग्य का निशाना नहीं बना पाता। इसके बावजूद उनके कृतित्व की सबसे बड़ी उपलब्धि लोकतंत्र के स्वांग के भीतर मौजूद असंगतियों को उघाड़ना है। सन् 50 के बाद के भारत के यथार्थ में अंतर्भूत टकरावों और विडंबनाओं का अनुशीलन करने के लिए परसाई की कृतियाँ महत् समाजशास्त्रीय सामग्री का भंडार हैं। पर इसके साथ ही यह उल्लेखनीय है कि कथा प्रयोग के वैविध्य के लिहाज से हरिशंकर परसाई ने गद्य की एक ऐसी विधा को सँवारा जो कहीं तो स्केच प्रतीत होती है, कहीं छोटा एकांकी, कहीं रिपोर्ताज, कहीं फीचर और कहीं ठीक कहानी जैसी, पर कहानी की विधा के साथ पूरी छेड़छाड़ की हिम्मत के साथ, गद्य की विविध विधाओं का सत निचोड़ कर समकालीन यथार्थ को मुँह चिढ़ाती और अंतर्यामी तस्वीरों का अलबम पेश करने में परसाई ने अपूर्व कलाकौशल—कहना चाहिए नटधर्म और कार्टून तकनीक का परिचय दिया है। किसी के 'निजी जीवन' की गुप्त बातों की निन्दा करने वालों का ही प्रसंग उठा लीजिए, परसाई शुरू करेंगे तो फिर स्वास्थ्य विज्ञान की मूल स्थापनाओं के साथ

"निन्दा में विटामिन और प्रोटीन होते हैं। निन्दा खून साफ करती है, पाचन-क्रिया ठीक करती है, बल और स्फूर्ति देती है। निन्दा से मांसपेशियाँ पुष्ट होती हैं। निन्दा पायरिया का तो शर्तिया इलाज है। सन्तों को परनिन्दा की मनाही होती है, इसलिए वे स्वनिन्दा करके स्वास्थ्य अच्छा रखते हैं, 'मो सम कौन कुटिल खल कामी'' यह सन्त की विनय और आत्मग्लानि नहीं, टॉनिक है। सन्त बड़ा काइयाँ होता है। हम समझते हैं, वह आत्मस्वीकृति कर रहा है, पर वास्तव में वह विटामिन और प्रोटीन खा रहा है।"

इस 'गंभीर मुद्रा' में भूमिका बाँधी है माना कोई किस्सा फरमायेंगे ही नहीं। पर तुरत एक परनिन्दक सज्जन जब किसी के बारे में शराब पीने की बात बताते हैं तो फिर व्यंग्यकार कहानी शुरू कर देता है—"मैंने ध्यान नहीं दिया।" उन्होंने फिर कहा—वह शराब पीता है।

निन्दा में अगर उत्साह न दिखाओ, तो करनेवाले को जूता-सा लगता है।

वे तीन चार यह बात कह चुके और मैं चुप रहा, तो तीन जूते उन्हें लग गये। अब मुझे दया आ गयी। उनका चेहरा उतर गया था।

मैंने कहा—पीने दो।

वे चकित हुए, बोले—पीने दो? आप कहते हैं, पीने दो?

मैंने कहा—हाँ, हम लोग न उसके बाप है, न शुभचिन्तक। उसके पीने से अपना कोई नुकसान भी नही है।

उन्हें सतोष नही हुआ। वे उस बात को फिर-फिर रेतते रहे।

तब मैंने लगातार उनसे कुछ सवाल कर डाले—आप चावल ज्यादा खाते है या रोटी? किस करवट सोते है? जूते में पहले दाहिना पाँव डालते हैं या बायाँ? स्त्री के साथ...

अब वे 'ही-ही' पर उतर आये। कहने लगे—ये तो प्राइवेट बातें है। इन से क्या मतलब?

मैंने कहा—वह खाता-पीता आदमी है, यह उसकी प्राइवेट बात है। मगर इसमें आपको जरूर मतलब है। किसी दिन आप उसके रसोईघर मे घुसकर पता लगा लेंगे कि कौन-सी दाल बनी है और सडक पर खडे होकर चिल्लायेंगे—वह दुराचारी है। वह उड़द की दाल खाता है।

तनाव आ गया। मैं 'लाइट' हो गया—छोडो यार, इस बात को।

मानव-आचरण के इन धृष्ट प्रसगो पर व्यग्यपूर्ण टिप्पणियाँ यह प्रभाव भी छोडती है कि मध्यवर्ग के आत्मसतुष्ट और निजी गोपन ससार की मर्यादा स्वीकार करनी चाहिए। मान लीजिए कि यही प्रभाव पडता है। इसके बावजूद लेखक ऐसी कुटिलताओ की मूल्यव्यवस्था को सामने लाकर आपको सचेत कर जाता है।

स्वाधीन भारत में एक नया तत्त्व पैदा हुआ—सोर्स। अपनी निजी समस्या के हल के लिए सोर्स ढूँढने की प्रवृत्ति पर परसाई ने एक व्यग्य रचना लिखी थी— 'राम की लुगाई। और गरीब की लुगाई'। इस रचना का केन्द्रीय कथ्य कितना चस्पा बैठता है

"राष्ट्रीय पुरुष सोर्स ढूंढता और चिक उठाता घूम रहा है। मत्री से लाइ-सेंस लेता है कलेक्टर से मकान एलाट कराता है, फूड अफसर से शक्कर का परमिट ले लेता है, प्रोफेसर के लडके से नबर बढवाता है, प्रिंसिपल से भर्ती कर-वाता है, पुलिस अफसर से मामला उठवाता है, नजूल अफसर से जमीन लेता है, विधायक से सिफारिश करवाता है।"

परसाई ने सामयिक घटना-प्रसगो पर 'सुनो भाई साधो' नाम से जितनी टिप्पणियाँ लिखी थी—उन्हें देखकर किसी भी विवेकशील पाठक के लिए यह अनुमान लगाना कठिन नही था कि परसाई म विकास की सभावनाएँ थी, इसी-लिए आदम के छद्म नाम से लिखित जनयुग के कालम मे उनका परिपक्व प्रौढ और मँजा हुआ लेखन दिखायी पडता हैं। मुझे याद है कि 'कल्पना' में जैनेन्द्र

की जो तस्वीर उन्होंने अंकित की थी, वह वर्षों तक अकेले मे भी मुस्कुराने का सामान मुहैया करती रही।

हिन्दी गद्य को वक्रतापूर्ण वर्णन-भंगी की तमीज प्रदान करने में परसाई का योगदान अविस्मरणीय है। उनसे आशा की जाती है कि आज की चुनौतियों के सदर्भ मे वे वर्तमान दौर के आह्वानों को सुनेंगे। आज के कार्यभार को ध्यान मे रखकर निःसदेह परसाईजी की नयी मे नयी कृतियों का इन्तजार किया जायेगा। पर मैनरिज्म के अपने ही तिलस्मो से निकलने के लिए उन्हे यह याद रखना होगा कि लेखक जनता का शिक्षक होने के साथ-साथ उससे शिक्षित भी होता है, उस जनता से जो इतिहास की सचालक शक्ति है। परसाई जानते है कि भारत का गणतन्त्र फिलहाल 'ठिठुरते हुए हाथो की तालियो पर टिका' है। गणतंत्र के मौजूदा हालात मे परसाई को भलीभाँति पता है कि स्वाँग आज की कितनी बडी सच्चाई है। खुद परसाई उस फरमान के गवाह है, जिसमे कहा गया था—"समाजवाद सारे देश के दौरे पर निकल रहा है। उसे सब जगह पहुँचाया जाय। उसके स्वागत और सुरक्षा का पूरा बदोबस्त किया जाय।" सवाल यह है कि परसाई का यह राजनीतिक साक्ष्य अपनी तार्किक परिणति पर पहुँचेगा भी या नही ? परसाई की व्यग्यधर्मी यथार्थ-दृष्टि अगर इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति करती है तो जाहिर है कि उनकी रचनाशीलता सार्थक हो उठेगी।

—मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह

साहित्य और साहित्यकारों की दुनिया में

हरिशंकर परसाई हिन्दी जगत मे एक व्यंग्य-लेखक के रूप मे पहचाने जाते हैं। उनकी यह पहचान एक मायने मे सही भी है, कारण कि उनकी रचनाशीलता ने व्यंग्य-विधा को माध्यम के रूप में अपनाते हुए ही अपना परिचय हिन्दी जगत को दिया है। व्यंग्य-विधा को अपनी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार करने वाले पहले भी हुए हैं और ढेरों पत्र-पत्रिकाओं वाले आज के युग में तो उनकी बाढ़-सी आ गई है। अतएव एक व्यंग्यकार के रूप में परसाई की सर्जनात्मक मूल्यवत्ता का आकलन करते समय जो सबसे पहला सवाल सामने आता है वह यह है कि पूर्ववर्तियों और व्यंग्य-विधा मे अभ्यास करने वाले अनेकानेक समकालीनों के लेखन से परसाई और उनके लेखन का रिश्ता क्या है और कैसा है। इन सवालों से शुरू मे ही निपट लेना हम इसलिए जरूरी समझते हैं कि इनके बीच से हम शायद कुछ ऐसे सवालों के जवाब भी पा सकें, परसाई की सर्जनात्मक मूल्यवत्ता की पहचान और परख के सिलसिले मे जिनके जवाब नितान्त जरूरी हैं। सबसे अहम बात तो यह कि व्यंग्य-लेखन के पूर्ववर्ती तथा समकालीन परिप्रेक्ष्य में ही परसाई की रचनाधर्मिता तथा उसके परिणामों पर कोई सार्थक रायजनी हो भी सकती है। अस्तु—

जहाँ तक पूर्ववर्तियों की बात है, सहज ही हमारा ध्यान सबसे पहले भारतेन्दु और उनके मण्डल के लेखकों की ओर जाता है जिनकी पंक्ति में आगे चलकर द्विवेदी युग के बालमुकुन्द गुप्त जैसे जीवन्त रचनाधर्मी भी आ जाते हैं। अपने युग पर आचार्य द्विवेदी का कुछ ऐसा साहित्यिक दबदबा था और उनका व्यक्तित्व कुछ ऐसा गुरु-गम्भीर था कि भारतेन्दु युग की इस जीवंत विरासत को उनके समय मे जिस शक्ति के साथ पनपना था, वह नहीं पनप सकी, और कुछ समय के बाद छायावाद के युग में तो वह पृष्ठभूमि मे चली गयी। सन् 1930 के आसपास के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दबावों ने एक बार फिर इस माध्यम की ओर अपने समय के लेखकों का ध्यान खींचा, फलतः जिसे प्रगतिशील लेखन का युग कहा जाता है उसमे व्यंग्य की यह विधा पुनः अपनी शक्तिमत्ता के साथ उजागर हुई और अपने समय के सामाजिक यथार्थ की संगति मे इसने युग को एक बार फिर से अपनी अहमियत का अहसास कराया। वस्तुतः प्रगतिशील आन्दोलन के समय में उपजी यथार्थ चेतना के संदर्भ में ही उससे गहराई के साथ जुड़े लेखकों ने महसूस किया कि जिस माध्यम में सामाजिक यथार्थ को पहचानने,

पकड़ने और पूरी धार के साथ अभिव्यक्ति देने की इतनी क्षमता है उसे हाशिए से उठाकर एक स्वतन्त्र अहमियत के साथ सामने लाने की जरूरत है। जरूरत उसे एक ऐसी जमीन देने की है जिसमे वह अपनी सारी क्षमता तथा सभावनाओं के साथ फैल और विकसित हो सके जैसा कि भारतेन्दु और उनके मडल के लेखको ने चाहा था, और जिनके लेखन मे ही पहली बार इस विधा ने अपनी शक्ति और सभावना का जीवत अहसास कराया था। एक स्वतन्त्र विधा के रूप मे व्यग्य को सामने लाने की जो कोशिश इस क्रम मे हुई, परसाई की रचनाशीलता उसी का सुफल है। नई-नई पत्र-पत्रिकाओं और समाचार पत्रो के प्रकाशन तथा युग के तेजी से बढते आर्थिक-राजनीतिक क्रियाकलापो की सगति के सहयोग से व्यग्य को मिली नई और स्वतन्त्र जमीन शनै-शनै उर्वर होती गई और कहना न होगा कि अपनी पूरी अहमियत के साथ व्यग्य की यह विधा न केवल आज अत्यधिक लोकप्रिय है, अपने समय के यथार्थ से उसका रिश्ता भी अत्यत प्रगाढ तथा मजबूत है।

एक स्वतन्त्र गद्य-विधा के रूप मे व्यग्य को जो मान्यता युग के बदले हुए परिवेश मे मिली और अपनी क्षमता से जिस अभूतपूर्व लोकप्रियता को उसने अर्जित किया, परसाई के व्यग्य-लेखन का उसमे महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसे अतिरजित कथन न माना जाय, यदि मैं कहूँ कि व्यग्य-लेखन की भारतेन्दुयुगीन विरासत को गुणात्मक समृद्धि देने वाले परसाई आज के युग के सर्वाधिक सजग और सक्षम व्यग्यकार हैं, गोकि एक व्यक्ति और एक रचनाकार के नाते उन्हे इसके लिए बहुत जोखिम उठाने पडे हैं, काफी बडी कीमत चुकानी पडी है। परसाई के हाथो व्यग्य की विधा लोकप्रिय ही नही हुई है, लेखन के क्षेत्र मे उनका सबसे विशिष्ट और महनीय योगदान यह है कि उन्होंने व्यग्य को एक सर्वथा नया चरित्र प्रदान किया। यह पूर्ववर्तियो की रचनाशीलता और प्रतिभा से परसाई की तुलना नही है यदि कहा जाय कि पूर्ववर्तियो के निहायत ईमानदार, किन्तु सुधारवादी आशयो के विपरीत परसाई ने अपने लेखन मे सामाजिक बदलाव के क्रातिकारी आशयो और उनसे उद्भूत एक जाग्रत क्रियाशीलता के प्रति अपनी निष्ठा सूचित की है। यही उनका लेखन पूर्ववर्ती लेखन से विशिष्ट हो जाता है गोकि इस विशिष्टता के लिए वे पूर्ववर्तियो की ही विरासत के प्रति ऋणी हैं। परसाई के लिए व्यग्य-लेखन उनके अपने बहुत से समकालीनो की भाँति कभी बैठे-ठाले का धधा नही रहा, वरन् साहित्य को सामाजिक बदलाव का एक प्रभावशाली हथियार मानने वाले रचनाकार के नाते वह उनके लिए उनकी आदमीयत और अपनी रचनाशीलता को जिन्दा रखने वाली एक बुनियादी शर्त रहा है। उनके लेखन मे जो मानवीय प्रतिबद्धता है, समाज की पेचीदा गतिविधियों की जो समझ और पकड है तथा सामाजिक जटिलताओ के बीच मे आदमी और आदमीयत के रिश्ता को पहचानने और उभर रही इसानी जिन्दगी के ताने-बानो के साथ उन्हें गूंथ देने की जो क्षमता है, वह परसाई के

व्यंग्य लेखन को वह ऊँचाई दनी है जिस तक उनके पूर्ववर्ती उसे पहुँचाना चाहते थे, और यही वह बिन्दु भी है जहाँ परसाई का व्यंग्य-लेखन उनके समकालीन अनेक नामी गिरामी व्यंग्य-लेखकों से भिन्न हो जाता है। व्यंग्य की विधा को अपनाते हुए भी परसाई में इस कारण दृष्टिकोणगत बिखराव या वस्तुगत सतही पन नहीं आ पाता कि उनका व्यंग्य मूलत सामाजिक करुणा के बीजभाव को लेकर उगता है। गोकि वह प्रखर रूप से आक्रामक भी होता है किन्तु उसकी इस आक्रामकता का स्रोत भी यही करुणा है। मानवीय करुणा और मानवीय सरोकार का यह संदर्भ परसाई के व्यंग्य के आक्रामक रुख उसकी निर्ममता उसके प्रत्यक्ष क्रोध का एक सात्विक छाव प्रदान करता है ठीक वैसी ही, जो वाल्मीकि के मूलवर्ती शोक का क्रोध के श्लोक में प्राप्त हुई थी। परसाई का व्यंग्य निश्चित रूप से कठोर है अन्यायी समाज व्यवस्था व्यक्तियों संस्थाओं और मनुष्यता के खिलाफ साजिश करने वालों पर वह वज्र बनकर टूटता है किन्तु उसका मूल्यांकन करते हुए हम उसके बीजभाव पर उसके मानवीय सरोकारों पर उसमें निहित मानवीय संवेदना पर निरंतर दृष्टि रखनी चाहिए तभी हम उसकी सही मूल्यवत्ता उसके सही चरित्र को और बँध ढाले व्यंग्य लिखने वालों से उसके वैशिष्ट्य का पहचान सकते है। परसाई का व्यंग्य भी हमारा मनोरंजन करता है किन्तु यह मनोरंजन अतत हमें सोचने को भी प्रेरित करता है हमें कहीं से अशांत भी बनाता है जबकि आज के तमाम व्यंग्य लेखन में इस प्रकार का अहसास विरल है। परसाई में यह जो मानवीय करुणा है उसका गदगद अश्रु भावुकता से कोई संबंध नहीं है। परसाई के लेखन में रोमानियत के प्रति एक निर्मम तटस्थता है हर स्तर पर संवेदना के स्तर पर भी और भाषा तथा शिल्प के स्तर पर भी। उल्टे उसके सतहीपन और उसकी वायवीयता की उन्होंने जमकर मखौल ही उड़ाई है। रोमानियत के संस्पर्श से भी रहित उनकी मानवीय करुणा का स्रोत आदमी की वह यातना है जिससे मुक्ति के लिए वह सदियों से जद्दोजहद कर रहा है और परसाई के लेखन में जिससे हमारा सीधा परिचय होता है। उनकी करुणा वह सर्वोदयी करुणा भी नहीं है जो प्रकारांतर से शोषित मनुष्यता के और समाज के वर्गीय आधार का विरोध करने के कारण अंतत जनविरोधी चरित्र अपना लेता है। ऐसी सर्वोदयी करुणा के लिए परसाई के यहाँ या तो धिक्कार के स्वर है या उपहास के, कारण वह वह तथाकथित मानवतावाद है जिसमें सफेद और चितकबरी जोंकें या दर्जा उनके बराबर है जिनके शरीर के रक्त से वे अपना पोषण करती है।

परसाई के व्यंग्य-लेखन के सही चरित्र की इस चर्चा के उपरांत अब हम उनकी कुछ विशिष्ट व्यंग्य रचनाओं पर दृष्टिपात करेंगे। परसाई के लेखन के सही चरित्र को उजागर करना इसलिए जरूरी था कि विपुल परिमाण में सामने आने वाली उनकी रचनाशीलता के भीतर से उनके लेखन के सही तेवर को

से ले रहे हैं वे लीक से थोडा हटी हुई, मुख्यत साहित्यिक परिदृश्य से सबध रखती हैं। सामाजिक-राजनीतिक स्थितियो पर परसाई के लेखन से सामान्यत पाठक भली भाँति परिचित है, किन्तु समकालीन साहित्यिक परिदृश्य पर भी परसाई की निगाह कितनी पैनी तथा बारीक है, इसका अहसास कदाचित् उतना व्यापक नही है। परसाई की ये रचनाएँ उनके लेखन और उनकी निगाह की इस सामर्थ्य से हमे परिचित कराएँगी।

परसाई के रचनाकार की एक खास विशेषता विरूपता के प्रति, वह किसी भी नस्ल की क्यो न हो, उनका गैर-समझौतावादी रुख है। इस विरूपता का सबध यदि समाज, जीवन तथा मनुष्यता के उदात्त मूल्यों से है तो परसाई विशेष रूप से प्रखर और आक्रामक हो उठते हैं। आक्रामकता के इस दौर में उनका व्यग्य कई शक्लो मे सामने आता है। कभी उपहास या मखौल, तो कभी सीधी चोट करते हुए वे इस प्रकार की विरूपता की पर्त पर्त कुरेदते है जब तक कि वह पूरी तरह नगी होकर हमारी आँखो मे चुभे नही। जहाँ उनकी चोट महीन होती है वहाँ पाठक की ओर से भी सजगता आवश्यक है। 'और अन्त मे' शीर्षक जिस किताब की व्यग्य रचनाओं को यहाँ हम ले रहे हैं उसके पहले दो व्यग्य नई कवितावादियो पर हैं। पाठक जानते है कि नई कविता के आविर्भाव के साथ उसके समर्थको द्वारा जो तमाम नारे उछाले गये थे उनमे क्षण की महत्ता का बखान तथा मूल्यो के विघटन की गुहार सबसे प्रबल थी। मूल्यो के विघटन की बात इसलिए पूरे जोर-शोर के साथ उठायी गयी थी कि नई कविता के नाम पर छपने वाली ढेरो मूल्यहीन कविताओं के लिए आधार बन सके, और क्षण की महत्ता का बखान प्रगतिशील साहित्य की इस बुनियाद को मेटने के लिए किया गया था कि साहित्य की चरितार्थता सपूर्ण सामाजिक जीवन के प्रति उसकी निरतर प्रतिबद्धता मे है। परसाई ने नई कवितावादियो के इन दोनो नारो की नोटिस ली है और उनके खोखलेपन को उजागर किया है। मूल्यों के तथाकथित विघटन की बात को लेकर जहाँ वे उसकी मखौल उडाते है वहाँ क्षणवाद पर उनकी मार महीन और वेधक है। वे लिखते हैं—'बधु, क्षण साधना के लाभ मुझे दिखने लगे है। मुझ जैसे गैर-जिम्मेदार आदमी को एक दर्शन मिल गया है, और जिस कमजोरी से आज तक लज्जित होता रहा उससे अब गौरवान्वित हो सकूँगा। बाहर समाज मे हारने पर घर मे क्षण की चादर ओढ चैन से सो सकूँगा। पुराने जमाने म पराजित राजा को रनिवास मे ही चैन मिलती थी, क्षण, आज के हारे योद्धा का रनिवास ही है।—सबसे बडा लाभ तो यह है कि पीठ पर म इतिहास का बोझ उतरता है और पचवर्षीय योजनाओ की व्यर्थता समझ म आने लगती है।"

नागार्जुन की एक कविता है, 'तो फिर क्या हुआ'। नागार्जुन ने इस कविता म सामाजिक सरोकारो मे कतई उदासीन और अपनी निजी समस्याओ के प्रति बे-इन्तिहा सजग, सफेदपोश बुद्धिजीवी वर्ग की आत्मग्रस्तता की खाल उतारी

है। लगभग वैसे ही अन्दाज मे परसाई ने भी इस नस्ल के बुद्धिजीवियों को बेनकाब किया है। व्यंग्य की बारीकी और उसकी तीखी चुभन वहाँ पर भी है और यहाँ पर भी। परसाई लिखते हैं—'बात यो है कि आसपास ऐसी भीषण घटनाएँ हो जाती हैं कि मन स्थिति बिगड जाती है। मसलन मेरे घर के सामने के नीम की पत्तियाँ झड गयी है और मेरा मन बेहद उदास हो गया है। शहर मे घोर दगा भी हुआ है, और मैं तनिक भी विचलित नही हुआ।—इधर लोग दगे से परेशान है, पीडितो के लिए हाय हाय करते हैं, शांति और सद्भाव के लिए प्रयत्न करते हैं। किसी को परवाह नही कि मेरे सामने के नीम के पत्ते झड गये हैं। क्या किया जाए? मूल्यो का विघटन जो हो रहा है।'

किताब मे परसाई की एक अच्छी व्यंग्यात्मक टिप्पणी फणीश्वरनाथ रेणु और उनकी रातो-रात ख्याति के बाद हिन्दी मे आचलिक उपन्यासों की बाढ पर है। पाठक इस तथ्य से भली-भांति परिचित हैं कि अचल और उसके जन-जीवन मे महज किताबी अथवा एकदम नगण्य लगाव रखने वालो ने भी इस माहौल मे केवल चद नुसखो के बल पर आचलिक उपन्यास-लेखन मे हाथ आजमाने शुरू कर दिये थे और इस स्थिति का जो परिणाम होना था वही हुआ, अर्थात् नागार्जुन के शब्दो मे आज आचलिक उपन्यास की कब्र पर कोई फातिहा पढने वाला भी नही है। और रेणु भी, जिन्होने 'मैला आँचल' से अभूतपूर्व ख्याति पाई थी, बाद के 'परती-परिकथा' मे विवादो का शिकार बने थे, कुछ तो अतिरजना की हद तक पहुँचे उसके शिल्प और ऊपरी ब्योरो को महत्त्व देने वाली अपनी तर्जे-बयाँ के कारण, और ज्यादा, उसके माध्यम से सामने आने वाली अपनी वैचारिक जमीन के कारण। बहरहाल रेणु के इस उपन्यास की आलोचना के बीच से गुजरना पडा था और यह आलोचना अनेक मुद्दो पर सही भी थी, और आज भी सही है। परसाई समीक्षक नही है, किन्तु समाज और जिन्दगी की तथा साहित्य और उसकी बारीकियो की उनकी समझ का लोहा समीक्षक भी मानते है। चीजो की पहचान तथा उनकी पकड उनके यहाँ कितनी पैनी और मजबूत है यह बताने की जरूरत नही। अपने व्यंग्य की महीन धार मे यहाँ उन्होने जहाँ रेणु की सारी ख्याति के बावजूद, उनके 'परती परिकथा' उपन्यास और रेणु के 'मैनरिज्म' को गुजारा है, वहाँ नुस्खो पर जीने और अपनी दूकान लगाने वाले यश प्रार्थी भी उनकी मार से बच नही सके हैं। परसाई के अनुसार 'परती परिकथा' का नायक जित्तन नही, उसका कुत्ता मीत है। 'क्योकि न केवल आरभ से अन्त तक उसके चरित्र म एक सगति है, उसका व्यक्तित्व उपन्यास मे आद्योपान्त व्याप्त है। वह बहुत समझदार और जिम्मेदार है। खेतो मे ट्रैक्टर चलवाते समय किसानो का एक दल जित्तन का विरोध करने आता है। उस क्षण मीत की कर्त्तव्य भावना जाग्रत होती है। वह जानता है कि नायक वह है, जित्तन नही है, और इस समस्या का हल करना उसकी जिम्मेदारी है। वह जित्तन को बोलने भी नही देता और खुद किसानो पर टूट पडता है। वह वीर है, कर्त्तव्य-

निष्ठ है और वह शहीद की मौत मरता है जो नायक होने के लिए जरूरी है।' परसाई भी रेणु की ख्याति से प्रभावित होकर आंचलिक उपन्यास लिखने की योजना बनाते हैं। उसका नायक वे भी किसी पशु को बनाना चाहते हैं किन्तु मुहल्ले के जिस बकरे में मौत की तरह नायकत्व के गुण थे वह मर चुका है। नायक की समस्या बनी हुई है। अब जित्तन पर आइए। परसाई के अनुसार 'आदमी में जितने गुणों की कल्पना की जा सकती है वे सब उसमें हैं। ऐसे पात्र पुराणों में होते हैं। एक तो वह जमींदार का बेटा है। फिर उसके पिता पर एक मेम साहब न्योछावर हो गई थी। जिस पर मेम साहब मुग्ध हो जायें वह महान पुरुष होता है। जित्तन न जाने कहाँ-कहाँ क्रांति करने के लिए घूमता रहता है और अंत में उदास और निराश होकर अपने गाँव लौट आता है। रेणु ने प्रसंग निकाल-निकालकर उसके अलौकिक गुण बतलाए हैं।—भारत के भूतपूर्व नरेश और जमींदार यदि इस प्रकार उपन्यासों में आना स्वीकार कर लें तो साहित्य का कितना भला हो।' आदि आदि। परसाई ने अपने प्रस्तावित आंचलिक उपन्यास के लिए बाबूपुरा नामक एक अंचल चुन लिया है। चिड़ियों की बोलियों के नमूने भी एकत्र कर लिए हैं। लोकगीतों का चुनाव हो रहा है, परन्तु चूँकि आजकल गाँव की स्त्रियाँ भी सिनेमा के गीत गाने लगी हैं, अतएव परसाई का निश्चय है कि वे अपने उपन्यास में लोकप्रिय सिनेमा धुनों का पार्श्व संगीत के रूप में उपयोग करेंगे। उपन्यास रेणु की ही भाँति ख्यात हो, इसलिए वे अखबारों में एक विज्ञापन भी भेजते हैं जिसका शीर्षक है'—'अंचल चाहिए'। विज्ञापन का मजमून है – 'हिन्दी के एक यश प्रार्थी लेखक को एक ऐसे सुदूर अंचल की आवश्यकता है जो जबलपुर से दो सौ मील दूर हो और जहाँ आवा-गमन के साधन इतने अल्प और दुर्लभ हों कि अंचल वासियों को लेखक तक आने में कम से कम एक महीना लगे और समीक्षक तो उसे देखने कभी न पहुँच सकें। ऐसे अंचल के निवासी यदि अपने अंचल पर उपन्यास लिखवाना चाहते हैं तो अपने यहाँ के कम से कम पाँच पंचों से निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिख कर भिजवाएँ। वही उत्तर विचार के योग्य होंगे जिन पर वहाँ के तहसीलदार और थानेदार की सही होगी।' इसके बाद प्रश्नों की लंबी सूची है जो नुस्खेबाज लेखकों की पूरी पोल खोल देती है। सारी बातें व्यंग्यात्मक लहजे में कही गयी हैं, किन्तु अपनी निहित अर्थवत्ता में वे वस्तुस्थिति पर पूरी गहराई और पैनेपन के साथ प्रकाश डालती हैं।

सवाल हिन्दी के ख्यातिप्राप्त उपन्यास लेखक जैनेन्द्रकुमार का है, जिनकी लेखन-शैली से हिन्दी के सजग पाठक और समीक्षक भलीभाँति परिचित हैं, और जिस पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। किन्तु जब यही बात परसाई की कलम से उठती है तो उसका असर, जाहिर है, कि अनूठा होता है। बात स्वप्नों की है, और परसाई कबूल करते हैं कि उन्हें ऐसे-ऐसे सपने आ रहे हैं जिनका अर्थ उनकी समझ में नहीं आता, और जो सपनों को समझने-समझाने का दावा

है। लगभग वैसे ही अन्दाज मे परसाई ने भी इस नस्ल के बुद्धिजीवियो को बेनकाब किया है। व्यग्य की बारीकी और उसकी सीधी चुभन वहाँ पर भी है और यहाँ पर भी। परसाई लिखते हैं—'बात यो है कि आसपास ऐसी भीषण घटनाएँ हो जाती हैं कि मन स्थिति बिगड जाती है। मसलन मेरे घर के सामने के नीम की पत्तियाँ झड गयी हैं और मेरा मन बेहद उदास हो गया है। शहर मे घोर दगा भी हुआ है, और मैं तनिक भी विचलित नही हुआ।—इधर लोग दगे से परेशान है, पीडितो के लिए हाय हाय करते हैं, शाति और सद्भाव के लिए प्रयत्न करते हैं। किसी को परवाह नही कि मेरे सामने के नीम के पत्ते झड गये है। क्या किया जाए ? मूल्यो का विघटन जो हो रहा है !'

किनाव मे परसाई की एक अच्छी व्यग्यात्मक टिप्पणी फणीश्वरनाथ रेणु और उनकी रातो रात ख्याति के बाद हिन्दी मे आचलिक उपन्यासो की बाढ पर है। पाठक इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि अचल और उसके जन जीवन से महज किताबी अथवा एकदम नगण्य लगाव रखने वालों ने भी इस माहौल मे केवल चद नुसखो के बल पर आचलिक उपन्यास-लेखन मे हाथ आजमाने शुरू कर दिये थे और इस स्थिति का जो परिणाम होना था वही हुआ, अर्थात् नागार्जुन के शब्दो मे आज आचलिक उपन्यास की कब्र पर कोई फातिहा पढ़ने वाला भी नहीं है। और रेणु भी, जिन्होंने 'मैला आँचल' से अभूतपूर्व ख्याति पाई थी, बाद के 'परती-परिकथा' मे विवादो का शिकार बने थे, कुछ तो अतिरजना की हद तक पहुँचे उसके शिल्प और ऊपरी ब्योरो को महत्त्व देने वाली अपनी तर्जे बयाँ के कारण, और ज्यादा, उसके माध्यम से सामने आने वाली अपनी वैचारिक जमीन के कारण। बहरहाल रेणु के इस उपन्यास को आलोचना के बीच से गुजरना पडा था और वह आलोचना अनेक मुद्दों पर सही भी थी और आज भी सही है। परसाई समीक्षक नही है, किन्तु समाज और जिन्दगी की तथा साहित्य और उसकी बारीकियों की उनकी समझ का लोहा समीक्षक भी मानते है। चीजो की पहचान तथा उनकी पकड़ उनके यहाँ कितनी पैनी और मजबूत है, यह बताने की जरूरत नहीं। अपने व्यग्य की महीन धार मे यहाँ उन्होंने जहाँ रेणु की सारी ख्याति के बावजूद, उनके 'परती परिकथा' उपन्यास और रेणु के 'मैनरिज्म' को गुजारा है वहाँ नुस्खों पर जीने और अपनी दूकान लगाने वाले यश प्रार्थी भी उनकी मार से बच नही सके हैं। परसाई के अनुसार 'परती परिकथा का नायक जित्तन नही उसका कुत्ता मीत है। 'क्योकि न केवल आरभ से अत तक उसके चरित्र म एक सगति है उसका व्यक्तित्व उपन्यास मे आद्योपान्त व्याप्त है। वह बहुत समझदार और जिम्मेदार है। खेती मे ट्रैक्टर चलवाते समय किसानो का एक दल जित्तन का विरोध करने आता है। उस क्षण मीत की कर्त्तव्य भावना जाग्रत होती है। वह जानता है कि नायक वह है, जित्तन नही है और इस समस्या का हल करना उसकी जिम्मेदारी है। वह जित्तन को बोलने भी नही देता और खुद किसानो पर टूट पडता है। वह वीर है, कर्त्तव्य-

निष्ठ है और वह शहीद की मौत मरता है जो नायक होने के लिए जरूरी है।' परसाई भी रेणु की ख्याति से प्रभावित होकर आंचलिक उपन्यास लिखने की योजना बनाते हैं। उसका नायक वे भी किसी पशु को बनाना चाहते हैं किन्तु मुहल्ले के जिस बकरे में मौत की तरह नायकत्व के गुण थे वह मर चुका है। नायक की समस्या बनी हुई है। अब जित्तन पर आइए। परसाई के अनुसार 'आदमी में जितने गुणों की कल्पना की जा सकती है वे सब उसमें हैं। ऐसे पात्र पुराणों में होते हैं। एक तो वह जमींदार का बेटा है। फिर उसके पिता पर एक मेम साहब न्योछावर हो गई थी। जिस पर मेम साहब मुग्ध हो जायें वह महान पुरुष होता है। जित्तन न जाने कहाँ-कहाँ क्रान्ति करने के लिए घूमता रहता है और अंत में उदास और निराश होकर अपने गाँव लौट आता है। रेणु ने प्रसंग निकाल निकालकर उसके अलौकिक गुण बतलाए हैं।—भारत के भूतपूर्व नरेश और जमींदार यदि इस प्रकार उपन्यासों में आना स्वीकार कर लें तो साहित्य का कितना भला हो।' आदि आदि। परसाई ने अपने प्रस्तावित आंचलिक उपन्यास के लिए बाबूपुरा नामक एक अंचल चुन लिया है। चिड़ियों की बोलियों के नमूने भी एकत्र कर लिए हैं। लोकगीतों का चुनाव हो रहा है, परन्तु चूंकि आजकल गाँव की स्त्रियाँ भी सिनेमा के गीत गाने लगी हैं, अतएव परसाई का निश्चय है कि वे अपने उपन्यास में लोकप्रिय सिनेमा धुनों का पार्श्व संगीत के रूप में उपयोग करेंगे। उपन्यास रेणु की ही भाँति ख्यात हो, इसलिए वे अखबारों में एक विज्ञापन भी भेजते हैं जिसका शीर्षक है'—'अंचल चाहिए'। विज्ञापन का मजमून है—'हिन्दी के एक यश प्रार्थी लेखक को एक ऐसे सुदूर अंचल की आवश्यकता है जो जबलपुर से दो सौ मील दूर हो और जहाँ आवागमन के साधन इतने अल्प और दुर्लभ हों कि अंचल वासियों को लेखक तक आने में कम से कम एक महीना लगे और समीक्षक तो उसे देखने कभी न पहुँच सकें। ऐसे अंचल के निवासी यदि अपने अंचल पर उपन्यास लिखवाना चाहते हैं तो अपने यहाँ के कम से कम पाँच पंचों से निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिख कर भिजवाएँ। वही उत्तर विचार के योग्य होंगे जिन पर वहाँ के तहसीलदार और थानेदार की सही होगी।' इसके बाद प्रश्नों की लंबी सूची है जो नुस्खेबाज लेखकों की पूरी पोल खोल देती है। सारी बातें व्यंग्यात्मक लहजे में कही गयी हैं, किन्तु अपनी निहित अर्थवत्ता में वे वस्तुस्थिति पर पूरी गहराई और पैनेपन के साथ प्रकाश डालती हैं।

सवाल हिन्दी के ख्यातिप्राप्त उपन्यास लेखक जैनेन्द्रकुमार का है, जिनकी लेखन शैली से हिन्दी के सजग पाठक और समीक्षक भलीभाँति परिचित हैं, और जिस पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। किन्तु जब यही बात परसाई की कलम से उठती है तो उसका असर, जाहिर है, कि अनूठा होता है। बात स्वप्नों की है, और परसाई कबूल करते हैं कि उन्हें ऐसे-ऐसे सपने आ रहे हैं जिनका अर्थ उनकी समझ में नहीं आता, और जो सपनों को समझने-समझाने का दावा

करते है, परसाई का उनसे सीधा प्रश्न है कि अगर सपने मे जैनेन्द्र कुमार दिखें तो उसका क्या अर्थ है ? परसाई को एक रात सपने मे वे दीखने भी हैं। आश्वस्त होने के लिए व उनसे पूछते है—'माफ कीजिए, आपका नाम जैनेन्द्र कुमार है न ?' दूसरी ओर से उत्तर मिलता है—'नाम। सो कैसे कहूँ ? नाम गुणवाचक है, कि व्यक्तिवाचक। हाँ, हूँ भी और नही भी हू। कह दिया जाता है तो जैनन्द्र हूँ। कोई न पुकारे तो नही हूँ।' पूछताछ का सिलसिला चलता रहता है। परसाई उनसे स्टेशन का रास्ता पूछते है। उत्तर—'स्टेशन ! हाँ, होगी तो रास्ता भी होगा। स्टेशन हो भी सकती है और नही भी हो सकती है। होने का क्या अर्थ ? और नही होने का क्या ? स्टेशन है, यदि कोई साक्षी है। साक्षी के बिना अस्तित्व कैसा ? मैं किस ओर बतलाऊँ ?' प्रश्न—'मुझे सिर्फ यह बतला दीजिए कि इधर पूर्व की ओर है या उधर पश्चिम की ओर।' जैनेन्द्र हँसे। बोले—'पूर्व और पश्चिम का निर्णायक मैं कैसे ? दिशाएँ तो सापेक्ष है। पूरब क्यो पूरब है ? पश्चिम के सबध स ही पूरब हुआ। ऐसे ही पश्चिम। तो कैसे कहूँ ? दिशाएँ सत्य है, स्टेशन यथार्थ हैं। सत्य के सदर्भ म यथार्थ की स्थिति कैसे निश्चित हो ?'

जैनेन्द्रीय शैली की परसाई द्वारा प्रस्तुत यह बानगी मात्र मनोरजन ही नही करती वह जैनन्द्र के लखन की असगति, उसकी सीमा को, उसकी वास्तविकता म उघार भी देती हैं। नई कवितावादियो के आधुनिक भावबोध, हिन्दी म पुरस्कारो की प्रथा और उनके निर्णय के सबध मे होने वाली धाँधली, साहित्यकारो द्वारा स्वत पहल लेकर अपने जन्म-दिवस मनवाए जाने की तिकडम, हिन्दी शोध क क्षेत्र म होन वाला अकादमिक भ्रष्टाचार, ये सारी बातें भी अनेक टिप्पणियो म परसाई के पैन व्यग्य का लक्ष्य बनी है। सच्चाई को बेलौस उद्घाटित करना परसाई के व्यग्य की वह शक्ति है जो उसे सम्माननीय बनाती है।

चीन के आक्रमण क समय भारत म देशभक्ति का जो ज्वार आया था, वह अभी भी लोगो को याद है। सब जानते हैं कि जो सबसे बडे देशभक्त थ, (सरहद पर मरने वालो की बात छोड दीजिए) उन्होने सुरक्षा कोष इकट्ठा करन की पहल लेकर स्वय कुछ दने स मुक्ति पा ली। जिसने जितना दिया दूना बनान का हक माँगन लगा। और साहित्य के क्षेत्र मे देशभक्ति के नाम पर, आत्मा की आवाज पर, जो कुछ लिखा गया, उसकी यादें भी अभी ताजा है। क्रोध और घृणा साहित्यकारो की सारी देशभक्ति इनके माध्यम से ही सामने आई। परसाई लिखते है—एक तो भारतीय साहित्यकार, दूसरे हिन्दी वाला बहुत ही भोला होता है। उसके पास आत्मा नामक एक ऐसी चीज़ होती है जो सब कुछ सहज कर देती है। उसकी आत्मा म जो कुछ सहज उठ आता है वह सत्य होता है। अब मुश्किल यह है कि कभी कभी अशिक्षा ही आत्मा बन जाती है, कभी स्वरक्षण का छिपाव आत्मा का रूप ल लेता है, कभी कभी आत्म-छल

आत्मज्ञान बन जाता है। कभी अवसरवाद भीतर बैठकर बोलता है, और हम समझते हैं कि यह हमारी शुद्ध आत्मा बोल रही है। यह आत्मा बहुत अविश्वसनीय चीज़ है। एक तो यह बाहर नहीं देखने देती और भीतर न जाने क्या-क्या बातें सुझाती रहती है। धर्म की ही बात लें। आत्मा कहती है चीन धर्म नहीं मानता और भारत धर्म मानता है। इसलिए यह धर्मयुद्ध है। धर्म के नाम पर अपना देश न्योछावर होता है। धर्म के नाम पर विधवाओं को बेचने से लेकर दंगे तक हम कर लेते हैं।' बहरहाल, चीनी हमले के समय जो कुछ लिखा गया या तो आत्मावादी लेखकों के द्वारा या उनके द्वारा जिन्हें परसाई ने तीज-त्योहारवादी लेखक कहा है। ऐसा लेखक उनके अनुसार *'दिवाली आने पर दीपोत्सव पर लिखता है, और सूरदास की जयन्ती पर लिखता है—भारत में फिर से आ जा कवि सूरदास प्यारे। स्थितियाँ इनके लिए पर्व बनकर आती हैं। राखी है, वसंतोत्सव है, होली है, और चीनी आक्रमण है। कोई पर्व उनसे बिना लिखे बच नहीं सकता।'* किन्तु इन पर्ववादियों की बात छोड़ भी दी जाय तो जो बड़े और प्रसिद्ध लेखक हैं उनकी उपलब्धि क्या रही? क्या उन्होंने जो लिखा उस सत्य का ईमानदारी से अनुभव भी किया? जिन्होंने जीवन में कभी युद्ध नहीं देखा, उन्होंने युद्ध साहित्य लिखने का दावा किया। परसाई की टिप्पणी है *'बंधु, कहीं यह न समझ लेना कि इस संदर्भ में कुछ ठोस लिखा ही नहीं गया।* कुछ रचनाएँ बहुत ठोस हुई हैं, पर अधिकांश घर से अखबार के दफ्तर जाते हुए रास्ते में लिखी गई हैं। हमें जल्दी ही गोलाबारी, ग्लानि, और विरक्ति से आगे बढ़ जाना चाहिए, वरना युद्ध-साहित्य की रचना सिखाने के लिए भी कहीं कोई अमरीकी या ब्रिटिश मिशन भारत न बुलाना पड़े।'

साहित्य जगत में व्याप्त गुटबाजी, अवसरवादिता, स्वार्थ, चापलूसी एवं इसी प्रकार की अन्य प्रवृत्तियों पर परसाई ने बड़ी निर्ममता से लिखा है। 'कल्पना' पत्रिका में दिनकर की 'उर्वशी' पर चलने वाले या चलवाए गए विवाद का संदर्भ हो, अथवा धर्मयुग में जैनेन्द्र की कहानी पर नये कहानीकारों की चर्चा का, नई कहानी आन्दोलन की बात हो चाहे कविता बनाम कहानी की प्रमुखता को लेकर छिड़ने वाली बहस, मुक्तिबोध की बीमारी और मौत की दास्तान हो या आस्था-अनास्था के प्रश्न को लेकर होने वाली आपसी तू तू मैं मैं, परसाई ने बड़ी बेरहमी के साथ साहित्य जगत की असलियत को कुरेदा है और साहित्य जगत की सड़ाँध की ओर ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने इस सिलसिले में नाम लेकर हमारी पहचान उन लोगों से कराई है जो इन विकृतियों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संरक्षक और पोषक हैं। बड़ी *निर्भीकता* के साथ उन्होंने अपनी बातें कही हैं। वस्तुतः व्यंग्य को सामाजिक और मानवीय सरोकारों से जोड़कर पूरी तरह प्रतिबद्ध और गैर-समझौतावादी-सुधारवादी आशयों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने वाले रचनाकार को कबीर की तरह अपना घर फूँककर ही सामने आना पड़ता है। *अनीति,* असत्य और अमानवीयता पर

कार्य किसी रचनाकार के कृतित्व से होकर गुजरना ही नहीं, उसके कृतित्व को सही परिप्रेक्ष्य में रखते हुए अच्छे और बुरे कृतित्व में फर्क करना भी है और पाठक को उसकी समझ से परिचित कराना भी है।

परसाई के रचनाकर्म का मूल्यांकन करते हुए हमने अपने को उनकी एक किताब की व्यंग्यात्मक टिप्पणियों तक ही सीमित रखा है, और वह भी उन रचनाओं तक जिनका सम्बन्ध साहित्य या साहित्य-जगत् की गतिविधियों से है। वस्तुतः परसाई का रचना-संसार बहुत व्यापक है। उसकी समग्रता से होकर ही हम उसके सही महत्त्व से परिचित हो सकते हैं। फिर भी, हमारा प्रयास रहा है कि अपनी चर्चा के माध्यम से हम परसाई के रचनाकर्म की कुछ ऐसी विशेषताओं से पाठक को परिचित करा सकें जो उन्हें और उनके कार्य को वह अहमियत देती हैं जो दूसरों में विरल है। एक लम्बे अर्से से परसाई रचनाकर्म में रत हैं, एक जागरूक पहरुए की तरह अंधकार की शक्तियों से जूझते हुए वे लोगों को अँधेरे में लुट जाने से सावधान कर रहे हैं। उनके व्यंग्य एक तेज धार वाले हथियार की तरह मानव विरोधी शक्तियों के खिलाफ बरस रहे हैं। सुविधाभोगियों और मठाधीशों की नींद हराम करने वाली परसाई की रचनाशीलता की दाद हम इसलिए देते हैं कि वह उस जन के बेहतर भविष्य के प्रति समर्पित रचनाशीलता है जो आज अपनी लड़ाई के निर्णायक दौर में पहुँच गया है। हमें विश्वास है कि परसाई के व्यंग्य अपने चरित्र के अनुरूप निर्णय की इस घड़ी में अपनी सही चरितार्थता पा सकेंगे।

—शिवकुमार मिश्र

व्यक्तिगत होते हुए भी

श्री हरिशंकर परसाई ने 'बेईमानी की परत' नामक अपने निबंध-संग्रह की भूमिका मे लिखा है "कहानी के साथ ही मैं शुरू से निबंध भी लिखता रहा हूँ और यह विधा अपनी प्रकृतिगत स्वच्छंदता तथा व्यापकता के कारण मुझे बहुत अनुकूल भी प्रतीत हुई है।" इस कथन म निबंध की जो दो विशेषताएँ बतलायी गयी हैं, प्रकृतिगत स्वच्छंदता और व्यापकता, वे ध्यान देने लायक है। इन दोनो विशेषताओ की परिणति दो रूपो मे हुई है। निबंध अपनी प्रकृतिगत स्वच्छंदता के चलते तर्क-शृंखला से मुक्त हो गए हैं और तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु को निबंध का विषय बनाने से उनमे विचार-तत्त्व का ह्रास हुआ है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने काफी पहले अपने 'इतिहास' मे पाश्चात्य निबंधो की इस दृष्टि से आलोचना करते हुए कहा था कि "व्यक्तिगत विशेषताओ का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारो की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड दी जाय" और निबंधो मे 'सब अवस्थाओ मे कोई बात अवश्य चाहिए।" हिन्दी मे भारतेन्दु-युग से जिस व्यक्तिगत निबंध की शुरुआत होती है, उसमें तर्क-शृंखला भी है और विचार-तत्त्व भी। यहाँ मैं शुक्लजी के बाद रामविलास शर्मा का हवाला देने के लिए क्षमा चाहूँगा, जिन्होंने इस ओर हमारा ध्यान दिलाया है कि भारतेंदु-युग की निबंध कला हिन्दी की अपनी चीज है और वह उस युग की पत्रकारिता की भूमि पर फूली-फली है। परसाईजी के व्यक्तिगत निबंध प्रकृतिगत स्वच्छदता से युक्त होते हुए भी तर्क शृंखला मे बंधे हुए हैं। इसी तरह वे छोटे-से छोटे विषयो पर लिखे जाने के बावजूद हमारे सामने कोई-न-कोई मूल्यवान् विचार अवश्य रखते है। अंग्रेजी मे व्यक्तिगत निबंध को 'ब्यूटीफुल नानसेंस' कहा गया है। परसाईजी के निबंध न 'ब्यूटीफुल' हैं, न 'नानसेंस' हैं। वे हमारे चित्त को आकर्षित नही करते, बल्कि उसे झकझोरते हैं और उनमे ऊलजलूलपन नही, बल्कि 'सब अवस्थाओ मे कोई बात' अवश्य होती है। इस तरह उनके निबंध भारतेंदु-युगीन परपरा के निबंध हैं। हम कह सकते हैं कि भारतेंदु-युग के सामाजिक-राजनीतिक व्यंग्य वाले निबंधों का ही विकास परसाईजी के निबंधो मे हुआ है।

परसाईजी के निबंधो का विषय छोटा हो या बडा, उसका संबंध निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की समस्याओं और उसके अभावो से होता है। उदाहरण के लिए कुछ विषयों को देखा जा सकता है—उधार, घर मे गेहूँ के बोरे का आना,

किराये के मकान का टपकना, कचहरी मे चलनेवाला शोषण, चदाखोरी आदि। जो विषय मनुष्य के मनोभाव और व्यवहार से सबधित हैं, उनमे भी हमे यथास्थान सामाजिक व्यग्य देखने को मिलता है। 'पहिला सफेद बाल', 'कबिरा आप ठगाइए', 'मलमल की म्यान' आदि निबध ऐसे ही है। 'पहिला सफेद बाल' मे एक स्थल पर परसाईजी कहते हैं "पहिले सफेद बाल का दिखना एक पर्व है। दशरथ को कान के पास सफेद बाल दिखे, तो उन्होने राम को राजगद्दी देने का सकल्प किया। उनके चार पुत्र थे। उन्हे देने का सुभीता था। मैं किसे सौंपूँ ? कोई कथा मेरे सामने नही है, जिस पर यह गौरवमय भार रख दूँ। किस पुत्र को सौंपूँ ? मेरे एक मित्र के तीन पुत्र हैं। सबेरे यह मरा दशरथ अपने कुमारो को चुल्लू-चुल्लू पानी मिला दूध बाँटता है। इनके कधे ही नही हैं—भार कहाँ रखेंगे ?" इसी तरह 'कबिरा आप ठगाइए' मे सत बनकर दूसरों को ठगनेवाले समाज के एक खास प्रकार के लोगो के बारे मे उनका कहना है 'एक आदमी ने अपना प्रचार कर रखा था कि मैं बालक की तरह भोला हूँ और मुझे कोई भी ठग लेता है। उसके प्रशसक कहते थे—अरे भई, उसे तो कोई भी ठग लेता है। कोई उससे लँगोटी भी माँगे, तो वह उतारकर दे देगा। मैं एक दिन उस सत के पास गया। मैंने देखा कि उनके पास ही दूसरो की उतरवायी हुई 15-20 लँगोटियाँ रखी है। बात यह थी कि उसके सामने लोग जब जाते, तो यह मानकर कि वह तो बहुत भोला है अपनी लँगोटी की तरफ से असावधान हो जाते और वे धीरे से गफलत मे उनकी लँगोटी उतार लेते। मैं फौरन अपनी लँगोटी बचाकर भागा।" छद्म विनम्रता वाले नेता और कलाकार भी हमारे सामाजिक जीवन के अग हैं। 'मलमल की म्यान' मे उन पर परसाईजी का व्यग्य है "उन्होने आत्म-चरित आरभ कर दिया। हर वाक्य का आरभ 'मैं' से होता। किसी-किसी वाक्य का अत भी 'मैं से ही होता, जैसे, दिल्ली पहुँचा मैं।' ' अत मे फिर कुहनी तक हाथ जोडे और कहीं, "मैं तो आपका पुत्र हूँ ''आशीर्वाद दीजिए''' जनता का सेवक।" इस सबसे यह स्पष्ट है कि परसाईजी ने अपने निबध केवल मन-बहलाव के लिए नहीं लिखे। उनका लेखन कोरा वाग्विलास नही है और उसका एक निश्चित उद्देश्य है। वह उद्देश्य है—हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन की तीखी आलोचना। यह आकस्मिक नही है कि परसाईजी ने जीवन के प्रति रूमानी दृष्टिकोण की खिल्ली उडायी है। 'क्षय की रूमानियत' शीर्षक निबध मे उनके व्यग्य का लक्ष्य क्षय का शिकार प्रेमी कवि ही नही, बल्कि वे सारे लोग है जो जीवन के यथार्थ से आँखें नही मिलाते और भावुकता म बहते रहते है। उनके निबध यथार्थ की ठोस भूमि पर लिखे गए है और उन्होंने सच्चाई को बहुत ही निर्मम रूप मे हमारे सामने रखा है। ऐसी स्थिति मे यदि डॉ० नामवर सिंह ने यह कहा है कि हिन्दी साहित्य के स्वातत्र्योत्तर काल मे नव स्वच्छदतावाद का जो आन्दोलन आया उसमे कथाकारों मे केवल परसाईजी थे जिनका यथार्थ-बोध निरतर जाग्रत् था, तो उसमे बहुत कुछ सच्चाई है। इस

काल के अन्य लेखक जहाँ किसी-न-किसी मात्रा में अनिवार्य रूप से मोहग्रस्त दिखलायी पडते हैं, वहाँ परसाईजी वस्तुत अकेले लेखक हैं जो मोह के अंधकार को अपने यथार्थ-बोध की किरणों से छिन्न-भिन्न करते रहते हैं।

परसाईजी के यथार्थ-बोध का आधार उनका भौतिकवादी दृष्टिकोण है। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने तमाम चीजों को समझने की कोशिश की है और जो चीजें उन्हें आपत्तिजनक प्रतीत हुई हैं, उन पर व्यग्यात्मक टिप्पणी की है। भौतिकवादी दृष्टिकोण हमें ससार को सत्य मानने, सास्कृतिक विकास को भौतिक सुख सुविधाओं से सबद्ध स्वीकार करने तथा सामाजिक प्रगति में अधिकाधिक योग देने के लिए तैयार करता है। परसाईजी का सामाजिक जीवन के प्रति गहरा आकर्षण और समाज को बेहतर बनाने की उनकी आकाक्षा उनके भौतिकवादी दृष्टिकोण की ही देन है। यह आकस्मिक नहीं है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी गद्य-साहित्य की यह सर्वश्रेष्ठ व्यग्य प्रतिभा समाज और साहित्य में पुरातनतावादी और सकीर्णतावादी विचार-धारा से निरतर सघर्ष करती रही है और इसने वैज्ञानिक समाजवाद को अपने लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। 'गेहूँ का सुख' शीर्षक निबंध में परसाईजी कहते हैं "उपनिषद् का वह ब्रह्मचारी मूर्ख नहीं था, जिसने छूटते ही कहा था कि अन्न ब्रह्म है। लेकिन अब कुछ लोग गेहूँ से गुलाब की ओर इस तरह ले जाते हैं, जैसे गेहूँ जरूरत से ज्यादा हो गया, इसलिए गुलाब की खेती करनी चाहिए। जहाँ उजड़े हुए गेहूँ के खेत हों, वहाँ गुलाब की फसल किस काम आयगी ?" प्राचीनतावादी हिन्दुओं पर उनका व्यग्य है "कुछ पेशेवर मुँह चिढानेवाले मैंने देखे हैं, जो विश्व-मानवता की हर नयी उपलब्धि को 'ऊँह' बोलते हैं। उनका कथन होता है कि प्राचीन काल में हमारे देश में वह चीज थी। सजय ने धृतराष्ट्र को 'टेलीविजन' म देखकर महाभारत की 'रनिंग कमेंटरी' सुनायी थी। और दधीचि ने इद्र को जो वज्र दिया था, वह वास्तव म एटम बम था।" ('सुजला सुफला') इन बातो से यह अर्थ निकालना बिलकुल गलत होगा कि परसाईजी को अपने देश और उसके गौरवमय अतीत से प्रेम नहीं है और वे पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के हाथों बिके हुए हैं। उन्हें पुरातनतावादी लोगों की अपेक्षा अपने देश से अधिक प्रेम है, क्योंकि वे उसके अतीत को महिमामडित न कर उसे ठीक-ठीक पहचानने की कोशिश करते हैं जिससे व देश के भविष्य के निर्माण में सही ढग से योगदान कर सकें। उनके पहले के व्यग्यकार प्राचीनता-प्रेम, धार्मिक पाखड, आधुनिकता-वादी प्रवृत्ति, शासकीय भ्रष्टाचार आदि तमाम बातों पर व्यग्य करते थे, लेकिन किसी सुसगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय नहीं देते थे। परसाईजी के व्यग्यात्मक लेखन की यह बहुत बडी विशेषता है कि व वार के लिए वार नहीं करते, बल्कि गलत चीज को तोडकर उसे नये ढग से बनाने के लिए उस पर वार करते हैं। व्यग्य-लेखक का दृष्टिकोण हमेशा आलोचनात्मक होता है, पर उसकी सफलता इस बात में है कि वह रचनात्मक भी हो। स्वय परसाईजी

न लिखा है कि "हर मसखरा थोड़ा 'सिनिक' होता ही है।" मसखरे थोड़ा या ज्यादा 'सिनिक' होते होंगे। परसाईजी मे मसखरापन नही, वह व्यग्य-दृष्टि है, जो 'सिनिसिज्म' से पूरी तरह से मुक्त स्वस्थ जीवन-दृष्टि का पर्याय है। उनका प्रत्येक व्यग्य रचनात्मक है और उनकी प्रत्येक वक्र-दृष्टि मूल्य-दृष्टि है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-साहित्य और निबंध-साहित्य मे परसाईजी को हिन्दी-भाषी जनता ने जो हाथोहाथ लिया है उसका कारण उनकी मूल्य-दृष्टि ही है, जो सच्चे अर्थों मे प्रगतिशील है। कहानियाँ और निबंध और लेखकों ने भी लिखे हैं, पर प्रगतिशील मूल्यों की रक्षा और प्रतिष्ठा के लिए चलनेवाले जन-संघर्षों मे अपनी लेखनी से जैसा योगदान परसाईजी ने किया है, किसी अन्य लेखक ने नही किया। उनकी लोकप्रियता बाजारू कथाकारों और व्यग्यकारों की लोकप्रियता से भिन्न है। वह इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी भाषी जनता का कठहार वही लेखक हो सकता है, जो प्रगतिशील मूल्यों के संघर्ष मे उसका साथ दे, उसकी अगुआई करे।

पूर्ण स्वच्छदता साहित्य मे कहीं नही है, पर यह ठीक है कि व्यक्तिगत निबंध मे बंधन बहुत-कुछ ढीला रहता है और लेखक अनौपचारिक ढग से अपनी बातें रखता है। उसके लिए जो दूसरी चीज आवश्यक है, वह यह कि लेखक मे यह क्षमता होनी चाहिए कि वह शून्य से सृष्टि रच सके, यानी जो न-कुछ है, उसमे भी ऐसी बात पैदा कर सके, जो न केवल दिलचस्प हो, बल्कि जिसकी परिणति सार्थक रूप मे हो। परसाई जी मे अनौपचारिकता और नगण्य अथवा सर्वथा परिचित वस्तुओं से भी ऐसी बात निकालने की क्षमता कूट-कूटकर भरी है, जिसे सुनकर लगे कि यह बात अब तक अज्ञात थी। उनकी ये विशेषताएँ उनके किसी भी निबंध मे देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए उनके 'नीलकठ' शीर्षक निबंध का यह आरंभिक अश "कहते है, शकर ने जहर पी लिया था। जिस हलाहल की ज्वाला से चराचर सृष्टि अकुला उठी, उसे शंकर सहज ही पी गये। बड़ा अच्छा किया, बड़ी बहादुरी की। पर एक प्रश्न उठता है मेरे मन मे कि कठ को नीला क्यों होने दिया ? जो इतने अलौकिक शक्तिसपन्न थे, वे यदि चाहते, तो क्या कठ का रग ह्स्बेमामूल नही रख सकते थे ? फिर चाहा क्यों नही ? शायद इसलिए कि लोग कम से कम यह जान तो लें कि उन्होंने जहर पिया है। भला यह भी कोई बात है कि विष भी पिएँ और लोगों को मालूम भी न हो ! नीला कठ दिखाने का लोभ शकर से सवरित नही हुआ। वे विष तो पचा गये, रग नही पचा पाये ! रग पचाना आसान नही है। मुझे तो सदेह है कि यदि कठ नीला पड़ने का यकीन न होता, तो शायद शकर विष पीने मे इन्कार कर देते।" जहाँ परसाईजी न इस ढग को छोड़कर विचारात्मक निबंध वाला विश्लेषणात्मक ढग या उसकी तर्क-पद्धति अपनाई है, वहाँ उनका निबंध थोड़ा कमजोर हो गया है। 'निंदा-रस' शीर्षक का यह अश ऐसा ही है 'निंदा का उद्गम ही हीनता और कमजोरी से होता है। मनुष्य अपनी हीनता से दबता है। वह दूसरों की निंदा

करके ऐसा अनुभव करता है कि वे सब निकृष्ट हैं और वह उनसे अच्छा है। उसके अहं की इससे तुष्टि होती है।" लेकिन यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जिस तरह विचारात्मक निबंध में व्यक्तिगत या भावात्मक निबंध के तत्वों का पाया जाना संभव है, वैसे ही भावात्मक निबंधों में भी विचारात्मक निबंध के तत्वों का सर्वथा निषेध संभव नहीं होता है। परसाई जी के एक-दो निबंधों को जिस दूसरी चीज ने थोड़ा-बहुत कमजोर बनाया है, वह है निबंध का वह गम्भीर अंत, जो पूरे निबंध की प्रकृति से मेल नहीं खाता। 'पहिला सफेद बाल' के अंत में उन्होंने कहा है "मेरी पीढ़ी के समस्त पुत्रो! मैं तुम्हें वह भविष्य ही देता हूँ। यद्यपि वह अभी मूर्त्त नहीं हुआ है, पर हम जुटे हैं उसे मूर्त्त करने।" यही बात 'घायल बसंत' शीर्षक निबंध में भी देखने को मिलती है। लेकिन ये निबंध परसाई जी के आरम्भिक निबंध प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैसे-जैसे वे आगे बढ़े हैं, उनकी व्यंग्य-रचना की दृष्टि में प्रौढ़ता और तीक्ष्णता आती गयी है और उनके निबंध उक्त त्रुटि से मुक्त होते गये हैं। उनके बाद के निबंध शुरू से अंत तक हमें एक मिजाज और रंग में लिखे हुए मिलते हैं।

जहाँ तक व्यंग्य उत्पन्न करने की बात है, यह काम परसाईजी कई तरह से करते हैं। उनका व्यंग्य पूरे निबंध में तो रचा हुआ होता ही है, वे बीच-बीच में यथास्थान और यथावसर दूसरी बहुत सारी चीजों पर व्यंग्य करते चलते हैं। इस तरह उनका आक्रमण चौतरफा होता है। 'आयी बरखा बहार' का मूल व्यंग्य अपनी जगह पर है, पर उसमें ऐसे व्यंग्य भी हैं "देखो, सूर्य बादलों में ऐसे छिप गया है जैसे नयी और पुरानी कहानी के विवाद के घटाटोप में अच्छा लेखक छिप गया हो', 'हे हनुमान, कभी बादल जोर से गरजते हैं, जैसे खाद्य-मंत्री मुनाफाखोरों को धमकी दे रहे हों', "देखो अंधकार में कभी कभी बिजली चमक उठती है, जैसे किसी रद्दी कविता में एक अच्छी पंक्ति आ गई हो", 'हे भाई, हवा के झोंके से ये वृक्ष इस तरह झुक झुक पड़ते हैं, जैसे सेक्रेटरी की लड़की की शादी में अक्सर लोग झुक-झुककर बारातियों को पान दे रहे हों" आदि। परसाईजी में जैसे कोरा हास्य नहीं मिलता, वैसे ही कोरा व्यंग्य भी नहीं मिलता। प्रायः उनका व्यंग्य हास्य से और हास्य व्यंग्य से मिला हुआ होता है। इससे हम आहत भी होते हैं और हँसते भी हैं, हँसते भी हैं और आहत भी होते हैं। आनन्द से होठों पर हँसी भी आ जाती है और चोट से आँखों में आँसू भी। 'कैलेंडर का मौसम' शीर्षक निबंध में परसाई जी ने जनवरी महीने में कैलेंडर बटोरने की प्रवृत्ति पर तीखा व्यंग्य किया है पर हास्य के माध्यम से। उनका कहना है कि कृष्ण दुर्योधन के पास संधि प्रस्ताव लेकर नहीं, बल्कि उससे जनवरी महीने में नये साल का कैलेंडर माँगने गये होंगे। दोनों की बातचीत का यह हास्योत्पादक नमूना द्रष्टव्य है 'कृष्ण ने ललककर कहा होगा, 'राजन, नये साल का कैलेंडर दीजिए न! सुना है, बहुत अच्छा निकला है।" दुर्योधन ने जवाब दिया होगा, 'आप देर से आये। सब बँट गये। इस साल कम छपाये थे।" जैसे परसाईजी हास्य में व्यंग्य

और व्यग्य मे हास्य मिला देते हैं, वैसे ही कभी-कभी वह हास्य-व्यग्य मे करुणा का भी मेल करा देते हैं। 'राम का दुख और मेरा' शीर्षक निबंध में उन्होंने टपकने वाले मकान की पीडा को इस तरह व्यक्त किया है "घर मे इतना पानी भर जाता है कि कभी सोचता हूँ कि अगर फर्श पत्थर का न होता, तो इन कमरो मे धान बो देता।" मीठी चुटकी तो परसाईजी बराबर लेते रहते है। व हमे चोरी के क्षणों मे पकडते हैं और क्षण-भर के लिए विचित्र स्थिति मे डाल देते हैं। 'कबिरा आप ठगाइए' शीर्षक निबंध मे वे कहते हैं 'मनुष्य का जीवन यों बहुत दुखमय है, पर इसमे कभी-कभी सुख के क्षण आते रहते हैं। एक क्षण सुख का वह होता है जब हमारी खोटी चवन्नी चल जाती है या हम बगैर टिकिट टिकिट बाबू से बचकर निकल जाते हैं।" वे अपने पर व्यग्य करते हैं तब भी वह व्यग्य हमारे ऊपर ही होता है। उदाहरण के लिए, जब वे कहते हैं कि "मेरे पापी मन में शका उपजी" तो व्यग्य अपने पर नही, बल्कि उन धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों पर होता है, जिन्होंने मान रखा है कि मन हमेशा पाप-मार्ग पर ही दौडता है और उसमे कभी 'शका' नही उत्पन्न होनी चाहिए, उसे सभी 'अच्छी' बातों को स्वीकार ही करना चाहिए।

परसाईजी के व्यग्यात्मक निबधो की असाधारण सफलता का एक कारण उनकी भाषा भी है। वह न केवल सरल और धारदार है, बल्कि उसम विभिन्न प्रकार की वस्तुओ और स्थितियो के वर्णन की अद्भुत क्षमता है। बिना इस क्षमता के कोई लेखक अच्छा व्यग्यकार नही हो सकता, कारण यह है कि व्यग्य-लेखन मे भी भाषा के कई रूपों के प्रयोग की आवश्यकता पडती है। 'आयी बरखा बहार' शीर्षक निबंध का आरम्भ इन पक्तियो मे होता है "शहर की राधा सहेली से कहती है—हे सखि, नल के मैले पानी मे केंचुए और मेढक आने लगे। मालूम होता है, सुहावनी मनभावनी वर्षा ऋतु आ गयी।" इस उद्धरण मे अन्तिम वाक्य की भाषा ध्यातव्य है। इसमें जो पुरानापन है, उसके बिना उस व्यग्य की सृष्टि असभव थी, जो परसाईजी का लक्ष्य था। इसी निबंध के अत मे उन्होंने कहा है "हे बन्धु, इस कटे पेड के ठूँठ पर फिर एक हरी फुनगी फूट आयी है, जैसे ससद के चुनाव का हारा म्युनिसिपल चुनाव मे खडा हो गया हो।' इस कथन के उपमेय वाक्य मे जो काव्योपम चित्रात्मक भाषा प्रयुक्त हुई है, उसके बिना उपमान-वाक्य का व्यग्य कभी पूरी तरह प्रकट नही हो सकता था। 'राम का दुख और मेरा' शीर्षक निबंध में लेखक का कहना है "पर्वत चाहे बूँदों का आघात कितना ही सहे, लक्ष्मण बर्दाश्त नही करते। वे बाण मारकर बादलो को भगा देते या मकान मालिक का ही शिरच्छेद कर देते।" इसमे ऐसा लगता है कि 'शिरच्छेद' शब्द के बिना अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न नही किया जा सकता था। परसाईजी की विशेषता इस बात मे है कि पौराणिक प्रसगो के वर्णन मे भी उन्होंने सस्कृत शब्दो का बहुत आवश्यक होने पर ही प्रयोग किया है, पर जब किया है तो उनसे पूरा काम लिया है। कचहरी मे पैसे से वकीलो का रुद्र बनना

और बिगड़ता है। 'कचहरी जानेवाला जानवर' शीर्षक निबंध में परसाई जी ने वकीलों की इस विशेषता का उल्लेख करने के बाद कहा है "पैसे में बड़ा विटामिन होता है।" यह एक सीधा सादा वाक्य केवल 'ताकत' की जगह अंग्रेजी के 'विटामिन' शब्द के प्रयोग से या 'पैसा' के साथ 'विटामिन' शब्द को रख देने से लेखक के व्यंग्यात्मक आशय को अपूर्व स्पष्टता और शक्ति के साथ संप्रेषित करता है। इस तरह परसाईजी के व्यंग्य-लेखन की सफलता में उनकी भाषा का योगदान असंदिग्ध है, बल्कि सच्चाई तो यह है कि ये दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं और एक-दूसरे को विकसित करते रहे हैं, एक-दूसरे की धार पर पानी चढ़ाते रहे हैं। जैसे परसाईजी का व्यंग्य-लेखन स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की एक उपलब्धि है, वैसे ही उनके व्यंग्य-लेखन की भाषा भी, जिसमें नया तेवर है, नयी भंगिमाएँ हैं, और आक्रमण करने का नया कौशल है।

—नन्दकिशोर नवल

कितनी जहरीली नागफनी

'रानी नागफनी की कहानी' इंशाअल्ला खाँ की कथा 'रानी केतकी की कहानी' के कथा-सूत्र के आधार पर लिखी गयी एक कल्पित कथा है, जिसमें पात्र और घटनाओं के कल्पित होने के बावजूद सब कुछ ताजा और समकालीन है। इस देश में पूँजीवादी-सामन्तवादी व्यवस्था की खिचड़ी जिस तरह सक्रिय रूप में पकायी जा रही है और जिसके कारण प्राथमिक की भूमिका रखने वाला आम आदमी द्वितीयक की जिन्दगी जीने के लिए मजबूर हो जाता है, परसाई जी ने उसी मिश्रित व्यवस्था को इस कल्पित कथा में इस प्रकार रूपायित किया है जिससे अधिक-से-अधिक इसकी सारवस्तु—इसमें समटी जा सके। कल्पित कथा होने के कारण ही इसमें सारवस्तु को व्यापक रूप में आच्छादित करने की क्षमता पैदा हो सकी है। परसाई ने लिखा है, "यह एक व्यंग्य-कथा है फेंटेंजी के माध्यम से मैंने आज की वास्तविकता के कुछ पहलुओं की आलोचना की है। फेंटेसी (फैंटेंजी) का माध्यम कुछ सुविधाओं के कारण चुना है।"(भूमिका) वस्तुत परसाई जी ने फैंटेसी का माध्यम चुनते समय उसकी क्षमता-शक्ति को ध्यान में रखा है। उसके जरिये (1) आज की वास्तविकता के पहलू (2) लोक-कल्पना और लोक-मानस की संगति (3) लेखकीय स्वतंत्रता का दायरा आदि को मद्देनजर रखकर ही उन्होंने इसको अपनाया है और व्यंजनात्मक रूप से असलियत को उजागर किया है।

पहले संक्षेप में इसकी 'कहानी' और 'पात्रों' का प्रतीकत्व—प्रमुख पात्र हैं—अस्तभान—पिता का नाम भयभीत सिंह, नागफनी—कन्या राखडसिंह, अस्तभान का मित्र मुफतलाल, नागफनी की सहेली करेलामुखी, और पडोसी राजा निर्वलसिंह, जोगी प्रपचगिरि, मुख्य आमात्य—गोवरधनदास, उनके विरोधी भैयासाब इत्यादि। पात्र प्राय दो वर्ग के है—पहले वर्ग के पात्र वे है जो राज-सत्ता से सम्बद्ध हैं, उनमें सामन्तवादी-पूँजीवादी दोनों व्यवस्थाओं के चिह्न है यद्यपि उनके नाम ही इस बात के व्यंजक है कि यह व्यवस्था ह्रास-शील है। जैसे अस्तभान, नागफनी, भयभीतसिंह, राखडसिंह, निर्वलसिंह आदि। इसी प्रकार एक नगर-सेठ का पुत्र है जिसका नाम उडाऊमल है। उसे भी उसी वर्ग में शामिल किया जा सकता है। ये पात्र प्रतीक रूप है। लेखक ने यहीं पर फैंटेसी की स्वतंत्रता का उपयोग किया है, ऐसा उपयोग जिसमें कारण-कार्य की चिन्ता नहीं है। इन पात्रों के साथ जो गतिविधियाँ जुड़ी है उनमें सामन्ती और

पूँजीवादी अवशेष एक साथ शामिल है।

अस्तभान राजकुँवर है। वह परीक्षा में लगातार फेल होता है, इसका अर्थ है कि वह मन्द बुद्धि का व्यक्ति है लेकिन उसे गर्व है कि वह अपनी गौरवशाली परम्परा का निर्वाह कर रहा है। लेखक सामन्ती व्यवस्था के उन इतिहासों पर चोट करता है जो तमाम राजाओं की तथाकथित गौरवशाली परम्पराओं के गीत गाते हैं। पहचान यह है कि उस व्यवस्था में सामन्त अपनी जिन्दगी में इसी तरह मूर्ख थे। वे बहुत ही सामान्य किस्म के स्वार्थों के आधार पर युद्ध करते थे। हजारों की सख्या में जनता को मौत के घाट उतारते थे और इससे उनका अह तुष्ट होता था। सामन्ती व्यवस्था के तथाकथित गौरव के लेखक ने कई जगह खोला है—जैसे अस्तभान और नागफनी के पत्रों में अथवा अस्तभान और मुफ्तलाल के बीच राज्य के रहस्यों पर बातचीत के दौरान द्रष्टव्य है—

'पिताजी, अपने कुल में विद्या की परम्परा नहीं है। आप बारह खडी से आगे नहीं बढ़े और पितामह भी स्याही का उपयोग केवल अँगूठा लगाने के लिए करते थे। मैंने विद्या की परम्परा डालने की कोशिश की, पर मैं असफल हुआ।'[1] इसी प्रसग में अस्तभान, कुजियों के उपयोग, परीक्षा में सवालों के गलत उत्तर, नकल करने की कोशिश, पास होने के लिए काफी धन खर्च करने आदि की सूचनाएँ देता है। इसे वह अपने परिवार का गौरव मानता है। दूसरे स्थान पर जब मुफ्तलाल और अस्तभान के बीच 'नागफनी' से विवाह की उलझी समस्या पर बातचीत होती है तो अस्तभान अपने कुल की परम्पराएँ बताता है, 'हमारे कुल में कभी भी किसी भी बात पर युद्ध छेड़ देने की परम्परा है'[2] एक बार पडोसी राज्य से युद्ध इसलिए हुआ कि हमारे राज्य के जूता व्यापारियों ने बहुत जूते बना लिए थे और दूसरे राज्य ने उन्हें खरीदने से इन्कार कर दिया था। युद्ध में अन्तत विरोधी राज्य को जूता खरीदने की सन्धि करनी पडी। अस्तभान ने मानव अधिकारों की रक्षा', 'मनुष्य की स्वतत्रता और गरिमा' के नाम पर लडे जाने वाले युद्धों को राजकार्य के हथकण्डे और सामान्य नीति निरूपित करते हुए यह बताया है कि, 'युद्ध तभी लडा जा सकता है जब उसका सही कारण जनता को मालूम न हो[3] (पृष्ठ 76) 'युद्ध कभी-कभी आवश्यक होता है, इससे बडी-बडी समस्याएँ हल हो जाती है।' राज्य में अकाल हो, जनता रोटी-कपडे की माँग करती हो, हजारों नवयुवक बेरोजगार हो किसी राजा का जी किसी लडकी पर आ गया हो' आदि इन समस्याओं का हल है युद्ध। युद्ध करके राजा प्रजा की ओर से निश्चिन्त हो जाता है।

सामन्ती परम्परा की ही एक मिसाल राजा निर्बलसिंह भी है, जिन्होंने अपने

1 रानी नागफनी की कहानी, पृ० 15
2 वही पृ० 75
3 वही, पृ० 76

राज्य में एक 'विलास मद्यालय' तक खोल रखा है। वे वर्षो से मृत्यु शय्या पर पडे हैं तथापि युवा राजकुमारियो से निरन्तर विवाह करना उनका शौक है। अन्तिम इच्छा है कि देहत्याग करने से पहले नागफनी से विवाह कर लें। सामन्ती युग का इतिहास ऐसे राजाओ से भरा हुआ है जो विलास को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानते थे। 'नागफनी' इस श्रृंखला की अगली कडी है। पाँच प्रेमियो द्वारा विवाह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए जाने के बाद जब वह आत्म-हत्या के लिए तैयार होती है तो सोचती है कि वह अपने कुल की परम्परा को गौरवान्वित कर रही है।

इस तरह इस व्यवस्था के साथ कल्पित कथा मे परसाईजी एक साथ कई मोडो पर टकराते हैं। वे इतिहासकारो मत्रियो, परामर्श दाताओ, लेखको पुरोहितो, समाचारपत्रो, लोक सेवा आयोग, को भी नही छोडते क्योकि ये सब कही न कही इस व्यवस्था का पोषण करते हैं। अखबार क्या है—वे राज सत्ता और झूठे इतिहास की प्रशसा करने वाले है, क्योकि वे उसी की कृपा पर कही-कही उन्ही के द्वारा चलाए जाते हैं। इसलिए अस्तभान भी अपना अखबार निकालने का फैसला करता है। ये अखबार जनता के साथ सहानुभूति नही रखते। ये चमत्कार और सनसनीखेज घटनाएँ उछालते हैं और तो और परसाई जी के शब्दो मे "पत्रकार के लिए मौत केवल समाचार होती है। यदि हम हर मौत पर रोने लगे तो सारी जिन्दगी रोते ही कट जाए। महत्त्वपूर्ण मौत का हमारे लिए बडा उपयोग है, उसमे रोचक समाचार बनता है।"[1] अखबारो मे कभी ईश्वर के कमल के फूल से जन्म लेने, कभी एक बच्चे के पाँच सिर होने, आसमान से खून की वर्षा होने, आदि के समाचार छपते हैं।

लोक सेवा आयोग, जिसका विशेषण लोक की सेवा है, किसी महत्त्वपूर्ण पद पर चुनाव के लिए क्या योग्यता चाहता है? परसाई जी ने तो शासकीय सेवा विभाग फार्म 'ख' की रूपरेखा ही बना दी है जिसमे महत्त्वपूर्ण योग्यता यह है कि 'आप किसके आदमी' हैं तथा वे किस श्रेणी मे है। मुफ्तलाल अपने चुन जाने की योग्यता मे लिखता है, "मैं कुँवर अस्तभान का आदमी हूँ। मैं उनके परिवार के सदस्य जैसा हूँ। अपने सम्बन्ध के प्रमाण हेतु मैं एक फोटोग्रुप की नकल भेज रहा हूँ जिसमे मैं उनके साथ खडा हूँ।"[2] और इस आधार पर चुने गये जन-सेवक की जनसेवा क्या होनी है—कि "कई बार वह घूस लेने के मामले मे फँस गया पर इस कारण छोड दिया गया कि रानी साहिबा की सखी का पति है।"[3]

परसाई जी आज के प्रजातान्त्रिक ढाँचे मे स्मारको की योजना, शोक-सभायें,

1 रानी नागफनी की कहानी, पृ० 36
2 वही, पृ० 63
3 वही, पृ० 125

चन्दे की वसूली, इन सबका कच्चा चिट्ठा खोलते हैं। हकीकत यह है कि लोग इतिहास मे अमर होने के लिए मृत्यु के पूर्व सारी योजना बनाकर जाते है। अपने उत्तराधिकारी तय कर जाते है, क्योकि उन्हे मालूम है कि यदि जनता ने उत्तराधिकारी का चयन किया तो उनकी विरासत ध्वस्त कर दी जाएगी और उनके ऐतिहासिक अवशेष जमीन मे सैकडो फीट नीचे गडा दिये जायेंगे।

लेखक ने प्रेम और सौंदर्य के स्वाभाविक रस को विकृत कर देने वाली व्यवस्था को नगा कर दिया है। कितना तीखा और नुकीला व्यग्य है "राजकुमारी की आंखो से आंसू निकल रहे है। दायें-बायें दो दासियां पाउडर का डिब्बा लिये खडी हैं, ज्योही आंसू निकलता है, दासी उस पोछकर पाउडर छिडक देती है।"[1] नागफनी के हृदय मे प्रेम की कितनी गहरी नीव है, इस पर परसाई जी का तेवर है "और आप भी पांचवें प्रेम मे विफल होने से प्राण त्यागने लगी आप जैसी महान नारी को तो हजार प्रेम टूटने पर भी ग्लानि की अनुभूति नही होनी चाहिए।"[2] यह कैसा प्रेम है? सखि के समझाने पर नागफनी नगर सेठ के लडके उटाऊमल से मन बहलाने का धधा करती रही और अस्तभान के लिए विरह की लीला भी। रीतिकाल मे बिहारी जैसे कवियो ने विरह की जो बानगी दी है, वह प्रेम का मजाक उडाने के लिए काफी है। परसाई जी ने उसी शैली मे नागफनी और अस्तभान के तथाकथित प्रेम की खिल्ली उडाई है। यह ऐसी खिल्ली है कि इसे पढते-पढते व्यवस्था के प्रति बेचैनी, तडफडाहट, और क्रोध की चिनगारियाँ फूटने लगती है। करेलामुखी नागफनी से कहती है,' जिस मुहल्ले मे एक विरहिणी होती, उसमे ईंधन के बिना भी रोटी सिक जाती। स्त्रियां रोटी बेलकर विरहिणी के हाथ पर रखती जाती और वह सिकती जाती।"[3] कैसी परम्परा है, कैसी हार्दिकता है कि एक ओर करेलामुखी नागफनी के विरहताप को कूलर से ठीक करती है दूसरी ओर अस्तभान को पेनिसिलीन का इजेक्शन लगाया जाता है। प्रेम विशेषज्ञ कहता है कि वह अपनी पुरानी प्रेमिकाओ का नाम ले तो शान्ति मिलेगी। कवि भी उसके लिए नियुक्त होता है कि उसका मन बहलाए।

इस फैंटेसी मे पूंजीवादी व्यवस्था के उस रहस्य पर व्यग्य है जिसमे मनुष्य बाजार मे बिक्री की वस्तु बन गया है। इसका खुलासा उस समय होता है, जब रायदसिंह, अस्तभान के विवाह के लिए टेण्डर आमन्त्रित करते हैं। उसमे लडके के प्रसग मे पूरे खर्च का लेखा-जोखा शामिल करते हैं। उन्हे इस बात से रुचि नही है कि अस्तभान और नागफनी एक-दूसरे से स्वेच्छा से विवाह कर लें। उनके लिए तो अस्तभान बिक्री की ऐसी खूबसूरत वस्तु है जो अधिक-से-अधिक पैसे मे बेची जा सके। मानवीय व्यवहार उनके लिए बेमानी है। जोगी प्रपचगिरि के

1 रानी नागफनी की कहानी, पृ० 19
2 वही, पृ० 34
3 वही, पृ० 38 39

रूप में आज वे महेश योगी, जय गुरुदेव, धीरेन्द्र ब्रह्मचारी जैसे लोग है जो साधु के वेश मे इसलिए रहते है ताकि अपने कपटाचरण को छिपाकर धर्मभीरु, भोले भारतीय मानस को ठग सकें। तस्करी के धन्धों को सुरक्षित रखने, काले बाजार को छिपाने, और अपराधों को नैतिक रग देने के लिए राजनेताओं के लिए ये अनिवार्य हो गये है। इस कहानी मे प्रपचगिरि, अस्तभान की मशा को पूरा करने मे अनिवार्य सिद्ध होते हैं। प्रपचगिरि परमहस और पहुँचे हुए महात्मा कहलाते थे। सामन्त और अधिकारी उनके मित्र थे, वे हृदय-परिवर्तन का काम करते थे। हृदय-परिवर्तन कैसा। जैसे उनके कान म लगकर यह कह देते हो कि उनका तरीका पुराना है। नये तरीके से डाका डालने मे सुरक्षा का कोई खतरा नही। इस धधे मे लड़कियो का व्यापार करना भी परोपकार है।

परसाई जी न इस कहानी मे लेखक और डाक्टर के माध्यम से मध्यवर्गीय तथाकथित आजादी और जनसेवा के ढोग को भी उजागर किया है। लेखक या तो वे हैं जो प्रेम के व्यापार की खोज में होते हैं—निराश प्रेमिकाओं की सामग्री तलाशते हैं या रामसत्ता के आदेशानुसार साहित्य रचते हैं। वे प्रेमिकायें जो आत्म-हत्या करती हैं और साहित्य म अमर होने के लिए पत्र और डायरी लेखकों को भेजती हैं, ऐसे साहित्य से अपने देश की पुस्तकों की दुकानें भरी हुई हैं। कौन नही जानता कि गुलशन नन्दा, ओमप्रकाश, कर्नल रजीत आदि ऐसे लेखक हैं जिन्हे यह व्यवस्था प्रचारित करती है।

इस रचना मे एक चित्रकार है जो एब्स्ट्रैक्ट पेंटिंग के नाम पर आडी-तिरछी रेखायें खीचता है। कहता है कि उसने चित्र नही 'आइडिया' से पेंटिंग की है। "राजकुमारी क्या है? एक आइडिया। उसी आइडिया को मैंने आकार दिया है।"[1] एक कवि है जो तथाकथित इतिहासहन्ता जगदीश चतुर्वेदियों का प्रतीक है जिनकी क्रान्ति न नहाने और न दाढी बनवाने मे है जो सब पर नाराज है इस-लिए क्रोधित पीढी के कहलाते है। अपने को क्षणवादी कहते है और व्यतिक्रमित कविता लिखते हैं। ये कवि और चित्रकार ऊपर से देखने पर व्यवस्था को किसी प्रकार से प्रभावित करते नजर नही आते, पर हकीकत यह है कि सामन्त-युगीन पद्धति अब फीकी पड गयी है इसलिए ये पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा उच्छिन्न (एली-येनटड) लोग है। इसी वर्ग का एक पात्र इसमे एक इजीनियरिंग कालेज का प्राध्यापक है, जो अपने अध्यापन या शोध के कारण नही, अस्तभान और नाग-फनी के प्रेम पत्रों को यथास्थान पहुँचाने मे मदद करने के कारण राजकीय कृपा का पात्र है और इसी कारण उसकी पदोन्नति होती है।

इस कल्पित कथा मे एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है पूँजीवादी जनतत्र की असलियत का पर्दाफाश। मुख्य आमात्य गोवरधनदास, जिन्हें सीधी भाषा मे मुख्यमंत्री कहा जा सकता है, के प्रमुख विरोधी हैं भैया साब। मुख्य आमात्य की मूल चिन्ता

1 रानी नागफनी की कहानी, पृ० 48

जनहित की नही, वे रात दिन बेचैन है आजीवन पद मे बने रहने के लिए तथा राजसत्ता का अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत हित मे उपयोग करने के लिए। वे सारे तत्र का उपयोग अपने हित-साधन मे करते हैं। वे विरोधियो या प्रतिद्वन्द्वियो को किसी भी प्रकार नष्ट कर देना चाहते हैं ताकि उनकी कुर्सी उनके लिए शाश्वत हो जाय। विरोधी भैया साब उनसे कुछ भिन्न नही है, व सरकार की आलोचना इसलिए नही करते कि वह 'खराब' है वल्कि इसलिए कि वे वहाँ क्यो नही। उनका जीव निरन्तर कुर्सी मे लगा रहता है। परसाई जी न इस वस्तु को प्रभावशील तथा कल्पित कथा के अनुकूल वनाने के लिए भैया साब के जीव को कुर्सी का दीमक कहा है और इस रहस्य की जानकारी के लिए लोकशैली मे पेड के पक्षियो की वातचीत का सहारा लिया है। इस तरह सत्तापक्ष और विरोधपक्ष दोनो का वर्ग-चरित्र जनता के खिलाफ है। परसाई जी इसको 'एक्सपोज' करते हैं।

यह रचना एक व्यवस्था की प्रतीक है, जिसमे कोई एक राजा और उनकी प्रजा नही। इसके वदले राज-परिवार के नाम से सारे पात्र व्यवस्था के अलग अलग चेहरे है। आज की स्थिति मे यह व्यवस्था कितनी अक्षम, स्वार्थपूर्ण और वेहूदा है, इसकी मिसाल अस्तभान, नागफनी, भयभीत सिंह, राखडसिंह और निर्वलसिंह हैं। इनके पास एक ही चीज है, वह है, सत्ता की शक्ति, जिससे उन्हान लेखक, कवि, चित्रकार, योगी, सैनिक, डॉक्टर, मत्री, विरोधी-दल आदि सबको जोड रखा है। ये सब या तो महाजनी सभ्यता को सम्यक् बनाते है या राजसत्ता के चाकर है, दूसरे शब्दो मे यह कहे कि जनता और राजसत्ता के बीच ये दलाल है। इनके नाम लोक-सेवा के लिए हैं पर इनके काम भीतरी तौर पर राजसेवा और निजसेवा है। पात्रों का दूसरा वर्ग यही है। मध्यवर्ग के लोग इस रहस्य को जानते है लेकिन इसके वावजूद वे व्यवस्था का विरोध नही कर सकते, क्योकि मुफतलाल जैसे लोगो को डिप्टी कलेक्टरी की चिन्ता है और करेलामुखी की नागफनी के साथ दहेज मे जाकर राज-सुख लूटने की। यही कारण है कि इन्हे अपनी सफलता को भी सत्ता की सफलता के लिए समर्पित कर देना पडता है। व्यवस्था के इस वडे व्यापक दायरे को, रचना के इस छोटे आकार मे नही बाँधा जा सकता था, यदि इसे फँटेसी का रूप न दिया जाता। पुरानी पीढी से लेकर नयी पीढी तक का वदनीयत रहस्य दूसरे तरीके से एक साथ नही खुल सकता था। वेरोजगारी, प्रेम की असफलता, तथा अन्य महत्त्वपूर्ण समस्याओ के समाधान के लिए आत्महत्या विभाग तथा लोक सेवा आयोग के लिए प्रार्थना पत्र का प्रारूप बनाकर परसाई जी ने 'व्यवस्था' के लुके-छिपे षड्यन्त्रो की कलई खोल दी है। यह कलई बहुत ही वेरहमी से खोली गयी है। सांकेतिक ढग से व्यवस्था का कोई पुरजा नही बचा जिसे उन्होंने स्पर्श न किया हो। जनता जिसका हश्र सिर्फ व्यवस्था के तहत कीडा और नाचीज बनकर रह गया जब तक नही चेतती तब तक उसके मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी भी उसके विनाश के औजार बने रहेंगे, की ओर भी परसाई

जी ने भरपूर संकेत किया है, 'मानव-अधिकारों' और 'आदमी की स्वतंत्रता' के नाम पर इसके अधिकार और स्वतंत्रता का अपहरण होता रहेगा।

परसाई जी ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज की बॉयलाजी की विवेचना की है। उसके भीतर के बीमार दिमाग, भ्रष्ट आचरण की समूची गन्दगी को एक डॉक्टर की तरह बड़े प्यार से, दुलार से, पुचकारते हुए, प्रत्येक घाव को सावधानी से परखते हुए, तेज नश्तर चला देते है। सारी गन्दगी और सड़ांध निकालकर रख देते है और लेखक एक डॉक्टर की तरह बड़ी सफाई और भीतरी सन्तोष के साथ, हाथ धोकर एकदम अलग हो जाता है। यहीं यह स्पष्ट हो जाता है कि परसाई अस्मिता और नियति के लेखक नहीं है, वे जीवन की विडम्बनाओं के विश्लेषक हैं। वे शोषण और विसंगति की ताकतों का पर्दाफाश करने वाले है। ताकत के मंसूबों को उजागर करते हैं। इतिहास और समाज की बाह्य वास्तविकताओं की चित्रात्मक प्रस्तुति लेखक के जनवादी चरित्र को सफल बनाती है। जीवन की जड़ मान्यताओं और विश्वासों को झकझोरती हुई उनकी लेखनी सामाजिक जीवन का सर्वेक्षण प्रस्तुत करती हुई हमारी विसंगतियों को कुछ उस तरह से उजागर करती है जैसे लेखक ने 'क्लर्क की मौत' मे किया है। यहां हम हँसने के बजाय सोचने के लिए मजबूर हो उठते हैं।

परसाई जी की यह रचना एक 'थियेटर' है, यही कारण है, कि देश के विभिन्न हिस्सो मे इसका अलग-अलग नाट्य-रूपान्तरण और मंचन हुआ है। इतने लघु-आकार मे व्यवस्था का प्रतिबिम्ब या तो मुक्तिबोध की कविताओं म मिलता है या परसाई की व्यंग्य-रचनाओं मे। यह युग केतकी का ही नहीं नागफनी का है। इसलिए इस फैंटेसी मे समकालीन भारतीय यथार्थ और कलारूप की परम्परा का विकास मिलता है। समकालीन जीवन के विश्लेषण एवं विवेचन के लिए ऐसी रचनाओं की अहं भूमिका की आज भी प्रासंगिकता और अहमियत है।

—गुलाब सिंह

सहज, बेलाग और प्रसन्न गद्य

व्यग्य को हमारे यहाँ हाशिए का लेखन ही माना गया है और व्यग्य-लेखक की प्रतिष्ठा या लोकप्रियता का आधार वे ही रचनायें बन सकी है जो सरल, हल्के-फुल्के रजनात्मक व्यवहार तक सीमित है। विडम्बना यह है कि जहाँ रजनात्मकता व्यग्य-लेखन की पहली यानी जरूरी शर्त है वहाँ निरी रजनात्मकता ही उसे सार्थक लेखन होने नही देती और उसे उत्तरोत्तर सरलीकरण की ओर प्रेरित करती है। निजी प्रेरणा से सामाजिक प्रयोजन तक कितनी ही स्थितियाँ व्यग्य-लेखक का सरोकार हो सकती है पर आलोचनात्मक दृष्टि ही वह विशिष्टता है जो व्यग्य-लेखन को परिपेक्ष्य देती है। हरिशकर परसाई उन व्यग्य-लेखको म है जिनके पास एक सार्थक आलोचनात्मक दृष्टि है। इसी दृष्टि के पक्ष मे उनकी मान्यता है 'व्यग्य जीवन से साक्षात्कार करता है, जीवन की आलोचना करता है, विसगतियो, मिथ्याचारो और पाखडो का पर्दाफाश करता है।" (सदाचार का तावीज, पृष्ठ 90) परसाई निरी रजनात्मकता के लिए नही, सुधार के लिए भी नही, बदलने के लिए लिखना चाहते हैं। बदलने की इस इच्छा मे गहरी सामाजिक सलग्नता है और आज के यथार्थ के अन्तर्विरोधो, जटिल सक्रमणो की अन्तर्भेदी पहचान है। परसाई का लेखन पाठक को विचलित करता है और उसे तटस्थ आनन्द की अवस्था म छोडकर उन दायित्वो से मुक्त नही होता जो किसी भी विधा के महत्त्वपूर्ण लेखन को प्रयोजनीय और प्रासगिक बनाते है। परसाई के व्यग्य के पीछे एक राजनीतिक दृष्टि भी है। राजनीति और साहित्य के बीच जो सवाद सम्बन्ध पिछले दो दशको मे बना है या सीधी घनिष्ठता कायम हुई है उसकी स्पष्ट छाया परसाई के व्यग्य-लेखन पर है। परसाई अपना पक्ष चुनते है, अपनी प्रतिबद्धता का भावुक प्रतिक्रिया या रोमाटिक मोह से मुक्त होकर प्रमाण देते हैं। व्यग्य मे आत्मालोचन की प्रक्रिया भी चलती रहती है और दूसरो से वह सवाद भी सभव हो पाता है जो जिन्दगी की समझ मे सहभागी बनता है। इस तर्क से देखें तो परसाई का व्यग्य-लेखन हाशिए का लेखन नही है, वह समकालीन लेखन की मुख्य धारा से सीधे जुडा हुआ है।

परसाई का व्यग्य समय के तीखे अनुभव से पैदा हुआ है। वह धोखे की लम्बी परम्परा को सामने लाता है जिसमे साल दर-साल एव पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को झूठे आश्वासन और नकली मुद्रायें देती चली जाती है। "साल-दर-साल हम उनसे कहते हैं, सो बेटो, जो साल हमने बिगाड दिया, उसे भी, उसकी तसवीर

से मन बहलाओ। बीते हुए की बदरग मुरझाई तसवीरें है ये। आगत की कोई चमकीली तसवीर हम तुम्हे नही दे सकते। हम उसमें खुद धोखा खा चुके हैं और खाते रहे हैं। देने वाले हमें भी तो हर साल के शुरू में रगीन तसवीर देते हैं कि लो अभागो, रोओ मत। आगामी साल की यह रगीन तसवीर है। मगर वह कच्चे रग की होती है। साल बीतते वह भद्दी हो जाती है। धोखे की लम्बी परम्परा है। धोखा, जो हमे विरासत मे मिला, हम तुम्हे देते हैं।" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 7)

सस्कृति के नाम पर स्थापित सस्थाओ के दुरुपयोग को प्राय व्यग्य का विषय बनाया गया है। भारतेन्दु से परसाई तक कितने ही लेखको ने शिक्षा-सस्कृति के अन्यथाकरण को व्यग्य के आलोक मे प्रत्यक्ष किया है। 'प्राइवेट कॉलेज का घोषणापत्र' व्यग्य मे परसाई का सकेत पैना है और दूर तक जाता है—"हम जानते हैं कि शिक्षा के धन्धे मे उतना फायदा नही है, जितना सीमेंट या चीनी के धन्धे मे। इसलिए शिक्षा की एक दूकान खोलना व्यापारी भाई हमारी बेवकूफी ही समझेंगे। वे कहेंगे कि कॉलेज क्यो खोलते हो? उसी पैसे से चीनी का स्टॉक क्यो नही भर लेते?" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 14) सस्था के अन्दरूनी नियमो के बहाने व्यवस्था के सारे दूषित पहलुओ को व्यग्य की लपेट मे ले लिया गया है। कुछ नियमो का स्वरूप यह है—"कॉलेज की इमारत बनवाने का ठेका हमारे फूफाजी को दिया जायेगा। पिताजी की स्मृति के प्रति ईमानदार होने के लिए यह जरूरी है। उन्होंने शिव-मन्दिर चन्दे से बनवाया था, जिसका ठेका फूफाजी को ही दिया गया था।" ×× "कॉलेज की व्यवस्था-समिति के अध्यक्ष हम होगे। हमारे बाद हमारा लडका होगा। × हमारे पिता और माता के पक्ष के रिश्तेदार सदस्य होंगे।" ×× "अन्य सदस्य ऐसे होगे जिनका विद्या से बहुत दूर का रिश्ता हो। विद्वान लोग बाल की खाल निकालकर गडबड पैदा करते हैं क्योकि यह एक व्यापारिक प्रतिष्ठान है इसलिए इसे चलाने मे व्यापारी वर्ग का अधिक हाथ रहेगा।" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 14-18)

लोकतत्रीय ढांचे मे समाजवाद की कल्पना को जातिवाद का जहर धीरे-धीरे क्षति पहुँचाता है। इस समय यह विकृति पराकाष्ठा पर है। सिद्धान्त के स्तर पर दावे जितने ही पवित्र हैं, व्यहार मे उतने ही लिजलिजे, रुग्ण, आत्मघाती और अपवित्र हैं। परसाई के सामने वह समाज है जो सम्प्रदायवाद को जातिवाद से काटना चाहता है और नतीजा यह है कि कुल समाज पतनोन्मुख सकीर्णता के घेरे मे है—विभाजित, टूटा हुआ और सास्कृतिक दृष्टि से विपन्न। "इस प्रश्न से वे खिल उठे। बडे आत्मविश्वास से बोले, 'इस समस्या की पकड जितनी ठीक मुझे है, उतनी पण्डितजी को भी नहीं है। सम्प्रदायवाद का उतार है, जातिवाद। अपने परगने मे मैंने इस नीति से जनसघ का पानी उतार दिया। तुम 'हिन्दूवाद' चलाओगे, तो मैं 'ब्राह्मणवाद' चलाऊँगा। तुम डाल-डाल तो मैं पात-

पात "×वे ठहाका मारकर खुली हँसी हँसे।" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 21)

परसाई न ससदीय राजनीति के कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण मुद्दों को व्यग्य के लिए चुना है। पूँजीवादी प्रतिष्ठानो के हिमायती समाजवादी ढाँचे की राजनीति मे जिस भाषा का व्यवहार करते ह उसकी पोल खोलने मे परसाई की सीधी दिलचस्पी है—'सोने का साँप' मे ये पक्तियाँ परसाई की व्यग्य क्षमता का उदाहरण कही जा सकती हैं -

"गडे सोने म बडी उलझन है। एक तो उसका रखवाला साँप होता है। फिर वह ट्रस्टी दयालुता, भलाई और धार्मिकता का रूपक धारण किये रहता है। वह मारा नही जाता और अगर उसे मीठे स्वरो मे फुसलाओ तो वह भाग जाता है और सोना साथ ले जाता है।" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 45) पाठक अनुभव करेंगे कि यह व्यग्य सदर्भहीन नही है।

पुलिस और मानव स्वतत्रता से एकसाथ निभाने वालो को परसाई सीधे पकडते हैं। "वैज्ञानिक अनुसधान के सबसे महान क्षण मे भी पुलिस को नही भूलता, यह मानव-स्वतत्रता के लिए शुभ लक्षण है।" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 46) 'अच्छी आत्मा' को परिभाषित करते हुए परसाई कहते है—"अच्छी आत्मा 'फोल्डिंग' कुर्सी की तरह होनी चाहिये। जरूरत पडी तब फैलाकर उस पर बैठ गये, नही तो मोडकर कोने मे टिका दिया।" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 75) नैतिक सवदना से शून्य सामाजिक ढाँचे मे स्वार्थपरक कामचलाऊपन के व्यग्य को उपर्युक्त टिप्पणी मे लक्ष्य किया जा सकता है। 'राष्ट्रीय एकता' जहाँ खोखला नारा भर है वहाँ परसाई के तीखे व्यग्य की मार अचूक है—"कैसी अद्भुत एकता है। पजाब का गेहूँ गुजरात के कालाबाजार मे बिकता है और मध्यप्रदेश का चावल कलकत्ता के मुनाफाखोर के गोदाम मे भरा है। देश एक है। कानपुर का ठग मदुराई म ठगी करता है, हिन्दी-भाषी जेबकतरा तमिलभाषी की जेब काटता है और रामेश्वरम का भक्त बद्रीनाथ का सोना चुरान चल पडा है। सब सीमायें टूट गयी।" (पगडडियो का जमाना, पृष्ठ 91) अजेय से क्षमा माँगते हुए कह सकते हैं—भ्रष्टाचार ही इस देश मे सबको माँजता है, एक करता है और हर तरह की मुक्ति देता है।

पीढ़ियो का अन्तराल आज की मुख्य समाजशास्त्रीय समस्या है। मूल्य बदल रहे हैं और सहमति-असहमति का नैतिक आधार भी बदल रहा है। असहमत वे नही हैं जो असहमति की 'मुद्रा' बनाये बैठे हैं। इसके विपरीत उनकी असहमति अधिक ठोस, प्रामाणिक है जो चुप, सुशील और विनम्र हैं। "मगर देख रहा हूँ कि श्रवणकुमार के अन्धे दुखने लगे हैं। वह काँवड हिलाने लगा है। काँवड मे अन्धे परेशान हैं। विचित्र दृश्य है यह। दो अन्धे एक आँखवाले पर लदे हैं और उसे चला रहे है। जीवन म घट जाने के कारण एक पीढ़ी दृष्टिहीन हो जाती है, तब वह आगामी पीढ़ी के ऊपर लद जाती है। अन्धी होने ही उसे लोभ सूझने लगते हैं। × × आँख वालों की जवानी अन्धों को ढोने मे गुजर जाती

शव-यात्रा मे लपेटा जाने वाला तौलिया तैयार रखते है। किसी के मरने की खबर मिली नही कि इतने प्रसन्न होते है जैसे किसी की शादी हो रही है। दफ्तर से छुट्टी ले लेंगे। घर मे और मुहल्ले म ऐलान कर देंगे, 'हम फलाँ आदमी की मिट्टी मे जा रहे हैं।' × × मुर्दे के प्रति इतना प्रेम मैंने कम देखा है। एकाध महीना कोई परिचित न मरे, तो वे किसी को मारने की कोशिश भी कर सकते हैं, जिससे खूंटी पर टँगा मौत का तौलिया सिर से लपेट सकें।" (वैष्णव की फिसलन, पृष्ठ 58,59)

सब मिलाकर परसाई का व्यग्य-लेखन स्थितियो से छेडछाड भर नही है—स्थितियों की समीक्षा भी है। परसाई के व्यग्य के आलोचनात्मक रवैये मे प्रतिबद्धता की अतिरिक्त चिन्ता नही है। सहज, बेलाग, प्रसन्न गद्य मे परसाई ने जो व्यग्य कृतियाँ दी है उनमे आयास रहित दुर्लभ पठनीयता है और उनका 'सदेश' व्यग्य के स्वभाव के बाहर नही है—आरोपित नही है। शत्रु के प्रति भी वह कटुता यहाँ नही मिलेगी जो हताशा की अभिव्यक्ति जान पडे—वह सवाद-सघर्ष यहाँ जरूर है जो एक जागरूक चेतन स्वभाव का गुण है। ससदीय लोकतन्त्र मे सघर्ष और सहभागिता का जो सम्बन्ध बनना चाहिए, उसके प्रति परसाई अत्यन्त सजग हैं। इसीलिए उनके व्यग्य-लेखन मे विचार की अवज्ञा नही है और विश्वास के नाम पर वह कबाड जमा नही है जो 'व्यग्य' जैसी विधा के अनेक लेखकों के यहाँ सस्कार के भीतर मौजूद दिखाई देता है। परसाई का गद्य हिन्दी का जातीय गद्य है—वह भारतेन्दु निराला और रामविलास शर्मा के गद्य का सहज विकास है। आलोचनात्मक दृष्टि इस व्यग्यधर्मी गद्य की खास अपनी विशेषता है और अनुभव तथा शिल्प के परजीवीपन के दौर मे उसका मूल्याकन हमारे समकालीन लेखन के मूल्याकन के हित मे अपेक्षित है।

—परमानन्द श्रीवास्तव

'आदम' की राजनीति

हरिशकर परसाई हिन्दी की 'नयी कहानी' के साथ पैदा हुए। कहना चाहिए
'नयी कहानी' के अन्तर्विरोधो की प्रतिक्रिया मे। परसाई कभी पुराणो, दन्तकथाओ
या स्वाँग की ओर से समसामयिकता पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते, कभी
सीधे राजनीतिक मुद्दो पर सवाल पूछते (जैसे कबीर लुकाठी लेकर सन्तो की
बिरादरी मे एक अपवाद से रहे है)।

परसाई हिन्दी कहानी का एक अपवाद है। मध्यवर्गीय भटकाव या
आचलिक शैली के दायरे मे वह एक सही प्रश्न पैदा करते रहे हैं। वह इस मायने
मे अकेले हैं--अपने व्यग्य और खुली बेलाग बातो के लिए। उनके व्यग्य इतने
तीखे और दिलचस्प होते रहे है कि हिन्दी की 'नयी कहानी' उनसे आँख मिलाने
का साहस नही कर सकी। ज्यादातर नये कहानीकार अपनी ही जमीन मे प्रयोग
करते हुए या तो खो गये या वे समसामयिक धारा मे भटक गये। परसाई के व्यग्य
एक ओर मुक्तिबोध की वर्ग चेतना की याद दिलाते है, दूसरी ओर भारतेन्दु-
मण्डल के व्यग्यकारो की सामयिक चेतना की।

'जनयुग' मे एक कॉलम है 'ये माजरा क्या है'। यह साप्ताहिक 'जनयुग' का
एक स्थायी स्तभ है। कभी सामयिक नेताओ मत्रियो और अधराष्ट्रवादी सस्थाओ
जैसे—राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, जनसघ, हिन्दु महासभा या कालेधन के व्या-
पारियो, भ्रष्ट नौकरशाहो यानी पूरी महाजनी सभ्यता पर 'आदम' एक सीधी-सी
बात शुरू कर देता था। और किस्सा-दर किस्सा वह बात, कहानी, डायरी, वार्ता,
दन्तकथा या समाचार पर कार्टून—किसी भी रूप मे जनयुग' के पाठको को याद
रह जाती थी।

उस समय की—27 नवम्बर 1966 से 20 अगस्त 1967 तक—फाइल
मेरे पास है, और अक्सर उस फाइल के साथ, उस दौर की महाजनी सभ्यता के
अन्तर्विरोध, जनता को धोखा देने की पूंजीवादी चालाकियाँ और नेताओ के
गोली चलाने के जनविरोधी अनुभव, मुझे (परसाई के व्यग्य की तरह) याद आ
जाते है।

किस्सा शुरू होता है, "एक थे नन्दा जी · वे सास्कृतिक आदमी थे क्योकि वे
राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ को सास्कृतिक सगठन कहते थे। वे सत्यवादी थे क्योकि
वामपथी पार्टियो के बारे म वे झूठ बोला करते थे। वे बडे बहादुर थे क्योकि
वे मूँछें रखते थे। ये बडे जादूगर थे क्योकि वे जादू के द्वारा सबको सदाचारी

बनाना चाहते थे।" नन्दा जी के साथ इस बार फदाजो, चदा जी और धधा जी इसी स्तम्भ मे आये हैं। (27 नवम्बर, 1966)

"आदम को उस दिन एक जनसघ के नेता मिल गये, जो गोरक्षा आन्दोलन मे शामिल थे। गोरक्षक वक्तव्य देते रहे। आदम सवाल पूछता रहा।···मैंने पूछा—'अगर अग्रेज कहते कि हम गोरक्षा का कानून बना देते हैं, तो क्या आप उन्हे देश पर शासन करने देते ?' वे बोले, 'जरूर करने देते। हम तो कहते ही है कि स्वराज्य से ऊपर गोरक्षा है'।" (4 दिसम्बर, 1966)

जनयुग भा० कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्य पत्र है। आदम हरिशकर परसाई का गौण व्यग्यकार है, या वाम विचारधारा का भीतरी चेहरा है 23 जुलाई 1967 के जनयुग म हरे कृष्ण कोनार के नाम खत मे परसाई का अपना सशोधन-वादी भटकाव भी नजर आ जाता है।

हरिशकर परसाई देश की बडी व्यावसायिक पत्रिकाओं मे अनेक परि-स्थितियो पर व्यग्य या पाखण्ड पर छीटाकशी करते हैं। आदम केवल जनयुग का गुप्त नाम या चेहरा है। पार्टी मे आदम अत्यन्त सरसहृदय व्यग्यकार है यानी मध्यप्रदेश की वाम-कलम। इस सहृदय वाम-व्यग्यकार का पार्टी के पत्र मे मुख्य दो काम रहा है। एक, वह पार्टी की विरोधी शक्ति-सत्ता दल या अधराष्ट्र-वादी दल की खबर लेता रहा। दूसरा, पार्टी की (एक से दो कम्युनिस्ट पार्टियो को) घटती हुई ससद या विधानसभा के चुनाव की रणनीति पर बहस आयोजित करता रहा।

आदम इन दोनो रूपो मे अपने लेखक की विदग्धता और मौलिकता की जमीन तैयार करता है। आदम पत्रकार, कहानीकार, व्यक्तिव्यजक, निबध, डायरी लेखक सभी रूपो म हिंदी भाषा की प्रकृति को पहचानते है और मुख्यत वह देशहित की चिन्ता मे व्यग्र नजर आते हैं।

'जनयुग' मे उस समय तीन स्तम्भ सामयिक दिलचस्पी पर व्यग्य के थे। एक 'शिवशम्भू का चिट्ठा', दूसरा 'अन्तरयामी'। 'शिवशम्भू का चिट्ठा' एक स्वतत्र स्तभ था, 'दृष्टिपात'। 'अन्तरयामी' कभी 'न्यू एज' के 'इन साइडर' (जो आधुनिक सभ्यता के 'आउट साइडर' का जवाब था) की खबरों को रगकर, नया राजनीतिक तेवर देता था, और विरोध पक्ष को छेडकर उत्साहित किया करता था। इस दौर मे खासतौर पर चुनाव के समय नागार्जुन एक नियमित कालम कविता का दिया करते थे। नागार्जुन की कविता के साथ कार्टून छपता था। उस समय 'सिडिकेट काग्रेस' की सत्ता मे जोड-तोड थी। 8 जनवरी, 1967 की नागार्जुन की कविता है—'रोये बडे-बडे बलिदानी'

भडक उठे थे राजा-रानी
सिडिकेट की मति बौरानी
इनको मिली न कौडी कानी
उन पर चढा अनोखा पानी।

नागार्जुन, कामराज की गति, ठेकेदारों की चालों और टिकटों की—मसदवाद के—विकट प्रजातन्त्र की कहानी सुनाया करते थे। इसी दौर में अकाल पड़ा था और नागार्जुन ने 'हलधर' के नाम से अकाल सहायता के नाम पर की जाने वाली *धाँधली का रेखाचित्र दिया था।*

आदम जो स्तंभ लिखते थे (अभी भी लिखते हैं) उसके दो पक्ष थे। एक सत्ता पक्ष के नेता, पूँजीपति की भावावेश की शैली में टीका-टिप्पणी। दूसरा पक्ष था तथ्य-निरूपण की शैली में *अन्धराष्ट्रवादी संस्था या दल जैसे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और जनसंघ की खबर लेना।* तथ्य-निरूपण का अर्थ होता है—*मंत्रियों की या अन्धराष्ट्रवादी ताकतों की अवसरवादी जिन्दगी की खोज-खबर लेना।*

उस दौर के सत्ता पक्ष के गुलजारीलाल नन्दा तथाकथित सदाचारी थे। *फदा जी जिनका एक नाम आदम ने 'कामराज' रखा था या सांस्कृतिक संचालन* करने वाले पाटिल साहब थे जिनका दल में नाम पड़ गया था, 'चंदा जी'। नामों का तुक मिलाकर व्यक्ति या स्थितियों का खाका (बेढब बनारसी, अन्नपूर्णानंद की तरह) खींचकर आदम एक जासूस की तरह कुछ असली, कुछ नकली रपट लिखा करता था।

कभी आदम को गो-रक्षा में शामिल जनसंघ के नेता मिल जाते, कभी आदम को वियतनाम में अमरीकी सिपाहियों या उनके युद्धबंदियों का मनोरंजन करने वाली विश्वसुन्दरी 'रीता फरिया' का मसला नजर आता। चुनाव आ जाने पर आदम कांग्रेस के टिकटार्थियों से घिर जाता। कभी एक भारतीय जन टकरा जाता। आदम सत्ता की होड़ में तैयारी करने वाले 'जनकांग्रेस' या 'जनसंघ' के बीच उस समय की दिलचस्प रस्साकशी के किस्से सुना देता। कभी टिप्पणी जड़ता—"जयकांग्रेस चाहे तो अपने को 'छलकांग्रेस' भी कह सकती है।"

आदम के सुझाव, टिप्पणी सब तीखे होते हैं। (इस तीखेपन को समझने के लिए आज भी दिल्ली की 'दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी' की यात्रा की जा सकती है, जहाँ कहते हैं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का अड्डा है। मुझे खोजने पर हरिशंकर परसाई की एक पुस्तक भी ऐसी नहीं मिली थी जिसके अंश के अंश फाड़े हुए न हों। वे सारे अंश राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, शिवसेना और जनसंघ की खोज-खबर *के व्यंग्य के अंश रहे हैं।)* आदम के नाम पर 'आर्गेनाइजर' या 'पंचजन्य' में कोई जवाबी-कालम लिखा जाता था, या नहीं इसकी जानकारी मुझे नहीं है, पर जनयुग के कालम में अनेक ऐसे प्रसंग हैं *जिन्हें पढ़कर व्यक्ति तिलमिला उठता* होगा।

लेनिन जिसे 'पूँजीवादी वर्ग की डिक्टेटरशिप' कहते हैं, हमारे चुनाव में उसे ही—पिछले तीस वर्षों से—'प्रजातन्त्र बचाने की राजनीति' कहा जाता है। चुनाव के समय का एक प्रसंग है—उस दिन प्रजातन्त्र बचाने वाले एक नेता *चुनाव के मौके पर एक बस्ती का मुआयना करते हैं। आते ही वह 'प्रजा' को*

चिन्ता में सवाल पूछते हैं, 'क्या यहाँ मेहतर नहीं आता ?'' लोगों ने जवाब दिया, 'साब, पाँच साल में एक बार आता है ।'' पाँच साल में एक बार जनता के बीच आने वाले प्रजातान्त्रिक नेता, अब हर दल में 'बड़े नेता' कहे जाते हैं ।

इस तरह छल या दिमागी खोखलेपन की कहानी के साथ, 'नयी' कहानी का विशेषण, वाम विचार के साथ 'नये' वाम का विशेषण जोड़ने वालों ने, क्रान्ति के साथ भी एक 'नया' मुहावरा जोड़ दिया था । आदम 'बहन जी की नयी क्रान्ति' की चर्चा सुनकर बचाव-पक्ष के वकील की तरह एक दलील पेश करते हैं—'नयी क्रान्ति करना है, तो समाजवाद को छोड़ना होगा ।'' नयी क्रान्ति तो पूँजीवाद और साम्राज्यवाद से समझौता करके ही हो सकती है ।'' (15 जनवरी, 1967)

उस समय भी जनसंघी, कुछ राज्यों में अपनी सरकारें चलाने का जोड़-तोड़ किया करते थे, आज भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेता ऐसे ही सपने देख रहे हैं । ऐसा ही एक सपना है 'मंच-राज्यीय सपने' । सपना—बँटवारे की राजनीति पर टिका होता है । जनसंघी यह दलील दे रहा था कि भारत पाकिस्तान के बँटवारे के बाद, अब और कौन-सा बँटवारा 'अखण्ड भारत' का किया जा सकता है ? खुश होकर जनसंघी ने आस्तिक और नास्तिक भारत का नया बँटवारा किया था । और आदम से वह इतने प्रसन्न हुए थे कि उस अपने राज्यों का 'राजभाट' का पद देना चाहा था । अशुद्ध आदम को (नाम) भी शुद्ध कर दिया था—'कागभुशुण्ड' बनाकर । जनसंघी राज्य में आदम का काम होगा—उनकी प्रशंसा के गीत गाना ।'' आज भी आदम है । मुझे पता नहीं, वह विदेश मन्त्रालय या सूचना विभाग में 'राजभाट' की खोज खबर ले रहे हैं या नहीं ! (शायद मसला खुद व्यंग्यकार-व्यक्तित्व की कमी का आ गया हो !) उस समय यह सवाल आदम के सामने कुछ दूसरे ढंग का था ।

'मोरार जी भाई दल को वोट दिलाने का काम लेकर सारे देश का दौरा कर रहे हैं (29 जनवरी, 67) और हर जगह वोट के बदले पत्थर, चप्पल और ' उन्हें मिल जाते हैं । उन्होंने आदम से कहा था—''यह तो शुभ है । हमारी चिन्ता मिट गई । जवाहरलाल के जाने के बाद हम लग रहा था कि अब हमारी बात कोई नहीं सुनेगा । हमारी सभा में लोग आयेंगे ही नहीं ।'' आज भी बड़े कहे जाने वाले नेता, ऐसी ही दलीलें देकर 'अपने व्यक्तित्व की कमी' का खाका खींच रहे हैं ।

चुनाव में साथोवा हार गये हैं । आदम उन्हें खत लिखता है—''आखिर तुम खुद 'डिरेल' हो गये—पाँत से उतर गये । कहाँ गयी वह शिवसेना ? हमने सोचा था कि एक एक सैनिक एक-एक मतदाता के पीछे छुरा लेकर चलेगा और तुम्हारी 'बैल' छाप पर मोहर लगवा देगा । हाफ-पैंट पहनकर, लाठी लेकर तुम पैंसठ वर्ष की उम्र में प्रजातान्त्रिक जनसंघ के, प्रजातान्त्रिक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की, किसी शाखा में य-हैसियत 'नटव' के क्या नहीं भर्ती हो जाते ?—एक

वक्त पर शंकराचार्य ने भी तुम्हारे खिलाफ बयान दे दिया। जरा पता लगाओ कि कहीं शंकराचार्य कम्युनिस्ट तो नहीं हो गया।'' (5 मार्च, 1967)

'दूसरी आजादी' के बाद, गाय की राजनीति, प्रजातांत्रिक (?) जनसंघ के घटकवाद की राजनीति, और शंकराचार्य की दुरंगी राजनीति के अच्छे सबूत मिल चुके हैं। मुझे नहीं पता, आजकल परसाई अडवाणी या अटल बिहारी वाजपेयी को या सन्त विनोबा को किस तरह याद कर रहे हैं? दबी हुई अधराष्ट्रवाद की राजनीति, 'दूसरी आजादी' के बीच नकली चेहरा लगाकर आई थी। आदम 'एक शान्तिकारी से भेंट' करता है, जो उसे बताते हैं, ''हम भूतपूर्व कांग्रेसी हैं। हमारी शान्ति भी कांग्रेस ढंग की है ''यानी 'जन' के फैशन के कारण इधर भारतीय जनसंघ हो गया। वैसे ही 'शान्ति के फैशन के कारण इधर भारती शान्ति दल हो गया। यानी न उधर 'जन' से कोई मतलब, न इधर 'शान्ति से।'' (4 जून 1967)

भारतेन्दु-युग के लेखक आज भी दिलचस्पी के साथ पढ़े जाते हैं। उस दिलचस्पी का एकमात्र कारण है व लेखक सामाजिक जीवन के बीच रहते थे और अपनी परिस्थितियों का पूरी ईमानदारी से चित्रण किया करते थे। परसाई के व्यंग्य इसी अर्थ में आज भी पढ़े जायेंगे, चाहे वह आदम के व्यंग्य हो या परसाई के, दोनों अपने समय के अभिव्यक्ता रहे हैं। हरिविष्णु कामथ अजय मुखर्जी मीनू मसानी कामराज, जगजीवन राम, बलराज मधोक रामानन्द तिवारी या यशवन्त राव चव्हाण के नाम लिखे हुए आदम के पत्र इन लोगों के निजी अन्तर्विरोधों की जीवनी है, जिसे ये लोग कभी नहीं भूले होंगे। जनयुग का 'ये माजरा क्या है' स्तम्भ की सारी सामग्री कांग्रेस और संयुक्त सरकारों के जीवन के कई क्षेत्रों से ली हुई है। परसाई ने आदम' के रूप में अवसरवादियों को राजनैतिक रूप में कटघरे में खड़ा कर दिया था।

'धर्म' पहले भी पाखण्ड का ही सस्ता या चालू सस्करण था और उसे पालने वाले पिछले समय में भी बड़े सेठ थे और आज भी है। वर्तमान पाखण्डमय धर्म का एक प्रसंग है—'बिड़ला के लक्ष्मीनारायण'। आदम ने लिखा है— एक खबर ऐसी है कि जिसे डा० हजारी, चन्द्रशेखर, राजनारायण वगैरह सुनेंगे तो पसीना आ जायेगा। खबर यह है—पिछली रात सेठ घनश्यामदास बिड़ला दिल्ली स्थित अपने 'लक्ष्मीनारायण मन्दिर' में गये और गुस्से में भगवान को पुकारा। लक्ष्मीनारायण फौरन कॉंपते हुए बिड़ला जी के सामने खड़े हो गये। बोले— क्या हुक्म है सेठ जी? बिड़ला धमकी देते रहे। पिछले सालों के सारे किराये की वसूली का फरमान सुनाते रहे और अन्त में हजारी रिपोर्ट, 'बिड़ला साम्राज्य' यानी उनके धंधे पर रोक लगाने वालों की शिकायतें करते हैं।''

आदम भारत के मिश्रित-व्यापार की तरह भगवान का भी अलग-अलग खाता खोल देता है। लक्ष्मीनारायण बिड़ला के 'प्राइवेट भगवान' हैं और दूसरे गरीब फटेहाल नंगे भगवान हैं। बिड़ला अपने भगवान को धमकी देता है, 'हजारी

रिपोर्ट को नामजूर करवाओ, ससद के नास्तिक सदस्यों को बीमारियाँ दो।' आदम जानता है, पिछले समय मे और आज भी बिडला किस नेता या नौकरशाह को 'इन्स्ट्रक्शन्स' देता था और किनके बल पर इजारेदारो का साम्राज्यवाद 'दूसरी आजादी' के बाद अधिक शक्तिशाली हुआ है ?

सी० आई० ए० का पैसा, जॉनसन का भेडिए जैसा चेहरा भारतीय व्यग्यकार को नजर आता है। नेताओं की अपील पर बाजार मे 'चमत्कार' पहले भी होता था आज भी होता है। यह सब 'कालाबाजार की राष्ट्रीय एकता' का अनुभव है, जिसे आदम की तरह हम सब तिलमिलाकर, बेचैन होकर स्वीकार करते हैं।

आदम और हरिशकर परसाई कही एक हो जाते है। जनता की क्रान्ति से या तो दोनों उदासीन हैं या उनके सिद्धान्त मे जनता का क्रान्तिकारी इतिहास अभी नजर नही आया है। वाम-अन्तर्विरोध पर इसीलिए आदम ने एक पक्ति कभी नही लिखी है। यही आदम की राजनीति पर एक खुला प्रश्न है।

—विष्णुचन्द्र शर्मा

साबुत बचा न कोय

देव, दानव और मानव शुरू से व्यंग्य को इस्तेमाल करते रहे हैं। ऐसा कोई कालखण्ड इतिहास में नहीं रहा जिसमें व्यंग्य के बाण न छूटे हों। पहले कुलीन कुलीन के विरुद्ध व्यंग्य से अट्टहास करते और ईर्ष्या और द्वेष से वाक्मुखर होते हुए व्यंग्य के बम विस्फोट करते थे। उन्हीं की देखा-देखी निबल और पीड़ित भी आपस में मिल-बैठकर कुलीन के खिलाफ, और अपनी बिरादरी में, घुले-मिजाने अपने जैसों के खिलाफ कभी धीमे से कानाफूसी करते और कभी ऊँची आवाज से कोंच-कोंच करते और अपने मन की भड़ास, फूहड़ फब्तियाँ कस-कस कर निकालते। औरतें भी औरतों के खिलाफ और नामजद पुरुषों के खिलाफ वैसे ही मर्माहत स्वर और मुद्रा में, कनकनाती और झनझनाती हुई कर्कश कोलाहली आक्रमण करती थी और ऐसा करने में वे पुरुष जाति से किसी मायने में भी पीछे नहीं रहती थीं। जनजीवन में व्यंग्य उसी तरह जीता-मरता चला आया है जिस तरह जंगल में बड़े नाखूनों और दांतों वाले डरावने जानवर तब से अब तक बराबर जीते-मरते चले आते हैं। साहित्य में—संस्कृत साहित्य में—प्राकृत और अपभ्रंश में भी—और फिर हिन्दी में यह व्यंग्य लिपिबद्ध होकर पाठकों के सामने मनोरंजन करने के लिए, प्रकट होने लगा। नाटकों में इसके लिए विशेष पात्रों की अवतारणा की गयी। चुटकुलों के रूप में भी यह व्यंग्य, कहा-सुनी के रूप में, मुँह से कान तक की यात्रा करता रहा। लोकमंचीय प्रदर्शनों में भी यह, कभी अपनी खुश मिजाजी, कभी अपनी बदमिजाजी का दम भरता रहा। जैसे-जैसे आदमी और उसका समाज सहज साधारण से जटिल बुनावट को बुनता चला गया वैसे-वैसे व्यंग्य महाराज भी अपनी मुद्राएँ बदलते चले गये और सतही प्रहार करने के प्रयोग को छोड़कर सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शस्त्रास्त्र का उपयोग करने लगे और बौद्धिकता की ओर बढ़ते-बढ़ते, शिल्पी के ओहदे पर पहुँचकर, तर्क-वितर्क से उलझाव उत्पन्न करने लगे और इस तरह युगीन कहानियों, उपन्यासों और नाटकों में, ताजे-ताजे तर्क और तेवर से वाक्योच्चार करने लगे। इस तरह होते-होते व्यंग्य का एक सामाजिक और ऐतिहासिक परिदृश्य तैयार हो गया, जो बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

लेकिन, इस सबके अपने विकास के बाद भी व्यंग्य सत्य की सही पकड़ नहीं कर पाता था, क्योंकि वह वैज्ञानिक जीवन-दर्शन से कोसों दूर केवल मानववादी परिकल्पनात्मक जीवन-दृष्टियों से उत्पन्न होता और बड़ा होकर भ्रमों की भूल-

भुलैया मे नाचता रहता था। तो व्यग्य—आज का व्यग्य—अब पहले वाला व्यग्य नही रहा। वह प्रतिबिंबन के सिद्धान्त और सज्ञान की सटीक दृष्टि से लैस होकर, अपनी दूरबीनी आंख से जन जीवन मे चौतरफा घट रहे घटनाचक्रो को देखता-परखता और आंकता है और फिर जनहित मे, सही समझ का विचार-विमर्शी सत्य प्रक्षेपित करता है। यह युगीन व्यग्य महान मानवीय गुणो की सेवा म सलग्न रहता हुआ अपने दायित्वो का पूरा पूरा निर्वाह करता है और आदमी को सत्य की ओर ले चलता है। यह ठहाका मार व्यग्य की सीमा तोडकर, अजनबी बौद्धिकता के दांवपेंच से निकलकर, क्षणिक मनोरजकता की छिगुली छोडकर, पूरा प्रतिबद्ध व्यग्य हो गया है और इसका क्षेत्र पूरे मानव-जीवन का क्षेत्र हो गया है। अब यह व्यग्य चोट के लिए चोट नही करता, बदमिजाजी से आदतन आक्रमण नही करता, किसी के स्वार्थ साधन के लिए दास-प्रवृत्ति के वशात् न दूसरो को नगा करता है, न खुद नगा होता है। यह व्यग्य बेलौस, निर्भीक सच का साथी, झूठ का दुश्मन और लुके छिपे हुए तथाकथित अभिजात्य वर्गीय शक्ति सम्पन्न महाप्रभुओ की कलई खोलने वाला व्यग्य है, और दलित, दमित और पण्डित दीन-हीन शोषितो को आंख देने वाला और करनी से समाज को बदलने का और राजनीति को समाजवादी बनाने के लिए, कार्यक्रम प्रस्तुत करता है। हरिशकर परसाई के व्यग्य यही सब करते हैं। इसलिए वे दूसरे व्यग्यकारो से अलग राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखते हैं, और इसी मे उनकी लोकप्रियता निहित है।

मैंने परसाई जी की एक पुस्तक पढी है। वह है 'पगडडियों का जमाना', इसका प्रथम सस्करण 1966 मे निकला।

'पगडडियो का जमाना' के शीर्षक हैं—हम, वे और भीड—प्राइवेट कालेज का घोषणापत्र—सज्जन, दुर्जन और काग्रेसजन—प्रजावादी-समाजवादी-लोहियावादी समाजवादी—प्रेमप्रसग के फादर—सोने का साप—टेलीफून—समय पर न मिलने वाले—वह जरा वाइफ है न—चावल से हीरे तक—बेचारा भला आदमी—स्नान—पगडडियो का जमाना—आंगन मे बैंगन—फिर ताज देखा—अन्न की मौत—एक बेकार घाव—पेट का दर्द, और देश का—कधे श्रवण कुमार के—सडक बन रही है—डेंगू—आध्यात्म और लेखक और ग्रीटिंग कार्ड और राशनकार्ड। इन शीर्षको से ही यह पता चल जाता है कि परसाई जी की व्यग्य-चेतना ऐसी-वैसी छोटी मोटी नही है, बल्कि वह सब जगह व्याप्त, गहरी और दृष्टिभेदी है। परसाईजी जिधर जाते हैं उधर सत्य की टोह मे चुपचाप सरकते हैं या छलांग मारकर या सी० आई० डी० बनकर पहुँच जाते हैं। न उन्हें कोई रोक पाता है और ही वे रुकना जानते है। जहाँ पहुँचते हैं वहाँ या तो किसी सर्जन की तरह मरीज का दिमाग दुरस्त करने के लिए आपरेशन करते हैं या नारद की तरह किसी की नाक कटवाकर उन्हे नेकनाम होने की प्रेरणा देते हैं या इतिहासकार की तरह घटनाचक्र को तोडते हुए राज-

नैतिक गतिविधियों की सही समझ प्रस्तुत करते हैं और ऐसा करने में न तो वह बात का बतंगड़ बनाते हैं, न तिल का ताड़ बनाते हैं, न सत्य का मुखौटा लगाकर असत्य का चिमटा बजाते हैं। ऐसा क्यों करते हैं ? कि लोग उनसे नाराज हो जाते हैं और वे लोगों की नाराजगी का भी कोई लिहाज नहीं करते और मार खाकर भी सफेदपोशों और नकाबपोशों की, सरेबाजार लू-लू बोल देते हैं और मजा यह कि वे खुद इसका मजा नहीं लेते, वरन् देश की दयनीय दशा से सम्बद्ध हुए, समाजवादी चेतना की दृष्टि से उसे देख-देखकर तड़पते और कराहते रहते हैं— कि आदमी जल्दी-से-जल्दी आदी बने और वह न देव बनने का बहाना करे न दानव बनकर दूसरों का शोषण और अपहरण करे और न कोई किसी की खटिया खड़ी करे।

एक जगह वे लिखते हैं —"देश एक कतार में बदल गया है आधी जिन्दगी कतार में खड़े-खड़े बीत रही है।" दूसरी जगह वे लिखते हैं "कुछ लोगों ने अपनी कलि-कालोनी भैंसें आजादी की घास पर छोड़ दी और घास उनके पेट में *जाने लगी। तब भैंस वालों ने उन्हें दुह लिया और दूध का घी बनाकर फिर* हमारे सामने ही पीने लगे।" विशिष्ट बनने की तरकीब बताते हुए परसाई जी *लिखते हैं—"भीड़ के आदमी को बकरे की या कुत्ते की बोली बोलने लगना* चाहिए। वह एकदम विशिष्ट हो जायगा और एकदम सबका ध्यान खींच लेगा। लेखकों के विषय में लिखते हैं कि "लेखकों की चोरी करने वाले कई गिरोह हैं। वे भीड़ में शिकार को *तोड़ते* रहते हैं और किसी बहाने उसे भीड़ से अलग करके अपने साथ किसी अँधेरी कोठरी में ले जाते हैं। वहाँ उसके हाथ-पाँव बाँधकर मुँह में कपड़ा ठूँस देते हैं। तब स्वतन्त्र चिंतक सिर्फ घों-घों की आवाज निकाल सकता है। गिरोह वाले उस घों-घों में सौन्दर्य शास्त्रीय मूल्य निकालकर बता देते हैं, उसे तत्त्व ज्ञान सिद्ध कर देते हैं।" यह मर्म-बेधी कचोट है जो व्यक्ति-स्वातंत्र्य के हिमायतियों और सदर्भशास्त्रियों पर की गयी है। आगे चलकर कॉफी हाउस में बैठे भीड़ में बचे लेखकों के विषय में कहते हैं कि "लेखक की हालत खस्ता है। सबके साथ होने में उसकी विशिष्टता मारी जाती है। वह कहता है कोई हमें भीड़ से बचाए।" राजनीति से नफरत करने वाले तथाकथित लेखकों पर भी फबती कसते हैं। वयोवृद्ध होने पर लेखकों को पुरस्कार और आर्थिक सहायता दी जाती है तो इसपर भी परसाई जी एक लाजवाब प्रश्न करके ऐसी व्यवस्था के मुँह पर तमाचा जड़ते हैं। वे कहते हैं, *"पुरस्कार या आर्थिक सहायता रचना करने के लिए मिलते हैं या रचना बन्द* करने के लिए ?" मुख्यमंत्री के आसपास तीन आदमियों में स्पर्धा चल रही थी *कि उनमें से कौन उनके कोट की किस जेब में घुस जाय। कोट में दो जेबें थीं।* दो आदमी दोनों जेबों में घुस गये। तीसरा आदमी हाय करके बोलता है कि अगर *मुख्यमंत्री पतलून पहने होते तो वह उनकी उस जेब में घुस जाता।* यह है चमचों का हाल जो मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों के पाले-पोसे समाज को दूषित किए रहते हैं।

आजकल प्राइवेट कालेज बहुत खोले जा रहे हैं और बहुत-से खुल गये है। कालेज खोलना व्यापार हो गया है—खोलने वाले के परिवार का नाम उजागर होता है और यह लोक भी बनता है और परलोक भी बनता है। कालेजो मे जो अध्यापक और नौकर चाकर रखे जाते हैं वे भी खोलने वाले के यहाँ बिना किसी उजरत के काम-काज मे मदद देते रहते हैं और कालेज मे लगायी गयी रकम वही होती है जो इनकम टैक्स म चलती गयी होती। ऐसी सस्थाओ को आदर्श सस्था कहकर घोषित किया जाता है और परसाई जी इन्हे देखकर तिलमिला उठते है। वे बरदाश्त नही कर पाते कि शिक्षा-सस्थाओ का इतना देश-व्यापी अध पतन हो। तभी वे ऐसी सस्थाओ के 15 चालू सिद्धान्त और नियम प्रस्तुत करते हुए इनकी वर्तमान स्थिति की पूरी-पूरी जानकारी से आप पाठक को अवगत कराते है कि वह पोलखाते को देखे और उसके खिलाफ अपनी आवाज उठाये। यह खिल्ली उड़ाना नही, दायित्व-निर्वाह के इरादे से किया गया व्यग्य है। इसकी कद्र करनी चाहिए, न कि इसे हँसकर टाल दिया जाये, और शिक्षा-सस्थाओ को पैसा कमाने का अड्डा बना रहने दिया जाय। शर्म आती है इस प्रचलित व्यावसायिक वृत्ति पर। बेचारा व्यग्यकार इससे अधिक कर ही क्या सकता है। वह किसी की आँख के सामने से अँधेरे का परदा हटा सकता है—किसी को नाक के नीचे घूरे को सूँघने के लिए विवश कर सकता है—किसी को चिकोटी काटकर जगा सकता है—किसी के चल रहे षड्यत्र से परिचित करा सकता है। इसकी जरूरत व्यग्यकार को इसलिए होती है कि आम आदमी इन विसगतियो को अपने आप देख नही पाता और वह इनको नजरअदाज किये रहने का अभ्यस्त हो चुका होता है। परसाई जी जीवन के भीतर के जागरूक व्यग्यकार हैं। वह हर जोर-जुल्म के ठौर-ठिकानो को जानते हैं—वे हर दर्द के होने का कारण भली प्रकार से खोज निकालते हैं—वह जाहिर हैं टटोल-टटोलकर छिपी हरकतो को दबोच लेने म और उन्हे तार-तार कर देने मे। यह काम न उपदेशक कर रहे है—न नेता कर रहे हैं—न विद्वान और बौद्धिक कर रहे हैं—न सामाजिक जन कर रहे हैं—न कवि-लेखक कर रहे है। सब-के-सब धैर्य धारण किये अपनी-अपनी रोजी-रोटी कमा रहे हैं और यथास्थिति के कायम बने रहने मे ही सुख-सुविधा प्राप्त किये रहने की सभावना देखते हैं। परसाई जी का व्यग्य सामाजिक जीवन को चरमरा देने वाला व्यग्य है, नयी चेतना के उन्मेश का और आक्रोश का व्यग्य है। इनका व्यग्य भभूतिया बाबा का वरदानी व्यग्य नही है। वैज्ञानिक और आलोचनात्मक चेतना का जन-हिताय मानवीय विवेक का व्यग्य है परसाई जी का जिसका सानी कोई नही है।

त्याग और तपस्या के मूर्त स्वरूप पुराने गाधीवादी अपने को आज भी महान् अवतारी पुरुष मानते हैं। लेकिन करनी करते है निहायत घटिया कि हैरत होती है। ऐसे गांधीवादी की गरदन पकडते हैं परसाई जी और उसे ज्यो का त्यो अपने शब्दा मे सटीक उतारकर रख देते हैं। वह खादी को 'खादी जी'

जनता को मोह म जकड ले। ससदीय व्यवहार को जो लोहियायी छाप मिली तो वह भी अभद्र और आपत्तिजनक हो गया। टेबुल पर कूदकर चढ जाना और नीचे घुसकर वहाँ बकरे की बोली बोलना जैसा यह व्यवहार होन लगा था। भर्त्सना परसाई जी ने की। ठीक की। इस पार्टी का कोई सगठित कार्यक्रम नहीं रहा। इसीलिए परसाई जी ने खुलकर सशक्त शब्दा मे इस कमजोरी पर प्रहार किया और क्रान्तिनाद जी के मुँह से कबूल करवा लिया कि मजबूत सगठन बनाना क्रान्ति को टालना है और यह तरीका भी पुराना है। नया तरीका तो 'हिसाब भ्रान्ति का ही है'। फिर इस पार्टी की स्वच्छन्दतावादी राजनीति को एक दूसर ढग से विरूपित किया परसाई जी ने। और यह कहा कि क्रान्ति का दूसरा तरीका है कि हर एक भारतवासी के हाथ म तलवार हो और हरएक को छूट हो कि जो जिसे चाहे मारे। यहाँ मार काट की समाजवादी क्रान्ति का मखौल उडाया गया है। तीसरा तरीका भी इस पार्टी ने क्रान्ति करने के लिए अपनाया है कि ससद म हुल्लड करो कि मत्रिमडल भाग खडा हो और इस दल के सदस्य सरकार पर कब्जा कर लें।

प्रेम प्रसग मे फादर' के माध्यम से जवान लडके-लडकियों के प्राथमिक प्रेम उबाल की कुछ एक करतूतो की बानगी पेश की गयी है। एक जगह दर्शनशास्त्री प्रेमी के अनुभव की चर्चा भी की गयी है। रिटायर्ड फादर और गैर रिटायर्ड फादर की मनोवृत्तियो म फर्क दिखाया गया है और प्रेम की भाषा म 'फादर' के कई गुण धर्म टिक के निशान लगा-लगाकर व्यक्त किये गये हैं। अन्त म एक दर्दनाक कथा का भी उल्लेख हुआ है। पिता को खुश करने की कोशिश म एक पुत्र उसकी हाँ मे हाँ मिलाता है और पैतृक अग्रेज भक्ति की ताईद आँख मूँदकर करता है। वह समझता है कि पिता को इस तरह प्रसन्न कर उसकी पुत्री को अपनी बीबी बनाने मे सफल हो जाएगा। होना यह है कि लडकी, लडके और पिता की वे गुलाम मनोवृत्ति वाली बातें सुनती रहती है और जब लडका 'प्रपोज' करता है तो वह लडके को तिरस्कार से देखती है और कहती है कि उस जैसे राष्ट्रद्रोही व गुलाम मनोवृत्ति के आदमी पर तो वह थूकेगी भी नही। लेकिन इस दर्दनाक कथानक का वह असर नही पडता कि पूरा प्रेम प्रसग अपने पूरे माहौल के साथ उभरकर सामने आ जाय। इस प्रकार की कला को 'बहु धनुही तोरी लरकाई' वाली कला कह सकते हैं। न यहाँ ब्रजवासियो का लट्टमार प्रेम प्रकट होता है जिसके लिए वह मशहूर हैं। न यहाँ होरियार, हुडदगी' की नौबत आई है कि हँसते-हँसते पीठ की मार सहलानी पडे। पिलवाकई परसाई जी ने या तो यहाँ अनुभवी चौके छक्के नही लगाये या वे चूकते चले तो चूकते ही चले गये। बहरहाल यह प्रसग ऐसा था कि होली का मजा आ जाता और व्यग्य की मार लडके-लडकियो की पीठ पर उपट तो जरूर ही आती। और 'फादर' महोदयो की नैतिकता की परीक्षा भी हो जाती।

'सोने के साँप' मे सरकारी योजनाओ की ऐसी-तैसी का बखान है। जमींदारी

उन्मूलन, भूमि-सुधार, भूमि-सीमा-निर्धारण आदि, आदि समाधानों मे जो-जो गडबडियाँ हुई, परसाई जी ने उन्हे गिनाया है। नकली दवाओं के रोजगार को रोकने के लिए सरकारी प्रयासो की विफलता के कारण भी उन्होने बताये। सोने की सरकारी नीति की आलोचना भी की। पर इसके बावजूद भी परसाई जी ऐसे साँप को पकड नही पाये। वह ज्यों का त्यों कायम है और उनके तीर से मरा नही। व्यग्य की सामग्री तो है पर परसाई जी उसका उपयुक्त प्रयोग नही कर सके। शायद वह तीर चलाते-चलाते थककर सुस्ताने लगे थे और दिमाग को कोल्ड ड्रिंक पिला चुके थे।

'टेलीफोन' भी व्यग्य मे नही धनधनाया। व्यग्य की घटी बजती है तो उसी लहजे मे जैसे कमरों म बजा करती है। परसाई जी की चेतना चाबुकमार व्यग्य नही करती। मालूम होता है कि परसाई जी ने सोच के शक्ति-बाण का प्रयोग नही किया। इसे पढने के बाद भी लक्ष्मण बेहोश नही होते और हनुमान को सजीवनी बूटी लाने जाना नही पडता।

'समय पर मिलने वाले' का व्यग्य भी हल्का-फुल्का है। मालूम होता है कि परसाई जी की चेतना की वेवलेन्थ ऐसे मामलो मे कमजोर पड जाती है। उनका रेडियो-स्टेशन जैसे इलाहाबाद का रेडियो-स्टेशन हो जाता है जो हमेशा-हमेशा मन्द स्वर मे मिसियाता रहता है। कुछ इसी तरह के व्यग्य का निर्वाह 'वह जरा वादफ है न' मे हुआ है। 'चावल से हीरे तक' की व्यग्य यात्रा भी बातूनी यात्रा होकर रह गयी है। वहाँ दूधफाड व्यग्य नही है। न यहाँ अँगुली-काट व्यग्य की कैंची चली है। 'बेचारा भला आदमी' भ्रष्ट चरित्र के समाज मे जिस दुर्दशा को प्राप्त होता है उसी को परसाई जी की कलम ने 'थोडे मे बहुत कहा' है। ऐसे आदमी को अपना आत्मपरीक्षण करने के लिए विवश होना पडता है। किस तरह ऐसे आदमियों का शोषण-दोहन होता रहता है। इसकी कुछ मिसालें देकर व्यग्यकार परसाई जी ने स्वय अपने पर भी व्यग्यबाण चलाया है। लेखक भी एक ऐसा ही भला आदमी होता है। वह जब तक प्रकाशक से पैसा न माँगे—हिसाब न माँगे तब तक भला रहता है। लेकिन पैसे की माँग करते ही वह प्रकाशक को ऐसा कहते जान पडता है जैसे कि वह उसके पिता की मृत्यु की सूचना देकर मर्मान्तक कष्ट दे रहा हो। 'स्नान' को लेकर परसाई जी ने जो प्रवचन दिया है वह साहित्यिक पुट पाकर भी अधविश्वासो की परती जमीन को कुरेद सकने मे असमर्थ साबित होता है। 'स्नान' अमूर्त प्रतीक बनकर रह गया है। इतना महान अधविश्वासी देश इतनी हलकी चपत से चौंकता भी नही। इसके जागने का प्रश्न ही नही उठता।

परसाई जी का बहुत-सा लेखन अनुभव का लेखन है। वह समाज मे रहकर समाज को दायित्वबोध से जीते है और सबकी कथनी-करनी को उसी बोध से जाँचते-परखते और आँकते है। तब इस तरह से पाये हुए तथ्यो और करतूतों को अपनी वाणी के व्यग्य मे व्यक्त करते हैं। ऐसे म व्यक्त हुआ उनका **व्यंग्य**

कोई उनकी निजी अभिव्यक्ति नहीं होता। उसमें व्यक्त सत्य सामाजिक सत्य होता है जिसे साधारणतया दूसरे अपनी आँखों से देख नहीं पाते और अगर देख भी पाते तो उसे अव्यक्त ही रहने देते हैं, क्योंकि वह भी उस सत्य को परदे की ओट में रखकर सुख और सुविधा का जीवन-यापन करने के अभ्यस्त हो चुके होते हैं। लोगों की ऐसी मनोवृत्ति का देश आज ही नहीं, लगातार वर्षों से भोग रहा है और उनकी बेईमान करनी से भ्रष्ट पर भ्रष्ट होता जा रहा है। परसाई जी से एक सज्जन ने अपने लड़के के नम्बर बढ़वाने के लिए यह चाहा और कहा कि वह अपने परिचित अध्यापक से कहकर काम करा दें। मगर परसाई जी का ईमान पक्का था, इसलिए उन्होंने इन्कार कर दिया। नतीजा हुआ कि वह सज्जन उनकी बुराई करता फिरता रहा। निजी हित और अनहित का यह चल रहा दौर-दौरा आज तो पहिले से भी जोर पर है। शिक्षा संस्थाओं में अब खुले आम 'पेपर आउट' हो जाता है, नकल की छूट है, नम्बर बढ़वाने की सहूलियत है और पास हो जाने का शर्तिया इलाज है। परसाई जी ने इस पर विचार किया उत्तेजना से। उन्हें याद आया कि पुरानी कथाओं के दानव अपनी आत्मा को दूर किसी पहाड़ी पर तोते में रख देते थे और तब बेखटके दानवी कर्म करते रहते थे। उन्होंने उन दानवों से आज के बेईमान आदमी की तुलना की है। व कह उठे कि उन्होंने 'ऐसे आदमी देखे हैं जिनमें से किसी ने अपनी आत्मा कुत्ते में रख दी है, किसी ने सूअर में। अब तो जानवरों ने भी यह विद्या सीख ली है और कुछ कुत्ते और सूअर अपनी आत्मा किसी किसी आदमी में रख देते हैं।' उनका यह कथन शत-प्रतिशत सही है और हर बेईमान का सिर तोड़ देने के लिए हथौड़े की चोट के समान है। दुकानदार भी बेईमानी से फलते फूलते हैं। सही हिसाब रखते हैं तो सचाई के लिए घूस देनी होती है। गलत हिसाब बनाकर देते हैं तो कहीं कम घूस देकर काम चल जाता है। शिक्षा और व्यापार के क्षेत्र की यह दयनीय हालत हुई। कोई औरत जब किसी बड़े महानुभाव के पास उनसे सच्चरित्रता का प्रमाणपत्र लेने जाती है कि उसे प्रस्तुत कर वह नौकरी पा सके तो उससे महानुभाव के शयनकक्ष में चलने के लिए कहा जाता है कि इसके उपरान्त उसे वह पत्र दिया जा सके। यह चारित्रिक पतन आये दिन की मामूली बात हो गयी है। तभी परसाई जी कह बैठे कि "देखता हूँ कि हर सत्य के हाथ में झूठ का प्रमाणपत्र है। ईमान के पास बेईमानी की सिफारशी चिट्ठी न हो, तो कोई उसे दो कौड़ी को न पूछे। यही सब सोच कर मैं ढीला हो गया। अब मैं बड़े खुले मन से नम्बर बढ़वाता हूँ।" यह सब पहिले कम होता था और जो यह काम कराने आता था, संकोचशीलता से बात करता था। पर अब तो निर्लज्जता पर उतर आये हैं लोग। दस साल तक यह भोगते-भोगते परसाई जी परेशान हो गये। तभी तो उन्होंने ठीक ही कहा है कि "सफलता के महल के सामने का आम दरवाजा बन्द हो गया है। कई लोग भीतर घुस गये हैं और उन्होंने कुण्डी लगा दी है। जिसे उसमें घुसना है, वह रूमाल नाक पर रख कर

नावदान मे से घुस जाता है। आसपास सुरक्षित रूमालो की दुकानें लगी है। लोग रूमाल खरीद कर उसे नाक पर रखकर नावदान मे से घुस रहे है।" नावदान शब्द मे ही इस घिनौनी गन्दगी का पूरा इजहार हो जाता है जो सर्वत्र व्याप्त है। परसाई जी अपने इस व्यग्य के दौरान ऐसे लोगो के साथ बडी सहानुभूति मे पेश आए है। उन्हे उन्होने निर्मम होकर नही पीटा। उनकी मजबूरियो पर ने रोकर उन्हे गले लगाने की हद तक पहुँच गये है। इसीलिए परसाई जी का व्यग्य मानवीय सहृदयता का व्यग्य हो गया है।

परसाई जी के पडोसी मित्र के सपाट पडे आगन मे लगा पेड जब फल उठा तो घर वालो को इन्तहा खुशी हुई। और फिर तब तक बैंगन लगते रहे तब तक बैंगन ही बैंगन की चर्चा होती रही। इस घर के बैंगनो की खूब तारीफ हुई। परसाई जी सुनते-सुनते अघा गये। उनकी चेतना जागरूक हुई और वह घर-बार को लेकर औरत, *गुलाब और गेंदे* पर फिकरेबाज़ी करने लगे। जबलपुर की तरफ बोलचाल मे पत्नी को मकान कहा जाता है, पत्नी 'मकान' हुई तो पति 'चौराहा' हुआ। ऐसा कह बैठे परसाई जी और तत्काल उन्हे आभासित भी होने लगा कि जैसे कोई स्त्री दूसरी स्त्री से पूछ रही हो कि "बहन, तुम्हारा चौराहा शराब पीता है या नही ?" यह कटाक्ष है जो परसाई जी ने पुरुष जाति पर किया है। वह स्त्री के प्रति हो रहे अपमानजनक व्यवहार से मन ही मन पहले से ही क्षुब्ध हो चुके थे। उन्होने अपना क्षोभ लिख भी दिया है, "जब वह कद्दू काटता है, तब कोई ऐतराज नही करता, तो औरत को पीटने पर क्यो ऐतराज करते है ? जैसा कद्दू वैसी औरत। दोनो उसके घर के है। घर की चीज मे यही निश्चितता है।" किसी सामाजिक बुराई को बदलना परसाई जी ने अपनी योनि वाले मे कटाक्ष करते हुए लिया। चूके नहीं। यही नही, आगे देखिए क्या कहा है परसाई जी ने अपने एक दोस्त के बारे मे जब उसने शादी कर ली, "उसने शायद घबराकर बैंगन लगा लिया। बहुत लोगो के साथ ऐसा हो जाता है। गुलाब लगाने के इन्तजार मे साल गुजरते रहते है और फिर घबडाकर आँगन मे बैंगन या भिंडी लगा लेते है। मेरे एक परिचित ने इसी तरह अभी शादी की है, गुलाब के इन्तजार से ऊबकर बैंगन लगा लिया है।" लेकिन बात ऐसी नही है कि परसाई जी स्त्री को ज्यादा पसन्द करते हो और पुरुष को कम। वह इनमे से किसी की निन्दा या अवहेलना नही करते। उनमे से कोई भी उनका ममत्व पा सकता है या उनकी कटाक्ष का शिकार हो सकता है। परिवार की एक तरुणी के मुख से निकला "अच्छा तो है। बैंगन खाये भी जा सकते है।" परसाई जी की विचार-प्रक्रिया चल पडी। लिखते हैं "मैंने सोचा हो गया सर्वनाश ! सौन्दर्य, कोमलता और भावना का दिवाला पिट गया। सुन्दरी गुलाब से ज्यादा बैंगन को पसन्द करने लगी। मैंने कहा देवी, तू क्या उसी फूल को सुन्दर मानती है, जिसमे से आगे चलकर आधा किलो सब्जी निकल आये ? तेरी जाति कदम्ब के नीचे खडी होने वाली है, पर तू शायद हाथ

मे बाँस लेकर कटहल के नीचे खडी होगी। पुष्पलता और कद्दू की लता मे क्या तू कोई फर्क नही समझती ? तू क्या बंसी से चूल्हा फूंकेगी ? और क्या वीणा के भीतर नमक-मिर्च रखेगी ?" इसके पीछे परसाई जी की वह खोज काम कर रही मालूम होती है जो बैंगन की ज्यादा तारीफ ने पैदा कर दी थी। न मर्द उनकी फिक्रेबाजी से बचा, न औरत बची। इसी तरह एक तरफ गेंदे के फूल की तारीफ करते है तो उसे गरीब सर्वहारा कह बैठते है क्योंकि वह कही भी जडें जमा लेता है। लेकिन दूसरी तरफ, जब गेंदे का फूल सूखकर डठल मात्र हुआ, जमीन मे गडा उन्हे चिढाता रहा, तब उन्होने कहा, "अभागे, मुझे ऐसा गेंदा नही चाहिए जो गुलाब का नाम लेने से ही मुरझा जाए। गुलाब को उखाडकर वहाँ जम जाने की जिसमे ताकत हो, ऐसा गेंदा मैं अपने जीवन मे लगने दूंगा।' बात बैंगन को लेकर चली थी और चलते-चलते इस हद तक पहुँची कि उनकी फिक्रेबाजी के इतने लोग निशाने बने। और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते परसाई जी सरकार पर और उसके नौकरो पर भी तानाकशी कर ही बैठे। लिखते है "भारत सरकार से पूछता हूँ कि मेरी सरकार, आप कब सीखेंगी ? मैं तो अब 'प्लान्ट' लगाऊँगा तो पहले रखवाली के लिए कुत्ते पालूंगा। सरकार की मुश्किल यह है उसके कुत्ते वफादार नही है। उनमे से कुछ आवारा ढोरो पर लपकने के बदले उनके आसपास दुम हिलाने लगते है।" अपने आँगन को भी निशाना बनाते हैं और लिखते हैं "... मैं इस आँगन मे अब पौधा नही रोपूंगा। यह अभागा है। इसमे बरसाती घास के सिवा कुछ नही उगेगा। सभी आँगन फूल खिलने लायक नही होते। फूलो का क्या ठिकाना। वे गँवारो के आँगन मे भी खिल जाते है। एक आदमी को जानता हूँ, जिसे फूल सूंघने की तमीज नही है पर उसके बगीचे मे तरह-तरह के फूल खिले है। फूल भी कभी बडी बेशरमी लाद लेते है और अच्छी खाद पर बिक जाते है।" इस कहने मे मर्माहत हृदय बोलता है। यह दुख-दर्द की विवेकशील आवाज है जो निकल पडी है। परसाई जी के मित्र ने इनके आँगन के बारे मे सही ही कहा "तुम्हारे आँगन मे कोमल फूल नही लग सकते। फूलो के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबन्द के आँगन मे जम जाएँ, पर तुम्हारे आँगन मे नही जम सकते। वे कोमल होते हैं, तुम्हारे व्यंग्य की लपट से जल जाएँगे। तुम तो अपने आँगन मे बबूल, भटकटैया और धतूरा लगाओ। यह तुम्हारे बावजूद पनप जाएँगे। फिर देखना कौन किसे चुभता है—तुम बबूल को या बबूल तुम्हे ? कौन किसे बेहोश करता है—धतूरा तुम्हे या तुम धतूरे को।" पता नही उनके दोस्त ने यह कभी कहा भी या नही पर लिखा तो इसे परसाई जी ने। इसलिए यह अभिव्यक्ति इन्ही के अन्तरग की अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति मे उनका व्यक्तित्व बोल उठा है कि उनका व्यंग्यकार वह सब जोखिम उठाता चला जायेगा जो उसे झेलने ही पडेंगे और उसकी नियति बन गये हैं।

(जी तो चाहता है कि परसाई को चूम लूं—कलम को चूम लूं और ऐसे दम-

दार माथी को सब के सिर पर बिठाकर फूल-फूल से लाद कर, सब सुख-सुविधा प्रदान कर दूँ और अपने देश मे ऐसे दिन आने मे पचासो साल लगेंगे तब तक के लिए प्रत्येक प्रतिबद्ध लेखक को कमर कसे रहना चाहिए और हर समय आफत मोल लेने के लिए तत्पर रहना चाहिए।)

'फिर ताज देखा' में परसाई जी ने शुरुआत 'भेडाघाट' से की और वहीं से, पहिले तो घर आये और ठहरे मेहमानों की आवभगत, फबती कस-कसकर की। आगे बढे तो जबलपुर से आगरे आ पहुँचे और वहाँ वालों की इमदाद मे वहाँ के आने-जाने वाले मेहमानों की वैसी ही खैर-खबर ली जैसी अपने नगर मे आने-जाने वाले मेहमानों की ली। वाकई मे मेहमानों के मारे जबलपुर और आगरा दोनों ही नगर, मेजबानों के लिए संकट-स्थल हो गये हैं। भले ही देखने वालों के लिए वे सौन्दर्य-स्थल हों। परसाई जी लिखते हैं, "भेडाघाट से हम कितने ही परेशान हों, उसकी अवहेलना नहीं सह सकते।" ऐसा लिखने मे उनका सौन्दर्य-बोध जागा और प्रबल होकर उन पर सवार हो गया और तभी वह नगर-मोह मे पडकर जबलपुर के भेडाघाट की अवहेलना बर्दाश्त न कर सके। आगरे वाले को इन्होंने चाँदनी रात मे भेडाघाट दिखाया लेकिन उस ताजमहली नगर वाले ने जब उस 'घाट' की तारीफ केवल 'ठीक है' कहकर की तब तो परसाई जी के मानवीय मन मे आम आदमी जैसी प्रतिक्रिया हुई और वे तिलमिला कैसे गये। मन मे पडा 'घाट का अपमान' उनके आगरा पहुँचकर ताज देखते समय खोंखिया उठा और जब किसी ने ताज के बारे मे उत्सुकता से उनसे पूछा कि कैसा लगा तब अपने 'घाट' के अपमान का बदला लेते हुए फुस्स से बोले, 'ठीक है' बात यहीं नहीं खत्म होती। बदला ले लेने के बाद जो गर्व हरएक पानीदार आदमी को होता है वही गर्व परसाई जी को हुआ और सन्तोष की साँस लेकर प्रगट मे कह सके, 'मैंने बदला ले लिया।' मन ही मन हर्षित भी हुए। जब उन्होंने ताजमहलिओं को अपनी, 'दो मन्दी' ठडी, कसमसाती मे कटते देख लिया। यह बात वैसे तो साधारण है। घट गयी—चली गयी। लेकिन जब आदमी का पूरा जीवन ऐसी ही घटनाओं से आक्रान्त होता रहे और वह उन्हें भोगते-भोगते अपनी स्थिति (यानि मनोदशा) काठ जैसी बना ले तो यह छोटी महज साधारण घटनाएँ भी उनके मरण का कारण बन जाती हैं। जिसमें वह बराबर, मरने दम तक, बेखबर ही बना रहता है। व्यंग्यकार परसाई इस बात को—इस परिणाम को बखूबी जानते हैं और ऐसे परिणाम को इन्सान के लिए प्राणघातक मानते हैं। फिर जब देश के सारे लोग इस प्राणघातक मर्ज मे मुब्तिला हों और ऐसे मर्ज मे बेखबर ही बने रहें और मान-अपमान की भावना से शून्य हो जायें तो देश भी मुर्दा हो जाता है। परसाई जी ने इस अन्तिम परिणत को मद्देनजर रखा और ताज और भेडा घाट के बहाने से मियाँ भुट्टो के किये गए अपमान का मुँहतोड राष्ट्रीय बदला लिया। इसी सिलसिले मे साहिर लुधियानवी की भी अच्छी-खासी खिंचाई की। साहिर की एक कविता 'ताज' पर है।

ताज को गैरत की नजर से देखते हैं और समझते हैं कि शाहजहाँ ने ताज बनवाकर गरीबों की मुहब्बत का मजाक उड़ाया है। यह गलत राजनीतिक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति थी। चुनाँचे परसाई जी ने इनकी खाल की भी खिंचाई की। यह दृष्टिकोण कतई साम्यवादी नहीं है। वह सिखाता है ऐसी इमारतों को सुरक्षित रखने की बात। पर साहिर साहब गरीबों के अलमबरदार बन ही तो गये और उन्होंने प्रेम की सम्पूर्ण भावना का दिवाला निकाल दिया और इस तरह खुद भी सौन्दर्य-बोध से वंचित, मुफलिस हुए और देश के तमाम नौजवानों को भी, अपने इसी नजरिये से मुफलिस करा सके। परसाई जी ने यह काम साहिर ब्यवहार की तरह किया है। उन्होंने ऐसा करके राष्ट्रीयता की पहचान करायी है और मानवीय प्रेम को पुनर्जीवित और प्रतिष्ठित किया है। शायद इसी प्रभाव में आकर पन्त जी भी 'मुँह भरा' गिर पड़े थे और उन्होंने भी 'ताज' के सुन्दर स्मारक को जीवन की अवहेलना के स्मारक के रूप में देखा और उसको मृत्यु का सुन्दर स्मारक कह गये। चाहे वह उर्दू वाला हो, चाहे हिन्दी वाला, चाहे मुसलमान हो, चाहे हिन्दू, गलत है तो गलत है। उन्हें किसी कोने से सही नहीं कहा जाना चाहिए। उनमें से हरएक से आशा यही की जाती है कि वह सही-सम्यक मानवीय जीवन-दृष्टि पैदा करे और देश का सभ्य नागरिक बनकर जिये। परसाई जी का निष्कर्ष सही है कि "हमारे कवियों ने ताज के बारे में जल्दबाजी करली। कच्चे जनवाद के उबाल में उससे नफरत करने लगे।" कवियों को छोड़कर परसाई जी कारपोरेशन के सदस्य से मिले और वह बैठे कि वह "अपने घर के सामने सीमेंट की सड़क बनवा लेता है, जिससे प्रिया के पाँव में कंकड़ न गड़े। घर के सामने बिजली का खम्भा लगवा लेता है, ताकि प्रिया अँधेरे में न डरे। प्रजातंत्र में भी हजारों छोटे-बड़े शाहजहाँ हैं। उन्हें जब भी मौका मिलता है अपनी प्रिया के लिए जनता के पैसे से कुछ कर देते हैं। हर मुमताज उम्मीद लगाये बैठी है कि चुनाव में हमारे शाहजहाँ जीतने वाले हैं और आगामी मन्त्रिमंडल के पुनर्गठन में उन्हें जगह दी जा रही है।" किसी कवि ने कह दिया कि "ताज की छाया में सैकड़ों जोड़े मिलते हैं।" बस इतना सुनना था कि परसाई ने कहने वाले का तड़-सा चाँटा जैसा मारा और कहा, "उन्हें तो बदबूदार, गन्दी, अँधेरी कोठरियों में मिलना चाहिए---तभी तो हमारी नैतिकता की रक्षा हो सकेगी। सारी नैतिकता पिछवाड़े के दरवाजे से ही तो आती है।" इसी सिलसिले में परसाई जी ने पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की एक साथ खबर ली। कहते हैं "उधर पाकिस्तान में लोग हैं, जो सौन्दर्य की जाति बिरादरी तय करते हैं, कला की नस्ल पूछते हैं। और इधर मेरे देश में भी लोग हैं, जो ताज पर गंगाजल छिड़ककर उसे देखना चाहते हैं। दोनों कला, संस्कृति और मनुष्यता के दुश्मन हैं।' यह कबीर जैसी बानी है जो विवेक की धार से वार करती है और मुसलमानियत और हिन्दुत्व की अधवादिता को ढेर कर देती है।

बात यहीं नहीं रुकती। परसाई जी अपने इस 'ताज' वाले निबन्ध का बड़े

उत्साह से प्रसन्न होकर समाप्त करते हुए लिखते हैं, "मगर इन सब से ऊपर एक बात है—ढाका रेडियो से सुन्दर रवीन्द्र संगीत आता है और दिल्ली रेडियो से इकबाल की गजल गायी जाती है। मुझे विश्वास है, न ताज का कोई मजहब माना जायेगा और न उस पर गंगाजल छिड़कने की कोशिश होगी।" परसाई जी का पूरा का पूरा निबन्ध भीख से सधा, धर्मनिरपेक्ष नैतिकता के समर्थन में लिखा गया है। साधारण तथ्य के भीतर से गहरी मानवीय दृष्टि उपलब्ध की गयी है।

'अन्न की मौत' की बातचीत निजी प्रसंग से शुरू हुई, चूहों तक पहुँची, वहाँ से व्यवस्था की ओर दौड़ी और चूहदानी का रहस्य जानकर व्यापक षड्यन्त्र की जानकारी देती हुई जिलेबन्दी की कठिनाइयों को समेटकर देशी विदेशी पैसों की चाल-ढाल से नाक-भौं सिकोड़ती देवताओं के पेट पर आ धमकी और वहाँ से सहसा राष्ट्र की एकता के पास आई और उसका अमली रूप देखा। परसाई जी इस रूप को प्रस्तुत करते हैं "हे भारत भाग्य विधाता, पंजाब, सिन्धु, गुजरात, मराठा, द्राविण, उत्कल, बंग—सब जगह अन्न को मारकर दफना दिया गया। कोटि कोटि नर-नारी अन्नसंकट के सूत्र में बँधकर एक हो गये हैं। भुखमरी और भ्रष्टाचारी हमारी राष्ट्रीय एकता के सबसे ताकतवर तत्त्व बन गये हैं। धर्म, संस्कृति और दर्शन कमजोर पड़ गये हैं। कैसी अद्भुत एकता है। पंजाब का गेहूँ गुजरात के कालाबाजार में बिकता है और मध्य प्रदेश का चावल कलकत्ता के मुनाफाखोर के गोदाम में भरा है। देश एक है। कानपुर का ठग मदुराई में ठगी करता है, हिन्दी भाषी जेबकतरा तमिल भाषी की जेब काटता है और रामेश्वरम का भक्त बद्रीनाथ का सोना चुराने चल पड़ा है। सब सीमाएँ टूट गयी हैं। अब जरूरी नहीं है कि हैदराबाद का रेड्डी वहीं भूखा मरे। वह पटना में भी मर सकता है, क्योंकि देश एक है। मुनाफाखोरों, कालाबाजारियों, भ्रष्टाचारियों ने मिलकर राष्ट्र को एक कर दिया है। सुन्दर सपने वाले रवीन्द्रनाथ की उल्लास-मयी जिज्ञासा थी कि ये हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई सब किसके आवाहन पर भारत-महामानव-सागर में एकत्र हो गये हैं? मैं पूछता हूँ, कवि, वे तो ठीक आये, मगर ये सब जातियों के लुच्चे किसके आवाहन से इधर आये?" अन्त में मर्माहत होते हुए व्यंग्यकार ने सहनशीलता और तटस्थता पर जो कहा उसे सुनिए, "अद्भुत सहनशीलता है इस देश के आदमियों में, और बड़ी भयावह तटस्थता। कोई उसे पीटकर उसके पैसे छीन ले, तो वह दान का मन्त्र पढ़ने लगता है।"

'एक बेकार घाव' को लेकर परसाई जी ने दुःख की छान-बीन की है। लिखते हैं, "पीड़ा के गवाह न हों, तो वह बेमजा हो जाती है। बहुत तरह की पीड़ाएँ गवाह देखकर पैदा हो जाती हैं जैसे कुछ स्त्रियों के पति के घर आते ही सिरदर्द होने लगता है।—खूबसूरत चिकने पत्थर बड़े खतरनाक होते हैं। इन पर पहिले तो सिर्फ फिसलने का ही डर था। मेरे देखते ही देखते बहुत-से लोग चिकने पत्थरों को कुचलने का हौसला लेकर गये और फिसलकर ऐसे गिरे कि अभी तक उनका सिर पत्थर में चिपका है। अब तो वे इसे अपनी नियति मानने लगे हैं, और उठने

की कोशिश को बेवकूफी समझते हैं। इधर पत्थरों ने तेज किनार निकाल ली है। कोई मजबूत कदम वाला चले और न फिसले, तो उसका पाँव काट देते हैं। किसी मन्त्री का जुकाम मेरे निमोनिया के बराबर होगा। मेरी जानकारी में एक मन्त्री की जाँघ में फोड़ा हो गया था। उनके आसपास लोग इस तरह बैठे थे, जैसे सब के शरीर में फोड़े ही फोड़े हों। प्राचीन इतिहास के एक अध्यापक, जिनकी तरक्की रुकी थी, बता रहे थे कि प्रियदर्शी अशोक को भी ठीक इसी जगह फोड़ा हुआ था। इस दुःख का स्तर ही दूसरा है। वह फोड़ा राष्ट्रीय स्तर का था। राष्ट्रीय स्तर के फोड़े एकदम आदरणीय हो जाते हैं। मेरा घाव 'मरहम-वरहम' स्तर का ही था।—एक दुःख है कि रोटी नहीं है। एक दुःख यह भी है कि जिसमें रोटी रखते है, वह फ्रिज बिगड़ गया है।—अच्छा कनेण्डर न मिले, तो कुछ लोग आत्महत्या करने की जगह खोजते हैं।—अच्छे घाव से बड़े काम होते हैं। रूठी प्रेमिका लौट आती है। प्रेम की परीक्षा भी हो जाती है।—सजे हुए घावों से लोग मन्त्री हो गये हैं। माँ की मृत्यु से एक उम्मीदवार चुनाव जीत गये। पेचिस ने एक 'रीडर' को प्रोफेसर बना दिया। एक बहिन जी को पति ने त्याग दिया, तो सारी पार्टियाँ उनके सामने चुनाव टिकट लेकर खड़ी हो गयीं।—पैर का घाव सबसे घटिया होता है। घाव सिर पर हो और पगड़ी की तरह पगड़ी बँधी हो तो लोग आधा घंटा हाल पूछते हैं। हाथ में चोट हो और हाथ 'स्लिंग' में लटका हो, तो आदमी कितना अच्छा लगता है। यह इज्जतदार घाव है। घाव को दूकान के साइनबोर्ड की तरह होना चाहिए। सामने टँगा हो और रंग बिरंगे बल्ब लगे हों। जो अपना साइनबोर्ड अलमारी में रखता है, उसकी दूकान बरबाद न होगी? दुबारा ऐसा मौका आया तो कोशिश करूँगा कि पाँव न कटे, सिर फूटे, 'सिर की चोट' का निराला ही मजा है। इस अँगुली के घाव ने तो मुझमें हीन ग्रन्थि पैदा कर दी है। एक जख्म और बेकार चला गया।"

ठूँस-ठूँस कर खाने और खिलाने के गैरमामूली चलन से देश के आदमी "पाँच लाख काम के घण्टे, रोज बरबाद करते हैं। बीमारी रगो रेशे में है। दोपहर का भोजन मुख्य भोजन बना लेने के कारण हम आमतौर पर खूब डटकर पेट भर लेते है। फिर दफ्तर जाते हैं, तो टेबिल पर हाथों के तकिये से सिर टिका कर ऊँघते हैं। घर में होते हैं तो फैलकर पड़ जाते हैं। किसी भी दफ्तर में 'लंच' के बाद ऊँघने वाली पलटन देखी जा सकती है। साहब के कमरे में तो आराम कुर्सी खाकर सोने के लिए ही होती है। 1 बजे से 3 बजे तक तो सारा राष्ट्र ऊँघता है।—कोई नहीं सोचता कि क्रान्ति की बुनियाद भोजन की आदत के परिवर्तन पर डालनी चाहिए। 'लंच' को सुधार लें तो विकास की रफ्तार दुगनी हो जावेगी।—क्या काम के वक्त दफ्तरों में, दूकानों में, स्कूलों में और घरों में ऊँघने वाले और पेट पर हाथ फेरने वाले क्रान्ति लायेंगे?" यह शब्द हैं परसाई के। इनके कहने की जरूरत उन्हें तब पड़ी जब वह स्वयं इस तरह से छककर खिलाये गये थे कि घर आकर घंटों बिस्तर पर पड़े-पड़े करवट

बदलते रहे और पेट के दर्द से देश का दर्द अनुभव कर रहे थे।

एक जगह परसाई जी कहते है, "पर इस अर्थव्यवस्था की नदी पर जो हमारी डोंगी बह रही है, उसमे छेद तो है पर वाल्व लगा है—बाहर से कुछ नहीं आ सकता, अन्दर का ही बाहर जाता है।" इस सत्य की उपेक्षा देश-भर मे चारों तरफ हो रही है। इसे दिन-प्रतिदिन अनदेखा और अनसुना किया जाता है। तभी तो आयात और निर्यात मे भारी असतुलन पाया जाता है।

आजकल लडको मे ऊधम करने की, अवज्ञा करने की, अनुशासनहीनता की प्रवृत्ति बहुत बढ गयी है। कोई निदान काम करता नजर नही आ रहा। परसाई जी ने इस समस्या का कारण खोज निकाला है, वे लिखते हैं, "मगर देख रहा हूँ कि श्रवण कुमार के कन्धे दुखने लगे है। वह काँवड हिलाने लगा है। काँवड मे अन्धे परेशान हैं। विचित्र दृश्य है यह। दो अन्धे एक आँख वाले पर लदे है और उसे चला रहे हैं। जीवन से कट जाने के कारण एक पीढी दृष्टिहीन हो जाती है तब वह आगामी पीढी के ऊपर लद जाती है। अन्धा होते ही उसे तीर्थ सूझने लगते है। वह कहती है—हमे तीर्थ ले चलो। इस क्रियाशील जन्म का भोग हो चुका है। हमे आगामी जन्म के भोग के लिए पुन्य का एडवास देना है। आँख वाले की जवानी अन्धों को ढोने मे गुजर जाती है। वह अन्धो के बताये रास्ते पर चलता है। उसका निर्णय और निर्वाचन का अधिकार चला जाता है। उसकी आँखें रास्ता नही खोजती, सिर्फ राह के काँटे बचाने के काम आती हैं। कितनी काँवडें है—राजनीति मे, साहित्य मे, कला मे, धर्म मे, शिक्षा मे। अन्धे बैठे है और आँख वाले उन्हे ढो रहे है। अन्धे मे अजब काइयाँपन आ जाता है। वह खरे और खोटे सिक्के को पहिचान लेता है। पैसे सही गिन लेता है। उसमे टटोलने की क्षमता आ जाती है। वह पद टटोल लेता है, पुरस्कार टटोल लेता है, सम्मान के रास्ते टटोल लेता है। आँख वाले जिन्हे नही देख पाते, उन्हे वह टटोल लेता है। नये अन्धो के तीर्थ भी नये हैं। वे काशी, हरिद्वार, पुरी नहीं जाते। इस काँवड वाले अन्धे से पूछो—कहाँ ले चलें? वह कहेगा—तीर्थ! कौन-सा तीर्थ? जवाब देगा—कैबिनेट! मत्रिमन्डल! उस काँवड वाले से पूछो, तो वह भी तीर्थ जाने को प्रस्तुत है। कौन-सा तीर्थ चलेंगे आप? जवाब मिलेगा—अकादमी, विश्वविद्यालय।" बात बडी गम्भीरता से सोची गयी है और व्यग्य होकर सटीक निकल पडी है।

चाहे गाँव हो या शहर या महानगर, सडकें सब जगह बनती रही है, बनती चली जाती है, और भविष्य मे बनती रहेंगी। मगर सब जानते है कि पहिले भी आज जैसी खराब बनती रही है और शायद आइन्दा अभी कई दशकों तक खराब बनती रहेगी। अभी कोई सम्भावना अच्छी सडकें बनने की नहीं है। कुछ एक अच्छी बनेंगी भी तो उससे कोई फर्क नही पडता। दैनिक जीवन का आवागमन ज्यादातर खराब सडको से ही होता रहता है। यह तो बात हुई अपने सीमित दायरे की। राष्ट्रीय स्तर से आगे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी साम्राज्यवाद संसार

को जिन सडको पर लिये जा रहा है वह भी किसी से छिपा नहीं है। कहते है कि "साम्राज्यवाद ने पहले की कुरूपता त्याग कर सुन्दर रूप ले लिया है।" परसाई जी टिप्पणी करते हैं और सही कहते है कि "कुचलने वाले को निरन्तर सुडौल होते जाना चाहिए। तभी कुचले जाने वाले उसे अपने ऊपर चलने देते हैं।" सडक तो मत्य को प्रस्तुत करने के लिए अपनायी है परसाई जी ने। बात असल मे उनकी करते हैं जो कुचल रहे हैं और जो कुचले जा रहे है। दोनो के रोल मे परसाई जी की आँखें उघार दी है। जहाँ भी जो भी नया निर्माण किया जाता है वह योजनाबद्ध प्रोग्राम के अन्तर्गत नही वरन् निजी स्वार्थवश किया जाता है। तभी तो ससार उत्तरोत्तर सकटमय होता चला जाता है। निर्माण कार्य होने भी इसीलिए है कि आधे मे अधिक धन भ्रष्ट अधिकारीगण डकार जाएँ। इमारत बनी तो बनाने पर बनाने वाले का बगला भी उसी पैसे से बन जाता है। इसे परसाई जी व्यग्य मे कहते है कि यह चमत्कार वैसा ही है जैसा कि भैंस के पेट से कुत्ता पैदा हो जाए। बडा चुभता वाक्य लिखते हैं परसाई जी इसी सिलसिले मे "दशरथ की रानियाँ को यज्ञ की खीर खाने से पुत्र हो गये थे। पुण्य का प्रताप अपार है अनायास मे से हवेली पैदा हो जाती है।—अब कक्रीट की सभ्यता ने रमधारा के ऊपर पक्का पुल बना दिया है। ऊपर मे अछूत निकल जाइये। कक्रीट की सडको पर काँटे नही गडते दुर्घटना होती है।' आवारा कुत्तों के माध्यम से उन लोगो पर परसाई जी ने बच्चा मे गिट्टी फिकवाई जो मिट्टी के ढेले से घायल नहीं होते, बिना पत्थर लगे। वह कहते हैं "बच्चो को आवारा कुत्तो का मारने का अभ्यास हो जाये तो अच्छा है। आगे चलकर यह देश को सम्भालेंगे। एक ही आशका है—इन्हे ऊँची नस्ल के कुत्तों को मारने का अभ्यास नही हो रहा है। ऊँची नस्ल का चाहे कुत्ता ही क्यो न हो, दबग होता है। जूठन चुराकर खाने वाले घटिया कुत्ते ही पिट रहे हैं। 1 किलो अनाजवाला जेल जा रहा है 10 ट्रक चोरी से बेचने वाला अटारी मे बेखटके रहता है। 5 रु० घूस वाला पकडा जाता है, 5 लाख वाला पकडने वाले को डिसमिस करा देता है। अलमेनियम पर यह बच्चे भी गिट्टी नही फेंकने।—सिक्ख ड्राइवर कहता है—रास्ता खराब था जी, मगर वाह गुरु जी की कृपा से मजे मे चले आये। हिन्दू ड्राइवर कहता है—ईश्वर की कृपा से रास्ता ठीक कट गया। मुसलमान ड्राइवर कहता है—खुदा का शुक्र है कि ट्रक किसी तरह आ गया। चीन का ड्राइवर कहता है—माओ के विचारो के प्रताप से बिना दुर्घटना के ट्रक आ गया। बिना देवता के शायद आदमी का काम नही चलता। देवता बदलते जायें यह अलग बात है। अमरीका के कलक्टर का बच्चा किसे नमन करता होगा? क्या राइफल और लिंकन को? लिंकन को नमन करके क्या वह वियतनाम जाता होगा? अभागा बच्चा होगा वह। या य सभी बच्चे अभागे है, दुनिया भर के, जिनके सामने इनके बुजुर्ग राइफल और देवता को रख देते हैं। यह मेरे सामने का बच्चा भी कम अभागा नही है। इसके हिस्से का दूध राइफल पी रही है। बहुत वलगर है यह चित्र। मगर यह दश-

भक्ति का चित्र है।" सडक, जिसको लेकर परसाई जी चले, वह यह सडक थी जो देश-देश मे देखने को मिलती है और जिस पर राष्ट्र के राष्ट्र अपना और दूसरो का भविष्य अन्धकारमय बना रहे है। इस युगीन यथार्थ सत्य से अनअवगत रहना ही षड्यन्त्र को बल दिये रहता है। इसी को भरपूर अवगत कराया है परसाई जी ने, दैनिक जीवन के सत्य से जोडकर ताकि जडवत् भी चेतन हो और अपने इर्द-गिर्द की दुनिया को सही परिप्रेक्ष्य मे देखकर सही कदम बढायें और नयी मानवीय उपलब्धियाँ हासिल करें, न कि गर्त मे गिरते जायें—गिरते जायें और समाज का रूप-रंग विरूपित कर दें।

'डेंगू, अध्यात्म और लेखक' परसाई जी के कुछ 'हड्डी तोड' और 'हिम्मत तोड' पतव पढने लायक है। 'रोग' कितना ही बुरा हो नाम अच्छा होना चाहिए। अमरीकी शासक हमले को 'सभ्यता' का प्रसार कहते है, तो वह इतने बुरे नही लगते। बम बरसते है, तो मरने वाले सोचते है कि सभ्यता बरस रही है। चीनी नना लडकी के हुल्लड को 'सांस्कृतिक क्रान्ति' कहते है, तो पिटने वाला नागरिक सोचता है कि मै सस्कृत हो रहा हूँ।—आश्रम के नाम से चकलाघर चले, तो भला ही लगता है। नैतिक सुधार के नाम से लडकियाँ भगाई जाये तो किसी को ऐतराज नही होता। डेंगू का नाम 'मधुरिमा' होना, तो—दृश्य दूसरा होना।— बुखार मे वह जीव, ब्रह्म और माया की बातें कर रहा था। समार असार है। शरीर नाशवान् है। आत्मा अमर है। ब्रह्म ही सत्य है।—ऋषि, मुनि जिन्दगी-भर तपस्या करते थे, तब उन्हे अध्यात्म बोध होता था और बाधायें कितनी थी—अप्सरा की, दूसरे ऋषि से ईर्ष्या की। मगर तुझे 101 डिग्री बुखार म ही अध्यात्म-बोध हो गया। क्या डेंगू आध्यात्मिक बीमारी है? तपस्या और बुखार मे क्या कोई फर्क नही है? क्या अध्यात्म एक तरह का 'डिलीरियम' है? अगर है तो शहर मे इस वक्त हजारो ज्ञानी है। वे डेंगू के बुखार के जरिये आध्यात्मिक भूमिका मे पहुँच गये है।—राजनीति से लेकर बुखार तक मे नाटकीयता प्रभावित करती है। चुनाव मे ऊँची जाति का सम्पन्न उम्मीदवार किसान के घर जाकर कहता है—दद्दा, आज तो हम तुम्हारे घर से रोटी खाकर ही जायेंगे। बाद मे किसान मारे गाँव मे कहता फिरता है—इत्ते बडे आदमी है, पर घमड बिल्कुल नहीं है।— बिना नाटक के बडा काम करो, कोई चर्चा नहीं होती।— सास्कृतिक आदान-प्रदान की सन्धियाँ होती है मगर रोग आ जाते है। बीमारियाँ अन्तर्राष्ट्रीय हो गयी है। हम बाहर की बीमारी ग्रहण करने के लिए बहुत तत्पर रहते हैं।—निर्यात अपना कमजोर है—सामान का हो, चाहे बीमारी का। सुना है भारतीय गाँजा और भाँग पश्चिम मे बहुत पसन्द किये जाते है। यह धार्मिक नशा है। साधु गाँजा पीकर त्रिकालदर्शी हो जाता है। आल्डसहक्सले भी मानता था। नशे के बदले मे हम बीमारी ले लेते हैं। पश्चिम को और नशा चाहिए, पूर्व को और बीमारी चाहिए।—अपनी अर्थव्यवस्था को डेंगू हो चुका है। लेटती है तो उठा नहीं जाता। बिठा दो, तो लुढक जाती है। पूछता हूँ—माता

जी, यह क्या हो गया ? कहती हैं—बेटा, डेंगू हो गया। बाहर से 'इनफेक्शन' आया था। मेरे बेटे को भी डेंगू हो गया था। कितना दुबला गया बेचारा !"

यह है परसाई जी का डेंग्, अध्यात्म और लेखक का विश्लेषण। कैसी अचूक पकड़ है आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और दैहिक बीमारियों की। इनकी अंगुली वहीं पहुँचती है जहाँ देश दर्द से कराहता होता है। विदेश भी इनकी चपेट में लात खाकर चित हो जाता है। यह सब बातें दिल और दिमाग का फेर नहीं हैं जैसा फेर आज के बौद्धिकों के दिल और दिमाग में होता है। उनके यहाँ तो जरा-सी बात पर जमीन-आसमान के कुलाबे मिला दिये जाते हैं और नाक के नीचे, देश हो या विदेश, सड़ता रहता है और वे भी उस सड़ांध के सहभोक्ता होकर ऊल-जलूल बकते रहते है। दरअसल मे सत्य—यथार्थ जीवन का सत्य—वही टोहते है जो वैज्ञानिक दार्शनिक दृष्टि से आदमी बनने के कायल हो चुके होते है और दूसरों को भी आदमी बनकर जीने का दायित्व सौंपते हैं।

'ग्रीटिंग कार्ड और राशन कार्ड' मे परसाई जी ने अच्छे खासे चुभते वाक्य लिखे हैं। विस्तार रूप में उनकी बानगी यहाँ पेश नही की जा रही।

अन्त मे इस देश के सुप्रसिद्ध दर्शनीय स्थल भेड़ाघाट के इस धुआँधारिय व्यंग्यकार परसाई को, जो अब तक मेरी नजर से छिपा रहा, उसके वजनदार वचनों के लिए बार-बार हार्दिक बधाई देता हूँ कि उसने अपनी चेतना को सार्थक किया, और दूसरे भी उसके सटीक विश्लेषण मे समर्थ और साहसी हुए। साहित्य और कला का भी ऐसे ही जनतन्त्रीकरण किया जा सकता है जैसा करके परसाई जी ने बता दिया। सत्य की पकड़—निर्भीक अभिव्यक्ति—साहित्यकार की सबसे बड़ी मौलिक उपलब्धि होती है जो कोरी बौद्धिकता को और तथाकथित समसामयिकता को दूर—बहुत दूर पीछे छोड़कर, जनता का मार्ग प्रशस्त करती रहती है। परसाई के तर्ज और तेवर महान मानवीय गुणो को स्थापित करने के लिए बहुत जरूरी हैं। ऐसे ही व्यक्ति की लेखनी स्याही से नहीं—खून से लेख लिखती है—व्यंग्य करती है और हृदय वेध देती है। इस गद्य के बलिष्ठ और पुरुषार्थी प्रवीण व्यंग्यकार की रचनाएँ ऋषियों की ऋचाओं को मात करती हैं और भारतीय चिन्तन-पद्धति मे आमूल परिवर्तन करती है। निर्लिप्त विवेक की वाणी आदमी के दु:ख-दर्द से उद्भूत हुई है और आदमी को ही ऊपर उठाने में जी-जान से लगी है।

—केदारनाथ अग्रवाल

एक सुविन्यस्त संसार

हास्य और व्यग्य के चुलबुले रूप रोज पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते है किन्तु परसाई के व्यग्यों की प्रकृति भिन्न है। उनके व्यग्य सोद्देश्य और साभिप्राय हैं और उनकी पृष्ठभूमि मे एक सुनिश्चित सामाजिक दृष्टि है।

लूसियाँ गोल्डमान ने अपने सरचनावाद (जैनेटिक स्ट्रक्चरलिज्म) की व्याख्या करते हुए किसी कृति की सार्थकता का निकष यह माना है कि उसमे या उससे एक सुसम्बद्ध विश्व (कोहेरेंट यूनीवर्स) की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इस व्यक्त या अभिव्यजित रचना विश्व मे घटनाएँ, मानसिक दशायें, चरित्र गठन आदि को एक रचनात्मक व्यवस्था मिली हो और इस रचनात्मकता के भीतर शैलीगत स्वत स्फूर्तियो का सम्मिलन हो।[1]

यदि कोई सार्थक कृति एक सुविन्यस्त ससार है, अपने मे एकान्वित है, तो उसकी आतरिक सरचना को देखना होगा और यह भी कि इस आतरिक सृष्टि और बाह्य सरचना या बहिर्वृत्त या समाज के साथ उसका क्या सबध है?

हरिशकर परसाई के व्यग्यों का केन्द्रबिन्दु उनकी यथार्थ को आर-पार देखने वाली दृष्टि है, जो 'मनुष्य' और 'समाज' का एक आदर्श सामने रखकर चलती है। परसाई के व्यग्यों मे सर्वत्र आज के बिगडे हुए मनुष्य और विगत समाज का तिरस्कारक व्यग्य, उपहास, प्रताडना और उच्चाटन है। उन्हे कही भी, कोई सगति, सामजस्य, समता, बधुत्व और सार्थकता नजर नही आती। 'मुक्तिबोध' पर लिखे सस्मरण मे अवश्य उनकी धनात्मक दृष्टि उभरती है क्योंकि मुक्तिबोध और परसाई, दोनो एक ही विश्वदर्शन के पक्षधर लेखक हैं और दोनो ने समाजवादी दृष्टि और सृष्टि के लिए आजीवन सघर्ष किया है, अतएव इस सस्मरण मे परसाई सहानुभूति से सराबोर नजर आते हैं।

यदि 'शिकायत मुझे भी है' के व्यग्यो के विषयो को ही देखा जाए तो मुक्तिबोध शीर्षक सस्मरण को छोडकर अन्य सभी विषय सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित हैं और यह यथार्थ कहीं भी अमूर्त्त नहीं है, मूर्त्त और वास्तविक है। उनमे रोज-ब-रोज के जीवन के कष्टो, आडम्बरो और अनीतियो का उपहास है, जो लेखक की दूरगामी दृष्टि के कारण पाठक को झकझोरता है कि वह सोचे कि इस

1. The Sociology of Art—Milton C-Albrecht. London, Page 597, Part V Lucien Goldmann.

अन्तहीन यातना का कारण क्या है ?

परसाई के व्यंग्यों में विद्ध यह दृष्टि ही उनकी रचनात्मकता का मुख्य घटक है। इसकी पहचान प्राय नहीं हो पाती और साधारण पाठक सिर्फ अंतर्विरोधी के उद्घाटन के बाँकपन या वक्रता का आनद लेकर रह जाता है। मगर परसाई के व्यग्य की चोट दुष्ट और भ्रष्ट समाज-व्यवस्था को नकार कर, उसकी जगह मानवीय समाज की स्थापना से सम्बन्धित हैं यानी परिणति की दृष्टि से परसाई का व्यग्य मात्र नकारू नहीं है उसमें निषेध का निषेध है।

परसाई शैली की तात्त्विक दृष्टि से एक ही विधि सर्वत्र अपनाते हैं। इसे विरोधाभास उत्पन्न करने की विधि कहा जा सकता है। जो लेखक यथार्थदर्शी होते हैं और ऊपरी पाखण्ड को बेधकर भीतर की असगति और अमानवीयता या कुरूपता को पहचान सकते हैं, उनकी मनोदशा सदैव लडाकू रहती है। इस मुकाबले की मनोगति में असगति का दिग्दर्शन विरोधी तत्त्वों को एक साथ प्रस्तुत कर देने से सरलता से हो जाता है। अत परसाई के सभी व्यग्यों में सक्षिप्तता और सरलता के साथ विरोधात्मक वाक्यों या जुमलों का जमघट है।

विरोधात्मक रचना-प्रक्रिया से कहने के रवैये में ऊब नहीं रह सकती, एक फडक उत्पन्न हो जाती है एक काट आ जाती है जैसे ऊपर से दिल्लगी करते हुए कोई प्रतिपक्ष के मर्मस्थानों का मलीदा बना रहा हो। यह मजा ले लेकर, दुश्मन को मारने का तरीका विरोधात्मक जुमलों और वाक्यों के बिना नहीं हो सकता। तत्त्वज्ञानात्मक लहजे में सकट यह होता है कि तात्त्विक लेखक वक्रता का प्रयोग न कर, धारणात्मक वाक्या का प्रयोग करता है। इससे शैली भारी-भरकम होती है और साधारण पाठक ऊबता है, किन्तु परसाई व्यग्य के लिए विरोधी रगों, पक्षों और प्रत्ययों को एक साथ प्रस्तुत करने की कला म अद्वितीय लेखक है।

आदर्शवाद (आइडियलिज्म) को निस्सार सिद्ध करने के लिए पोथे पर पोथे लिखे गये हैं, लेकिन हरिशकर परसाई दो-चार भलीभाँति तराशे हुए वाक्यों में, विरोधात्मक वाक्य सरचना से आदर्शवाद को सारहीन सिद्ध कर देते हैं—

"मगर ज्ञानी न जाने क्यों मनहूस हो जाता है। फूल उसे दिखाओ तो वह उसकी जड का कीचड देखने लगता है और उदास हो जाता है, हाय, यह सौन्दर्य मिथ्या है। अज्ञानी, तब ज्ञानी से पूछता है—ज्ञानी जी, फूल ही मिथ्या क्यों है ? कीचड मिथ्या क्यों नहीं है ? ज्ञानी कहेगा—वत्स, ज्ञान का सार ही यह है कि जो सुन्दर है, वही मिथ्या है · तब अज्ञानी पूछता है—अगर सब मिथ्या माया है तो मठ की गद्दी के लिए शकराचार्य हाई कोर्ट के मुकदमे क्यों लडते हैं ?"[1]

'फूल और कीचड' तथा 'शकराचार्य और हाई कोर्ट के मुकदमों' का विरोधी

1 'दूसरे के ईमान के रखवाले'

रग ही पाठक को चमत्कृत करता है किन्तु यहाँ शैलीपरक चातुर्य मात्र नही है, इसके पीछे वह यथार्थवादी विश्वबोध भी है जो ससार को मिथ्या नही मानता और ससार को असार कहने वालो के निहित स्वार्थों और निम्नताओ को पकड लेता है—यह नुकीला बोध दृष्टिहीन व्यग्यकारो मे नही मिल सकता।

विरोधात्मक वाक्य सरचना हलकी पड जाती, यदि हरिशकर परसाई, हमारी सामाजिक व्यवस्था की सरचना की असगति से परिचित न होते, अत परसाई के प्रहार गूँज पैदा करते है। पहल प्रहार नितान्त तात्कालिक अतर्विरोधो पर होते है लेकिन उनकी गूँज इस बोध तक जाती है कि यह सारा सामाजिक-राजनैतिक ढाँचा बदलना होगा क्योकि सार्वभौमिक असगति का उपाय ऊपरी सुधार नही, क्राति है—

(1) "तुमने (विदेशो ने) गेहूँ दिया—लो चार वैज्ञानिक ले जाओ।" (पृष्ठ 9)

(2) "सुना है, इग्लिश चैनल, अपनी 'प्रॉपर चैनल' से कम चौडी है।" (पृष्ठ 10)

(3) "जिसने सबसे पहले पुलिस की लाठी के दोनो सिरो पर लोहे के गुट्टे लगाये, उसे भौतिक-शास्त्र का नोबुल पुरस्कार क्यो नहीं मिला ?" (पृष्ठ 11)

(4) "सन्तो को परनिन्दा की मनाही होती है, इसलिए वे स्वनिन्दा करके स्वास्थ्य अच्छा रखते हैं।" (पृष्ठ 19)

(5) "मानवीयता उन पर 'रम' के 'किक' की तरह चढती उतरती है।") (पृष्ठ 20)

(6) "कही न्याय 'सिक-लीव' पर तो नही चला गया ?" (पृष्ठ 24)

(7) "झूठ बोलने के लिए सबसे सुरक्षित जगह अदालत है।" (पृष्ठ 29)

(8) "ब्लैकमेल को आजकल विद्रोह भी कहते है।" (पृष्ठ 31)

(9) "राष्ट्रीय पुरुष को मरघट मे 'सोर्स' मिल गया तो मुफ्त की लकडी मे जिन्दा जल मरे।" (पृष्ठ 34)

(10) "अगर आप जूता मारना चाहते हैं तो कृपया पहले हमे सूचित कर दें, जिससे कार्यक्रम सुचारु रूप से चल सके।" (पृष्ठ 39)

(11) मैंने अपनी सुविधा के लिए भाषण मे हूटिंग के उपयुक्त कई स्थल रखे हैं।" (पृष्ठ 40)

(12) "जब-जब आदरणीय होने का खतरा पैदा होता तो कोई बेवकूफी या उचक्कापन कर जाता।" (पृष्ठ 45)

इसी तरह के विरोधात्मक कथन प्रकारो से हरिशकर परसाई के व्यग्यमय लेख भरे पडे हैं। सर्वत्र एक ही रचना प्रक्रिया है, एक ही हस्तकौशल है, और वह यही कि उपहास या उच्चाटन के लिए उदात्त स्वर या सहजे के साथ अनुदात्त, गौरवमय भगिमा के साथ भदेस और आदरास्पद रग के साथ [illegible]

का प्रयोग—यह विधि हरिशकर परसाई की अब इतनी सिद्ध हो गयी है कि वह अपनी क्रीडाशील मनोवृत्ति बनाये रखकर किसी भी अवाछनीय प्रवृत्ति, अभिवृत्ति (एटीट्यूड) या मनिर्बंधि का पर्दाफाश कर देते है और इसके लिए उन्हे बातो का बवडर या भावुकता के भँवर भी नही बनाने पडते। मध्यगय मुद्रा मे अपने को सदैव रखने वाला लेखक अपनी यथार्थवेधक दृष्टि और प्रत्युत्पन्नमति एवम् त्वराशील स्मृति के बल पर उपहास्य को उखाडने के लिए विरोधात्मक वाक्य गढ लेता है। प्राय ऐसे वाक्य पूर्वदृष्ट असगतियो के अनायास प्रस्फुटनो के रूप मे उदित होते है।

पूर्व साक्षात्कारित यथार्थ का प्रवाह हरिशकर परसाई के मन मे लगातार चलता रहता है। इसे किसी भी प्रहारात्मक व्यग्य मे देखा जा सकता है—

"ना समझो, जिस लम्बी उज्ज्वल परम्परा की तारीफ कर रहे हो, वह तो चाँदनी मे छाता लगाकर चलती है। वह गुनगुन पानी के साथ तीन चुटकी *त्रिफला खाकर बिस्तर पर लेटी है।"*

जुकाम के डर से चाँदनी मे छाता लगाकर चलने वाले नवाबनुमा कोमल लोगो और बदहजमी के शिकार भारतीयो की भीरुता और 'डलनैस' को जो गौर से देख सकता है, वही उन्हे मस्त विदेशियो की तुलना मे प्रस्तुत कर सकता है। आत्मग्रस्त, आत्ममोहित व्यक्ति अपनी जीवन-शैली को ही सराहते रहते है और कभी उनका ध्यान अपने सडेपन पर नही जाता। हरिशकर परसाई इस सडेपन का सूँघ-सूँघकर उसे आत्मतृप्त लोगो को दिखाते है और उनकी आखो मे अँगुलियाँ डालकर कहते है कि—अपने को बदलो।

पर्यवेक्षणो की चुभनशीलता के अतिरिक्त परसाई के व्यग्यो मे कही कही, विरोधपद्धति पर ही आधारित फतासी भी है—

"सूर्य दिख जाता है। मुझे यह दृश्य अच्छा नही लगता। लगता है कोई काली कुरूपा स्त्री माथे पर रेखडी पहने हो'''पिछले महीने, मैने सूर्य को निकलते देखा तो लगा, राष्ट्रपति शासन लागू हो गया। चन्द्रमा का सप्तर्षि मत्रिमडल और नक्षत्रो की विधान सभा भग। सविद के घटका म पटी नही। अब गृहमत्री का किरणो का डडा है और हम!" (पृष्ठ 52)

विडम्बना के रूप मे भी फतासी का यह रूप कितना कचोटक है—

'मेरे सामने झोपडी के सामने एक आदमी बैठा हुआ एकटक डूबते सूर्य को देख रहा था। वह बडा सौन्दर्य-प्रेमी मालूम होता है पर ज्योही सूर्य डूबा, वह लोटा लेकर पास के नाले म उतर गया!" (पृष्ठ 54)

सौन्दर्यबोध के लिए भी आवश्यक सुविधाएँ चाहिए—इस जीवन-सत्य को सीधे न कहकर किस विडम्बक लहजे म कहा गया, यह देखने योग्य है। परसाई का ध्यान सर्वत्र मनुष्य की स्थिति पर रहता है और उनका यही मानव-प्रेम उनके *व्यग्यो को इतना प्रिय बनाता है। यहाँ यह भी व्यग्य है कि हमारे शासक और* धनीमानी लोग महान स्मारको की जगह यदि जनता के लिए शौचालयो का

निर्माण करा देते तो जनता अधिक सौन्दर्यप्रेमी होती।

विपरीत कथन पद्धति सिर्फ बातें बनाने से नहीं आती, जीवन के निरीक्षण से आती है। कबीर की उलटबाँसियों में जीवन और समाज की विभिन्न स्थितियों का परिज्ञान छिपा हुआ है। जो सिर्फ बात से बात निकालते या बातते हैं, वे बातूनी या भाँड कहलाते हैं और कुत्सना की सृष्टि करते हैं, जबकि हरिशंकर परसाई कुरूपता का अनावरण कर उसे दूर करने की प्रेरणा देते हैं। उनमें हलका हँसोड़पन नहीं, भड़ाफोड़पन है, ऐसा जो प्रतिपक्षी को तिलमिला दे और फिर भी वह लेखक की वार्तकला पर हँस पड़े।

हरिशंकर परसाई के व्यंग्यों की आंतरिक संरचना और बाह्य यथार्थ में सीधा सम्बन्ध है। उनकी चाल, यथार्थ के समानान्तर नहीं, यथार्थ में पन्दा उठाती हुई चलती है, वह यथार्थ की शल्यक्रिया करते हैं, उसे सहलाते नहीं हैं। परसाई का व्यंग्य-लेखन मनोरंजनात्मक जनसंघर्ष है। वह जनहित को केन्द्रस्थ कर जनशत्रुओं, उच्चवर्गों, शासकों, आदि परजीवी लोगों को ही नहीं, अपने जन-पक्ष के साथियों के अंतर्विरोधों को भी नहीं बख्शते और यही चीज परसाई को बड़ा व्यंग्यकार बनाती है।

कृतित्व के साथ ही, अन्त में, हरिशंकर परसाई के व्यक्तित्व की भी एक झलक देख ली जाए।

मैं परसाई के व्यंग्यों को पढ़ता रहा हूँ पर उनसे मिलने का संयोग सिर्फ एक बार हुआ। भोपाल में, घोर आपातकाल के समय श्री अशोक वाजपेयी ने एक लेखक सम्मेलन बुलाया था। श्री धनंजय वर्मा और श्री शानी के आग्रह पर मुझे भी आमंत्रित किया गया। मैं पहली बार अशोक वाजपेयी के समारोह में गया था, यों शंकित था कि वहाँ सरकार-समर्थक लेखकों का जमघट होगा और उनके मध्य मैं क्या कर सकूँगा?

तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचन्द्र सेठी ने, उद्‌घाटन तथा पुरस्कार वितरण समारोह में घोषित किया कि लेखक निर्भय होकर आपातकाल या 'अनुशासनपर्व' में सरकार की भूमिका और उपलब्धियों पर विचार करें और अपना मत प्रकट करें। लेखकों में कुछ जान आयी पर धुकधुकी भी लगी थी कि कहीं सरकार विपरीत मत प्रकट करने पर सख्ती पर न उतर आए।

प्रथम विचारगोष्ठी के तीन अध्यक्ष बनाये गये थे—श्री शिवमंगल सिंह सुमन, डॉ० नामवर सिंह और मैं। लेखक बहुत सहम-सहम बोल रहे थे। अचानक एक लेखक ने मुझे एक तरफ बुलाया और कहा कि इस सरकार ने अभी एक लेखक को गिरफ्तार कर लिया है और यहाँ वह आप सबसे समर्थन बटोरना चाहती है। मैंने उस साथी से कहा कि आप हममें ज्येष्ठ अध्यक्ष, सुमन जी से कहें कि इस स्थिति पर विचार हो। सुमन जी ने मस्ती में अनुमति दे दी। नामवर सिंह चालाक चुप्पी धारण कर गये। उस लेखक ने सबके सम्मुख, कहीं मध्य प्रदेश में एक किसी लेखक की गिरफ्तारी की बात कही। मैंने कहा कि हम

यहाँ आतिथ्य और किराया वसूली के लिए नहीं, लेखक के रूप में अपनी बात कहने आये है, अत आप लोग निस्सकोच अपना अभिमत प्रकट करें।

उस लेखक की गिरफ्तारी पर चिंता प्रकट की गयी और सत्ता के स्वरूप और भूमिका पर विचार करते हुए हरिशकर परसाई ने कई बार कहा कि सरकार की भूमिका में कुछ उपलब्धियाँ और कई न्यूनताएँ हैं। परसाई, मेरे इस विश्लेषण से सहमत थे कि सरकार ने कुछ सुधारात्मक कदम उठाये है, पर उन्हे 'क्रान्ति' जैसा अतिगौरवपरक नाम देना ठीक नही है। क्रान्ति मे सारे प्रयत्न और योजना, सूत्र और सुधार, एक आमूलचूल परिवर्तन की समग्र दृष्टि के अनुरूप होते हैं, अत सत्ता का स्वरूप सुधारवादी है, क्रान्तिकारी नही। इसके अतिरिक्त अकुशो की भी आलोचना की गयी।

मैं यह देख रहा था कि हरिशकर परसाई और नामवर सिंह के रवैये मे इतना अतर क्या है? अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह, सत्ता का अप्रत्यक्ष समर्थन कर रहे थे। नामवर ने तो प्रत्यक्षत विद्रोह के साहित्य पर छीटाकशी की और सत्ता प्रतिष्ठान के विपक्ष मे एक शब्द नही कहा जबकि हरिशकर परसाई ने साफ कहा कि कोई जनक्रान्ति नही हो रही है, जहाँ, तहाँ कुछ अच्छे कदम उठाये गये है पर कष्ट भी कम नहीं हैं।

व्यग्यकार परसाई और मार्क्सवादी कहे जाने वाले आलोचक की भूमिका का अतर देखकर मैं आश्वस्त हुआ कि हमारे लेखक श्री परसाई किसी भी दशा मे जनपक्ष को छोडने वाले नही है, आलोचक भले ही ठकुर सुहाती कहे।

इसी सन्दर्भ म यह जानना भी दिलचस्प है कि हरिशकर परसाई को ही यह काम सौंपा गया कि वह मुख्यमत्री से मिलकर उस गिरफ्तार लेखक को मुक्त कराएँ और परसाई इस कार्य में सफल हुए। चूँकि मैंने ही उस लेखक की गिरफ्तारी के विषय को उठवाने मे मदद की थी अत शानी जी से जवाब-तलब किया गया कि विश्वम्भर नाथ उपाध्याय को क्यों बुलाया गया, किसने बुलाया? शानी को शर्मिन्दा होना पडा था।

डॉ० धर्मवीर भारती ने इस सत्र की पूछताछ न कर, 'धर्मयुग' के होली अक (1979) म दिल्लगी की कि विश्वम्भर नाथ उपाध्याय आपातकाल मे अफसरा द्वारा आमत्रित सम्मेलन म गये, लकिन यह नही लिखा कि वहाँ उपाध्याय जी ने क्या किया या क्या कहा? सन्दर्भ को तोड-मरोडकर एक उद्धरण भी मेरे नाम पर या चिपकवा दिया, गोया, मैं सरकार या उसके अधिकारी श्री अशोक वाजपेयी की प्रशसा कर रहा था।

उस सम्मेलन मे हरिशकर परसाई और मैंने ही, सत्ता की भूमिका का सही मूल्याकन किया था। इस तथ्य को मैं अब लिख पा रहा हूँ, इसके लिए भी परसाई ही निमित्त बने।

परसाईजी के व्यक्तित्व के प्रति मेरा आदर तभी से बढा यो मैं उनके व्यग्यो की मार का कायल था।

श्री हरिशंकर परसाई के व्यंग्य, इसी ईमानदार, जनपक्षधर व्यक्तित्व से उदित होते है। इस व्यक्तित्व ने अपने प्रगतिशील रुखों और विचारो के लिए बहुत कुछ सहा है, दक्षिणपथी तत्त्वो से शारीरिक यातना भी भोगी है और इस विषम और विसगत व्यवस्था मे अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की रक्षा के लिए सतत सघर्ष किया है। व्यग्य, इस सघर्ष से उत्पन्न तीखेपन से ही धारदार बनता है। परसाई की दिल्लगीबाजी के पीछे, जो आँच और दग्धता है, उसे लोग भूल जाते हैं। सार्थक लेखन कोई कल्पना-प्रसूत वस्तु नहीं होती, वह मात्र वक्रता की बाजीगरी नही है, उसम लेखक की आतरिक सरचना और बाह्यवृत्त का द्वन्द्व बोलता है और यह द्वन्द्व जितना ही दीर्घ और दाहकारक होता है, जटिल और जीवत होता है, उतना ही वह प्रभावक होता है अत परसाई का व्यग्यमय लेखन, समझने मे सरल मगर अनुभव और विश्लेषण मे जटिल और विविधायामी है। उसमे एक प्रखर सामाजिक चेतना का वेधक परन्तु क्रीडाशील सचरण है और उसका प्रयोजन जनमुक्तिबोधक है।

जो गोली लम्बी नली मे से सन्नाती हुई निकलती है, वह अधिक विस्फोटक होती है। मुझे हरिशकर परसाई की लम्बी पतली काया बन्दूक की नली-सी लगती है, जिसमे से व्यग्य सन्नाता हुआ निकलता है और जनशत्रु को छार-छार कर देता है।

लेखन सघर्ष के इस साथी को और अधिक प्रहार-क्षमता की शुभकामनाओं के साथ इस अवसर पर सैल्यूट कर रहा हूँ।

—विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

विद्रूप राजनीति का माजरा

चौधरा 23 तारीख का विसान रैली हागी।

मोरारजी—मरे साथ 302 म म 180 मदस्य ह।

चौधरी—धमकी मत दो। वनी विराट किमान रैली हागी। नन व दन पड जायग।

मोरारजी—धमकी मन दा। म निपट लूगा। मर साथ 180 है।

चौधरी—ना मैं जाऊँ ?

मारारजी—तुम्ह बुलाया किसन था ?

चौधरी—दुष्ट !

मोरारजी—दुष्ट !

महामिलन की कथा के इस अश से स्पष्ट है कि परमाई का कालम ये माजरा क्या है राजनैतिक स्वभाव का जनरुचि का कालम है। जनरुचि के नाम पर किये जान वाल सुविधाजनक हास्य स हटकर यह वतमान राजनीति की वस्तुपरक व्याख्या है। यह किसी कालम लेखक पत्रकार की सूचना प्रधान व्याख्या नही है बल्कि एक चिन्तनशील साहित्यकार का विश्लेषण है जो एक सुनिश्चित जीवन दशन के परिप्रेक्ष्य म समसामयिक राजनैतिक घटनाओ को परखन का प्रयास कर रहा है।

हिन्दी पत्रकारिता म यो ही राजनतिक व्यग्य के कालम कम है। जो कालम है भी उनम एक स्पष्ट दृष्टि का अभाव खटकन वाला है। नतीजा साफ है। एक लेखक एक घटना पर व्यग्य करता है फिर वही लेखक उससे विपरीत स्वभाव की घटना पर भी व्यग्य कर बैठता है। वस्तुत किसी घटना को वक्रदृष्टि से देखना बहुत कठिन नही है। कठिन है उस वक्रदृष्टि के माध्यम स एक स्पष्ट विचारधारा की अभिव्यक्ति जिसके बिना व्यग्य की साथकता और सामाजिक उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। ये माजरा क्या है प्रगतिशील विचार धारा क लेखक की दृष्टि है जो भारतीय राजनीति के भीतर छिपी विसगतियो को उजागर करती है। साम्यमूलक जीवन पद्धति के लक्ष्य तक पहुँचन म प्रति गामी जीवन दृष्टि और सत्ता की राजनीति कसी बाधाएँ खडी करती हैं इस वतमान भारतीय राजनीति म अच्छी तरह समझा जा सकता है। इस विसगति को पहचानने और विश्लेषित करन के लिए जिस स्पष्ट वामपथी समझ की आवश्यकता है वह परसाई म कूट-कूटकर भरी है। वस्तुत परसाई के सवश्रेष्ठ

व्यंग्य-लेखन होने के पीछे सर्वाधिक सक्रिय तत्व यही है।

यह समझने के लिए किसी विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता नहीं है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद---प्रजातान्त्रिक मुखौटे के नीचे भारतीय राजनीति का चेहरा पूंजीवादी और नौकरशाही की खाज से भदरंग होता गया। एक ओर पूंजीपतियों ने राजनीति को अपनी अँगुलियों पर नचाया और दूसरी ओर चालाक नौकरशाही ने स्वार्थ और कामचोरी के द्वारा सरकारी कार्यक्रमों को पंगु बनाया। नेताओं की व्यक्तिगत पसन्द और सनक को समझने वाली नौकरशाही ने मन्त्रियों के दौरों का श्रृंगारीकरण किया। 1947 से लेकर आज तक स्थिति यह बनी हुई है कि नेतागण अपनी नीतियों के क्रियान्वयन से नहीं बल्कि सेवा-सत्कार से खुश होते हैं। आदम प्रधानमन्त्री के नाम पत्र लिखता है—भाई जी, आप अभी दौरे पर थे तो एक जगह आपके सामने पाँच सौ आदिवासियों ने शपथ खायी कि हम शराब नहीं पियेंगे। आप बहुत खुश हुए। पर भाई जी, आपको पता नहीं कि इन आदिवासियों को यह वायदा करके इकट्ठा किया गया होगा कि शपथ के बाद तुम्हें ठर्रा पिलायेंगे। और आपके हटने के बाद उन्हें ठर्रा पिलाया गया होगा। पर आपको क्या पता, कितने लोगों ने नशे में यह शपथ ली कि नशा नहीं करेंगे। भाई जी, ये सरकारी अफसर बड़े चतुर हैं। ये प्रधानमन्त्री का शौक या सनक समझते हैं। जवाहरलाल नेहरू के सामने ये गुलाब के गमले रख देते थे। आपके सामने ये मूत्र (जीवन जल की बोतलें) रख देंगे।

इतिहास को समझने वाला कोई भी व्यक्ति 'क्रांति' शब्द की व्यापकता, गहराई और वजन को समझ सकता है। क्रांति शब्द सुनने में अच्छा लगता है और आमतौर पर जन सामान्य को आकृष्ट करता है। यही कारण है कि छोटे-मोटे आन्दोलनों पर भी क्रांति का लेबल चस्पा करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। श्वेत क्रांति और हरितक्रांति सरकारी और कांग्रेसी क्रांतियाँ थीं जबकि सम्पूर्ण क्रांति गैरसरकारी क्रांति थी जो कालांतर में अर्द्धशासकीय क्रांति बनी। कांग्रेसी क्रांतियाँ आम आदमी को सुखद भविष्य के भ्रम में रखकर सत्ता में बने रहने की चाल थीं तो सम्पूर्ण क्रांति कुछ यूरोपियाई विचारों का गुच्छा था। इस तथा-कथित क्रांति रूपी आन्दोलन को बहुत जल्दी सत्ता-प्राप्ति के इच्छुक दलों और नेतागिरी की सूची में नाम दर्ज करवाने वालों ने हथिया लिया। इसलिए पिछली क्रांतियों की तरह इस क्रांति ने भी समाज के ढाँचे में तथा जीवन-मूल्यों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किये। इस बात को समझने के लिए समाजवादी आस्था के साथ ही समसामयिक आन्दोलनों के बीच उनके अन्तर्विरोधी स्वरों की गहरी पहचान भी जरूरी है। निकट अतीत में गुजरे हादसे का स्पर्श अधिकांश व्यंग्य लेखक करते रहे हैं लेकिन उस पर अपनी बेलाग सम्मति कम ही लेखक दे सके हैं। ये मोजरा क्या है – में परसाई जिस सहजता और तीखेपन से इसे सामने रखते हैं, वह द्रष्टव्य है। जयप्रकाश के नाम आदम के पत्र में बात इस तरह सामने आती है—विधायकों को पीटो, बन्द कर दो। विधानसभाओं को मत चलने दो,

खोमचा लूट लो, लडकियों का दुपट्टा छीन लो, कालेज के कांच तोड दो, यह सब क्राति का कार्यक्रम तय हुआ। दुनिया मे क्रातियाँ इसी तरह हुई हैं। अब क्राति एक बार चालू हो गयी तो उसे लगातार चलना ही है। क्राति एक चिरतन प्रक्रिया है वह रुकी तो प्रतिक्राति का खतरा है। हमने जब एक बार हुल्लड को क्राति का दर्जा दे दिया तो इस क्राति के अगले चरण मे आपके ऊपर चप्पल उछलनी ही थी।

भारतीय राजनीति के सदर्भ म यह द्रष्टव्य है कि हर सरकार न अपने सामान्य कार्यों का उदात्तीकरण किया। प्रत्येक देश की सरकार को कमोबेश यह करना पडता है किन्तु जनता सरकार ने सभी से बाजी मार ली। आपातकाल के बाद देश की जनता ने मताधिकार का प्रयोग कर सत्ता परिवर्तन किया। यह राजनैतिक परिवर्तन महत्त्वपूर्ण अवश्य था किन्तु इसे दूसरी आजादी के नाम से प्रचारित करना असतुलित प्रसन्नता का विस्फोट मात्र था। जनता सरकार का गठन भी एक ऐतिहासिक घटना मानी जा सकती है लेकिन उसे आत्म-निर्भर पार्टी कहना सत्य को अनदेखा करना था। जनता सरकार के खिचडी व्यक्तित्व और उससे उत्पन्न कर्महीनता की स्थिति को य माजरा क्या है—बडी सूक्ष्मता से प्रस्तुत करता है। इस 'आत्म-निर्भर पार्टी' का चित्र आदम की दृष्टि म इस तरह बनता है—नेता ने मुझे गुस्से स देखा। व आँखो स चरणसिह, कानो स मोरारजी भाई, दाढी से चन्द्रशेखर, मुस्कान मे अटल बिहारी और सिर स राजनारायण लगते है। जैसे अर्द्धनारीश्वर मे नर भी है व नारी भी, वैसे ही उनमे जनता पार्टी के सब तत्त्व एक साथ है। आँखों से व नेहरू की निंदा कर लेते हैं और दाढी से तारीफ। × × × उन्होने कहा—हम बाहर विपक्ष बिलकुल नही चाहते, हम अपना ही विरोध करने म समर्थ हैं। विपक्ष हमारे भीतर ही है। इसीलिए तो काग्रेस अपनी व्यर्थता समझकर अपने आपको नष्ट कर रही है।

जनता पार्टी के इस चरित्र को 'समयबद्ध कार्यक्रम' मे भी प्रस्तुत किया गया है। पार्टी के अन्दर हर घटक का नता अपने ढग से समयबद्ध कार्यक्रम' की व्याख्या प्रस्तुत करता है जो खास उसी के हित म है। एक-दूसरे से चिपके रहने की मजबूरी इस पार्टी की आधारशिला रही है। मेरा कोई आफ्टर नही है' मे भी इसी बात का विश्लेषण किया गया है—

मैंने पूछा—आपने दो उपप्रधानमन्त्री क्यो बनाय ?

मोरारजी ने कहा—मैंन कहा तो कि मजबूरी मे।

मैने कहा—ऐसी कैसी मजबूरी थी ?

मोरारजी ने कहा—मजबूरी जनता पार्टी का चरित्र है। एक पार्टी बनना भी इसकी मजबूरी थी। मैं भी प्रधानमन्त्री मजबूरी मे बना था। चरणसिंह और जगजीवन राम मे झगडा होने वाला था। मजबूरी में मैं ही प्रधानमन्त्री बनाया गया था। अब भी मैं प्रधानमन्त्री मजबूरी मे हूँ। मैं नही तो फिर

कौन ? चरणसिंह को जनसघ और जगजीवन गुट नही चाहते। जगजीवन राम को भालोद नहीं चाहता। कुछ अधेड जो अपने को युवा कहते है, भी महत्वाकांक्षी हैं पर उनमे आपस मे झगडा है कि कौन ज्यादा युवा है। एक चन्द्रशेखर हैं। उन्हे भालोद कभी नही बनने देगा। तुमने पार्टी की मजबूरी समझी। इसी मजबूरी मे मैं प्रधानमन्त्री बना हुआ हूँ। सब कहते हैं—क्या करें, मजबूरी है ! मोरारजी ही भले है।

देश मे प्रगतिशील चिन्तन के मार्ग मे बाधक प्रतिगामी विचारधारा पर, राजनैतिक-सामाजिक कार्यक्रमो म बाधक सत्तालोलुपता पर, आर्थिक-सामाजिक समानता के विरोध मे षड्यन्त्र रचती हुई पूंजीवादी व्यवस्था पर तीखे प्रहार ये माजरा क्या है का प्रमुख कथ्य है। सामाजिक-वैज्ञानिक चेतना की ओर अग्रसर होने वाली भारतीय जनता को साम्प्रदायिक सगठन पीछे की ओर लौटाने का प्रयास करते रहे है। ऐसे सगठनो मे सर्वाधिक सगठित और व्यापक सगठन राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के नकाब को परसाई हमेशा उधेडते रहे हैं। तथाकथित दूसरी आजादी की प्राप्ति के बाद हर जगह छा जाने की जल्दबाजी करने वाले सघ के कारण ही जनता पार्टी और सरकार टूटी। सघियो के बीच घुसकर आदम 'शोध सस्थान मे शोध' करता है कि सघ ने हिन्दुओ को सघी हिन्दू और गैर-सघी हिन्दू जैसी दो जातियो मे बाँट दिया है। दीनदयाल शोध सस्थान मे आदम सघियो का वार्तालाप सुनता है। नानाजी का विचार है कि सघ ने 'शो' ज्यादा कर दिया। केदारनाथ साहनी वगैरह को सघ की रैली मे चड्डी पहनकर नही बुलाना था। जब कि राजेन्द्रसिंह का विचार है—नहीं हमने देर कर दी। शिकार पर झपट्टा नहीं मारा। धीरे-धीरे उसके पास सरकते रहे। लोगो को भडकने का मौका नही देना था।

'जनता पार्टी आवमीजन पर कब तक चलेगी', गयाराम आयाराम हुए, महामिलन की कथा, क्या आपने इस्तीफा दे दिया—एक डगमगाती सरकार के कच्चे चिट्ठे हैं। फिर इस डगमगाती सरकार का बहुप्रतीक्षित अन्त कुर्सी की राजनीति के कारण ही हुआ। अल्प समय मे, पिछली सरकार मे विरासत मे मिले दोषो का प्रदर्शन कर जनता सरकार अपने ही अन्तर्विरोधो से धराशायी हुई। इसके पतन के पूर्व से लेकर पतन के बाद तक का नाटक बूढ़े राजनीतिज्ञो की जघन्य सत्तालोलुपता को प्रदर्शित करता है। मोरारजी का सत्ताच्युत होना और चरणसिंह का सत्तासीन होना—असमाप्य प्रकरण की कड़ियाँ मात्र हैं। इसलिए आदम 'आगामी प्रधानमन्त्री से भेंट' करता है—

आदम—मगर बाबूजी, चालाकी मे शेर नहीं, एक दूसरा प्राणी उस्ताद होता है। शेर जब शिकार को मारकर खा लेता है तब वह हड्डियो मे लगे बाकी मास को चाट जाता है। बताइये वह कौन है ?

बाबूजी—सियार है ना। अरे, तो मैं कौन कम हूँ ! मैंने इन्दिरा गाधी के मारे शिकार का मास खाया फिर अब मोरारजी के मारे शिकार

का मास खा रहा हूँ।

आदम—आप चरणसिंह की सरकार को गिरा देंगे ?

बाबूजी—मैं नहीं, बाला साहब देवरस गिरायेंगे। मैं हमेशा शेर के मारे गये शिकार का मास खाता हूँ। प्रधानमन्त्री मैं बनूँगा।

इस कालम का उद्देश्य कुछ राजनैतिक घटनाओं को आधार बनाकर हँसन-हँसान का नहीं है और ना ही बखिया उधेडन का। यह तो घटनाओं का गभीरता से परखकर और उनके दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखकर किया गया व्यग्य है। देशहित जिज्ञासा रजाशाह को अफगानाइटिस रोग अक्ल सैम की टाफी या कार्टर साहब के नाम—जैसे व्यग्य देश के आम आदमी को सत्ता के दक्षिण-पथी चरित्र से परिचित कराते हैं। इतिहास की व्याख्या मात्र घटनाओं के वर्णन, तिथियों और व्यक्तियों के नामों की फेहरिस्त से सभव नहीं है। राजनीति युग की केन्द्रीय शक्ति है अत उसके स्वभाव को परखे बिना इतिहास को भी सही-सही नहीं समझा जा सकता। समकालीन भारतीय इतिहास का अन्त सघर्ष पूरे जोर पर है, जहाँ प्रगतिशील और प्रतिगामी वामपथी और दक्षिणपथी तत्वों के बीच निर्णायक लड़ाई चल रही है। इस लड़ाई में मौजूदा राजनीति के रोल को परखना आवश्यक है। इसे परखते समय परसाई की पक्षधरता स्पष्ट है और यही उनके व्यग्य की विशिष्टता और शक्ति है।

—रमाकान्त श्रीवास्तव

अपने लोगों का कुतर्क

परसाई की व्यंग्यदृष्टि प्राय दो प्रकार की कही जा सकती है समकालीन इतिहास दृष्टि के माध्यम से सामाजिक अन्त सम्बन्धों का यथार्थपरक वस्तुवादी विश्लेषण, जिसमें प्राय सामाजिक विद्रूपताओं पर सीधा प्रहार किया गया है, दूसरा है प्राचीन पौराणिक इतिहास व मिथकों और कथाओं का सदर्भगत दृष्टिकोण रखते हुए वर्तमान समाज की प्रासगिकता का विश्लेषण, प्रकारान्तर में उसकी खामियों और गैर-सामाजिक हरकतों पर ठेठ डपट। व्यग्य म केवल भाषा ही एकमात्र हथियार के रूप में इस्तेमाल न की जाकर समय की हरकतों पर लगातार दृष्टि रखना और उनके अन्तर्विरोधों का वैज्ञानिक विश्लेषण करने की क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करना भी हिन्दी म केवल परसाई की विशेषता है। परसाई का व्यग्य ससार सीमित नहीं है। उनके यहाँ पूरा भारतीय समाज मौजूद है, समाज मे पल और जी रहा हर वर्ग है, लेकिन फिर भी मध्यवर्गीय नौकरी-पेशा, राजनीतिक और बुद्धिजीवी वर्ग परसाई के रचना-केन्द्र म स्थित है।

वर्तमान समाज व्यवस्था के समाजार्थिक सम्बन्धों की पहचान परसाई के रचनाकार को उन्मुक्तता प्रदान करती है। आज जबकि हर परिवर्तन सुधार-सशोधन और प्रतिक्रियात्मक होता जा रहा है, सपूर्ण शासनतत्र पुरोहित, चारण और ज्योतिष के घेरे मे सिकुडता जा रहा है, सभी योजनाएँ और कार्यक्रम भाषा के तहत खडे किए जा रहे है। क्या कारण है कि परसाई का लेखक इन सबको एक-एक कर तोडता है और हमारी असली पहचान को सामने प्रस्तुत करता है। अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने वाला रचनाकार ही यह सब कर सकता है और यही कारण है कि हिन्दी-व्यग्य मे परसाई पहले और आखिरी सिरे पर तने खडे रहते है। इस अमानवीयता के वर्बर पूँजीवादी युग मे मानवीयता के लिए सघर्ष ही सबसे बडा खतरा है और जहाँ पर भी बुद्धिजीवी वर्ग ने अमानवीयता का समर्थन अमानवीयता के द्वारा किया है, या कही भी गैर-मानवीय सोच की ओर गया है, परसाई ने उसको बख्शा नही है, प्रकारान्तर से खुद के ऊपर व्यग्य के रूप मे सामने आया है। इसीलिए परसाई जैसे व्यग्य-लेखक के विषय मे कोई एक निश्चित धारणा बना कर नही चला जा सकता क्योंकि परसाई के पास न तो स्थिरता है और न ही आवृत्तियाँ, उनका रचनाकार उन्मुक्त और स्वतत्र है। परसाई लाल बुझक्कड लेखकों की तरह मूल वस्तु को

एक सिरे से मानव नहीं करते, वे सिरे से उसे उधारना चालू करते हैं और पर्त-दर-पर्त उघारते चले आते हैं।

यह बात साफ तौर पर जाहिर कर देनी चाहिए कि परसाई सर्वहारा वर्ग से जुड़े रचनाकार हैं। वे उन्हीं के लिए संघर्षरत हैं अन्य शेष वर्ग उनके निशाने में रहते हैं तथा वे रचनाकार जो कहीं-न-कहीं क्रान्तिकारी परिवेश के लिए बाधा बनते हैं, अपने वर्गीय चरित्र और उससे जुड़े हुए हितों के कारण तो परसाई उन्हें सबसे पहले जवाब देते हैं। बुद्धिजीवियों के चरित्र को पहली बार परसाई ने इतनी ईमानदारी और सत्यप्रमाणता के साथ प्रस्तुत किया है (एकलव्य ने गुरु को अँगूठा दिखा दिया (अर्थ रिसर्चाद आदि)। मैं इस बात को और साफ कर देना चाहता हूँ कि परसाई को उन विश्वविद्यालयीन बुद्धिजीवियों पर तरस आता है जो नंगे हो जाने के बावजूद इस बात का विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हम अलौकिक वस्त्र पहने हैं। अगर वे आदमी, बुद्धिजीवी होने का बार-बार दावा ही करते हैं तो उन्हें जन सामान्य की इस लड़ाई में परसाई जैसे जीवट के रचनाकारों का सहयोगी होना चाहिए।

शोषणवादी व्यवस्था के संचालकों तथा ईजारदारों का चरित्र क्या है और वे इस व्यवस्था को किस तरह से यथास्थिति की सीमा में बनाये रखना चाहते हैं। 'जैसे उनके दिन फिरे' के माध्यम से वह बताया गया है कि प्रतिक्रियावादी व्यवस्था सदैव यही प्रयास करती है कि परिवर्तन न हो। इसलिए शासक बनने की योग्यता उसी के पास हो सकती है जो सबसे अधिक लुटेरा हो और शोषण करने के सारे नियम-कानूनों में पारंगत हो। 'पिंजरापोल' इन शासकों की विलासिता तथा असमय राजा का बूढ़ा होना सामंती अन्तर्विरोध है जो व्यक्तिवादी विलासिता और सामन्तवाद का आवश्यक लक्षण है। 'राजसिंहासन पर राजासाहब विराजमान थे, उनके पास ही कुछ नीचे आसन पर प्रधानमंत्री बैठे थे। आगे भाट विदूषक और चाटुकार शोभा पा रहे थे।' शासक को साहसी और लुटेरा होना चाहिए, बेईमान और धूर्त होना चाहिए। याने राजा को प्रजा से धन वसूल करने की विद्या आनी चाहिए। एक प्रतिबद्ध रचनाकार कभी निर्णय नहीं देता, वह केवल कुछ सूत्र देता है और निर्णय की जिम्मेदारी दूसरों पर छोड़ देता है, इसलिए ऐसा लेखक प्रतिक्रियावादी नहीं हो सकता।

क्या एक शोषक भी अपना चरित्र बदल सकता है? आश्चर्य नहीं होना चाहिए। वह हर बार अपना रूप बदलकर सामने आ सकता है। राष्ट्रीय बुर्जुवा हर चुनाव में नये रूप, नये नारों और नये वादों के साथ आता है। कुल मिलाकर वे सब सियार की खाल ओढ़े भेड़िए होते हैं। 'भेड़ और भेड़िए' में अवाम भेड़ तथा राष्ट्रीय बुर्जुवा भेड़िए के रूप में प्रस्तुत है। सत्ता में कुण्डली मारे बैठा यह वर्ग और इससे जुड़ा बुद्धिजीवी तथा सबसे बड़ा सबल धार्मिक पुरोहित वर्ग सदैव इस बात का प्रयास करते हैं कि अवाम वास्तविकता को बिना समझे इनकी बात को सत्य रूप में स्वीकार करे। और यह वर्ग जब सारी संभावनाओं को समाप्त

कर देता है तब अपने वास्तविक चरित्र को सामने लाता है। कई बार जब अवाम जागृत होता है और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होता है तो किसी न किसी प्रकार उनके इस जागरण की दिशा को या तो गुमराह किया जाता है या फिर उसको पूँजीवादी और कभी-कभी सामन्ती तरीके से दबा दिया जाता है। अवाम को जीतने के लिए और शोषणतन्त्र को बरकरार रखने के लिए ये सनातनी, अहिंसावादी-वानप्रस्थी और सम्पूर्ण-क्रान्तिकारी तक बन जाते है और इस देश का मध्य वर्ग उनका पक्षधर बनता है, वह भूल जाता है कि अन्ततोगत्वा यह हमारे वर्ग के खिलाफ बात होगी। ये अपने वर्गीय चरित्र को नहीं बदलेंगे। व इस दुनिया को छोड़कर नहीं जाएँगे। वे अवाम को धोखे में रखकर, नयी-नयी विकास योजनाएँ बताकर भेडिए की तरह भेड खाते रहेंगे। व हृदय-परिवर्तन की बात करेंगे और उनके गुर्गे उन्हे सन्त, महात्मा और गरीबो का मसीहा तक सिद्ध करेंगे। उनकी आवाज पूँजीवादी हितों का सरक्षण करेगी जो अवाम की समझ से बाहर होगी। जनता उनकी बात इसलिए नहीं समझेगी क्योंकि उन्ही के शब्दों मे वह मूर्ख और नासमझ होती है। इसलिए योग्य और समझदार आदमी की बातो का समर्थन करना उनका नैतिक धर्म होना चाहिए। इस प्रकार की भ्रमपूर्ण बातो के माध्यम से जैसे ही वह अपने पैर जमा लेते है, अवाम का शोषण अत्याचार की सीमा तक करने लगता है। कवि, विचारक, बुद्धिजीवी, धर्मगुरु, पत्रकार सब इस जमात मे शामिल है।

परसाई जी ने बुद्धिजीवी और राजनीतिज्ञ के अन्तर्सम्बन्धो को बडी कुशलता और वास्तविकता के साथ अन्तर्ग्रथित किया है (इतिश्री रिसर्चाय)। एक बिना कुछ किये-धरे अमर हो जाने की चिन्ता म है। अपनी सभी विरासत अपने पुत्र-शिष्यो और आगे आने वाली पीढियों पर लाद जाना चाहता है, नही तो वे शान्ति के साथ मर भी नहीं सकेंगे। राजनीतिज्ञ के लिए बलिदान, त्याग, देश-सेवा और देश प्रेम की बात करना फैशन है, तथा इसी किस्म के बुद्धिजीवी के लिए गरीबों की दुर्दशा देश-प्रेम पर लिखने का फैशन है। यह एक प्रकृतवादी तथा यथास्थितिवादी दृष्टिकोण है और यह जन सामान्य का विरोधी भी हो सकता है क्योकि सामाजिक परिवर्तन मे इस साहित्य की कोई भूमिका नहीं होती। राजनीतिज्ञ अपने पुत्र को बुद्धिजीवी बनाना चाहता है, वह इस रहस्य को भी अपने तक सीमित रखना चाहता है। दूसरी तरफ एक शोध निर्देशक खुदाई मे मिले बलिस्तम्भ पर खुदी इस राजनीतिज्ञ पुत्र की कविता को अपने जमाने की सर्वश्रेष्ठ कविता घोषित करने के लिए सभी प्रकार के प्रमाण जुटा लेते हैं। मसलन 'जो प्राचीन है वह सबसे उत्तम है' बुरा केवल वर्तमान है। और सबसे बडी बात तो यह है कि उस राजनेता ने प्रतिभा को पहचान कर ही उस कवि को मान्यता दी थी। याने रचनाकार राजनीति के पीछे चलने लगे है और वास्तविकता को ढकने के लिए सदैव प्रयत्नशील है, याने आज के राजनेता खुद कवि होते जा रहे हैं, याने कवि को मान्यता राजनेता देता है। राजनेता और

बुद्धिजीवी की मिलीभगत पर व्यंग्य करते हुए परसाई कहते हैं, "शोध अनुमान पर चलती है।

'मौलाना का लड़का पादरी की लड़की' धार्मिक लोगों तथा उन्हीं की दो पीढ़ियों में अन्तर को विश्लेषित करता है। इस जमाने में 'ईश्वर' अमीर और गरीब खेमों में बँट गये हैं। गरीबों के लिए गन्दे देवालय हैं जहाँ चूहे घूमते हैं और अमीरों के लिए काफी चमक-दमक वाले, जहाँ आरती और अखण्ड पाठ चला करता है धार्मिक उपासनागृह बनाये जाते हैं —बिड़ला मंदिर जैसे। लेखक जानता है 'धर्म धन के हिसाब से टीम-टाम धारण कर लेता है।' एक मौलाना मुसलिम ने अपना घर धर्म के लिए आर्थिक कारणों से किराये के लिए दिया था। यह धार्मिक स्तर से शासन करने का आपसी समझौता था। पादरी की लड़की और मौलाना के लड़के का प्रेम भी हो जाता है —आकस्मिक प्रेम। पुरानी पीढ़ी की रुचि इस बात में है कि कौन किसके मजहब में शामिल होता है, जब कि इस प्रेम की परिणति सिविल विवाह में होती है। युवा पीढ़ी जाति-धर्म के बंधनों को लगातार तोड़ती जा रही है, लेकिन रूढ़िवादी धार्मिक लोग इस बात को पचा नहीं पाते। वे बिना परिस्थितियों को जाने अपने-अपने खुदा-पैगम्बर से प्रार्थना करते रहते हैं सद्बुद्धि की। 'राग-विराग' के माध्यम से लेखक ने इस समाज में फैले साईं, रजनीश, जयगुरुदेव और महेश जैसे तमाम छद्म साधु-संन्यासियों और ब्रह्मचारियों की वास्तविकता को प्रस्तुत किया है। क्योंकि समाज के सामने ये साधु-संन्यासी बेहद निर्विकार रूप में जनता की सहानुभूति को प्राप्त करते ही हैं उसका शोषण भी करते हैं। जिस स्त्री को देवी कहकर सम्बोधित करते हैं उसी के प्रति इनकी नियति दुरुस्त नहीं रहती। दुनिया के सामने ये जितना पवित्र अपने को पेश करते हैं अन्दर से ये उतने ही दूषित होते हैं और एक प्रकार से भाववादी धर्म की आड़ में सामाजिक पतन के लिए सबसे अधिक दोषी हैं।

परसाई की विशेषता है कि प्राचीन मिथकों को अपने समय-संदर्भ में इतनी बारीकी के साथ प्रासंगिक बना देते हैं कि वर्तमान व्यवस्था का चरित्र नये रूप में प्रस्तुत हो जाता है। सुदामा के चावल, वैताल की कथाएँ, लंकाविजय के बाद, मेनका का तपोभंग, त्रिशंकु आदि इसी प्रकार के व्यंग्य हैं। 'सुदामा के चावल' में राजधानी में बैठा व्यक्ति अनेक स्त्रियों से घिरा रहता है, गोपिकाओं के कृष्ण की तरह। वह व्यक्तिपूजा, घूसखोरी और तोहफा के बिना आगे नहीं बढ़ता। जिसका परिणाम यह होता है कि सम्पूर्णतया इसी प्रकार की बुराइयों में फँसा रहता है और इस रहस्य के जानने वाले हर व्यक्ति को हर प्रकार से चुप रखा जाता है, कोशिश यह की जाती है कि उसका भी वर्गीय चरित्र बदल जाय। इसके बावजूद वह अपनी उदारता, सदाशयता, परोपकारिता और दान-शीलता के पोस्टर, विज्ञापन निकलवाता है। वह कभी हल जोतते दिखाई पड़ता है, कभी दान देते और कभी हरिजनों और बाढ़-पीड़ितों को वस्त्र वितरित करते

हुए। इसके विरुद्ध मुँह खोलने का मतलब मौत होता है। 'सारा धन सिमटकर द्वारिका मे आ गया था। और सारी विद्या इकट्ठी हो गयी थी। बड़े बड़े कलावन्त, पण्डित, कवि और गायक राजधानी मे आकर बस गये थे। क्योंकि यहाँ राजपुरस्कार खूब बँटते थे। अच्छे शासन तो शब्दो और ऑकड़ो के बल पर चलते हैं' और कि शासन हमारे पास केवल कर वसूल करने पहुँचता है या वोट माँगने। वेश्या का भी कोई पति होता है। राज्य का एक गुप्त रहस्य प्रकट न करने के लिए एक लाख स्वर्णमुद्रा, मकान और ग्राम पर सौदा होता है। ऐसे लोगों को ज्ञानपीठ पुरस्कार से सुशोभित किया जाता है। वर्तमान प्रजातन्त्री व्यवस्था के इस दिगम्बरी नृत्य को तथा प्रजातन्त्री व्यवस्थापकों का चरित्र 'लकाविजय के बाद' मे प्रस्तुत है। जैसा कि मैंने पूर्व मे कहा, परसाई प्राचीन मिथकों के माध्यम से वर्तमान समय-समाज को प्रस्तुत करते है। जिन्होंने स्वतन्त्रता-सग्राम मे शिरकत की थी वे ही सर्वेसर्वा है 'राज्य के नागरिक इनके दिन दूने उपद्रवो से तग आ गये थे। ये वानर लकाविजय के मद से उन्मत्त हो गये है। वे किसी भी बगीचे मे घुस जाते है और उसे नष्ट कर देते है, किसी के भी घर पर बरबस अधिकार जमा लेते हैं, किसी का भी धन धान्य छीन लेत है। किसी की भी स्त्री का अपहरण कर लेते है। नागरिक विरोध करते है तो कहते है कि हमने तुम्हारी स्वतन्त्रता के लिए सग्राम किया था, हमने तुम्हारी भूमि को असुरो से बचाया, हम न लडते तो तुम अनार्यो की अधीनता मे होते, हमने तुम्हारी आर्य भूमि के हेतु त्याग और बलिदान किया है। देखो, हमारे शरीर पर के ये घाव।' और मजे की बात तो यह है कि इनमे से अधिकाश ने युद्ध मे भाग ही नही लिया, नकली घाव बनाये फिर रहे है और अवाम को लूट रहे है। अब मेनका का ही वृतभग किया जा रहा है, समाज सेवा के नाम पर कुछ व्यक्तियों ने इसका ठेका ही ले रखा है। मेनका का पाला ऐसे ही व्यक्ति से पड़ा जो तीस साल से समाज सेवा मे लगा है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान दो बार जेल जाकर बाद मे कई महत्त्वपूर्ण पदो पर रहा और हरिजन कल्याण मन्त्री रहकर हरिजनो का कल्याण करता रहा। भारत सेवक-सघ, महिला-सघ, सर्वोदय नियम से रोज फूल-माला पहनाते है। लेखक का व्यग्य उन राजनीतिज्ञो पर है जो अवाम को भुलावे मे रखकर आभिजात्य और विलासिता का जीवन बिता रहे है और आखिर मे स्वय मेनका का वृतभग कर देते हैं। आखिर मेनका तो उनके जीवन का प्राप्य है।

'त्रिशकु' भी इसी प्रकार के पौराणिक आख्यान पर आधारित है जिसमे एक निम्नवर्गीय अध्यापक को मकान के लोभ मे मकान से बाहर कर लावारिस छोड दिया जाता है। यह एक व्यवसायी तथा सहकारी अधिकारी के षड्यन्त्र का परिणाम है, पूँजीवादी शासनतन्त्र प्राय व्यापारियों के सहयोग से ही सचालित होता है। व्यवसायी उसी को मकान दे सकता है जिसके पास विलासिता के तमाम उपकरण है। परिणाम होता है घर-द्वारहीन निम्नमध्यवर्गीय अध्यापक त्रिशकु

देने के लिए पर्याप्त एव सक्षम है। उसके लिए आवश्यक है कि व्यग्यकार मे गहराई से महान आदर्शो और महान नैतिक मूल्यो की घुसपैठ हो, एक आदर्श-पूर्ण जीवन जीने का निश्चय हो। जब अपने आदर्शों से वह दुनिया और लोगो के व्यवहार की तुलना करता है तो वे उसे मूर्ख, छिछोरे, घृणास्पद तथा हास्यास्पद लगते है। वह उनका उपहास करता है, उन पर व्यग्य करता है। जब वह स्वय अपना व्यवहार भी अपने मान्य आदर्शों के प्रतिकूल पाता है तो आत्मव्यग्य करता है, स्वय अपना उपहास करता है, और जो यह सब करता है न ! वही परसाई है। जो अपनी बेईमानी, समझौते और आत्मसमर्पण का मजाक उडाता है, अपनी मूर्खता और बुजदिली पर हँसता है, अपनी बेईमानी मे घृणा करता है। इस तरह अपने मूल्यो को फिर भी वजनदार और महत्त्वपूर्ण सिद्ध कर उन्हे टूटने से बचा लेता है। उनके आसपास के लोग और व स्वय उन *आदर्श मूल्यो पर नही बल्कि परसाई द्वारा उनके प्रतिकूल किये गय व्यवहारो* पर हमला बोलते है, उनकी आलोचना करते हैं। यह आत्मालोचना करन, उन आलोचनाओं को प्रोत्साहित करन और आत्मसुधार करने का एक तरीका है, जिसमे बचाव का मौका नही मिलता। व अपन जैसे अनेक व्यक्तियो पर चोट कर उन्हे भी सावधान कर देते हैं। 'बोलती रेखाएँ' ऐसा ही सकलन है।

'मुफ्तखोर' एक आत्मव्यग्य है। इसका कथ्य है कि लेखक जैसे योग्य और प्रतिभावान व्यक्तियो की इस व्यवस्था मे क्या स्थिति है? अभिव्यक्ति की *स्वतन्त्रता की औपचारिक घोषणा करने वाले इस प्रजातत्र मे प्रकाशक* की सम्पन्नता और अपनी आर्थिक असहायता के कारण लेखक को आत्मसमर्पण करता हुआ देखकर क्या पाठक ऐसी व्यवस्था मे घृणा नही करता? अयोग्य किन्तु सम्पन्न प्रकाशक के द्वारा लेखक का शोषण करने के लिए अपनाय गय घृणास्पद और ट्च्चे तरीके प्रकाशक का मालिक की तरह बर्ताव, उसकी सवदन-हीनता के सामने किसी मजदूर *की तरह असहाय लेखक को देखकर क्या पाठक* को प्रकाशक-लेखक के मालिक-मजदूर की तरह के सम्बन्ध से खीज नही होती? क्या इससे उसके सामने अभिव्यक्ति की स्वतत्रता की गारटी की पोल नही खुल जाती? पाठक प्रकाशक को सर्वशक्तिमान मालिक और लेखक को असहाय, पराधीन और आत्मसमर्पण करने वाला मजदूर बनाने वाली व्यवस्था के प्रति वितृष्णा से भर जाता है। साथ ही वह लेखक के आत्मसमर्पण पर खीजता भी है। यहाँ परसाई से केवल वे रचनाकार नही जुडते—जिन्हे *व्यवस्था से प्रश्रय मिलता है या मिलने की आशा है*। इस तरह परसाई अपन आत्मसमर्पण के खतरे से चौकन्ने रहते है। वे अपना शोषण न होन देन के लिए और भी मजबूती मे खडे होते हैं। इसी आत्मालोचना से व्यवस्था के विरोध को ताकत मिलती है।

'आइलकिंग' अर्थतत्र पर नियत्रण रखने वाला बडा उद्योगपति है, जिसकी तेल के बाजार मे इजारेदारी कायम है। वह आर्थिक रूप से इतना शक्तिशाली

है कि परसाई से मिलने से पहले वह जिस राजनीतिज्ञ, सत्ताधारी, अफसर, शिक्षाविद्, पत्रकार या बुद्धिजीवी स भी मिला उसे उसने सहजता मे खरीद लिया। उसका जीवन इतिहास व्यक्ति, योग्यता, प्रतिभा और प्रतिष्ठा को खरीद लेने की सहजता का इतिहास है। अत उसे विश्वास है कि वह सब कुछ खरीद सकता है। इसस वह दम्भी हो गया है। पैसे क दम्भ मे अपने-आपको सर्वशक्तिमान और शेष सबको तुच्छ समझता है। परसाई उसके सामने अपने-आपको मूक श्रोता के रूप म प्रस्तुत करते है। अब सिर्फ उसे बोलना है और वह बोलता है। बोलने के लिए उसके पास सिर्फ अपना अहम् और अपनी चालबाजियो का इतिहास है। इस तरह परसाई अपने-आपको मूक श्रोता के रूप म प्रस्तुत कर उसे बेपर्द करत हैं। वाचाल होकर वे ऐसा शायद न कर पात। अत परसाई उन पात्रो को 'एक्सपोज' करने के लिए अपनी मौन भूमिका का अर्थ प्रदान करते है। परसाई उसक अहकार और जीवन-इतिहास मे हर व्यक्ति की खरीद की क्षमता को चित्रित करत है। क्या पाठक इससे यह निष्कर्ष नही निकालता कि इस समाज म पैसे की प्रतिष्ठा एव शक्ति के सामने योग्यताएँ और प्रतिभाएँ अपमानित होती हैं, राजनीति से लेकर पत्रकारिता और सामाजिक प्रतिष्ठा भी बिकाऊ माल हो गया है जिसे 'आइलकिंग' जैसे धन कुबेर महज ही खरीद लेते है? क्या वह ऐसे 'आइल किंग्स' से और उनको बढावा देने वाली व्यवस्था स नफरत नही करता? क्या वह इस व्यवस्था म चल रही पूंजी (पैसे) की ताकत और साजिश को पहचान नही पाता?

यदि पाठक के मन म ये सभी भाव और प्रश्न उत्पन्न होते है तो पाठक ने परसाई की रचना पढकर वही वही निष्कर्ष नही निकाले जो परसाई ने दुनिया देखकर निकाले है? यही है परसाई जी की खूबी कि व अपन पात्रो एव उनके व्यवहार के माध्यम से अपन निष्कर्षों को पाठक तक पहुँचा देते है, पाठक को भी वही फैसले लेने पर मजबूर कर देते है। पाठक के ऐसे फैसले उसे परसाई के पास ले जाते है उसे उनका हमदर्द और मित्र बना देते है। यही उनकी सम्प्रेषणीयता और विश्वसनीयता का सबसे बडा प्रमाण है।

परसाई व्यक्तियो के विशिष्ट व्यवहार और उसके माध्यम स उनके विशिष्ट मनोविज्ञान को चित्रित करते है। तब फिर पाठक जो निष्कर्ष निकालता है वह पूरी व्यवस्था के चरित्र की व्याख्या क्यो कर पाता है? यह वही प्रश्न है जिसका उत्तर सूक्ष्म कलात्मकता की कृत्रिम शका का मुँहतोड जवाब है। मात्र एक व्यक्ति के व्यवहार द्वारा पूरी व्यवस्था के चरित्र को उजागर करना क्या सूक्ष्म कलात्मकता नही है? सामान्य पाठक के लिए व्यवस्था अमूर्त है और व व्यक्ति तथा पात्र मूर्त हैं जो परसाई की इन रचनाओ की बोलती रखाएँ है। पाठक रचना के मूर्त पात्रो स व्यवस्था के चरित्र सम्बन्धी अमूर्त निष्कर्षों तक का सफर कैसे तय कर पाता है और परसाई उनस यह सफर कैसे तय करवाते हैं? इस प्रश्न के उत्तर का दारोमदार दूसरे प्रश्न के **उत्तर में है कि स्वय** ९

दुनिया में मूर्त्त व्यक्तियों को देखकर व्यवस्था के बारे में अमूर्त्त निष्कर्ष कैसे निकाल पाये?

परसाईजी प्रत्येक व्यक्ति को, उसके विशिष्ट व्यक्तित्व, मनोविज्ञान एव व्यवहार को सामाजिक व्यवहार तथा विकास की उपज के रूप मे देखते हैं। वे व्यक्ति द्वारा परिवेश तथा परिवेश द्वारा व्यक्ति को परिवर्तित करने के प्रयासो के द्वन्द्व की परिणति के रूप मे ही व्यक्ति के मनोविज्ञान, व्यक्तित्व और व्यवहार को पढते है। 'एक तृप्त आदमी' एन० एल० मास्टर, परिवेश से हार मानकर समझौता कर लेते हैं। उन्हे मालूम है कि परिवेश (दुनिया या व्यवस्था) बड़ी बेरहम और साथ ही बहुत शक्तिशाली है। इस दुनिया से कुछ नही मिल सकता और दुनिया से लडकर भी कुछ लिया नही जा सकता। बस! *इस सत्य को जान* लेने से उनकी सारी महत्त्वाकाक्षाएँ मर जाती हैं। वे सघर्ष से भी बचते है और जो कुछ मिल रहा है उससे कुछ अतिरिक्त प्राप्त करने की इच्छा करने से भी। देखिये परसाई किस तरह परिवेश का ज्ञान प्राप्त होने से मर चुकी महत्वाकाक्षाओ को ही एन० एल० मास्टर की तृप्ति का कारण बताते है—

लोग कहते हैं— 'एन० एल० मास्टर पूर्ण तृप्त आदमी है।" इसी रचना में परसाई के एक मित्र कहते हैं—"ऐसा आदमी दुर्लभ है। दुनिया म निराशा, विफलता, पिपासा और कुण्ठा के पुतले ही देखन मे आते है।" 'वह पूर्ण तृप्त आदमी है। उसे कोई भूख नही है।" और मुझे (परसाई को) याद आता है कि पिछले साल जब मैं बीमार पडा था, तब मेरी भी भूख मर गयी थी। अच्छे से अच्छे पकवान मेरे सामने रखे रहते थे और मैं मुँह फेर लेता था। (पृ० 31, बोलती रेखाएँ, 1971)

क्या यह एन० एल० मास्टर की तृप्ति का कारण बताने के लिए पर्याप्त नही है? पडोसी भाभी से मास्टर का रोमास उसके सामान्य जीवन से एक भटकाव है, पत्नी के टोकने ही वे वापस अपनी लीक पर आ जाते है और किसी अन्य स्त्री के *सत्सग की* इच्छा भी उन्हे फिर नही होती। पडोसी भाभी के साथ बैंक मैनेजर के रोमास की चर्चा सुनकर भी उनमे जरा-सी उत्तेजना पैदा नही होती, उन्हे कोई पछतावा भी नही होता। वे सहज भाव से कहते हैं—"ठीक है। समरथ को *नहिं दोष गुसाई।" कहो* कोई ईर्ष्या भी नही। क्योकि उनकी महत्त्वाकाक्षाएँ, आकाक्षाएँ या इच्छाएँ उभरें, इससे पहले ही सामाजिक यथार्थ की कटु घटनाओं से उनका परिचय हो गया और वह पहले ही अच्छी तरह जान गए कि 'दुनिया से कुछ नही मिलेगा, कुछ चाहोगे तो रहा-सहा भी छिन सकता है।"

'असहमत' का परिचय सामाजिक यथार्थ से बहुत बाद मे हुआ, तब जब उसे भी इस व्यवस्था से कुछ नही मिला। जबकि उसकी महत्त्वाकाक्षाएँ पहले ही जन्म ले चुकी थी। 'असहमत' म परसाई अपने-आपको कमजोर व्यक्तित्व के रूप मे प्रस्तुत कर अपने मुख्य पात्र की आक्रमणक्षमता को पूरी तरह उभरने का अवसर देते हैं। कोई भी दबग और अकडा व्यक्ति उस पात्र को पूरी तरह एकम-

भोज नही कर पाता। अत परसाई ने अपने-आपको दब्बू और बकवादी व्यक्ति के रूप मे प्रस्तुत कर एक्सपोजर का काम किया है। 'असहमत' ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो खासे खाते-पीते परिवार मे जन्म लेता है। जीवन के आरम्भ मे अपने जमाने की कडवी सचाई से उसका टकराव नही हो पाया और महत्त्वाकाक्षाएँ जन्म लेने लगी। ऐसा परिवेश आदर्श मूल्यो को जन्म नही लेने देता, जहाँ 'कैरियर' और सुविधाओ की चर्चा से महत्त्वाकाक्षाएँ इतनी प्रबल हो जाएँ कि जब बहुत देर से सामाजिक यथार्थ के नये सन्दर्भों से टकराव हो तो वे मजबूत कवच बनकर व्यक्ति को उसकी हार की कडवी सच्चाई का एहसास भी न होने दें। यथार्थ से दूर उसकी महत्त्वाकाक्षाएँ उसकी योग्यता का ऐसा मूल्याकन कर रही थी, जो पुराने सन्दर्भों म भले ही सही रहा हो, व्यवस्था के गहराते सकट और बढती जा रही बेरोजगारी के नये सदर्भों मे अतिशय मूल्याकन था। वह हार जाता है। प्रबल महत्त्वाकाक्षा का अपना प्रबल अहकारी मनोविज्ञान होता है जो उसे अपनी हार, योग्यता का सही मूल्याकन स्वीकार नही करने देता। अपने से कम योग्य व्यक्तियों को बेहतर हालत मे देखकर वह खीज उठा। उसकी महत्त्वाकाक्षाएँ और अहम् उसे यह भी नही स्वीकारने दे रहे थे कि योग्यता से ही इस दुनिया मे कुछ नही मिलता। वह जिद पकड बैठा कि वह योग्य है तो उसे मिलना चाहिए, फिर क्यो दुनिया उसे कुछ नही दे रही है? वह दुनिया पर अपनी योग्यता सिद्ध करने पर, उसे परास्त करने पर तुल गया। वह हर व्यक्ति को दुनिया का प्रतिनिधि मानकर, उसकी हर बात काटकर उस पर अपनी योग्यता सिद्ध करने का प्रयास करता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि आज तो दोनो व्यक्तियो के परिवेश मे कोई अन्तर नही है। एन० एल० मास्टर को भी इस व्यवस्था से कुछ नही मिल रहा है और असहमत को भी यह दुनिया कुछ नही दे रही है, फिर दोनो के व्यवहार के अन्तर का कारण उनके परिवेश का अन्तर तो नही है? दोनो एक जैसे परिवेश मे रहते है और साधारण नौकरी करते है, फिर परिवेश कहाँ भिन्न है? यह भी सुझाया जा सकता है कि दोनो के व्यवहार मे अन्तर उनकी मानसिकताओं और मनोविज्ञान मे अन्तर के कारण है। तब जनाब उनकी मानसिकता और मनोविज्ञान म अन्तर का कारण क्या है? व्यक्तिवादियो के पास जवाब नदारद है। जवाब हम देते है। महत्त्वाकाक्षाओ के जन्म लेने और अपने परिवेश से टकराने, उससे परिचित होने के दो भिन्न क्रमो ने एन० एल० मास्टर को सन्तोषी और असहमत को क्रुद्ध बना दिया है। क्या यह उनके जीवन-इतिहास मे दो भिन्न परिस्थितिया, दो भिन्न परिवेशो के कारण नही है? क्या वे दोनो अपने जीवन-इतिहास के दो भिन्न परिवेशो के दो भिन्न परिणाम नही, भले ही उनका वर्तमान परिवेश एक जैसा हो? क्या एन० एल० मास्टर अपने शौक मे सामाजिक यथार्थ की कडुवाहट को जरा जल्दी पी गए और असहमत का मूड उसे 'सिप' करने का था? नही! एन० एल० मास्टर जैसे लोगो की

मजबूरियाँ ही उस सामाजिक यथार्थ की कड़ुवाहट से परिचित होने को बाध्य करती हैं। 'असहमत' जैसे लोगो के सामने अपने जीवन की प्रारंभिक अवस्थाओं मे कोई मजबूरी नही होती, वे खाते-पीते परिवारो मे जन्म लेते है जहाँ उन्हे सामान्य कष्ट नही होते और 'कैरियर' की चर्चाएँ महत्त्वाकाक्षाओ को जन्म देती तथा प्रबल बनाती हैं। सामान्यत कोई एन० एल० मास्टर किसी खाते-पीते परिवार मे जन्म नही लेता, वहाँ की सुविधाओ और 'कैरियर' की चर्चाओं में नही पलता-बढ़ता। दूसरी ओर सामान्यत कोई भी व्यक्ति किसी अभावग्रस्त परिवार मे पलने पर 'असहमत' नही होता। वह शुरू से ही 'सहमत' होता है। उसकी आकाक्षाएँ, इच्छाएँ, महत्त्वाकाक्षाएँ और अहम् उसमे होश आते ही मर जाती है। दोनो की अन्तिम भौतिक उपलब्धियाँ और अन्तिम परिवेश भले ही एक जैसा रहा हो पर उनके जीवन-इतिहास मे उनके परिवेश अलग-अलग रहे है। इससे जाहिर है कि एक ही व्यक्ति के जीवन मे उसकी परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। इतिहास मे मिले अलग-अलग परिवेश, अलग-अलग परिस्थितियाँ वर्तमान मे एक-सी परिस्थितियाँ होने पर भी एक-दूसरे से भिन्न मूल्यो मनोविज्ञान और व्यवहार वाले दो अलग व्यक्तित्वो के स्वामियो को जन्म देती हैं। परसाई अपने पात्रो को मात्र वर्तमान से प्रभावित नही बनाते, वे उन्हें उनके जीवन-इतिहास के असर के साथ, उनके जीवन-इतिहास पर उनकी पुरानी परिस्थितियों और परिवेशो के असर के साथ खडा करते हैं। वे पात्रो के व्यवहार की विशिष्टता को बडी बारीकी से एक-दूसरे से भिन्न बनाते हैं कि पाठक मजबूर होकर सोचता है कि वर्तमान म एक जैसा परिवेश होने पर कोई स्वार्थी है, कोई तृप्त, कोई चालबाज, तो कोई क्रुद्ध, कोई निराश और क्षुब्ध है, तो कोई निराश पर फाकामस्त, क्या कारण है कि उनके व्यवहार मे यह अन्तर आया और वह अन्तर उनके जीवन-इतिहास म झाकता है। तब उसे सभी पात्रो के अलग-अलग जीवन-इतिहास, जीवन-इतिहास की भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ नजर आती हैं। उसे अपने इतिहास से अपने परिवेश से टकराते पात्र नजर आते हैं। उन पात्रो पर दुनिया के बेरहम हमले दिखाई देते है, अपने परिवेश से घबराये हुए, सहमे हुए, हडबडा कर दौडते हुए और हारकर टूटते हुए, पहाड से तने हुए और उस परिवेश पर खिसियाते हुए या उससे झेंपते हुए पात्र दिखते है। जिनकी अन्तिम परिणति देखकर उस उस दुनिया से घृणा हो जाती है जो व्यक्ति की महत्त्वाकाक्षाओ, आकाक्षाओ, इच्छाओ योग्यताओ और प्रतिभाओ का गला घोट देती है, उनकी ईमानदारी का अपमान करती है और बेईमानी को सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति देती है, भावनाओ, आदर्शों और सवेदनाओ को कुचल-मसल डालती है। दुनिया के प्रति पाठक की घृणा ही व्यवस्था के प्रति उसकी घृणा है, क्योंकि उसके लिए दुनिया ही व्यवस्था है। परसाई वर्तमान मे विशिष्टता (भिन्नता) और सार्वत्रिकता (सादृश्यता) के अन्तर को समझते हैं। वे जानते हैं यह अमूर्त है। वे मूर्त रूप मे उसे अपने पात्रो के

व्यवहार की विशिष्टता और सार्वत्रिकता (सादृश्यता) तथा वर्तमान मे उनके परिवेशो की विशिष्टता अथवा सार्वत्रिकता के रूप मे देखते और पेश करते है। वे इतिहास (अतीत) मे भी विशिष्टता और सार्वत्रिकता के अन्तर को समझते है। व इस अमूर्त्त परिकल्पना को अपने पात्रो के जीवन-इतिहास मे परिवेश एव परिस्थितियो की विशिष्टता अथवा सार्वत्रिकता के रूप मे देखते और प्रस्तुत करते है। वे इतिहास की विशिष्टता का वर्तमान की विशिष्टता से सम्बन्ध जानते हैं। बल्कि वे वर्तमान की विशिष्टता को इतिहास की विशिष्टता की उपज, परिणाम, परिणति और प्रभाव के रूप मे देखते है। वे वर्तमान मे, पात्रो के परिवेश की सादृश्यता (सार्वत्रिकता) होने पर भी, बडी बारीकी से अपने पात्रो के व्यवहार की विशिष्टता को चित्रित कर, पाठक का ध्यान उस विशिष्टता के कारण की ओर आकर्षित करते हुए उनके व्यवहार की भिन्नता को उनके जीवन-इतिहास मे उनकी अलग-अलग परिस्थितियो (परिवेशो) की परिणति के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। पात्रो के जीवन-इतिहास मे उसके आसपास के व्यक्तियो और परिस्थितियो द्वारा पात्र का दबोचा जाना देखकर वह इस दुनिया के बारे मे सतर्क हो जाता है, क्योकि उसके जीवन मे, उसके आसपास भी वैसे ही लोग है, वैसी ही परिस्थितियाँ है, वैसी ही दुनिया है। परसाई जानते हैं कि अमूर्त्त व्यवस्था अपने आपको सामाजिक व्यवहार के विशिष्ट सगठन मे व्यक्त करती है, इस दुनिया के लोगो और सस्थाओ के व्यवहार के रूप मे ही पाठक उसे पहचानता है। परसाई परिस्थितियो, व्यक्तियो, सस्थाओ के विशिष्ट, सामाजिक व्यवहार को पूरा चित्रित करने की बजाय उन सबका व्यक्ति की मानसिकता के विकास पर प्रभाव को चित्रित करते हैं। यह प्रभाव उनके पात्रो का विशिष्ट व्यवहार होता है जिसकी विशिष्टता का कारण खोजते हुए पाठक को दुनिया की परिस्थितियो, व्यक्तियो और सस्थाओ का (पात्र के समूचे जीवन मे) पात्र मे व्यवहार ही इस प्रभाव के कारण के रूप मे दिखते है। मानना ही होगा कि परसाई को मूर्त्त और अमूर्त्त के रिश्तो की अच्छी समझ है। तभी तो वे पात्रो का व्यवहार चित्रित करते है और पाठक को दिखती है पूरी दुनिया, पूरी व्यवस्था। हम मान सकते है कि व्यक्ति, वर्ग, वर्ग के उपवर्ग या तबके, क्षेत्र, अचल, समुदाय, सम्प्रदाय और यहाँ तक कि राष्ट्रो की विशिष्टता का कारण उनके अपने इतिहास की कुछ विशेष घटनाओ, कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियो की छाप होती है। वर्तमान की विशिष्टता इतिहास की विशिष्टता का परिणाम है, वर्तमान की विशिष्टता वस्तुत वर्तमान की ऐतिहासिकता है।

'मनीषी जी' एक ऐसे व्यक्ति का रेखा चरित्र प्रतीत होता है जिसने अपने जीवन-इतिहास के प्रारभ मे जनसेवा का बीडा उठाया होगा, कोई बडा और महत्वपूर्ण कार्य कर डालने का निश्चय किया होगा, शुरू मे ही आदर्श मूल्य अपना लिए होगे, जिसे ऐसा कर पाने की अपनी क्षमताओ और प्रतिभा पर पूर आत्मविश्वास भी होगा। उस समय उस व्यक्ति का जीवन की कटुता से परिच

न हुआ होगा। दुनिया के बाजार मे उतरने पर उन्होंने जनसेवा या 'कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण' कर डालने के कई प्रयास किये होंगे। लम्बे अरसे तक प्रयास करने पर असफल होकर उनका यथार्थ से परिचय हुआ, अपने आर्थिक अभाव की सीमाओं का ज्ञान हुआ। दुनिया मे अभावग्रस्त व्यक्ति की गिरती हुई सामाजिक प्रतिष्ठा और जनसेवा करने की असमर्थता ज्ञात हुई। उनकी महत्त्वाकाक्षाएँ मर गयी, किन्तु उनकी महत्त्वाकाक्षाओ मे स्वार्थ के बजाय सवेदनशीलता, आदर्श और मानवीयता थी, वह सब तो नही मरा। लोगो को हँसाकर तरह-तरह से खुश करते हुए उनकी सहायता करते हुए मनीषी जी की सवेदनशीलता और मानवीयता तृप्त होती है। अपनी असफलता जानकर अपने जीवन को निरर्थक समझते हुए स्वय कष्ट मे रहकर भी परेशान लोगो की मदद करते है। लोगो को हँसाना, खुश रखना उनका स्वभाव बन चुका है, वे अपने स्वय के कष्टो के प्रति सवेदनहीन हो चुके है इसलिए वे हमेशा हँसते रहते है। उनका दर्द भी हँसी बन गया है। दुनिया के तिरस्कृत लोगो का सरक्षण देकर वे उन्हे दुनिया के हमलो से बचाकर उनकी सुरक्षा करते है। इस तरह वे अब भी बेरहम दुनिया के सामने अपने आपको असहायो को छाया देने खडी मजबूत चट्टान की तरह महसूस करते है। इसमे उन्हे अपनी महानता की अनुभूति होती है। इस कारण वे सामान्य मनुष्य की तरह जीविका चलाने के प्रयास नही करते जिससे उनके कष्ट कुछ अधिक ही हो जाते है। लम्बे अरसे तक अपने-आपको महत्त्वपूर्ण जन-सेवक मानकर किये गये व्यवहार ने उनके अहम् को बहुत मजबूत कर दिया था। यहाँ अहम् महत्त्वाकाक्षा या व्यक्ति की किसी भी मानसिकता के जड हो जाने की प्रक्रिया को परसाई जी बखूबी चित्रित कर पाते है। वे जानते हैं कि हमारे आसपास के लोगो के व्यवहार और परिस्थितियाँ हमे प्रभावित करती है, अपने आसपास की दुनिया देखकर हमारे मूल्य तय होते हैं। प्रत्येक नयी घटना इन मूल्यो पर असर डालती है। इनसे मूल्य बदलते हैं या टूटते हैं। आसपास की दुनिया देखकर तय किये गये या बदले गये मूल्यों से हमारा व्यवहार तय होता है, विशिष्ट होता है। इस विशिष्ट व्यवहार के लगातार अभ्यास से हमारा मनोविज्ञान तैयार होता है तथा हमारे व्यवहार की वह विशिष्टता परिपक्व हो जाती है। ऐसी स्थिति मे नयी घटनाएँ जो सामान्यत हमारे मूल्यो, मनोविज्ञान और मानसिकता को परिवर्तित कर सकती थी, वे उन पर या तो लेशमात्र भी प्रभाव नही डाल पाती, उन्हे विकृत ही करती है या उन्हे बहुत कम परिवर्तित कर पाती है। हमारे विशिष्ट व्यवहार के लगातार अभ्यास से तैयार मनोविज्ञान और इस व्यवहार की विशिष्टता की परिपक्वता गैडे की खाल की तरह हमारे मूल्यों, मानदण्डो और मानसिकता को ढँककर घटनाओ और परिवेश से लगभग अप्रभावित रखती है। इस तरह व्यक्ति अडियल, परिवर्तन-विरोधी, रूढिवादी और फलत प्रगति-विरोधी भी हो जाते है। परसाई का पाठक उनकी रचनाओ मे पात्रो की यह नियति देखकर अपने स्वय के अडियलपन से सतर्क

हो जाता है। वह जान जाता है कि एक लम्बे अरसे तक अपने-आपको महान मानकर मनीषी जी ने जो व्यवहार किया उससे मनीषी जी का मनोविज्ञान अहंकारी हो गया और वे साधारण व्यक्तियों की तरह जीविकोपार्जन को हेय समझकर अपने कष्टों में स्वयं ही वृद्धि करते रहे जबकि वे कोई महत्त्वपूर्ण जन-सेवक नहीं बन सके। वह सतर्क हो जाता है कि विशिष्ट व्यवहार के लगातार अभ्यास से उसमें अड़ियलपन न आ जाय वह अपने मनोविज्ञान और व्यवहार का विश्लेषण करने का प्रयास करने लगता है। परसाई उसे यह बता सकने में पूरी तरह सफल लगते हैं कि विशिष्ट व्यवहार के लगातार अभ्यास के बिना व्यवहार की विशिष्टता और मनोविज्ञान की परिपक्वता के अभाव में हम सहज ही नयी घटनाओं के सत्य तथा परिवर्तन को स्वीकार भी कर लेते हैं और उन्हें सहजतापूर्वक अपना भी लेते हैं।

'रामदास' उनकी व्यंग्य कलात्मकता में बिल्कुल नयी दिशा है। कौन कहता है कि सिर्फ हास्य ही व्यंग्य पैदा करता है? परसाई रामदास का उपहास नहीं करते, वे उसके अवसाद को चित्रित कर पूरी समाज-व्यवस्था का उपहास करते हैं। रामदास ने एक सामान्य, सुविधामय, प्रतिष्ठित, आत्मसम्मानजनक और स्वाभिमानी जीवन की कामना की होगी। उसने इन आकांक्षाओं के जन्म लेने से पहले ही बेईमानी न करने के आदर्श मूल्य अपना लिए होंगे, जो लगातार अभ्यास से मजबूत हो चुके होंगे। सामाजिक यथार्थ से परिचय होते ही वह जान गया कि दुनिया उसे ईमानदारी से जीने नहीं देगी, किन्तु उसके मन में आदर्श की स्थापना इतने गहरे तक हो चुकी थी कि वह अपने आदर्श किसी भी कीमत पर त्यागने के लिए तैयार न हुआ। उसने कष्ट सहना ही श्रेयस्कर समझा, अब फिर कष्ट उसकी मजबूरी बन गये। कष्ट सहते-सहते वह अपने परिवार के कष्टों के प्रति संवेदनहीन होता गया। उसे सब कुछ निरर्थक लगने लगा। उसे विश्वास हो गया कि कोई 'निस्वार्थ सहायता' नहीं करता। लोगों की मानवीयता पर शंका करने और स्वाभिमान के कारण वह अपना दुख किसी से नहीं बताता था। उसके बेटे की मौत का अर्थ था उसका मन मन घुलना और चुपचाप आँसू बहाना। बीच में अचेतन में दबी आकांक्षाएँ उभर आएँ तो परिवार को 'अच्छा'-सा मकान मिल जाये तो ले आऊँ' कहना। क्या यही रामदास का उपहास है? नहीं, यह रामदास का अवसाद है जो किसी ईमानदार व्यक्ति के प्रति समाज की निर्दयता का उदाहरण है। पूरे समाज का उपहास है। परसाई ने अपने पात्र का चित्रण बड़े आदरपूर्वक किया है जो सामान्य जन के प्रति उनके दृष्टिकोण और संवेदन-शीलता को ही व्यक्त करता है। इसमें रामदास अपने पूरे इतिहास और पारि-वारिक पृष्ठभूमि के साथ खड़ा है।

'गांधी भक्त' सेवकी जी की महत्त्वाकांक्षा और मूल्यों के टूटने की कथा है। सेवक जी के जीवन-इतिहास में केवल दो ही विशिष्ट घटनाएँ हुई थीं,—एक यह कि वे गांधीजी के साथ ही जेल में थे, दूसरी यह कि गांधीजी **स्वयं उनकी**

शादी में आकर शाल भेंट कर गये थे और आशीर्वाद भी दे गये थे। बस इन्हीं दो घटनाओं ने सेवक जी का जीवन बदल डाला, उनके व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान कर दी। उनकी मुलाकात इतने महान पुरुष से हुई कि वे फिर किसी अन्य को महान या महत्त्वपूर्ण नहीं मान सके। वे जानते थे कि भारत के लोग गांधी को महान नेता मानते हैं, उन्हें विश्वास था कि यदि लोग ऐसे महान नेता से मेरे सम्बन्धों को जान पायेंगे तो मेरा सम्मान करने लगेंगे, मेरी प्रतिष्ठा बढ़ जाएगी, मेरी पूछ होने लगेगी। उन्होंने गांधी भक्ति में साधनों की पवित्रता का आदर्श भी अपनाया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद स्वतन्त्रता संग्राम में महत्त्वपूर्ण योगदान करने और त्याग करने वाले अपने साथियों को पतित होते देखकर सेवकजी हताश हुए। बापू के बाद कोई ऐसा न रहा जिससे साधनों की पवित्रता की प्रेरणा मिल सकती। सेवक जी के मूल्य कमजोर पड़ने लगे। साथियों को सत्तारूढ़, सम्पन्न और प्रतिष्ठित होते देख महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ने लगीं। गांधीजी से अपने प्रगाढ़ सम्बन्धों की स्मृति ही उनका मनोबल भी थी और सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार भी। जिसका एकमात्र प्रमाण था एक नीला शाल। शाल के खो जाने से उनका मनोबल टूटने लगा, सामाजिक प्रतिष्ठा भी धूमिल होती हुई प्रतीत हुई। उसे पुनः अर्जित करने के लिए नकली नीला शाल खरीदा। मूल्य पहले ही कमजोर पड़ चुके थे। महत्त्वाकांक्षाएँ विजयी हुईं, नैतिक मूल्य हार गये। सेवक जी ने सामाजिक प्रतिष्ठा को फिर से अर्जित करने के लिए साधनों की पवित्रता को त्यागा, लेकिन लोगों पर यह प्रकट न होने देने के पूरे प्रयास किये वरना उन्हें कोई भी गांधी भक्त न मानता और वे अपनी रही-सही सामाजिक प्रतिष्ठा भी खो देते जिसके लिए उन्होंने साधनों की पवित्रता का भी परित्याग कर दिया। परसाई जी सेवक जी के जीवन में घटी मात्र दो घटनाओं और उनके साथी राजनेताओं के नैतिक पतन को ही उनके व्यक्तित्व के बिल्कुल विचित्र एवं विशिष्ट विकास के आधार के रूप में चित्रित कर पाने में पूरी तरह सफल हैं। सेवक जी का यह व्यवहार कितना ही विचित्र या विशिष्ट लगे पर विश्वसनीय भी लगता है।

'बातूनी' और 'गांधी भक्त' के सेवक जी में अन्तर यह है कि सेवक जी की मुलाकात एक ऐसे महान व्यक्ति से हुई जिसके सामने उन्हें सभी 'फीके' लगे। जबकि बातूनी कई महत्त्वपूर्ण, विशिष्ट और महान व्यक्तियों से मिल चुका है। जिनमें न तो कोई भी उसे इतना महत्त्वपूर्ण लगा और न ही दूसरे इतने फीके लगे। यही कारण है कि वह अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से मुलाकातों की स्मृतियाँ तो सुनाता ही है, कुछ और महत्त्वपूर्ण लोगों से परिचय बढ़ाने के लिए लालायित भी है। उसमें निराशा नहीं उत्साह है। अतः वह उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाकर, उन पर एहसान लादकर उनसे अपने सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाकर स्वयं महत्त्वपूर्ण बनने का प्रयास करता है। इस कारण उसके पास बात करने को मात्र एक स्मृति नहीं बल्कि बहुत 'मसाले' हैं। यही वजह है कि

वह बहुत बातूनी है। इन्ही बातो से वह महत्त्वपूर्ण बनने का प्रयास करता है। वह अपनी सीमाएँ जानता है कि इस समाज मे महत्त्वपूर्ण होने के लिए योग्यता न होने पर पैसा या पद होना चाहिए जो उसके पास नही है। उसे मालूम है कि इस व्यवस्था मे सामान्य व्यक्ति और उसके श्रम की प्रतिष्ठा नही है, वह हेय माना जाता है। तब महत्त्वपूर्ण दिखने के लिए वह बातूनी होने के अलावा कर भी क्या सकता है!

'ठण्डा शरीफ आदमी' और 'सयोजक' दोनो ही व्यवस्था को इतना शक्तिशाली मानते हैं कि उससे लडकर कुछ नही लिया जा सकता, किन्तु वे यह नही मानते कि व्यवस्था से किसी को कुछ नही मिलेगा। वे नही मानते कि व्यवस्था किसी को कुछ नही देती। वे जानते हैं कि कुछ लोग है जिन्हें व्यवस्था कुछ देती है, जो व्यवस्था को, उसके 'ठेकदारो' और स्तम्भो को 'डिस्टर्ब' नही करते, उनकी हित-साधना मे सहयोग करते है। यह सत्य उनकी आकाक्षाओ और महत्त्वाकाक्षाओ को जन्म लेने से नही रोकता, उन्हें मरने नही देता, बल्कि उन्हे जीवित रखता है। साधारण परिवारो मे जन्म लेने के कारण सामाजिक यथार्थ मे इतने गहरे और इतने शीघ्र परिचय मे वे महत्त्वाकाक्षी, अर्थ-लोलुप, पद-लोलुप और स्वार्थी हो जाते हैं। 'ठण्डा शरीफ आदमी' अपने जीवन मे ऐसे कर्मचारियो को ही नजदीक से देख सका जिन्होंने व्यवस्था के 'स्तम्भो' की अधीनता स्वीकार कर, उनकी चाटुकारिता स्वीकार कर बहुत कुछ प्राप्त किया। अत उसे चाटुकारिता मे पर्याप्त लाभ दिखा और वह चाटुकार हो गया, उसने अधीनता स्वीकार कर ली। 'सयोजक' उस सत्य को तो जानता ही था जो 'ठण्डा शरीफ आदमी' जानता था लेकिन साथ ही वह एक और सत्य भी जान गया जिसे ठण्डा शरीफ आदमी, नही जान पाया। अपने जीवन के प्रारम्भ से ही अधिक सामाजिक होने के कारण ऐसे व्यक्ति सार्वजनिक समारोहो को तथा उनके 'स्वयमभू संस्था प्रमुखो' को बडी बारीकी से देखकर उनके अधिक से अधिक करीब रहकर आसानी से उनके गुर सीख सकते हैं। सगत मे गुर सीखने की कला जानने के कारण ही तो सयोजक परसाई जी को भी साथ रहने पर वे गुर सिखाने का आश्वासन देता है। 'सयोजक' व्यवस्था के स्तम्भो की सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित करने की स्वार्थपूर्ति हेतु बडे महत्त्वपूर्ण समारोहो का आयोजन कर उन्हें अध्यक्ष या उद्घाटनकर्ता बनाने की क्षमता से स्वतत्रतापूर्वक, सम्मानपूर्वक, बिना अधीनता स्वीकार किये या बिना चाटुकारिता किए ही उनसे कुछ प्राप्त किये जा सकने के सत्य को जान गया। इस अतिरिक्त सत्य के ज्ञान के कारण लगभग एक से 'वर्तमान परिवेश' म रहकर भी, वह ठण्डा शरीफ आदमी की तरह चाटुकार नही बनता अपितु वह स्वतन्त्र और दबग रहता है। यही परसाई न केवल एक से वर्तमान परिवेश बल्कि जीवन-इतिहास मे भी लगभग एक स परिवेश होते हुए उनके इस बारीक अतर के कारण (चाटुकार कर्मचारियो के नेतृत्व तथा सामाजिक होने के कारण सार्वजनिक समारोहो के 'स्वयमभू संस्था

तरह जान गया कि इस समाज मे नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ नही है। परसाई हरचरन के व्यवहार को उस पर व्यवस्था की टूटन और बिखराव के प्रभाव के रूप मे बडी खूबसूरती से चित्रित करते है। वे पूंजीवादी पार्टियों के राजनीतिज्ञो की सारी चालबाजियो की पोल खोल देते हैं और उनके पाठक की इस पूंजीवादी राजनीति और राजनेताओ पर बची-खुची आस्था भी समाप्त हो जाती है। यह 1947 के बीस वर्ष बाद अर्थात् 1967 की घटना है। जिसमे कांग्रेसी और जनसघ, ससोपा और प्रसोपा के विरोधी गठबन्धन के नेता, सभी हरचरन जैसे लोगो को दल बदल करने के लिए लालच देते है। उन पर दबाव डालते हैं। पार्टियो का नाम लिए बिना ही परसाई ने सब कुछ कह दिया।

'अनशनकारी' सारे रेखाचित्रो मे बिलकुल अलग स्थान बनाता है, जिसमे व एक साथ कई वर्गों के प्रतिनिधियो को बेनकाब करते है। स्वय शामिल हुए बिना ही उनको आपस मे टकराते हुए चित्रित करते हैं। स्थानीय नेता और नगरपालिका अध्यक्ष गोवर्धन बाबू, स्थानीय सम्पन्न व्यापारी (आइल किंग की तरह धन कुबेर नही!) सेठ किशोरीलाल और सत्ता दल के महत्त्वपूर्ण प्रान्तीय नेता भैया साहब के अहम् और स्वार्थों का सामजस्य भी होता है और टकराव भी। वे एक-दूसरे के लिए सीधे ही बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, अत वे एक-दूसरे से हार नही मानते। दूसरी ओर मुख्यमत्री जैसे सभी सत्ताधारियों की अधीनता वे आसानी से स्वीकार कर लेते हैं जो उनके बहुत बडे स्वार्थ को पूरा कर सकता है। ऐसे लोगों का स्वार्थ सदा ही बडे सत्ताधारियों को सहयोग करना है, जब भी उनका अहम् उन सत्ताधारियो से टकराता है टकराव वस्तुत उन सत्ताधारियो की ओर से स्वय उनके स्वार्थ और उनके अहम् मे हो जाता है। ऐसे वर्गों मे सदा ही अहम् हारता है, उनका बडा स्वार्थ जीतता है और वे उन सत्ताधारियो की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। गोवर्धन बाबू सेठ किशोरीलाल और भैया साहब का स्वार्थ वह सत्ताधारी पूरा कर सकता है लेकिन स्वय उसका स्वार्थ गोवर्धन बाबू जैसे स्थानीय नेता और सेठ किशोरीलाल जैसे साधारण स्थानीय धनाढ्य नही पूरा कर सकते बल्कि वही पूरी तरह से उनका भाग्यविधाता है, जबकि भैया साहब जैसे महत्त्वपूर्ण प्रातीय नेता राजनीतिक सकट के समय उसकी स्वार्थ-पूर्ति कर सकते हैं। इस कारण सत्ताधीश भैया साहब के पक्ष म निर्णय देता है। गोवर्धन बाबू और सेठ किशोरीलाल के स्वार्थ उसके निर्णय का समर्थन करते है, उनका स्वार्थ जीतता है, अहम् हारता है। भैया साहब के अहम् की विजय सत्ताधारी के स्वार्थ की और फलस्वरूप गोवर्धन बाबू और सेठ किशोरीलाल के स्वार्थों की उनके अहम् पर विजय है। अत इन सम्बन्धो से भैया साहब का अहम् गोवर्धन बाबू और सेठ किशोरीलाल के स्वार्थों के रूप म ही विजयी होता दिखता है। परसाई जी ने विभिन्न वर्गों के इन अमूर्त्त सम्बन्धो को पूरी सफलता और कलात्मकता के साथ कुछ व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा चित्रित कर दिया।

मैंने अपने पूरे लेख मे जान-बूझकर 'मुक्तिबोध' और क्रोधित निराश की चर्चा अब तक नही की। उनका विशेष महत्त्व है। 'मुक्तिबोध' बिलकुल ही *अद्भुत प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि व्यग्य मे किसी पात्र से घृणा करना या* उसका उपहास करना हमेशा आवश्यक नही है। इस रेखाचित्र मे किससे घृणा करते है परसाई ? किसका उपहास करते है ? मुक्तिबोध का, ज्ञानरजन का, शरद कोठारी का, शान्ता भाभी का, प्रमोद वर्मा का, रमेश का या स्वय अपना ? किसी का उपहास तो नही करते परसाई ! किसी से भी तो घृणा नहीं करते व ! उनके पात्र अपनी परिस्थितियो के कारण भले ही हँस सके हो, उनकी हँसी मे उपहास नही है। पाठक के लिए तो वे गहरी आह हैं। उसमे मुक्तिबोध का अवसाद है। उनके कारण उनके मित्रो का अवसाद है। यह निराश और कमजोर व्यक्ति का अवसाद नही है। यह उस व्यक्ति का अवसाद है जो अपने जीवन के अन्तिम क्षणो मे भी समाज को कुछ देकर जाना चाहता है, जिसमे उस समय भी कुछ कर गुजरने की ललक है जिसमे आत्महत्या करने की इच्छा नही, कुछ दिन और जीकर कुछ कर गुजरने की तमन्ना है। जो क्षण भर के लिए अकेला पड़-कर भयकर पीडा के क्षणो मे भले ही निराशा की कविता लिख डाले, लोगों से मिलते ही उसमे साहस का सचार हो जाता है और वह आशा से भरकर नयी कविता लिखने को तैयार है। अब वह पहले की निराशा-भरी कविता को गलत कहने का साहस भी रखता है जिसे सहानुभूति का पात्र बनना स्वीकार नही। जो अपने शिष्य का दिल नही दुखा सकता। अत अपना अहम् (जो उसे बहुत प्रिय है) मारकर भी उसके पैमे स्वीकार कर लेता है। परसाई उस महान कवि के कष्टो की ओर ध्यान दिलाकर पाठक को मजबूर कर देते हैं कि वह इसका कारण खोजे। पाठक को साफ नजर आता है कि ऐसे प्रतिभावान कवि की चिकित्सा न होना ही इसका कारण है। इस व्यवस्था मे हर प्रतिभावान रचना-कार इसी तरह उपेक्षित होकर कष्टमय जीवन बिताता है और बितायेगा। यही इस रेखाचित्र द्वारा समूची व्यवस्था का उपहास कर व्यक्ति की स्वतत्रता और सुरक्षा की गारटी करने वाले प्रजातत्र को निरर्थक सिद्ध किया गया है। इतनी यातनाएँ देने के बाद भी क्या यह व्यवस्था मुक्तिबोध के मूल्यो को, उनके उत्साह को, उनकी सवेदनशीलता, आत्मीयता और समाज प्रेम को क्या जरा भी कमजोर कर पाती है ? बिलकुल नही। इस तरह क्या व्यवस्था अपनी पूरी क्रूरता के बावजूद मुक्तिबोध जैसे मार्क्सवादी प्रतिबद्धता वाले रचनाकार के सामने असहाय नही सिद्ध हो जाती ? व्यवस्था का इससे बड़ा उपहास और क्या होगा ! ज्ञानरजन ने सही कहा था—पहली कविता भी ठीक है ! यह इस व्यवस्था की एक रचनाकार के प्रति क्रूरता, भयकरता और अमानवीयता की कथा होगी।

रिपिटीशन ?

'क्रोधित निराश' की चर्चा सबसे अन्त मे करने के पीछे कारण यह था कि यह उस रेखाचित्र के माध्यम से मध्यवर्ग के ऐसे व्यक्तियो की स्थिति पर, इस व्यवस्था पर तो व्यग्य है ही, साथ ही इस रेखाचित्र की एक और खूबी भी है। इसम परसाई अकेले व्यग्यकार नहीं है। उनका यह पात्र भी अच्छा-खासा व्यग्यकार है। यह स्वय ही अपने चारो ओर के मध्यवर्गीय लोगो की बेईमानी, स्वार्थ और झूठे अहकार पर भरपूर चोट करने मे सक्षम है। वह इस व्यवस्था का उपहास करने म सक्षम है। परसाई एक महान लक्ष्य के लिए प्रतिबद्ध है, एक बहुत बडे सघर्ष का हिस्सा है। इस कारण आशावादी भी हैं और व्यक्तियो के व्यवहार को उनके वस्तुगत रूप में उद्‌घाटित करने मे सक्षम हैं। 'क्रोधित निराश' अपन जीवन के बाद के समय म किसी भी सघर्ष या महान लक्ष्य के लिए प्रतिबद्ध तो क्या उससे सम्बद्ध भी नही रह पाता। फिर भी उसने अपने आदश तय कर रखे हैं। उन्ह त्याग कर बेईमानी करना उसे छिछारापन लगता है। उसम उस आदर्श जीवन को जीने का बडा स्वाभिमान है जिसके सामने सम्पन्नता और पद के छोटे-छोटे अहकार उसे बहुत ओछे लगते है। यही कारण है कि कोई व्यक्ति उस जब छोटी-छोटी बेईमानियाँ करता हुआ, अपने छोटे-मोटे अहकार का प्रदर्शन करते हुए नजर आता है तो वह उनका उपहास करता है वे उसे बहुत घटिया लगते है। बाद म अपनी असमर्थता जान लेने पर वही उसे अपमानजनक लगता है। वह खीजता है, कुढता है। इसका विकास भी 'असहमत' जैसा ही हुआ है, व्यवहार भी एक हद तक 'असहमत' जैसा ही है। बहुत बारीक अन्तर है। असहमत क्रुद्ध होता है और यह कुढता है। असहमत हर व्यक्ति पर अपनी योग्यता प्रमाणित करने और उसे परास्त करने के लिए उसकी हर बात काटने का प्रयास करता है, विषय भले ही कुछ भी हो। 'क्रोधित निराश' प्रत्येक विषय पर व्याख्यान नही देता, हर बात पर प्रतिक्रिया नही देता। केवल अपने प्रति दूसरो के व्यवहार पर ही कुढता है। अपन असम्मान के प्रति सतर्क रहकर दूसरे पर अपमान करने की शका करता है। उसे मालूम है कि साधनहीन व्यक्ति का आत्मसम्मान अभिजात्य वर्ग की इस व्यवस्था मे कितना असुरक्षित है। व्यवहार का यह बारीक अन्तर भी दोनो व्यक्तियो के जीवन इतिहास म अन्तर के कारण है। 'असहमत' के परिवश ने उसे कोई आदश मूल्य तो नही दिए, अलबत्ता महत्त्वाकाक्षाएँ जरूरी दे दी। स्वार्थ अवश्य सिखा दिया। महत्त्वाकाक्षाओ ने परिपक्व होकर उसे अपनी हार नही स्वीकार करने दी जबकि वह हार चुका था। वह दूसरो के ओछेपन पर नही चिढता था, क्योकि उसके पास कोई आदर्श मूल्य नही थे। वह उनसे इसलिए चिढता था कि कम योग्य व्यक्ति उससे जीत क्यो गए। वह अपनी हार पर चिढता था, हराने वाले लोगो और हराने वाली व्यवस्था से चिढता था, लेकिन उसकी महत्त्वाकाक्षाएँ उसे यह सत्य स्वीकार नही करने देती थी कि

इस व्यवस्था मे योग्यता से 'कुछ नही मिलेगा'। उसे इस सत्य पर विश्वास नही हुआ, वह क्रुद्ध हो गया, खूँख्वार हो गया। 'क्रोधित निराश' के परिवेश ने उसे आदर्श मूल्य तो दिये पर उसे सुविधा और ऐश्वर्य का महत्त्वबोध नही दिया। वह स्वार्थी और महत्त्वाकाक्षी बनने से पहले ही जान गया कि इस व्यवस्था से 'कुछ नही मिलेगा'। लेकिन उसके आदर्श मूल्य परिपक्व हो चुके थे, वे नही टूटे। महत्त्वाकाक्षा मर चुकी थी। अपनी योग्यता का ज्ञान था। व्यवस्था मे योग्यता की असमर्थता और सम्पन्नता तथा बेईमानी की शक्ति का ज्ञान भी था, किन्तु स्वयं बेईमानी करना स्वीकार न था। कम योग्य व्यक्ति की सम्पन्नता पर चिढता है, बेईमानी को ही उसकी सम्पन्नता के कारण के रूप मे जान लेने पर उसे ओछा समझता था। बिना बेईमानी 'कुछ नही मिलेगा' इस सत्य का ज्ञान होने के कारण वह निराश था। क्रुद्ध और खूँख्वार नही हुआ। कुढने लगा, क्षुब्ध हो गया, छोटी-मोटी बेईमानी और अहकार के प्रदर्शन को छिछोरापन समझने लगा। *जब व्यक्ति बेईमानी को अपने से तुच्छ और अपने-आपको आदर्श मानता है तो वह व्यग्यकार हो जाता है।* वह खूँख्वार नही हुआ, व्यग्यकार हो गया! इस रचना के कुछ उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जायेगा।

(मैंने कहा—"चाय पियोगे?" वह बोला—"हाँ, जरूर पियूँगा। आपकी कृपा है। कृपा तो आप लोग करते ही रहते है। कृपा करना तो आप लोगो का शौक है। लक्जरी है। भला हम गरीब आप लोगों के शौक मे बाधक बनने की हिम्मत कैसे कर सकते है?')

पृ० 47 'बोलती रेखाएँ'—क्या यह क्रोध है? नही, यह ताना है। यह 'क्रोधित निराश' नही 'क्षुब्ध निराश' या 'कुढने वाला' है।

(वह चाय को गौर से देखकर दुकानदार से बोला, "भाई, चाय मे कम-से-कम दूध की सुगन्ध तो होती ही! इतना निर्मल जल! इतना शुद्ध सत्य न बाँटा करो दुनिया को!" फिर मेरी ओर देखकर बोला, "क्या आपकी कृपा की डोर मे फँसकर एकाध बिस्किट मेरे पास तक नही आ सकता?"—पृ० 48 'बोलती रेखाएँ) क्या यहाँ भी वह क्रोधित है?

ये उद्धरण उसे व्यग्यकार सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। किसी परिचित के नमस्कार के जवाब मे परसाई और वह एक साथ नमस्कार करते हैं, तब परसाई लिखते हैं—वह भडक उठता है। वह क्रुद्ध होता है कि नमस्कार परसाई का नहीं उसे किया गया, फिर परसाई ने जवाब क्यो दिया। वह परसाई के माध्यम से अपनी एकमात्र उपलब्धि परिचित का अभिवादन छीन लेने का आरोप हर उस व्यक्ति पर लगाना चाहता है जिसके पास पेट भर खाने को कुछ है। यह क्रोध नही 'चिडचिडाहट' है, अपनी असहाय स्थिति तथा अपने आत्म-सम्मान के प्रति असुरक्षा की भावना है। क्रोधित व्यक्ति दूसरो के सम्मुख शक्तिशाली प्रतीत होता है। 'चिडचिडा' दूसरो के सम्मुख अपने आपको शक्तिहीन और असहाय पाता है, इसीलिए खीजता है। परसाई का अपमान करने पर जब-

परसाई चुप रहते हैं, तब उसका गला भर आता है। कहता है—

"देखो, मैं तुमसे सत्य बात कहता हूँ। आज मेरी आत्मा का सत्य जागृत हो गया है। जब पेट भरा होता है, तब भोजन के नीचे सत्य दब जाता है। मैंने तीन दिन से कुछ खाया नहीं है। मैं आज शुद्ध बुद्ध हूँ। मैं सत्य कहूँ। मैं तुमसे ईर्ष्या करता हूँ। कारण यही, कि तुम्हारे इतने मित्र हैं, परिचित हैं, तुम्हारी प्रसिद्धि है। मैं वास्तव में तुमसे ईर्ष्या करता हूँ।' — पृ० 53 'बोलती रेखाएँ'।

परसाई जी ने उसे क्रोधित निराश कहा है। मुझे वह क्रोधित नजर नहीं आता। वह क्षुब्ध नजर आता है, चिड़चिड़ा नजर आता है, कुढ़ता है, क्रोधित तो असहमत है। यह तो 'क्षुब्ध निराश' है। परसाई का गलत सिद्ध करने का दुस्साहस तो कैसे करूँ, पर लगता है उन्होंने शीर्षक का चुनाव करते समय अपने इस पात्र पर गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया। रचना के तैयार हो जाने पर रचनाकार एक बार फिर से उस बारीकी से पढ़ता है—आलोचक की नजर से। शायद यही कमी रह गयी हो। इस रचना को पढ़ते समय मेरे मस्तिष्क में जो शीर्षक उभरे थे, वे 'क्षुब्ध निराश', 'कुढ़ने वाला' और 'चिड़चिड़ा' थे। शेष सभी शीर्षक परसाई जी के पात्रों को अच्छी तरह चित्रित करने में पूरी तरह सक्षम हैं, बस यही एक शीर्षक खलता है।

परसाई अपने पात्रों के व्यवहार की विशिष्टता के इतने बारीक अन्तर का चित्रित करते हैं कि सरसरी नजर से देखने पर दोनों रचनाएँ लगभग एक सी दिखती हैं। कई लोगों का कहना है कि परसाई की रचनाओं में 'रिपिटीशन' है। मैं समझता हूँ यह रिपिटीशन नहीं बहुत बारीक अन्तर वाले दो पात्रों का चित्रण है, सूक्ष्म कलात्मकता है। हो सकता है मेरी समझ गलत हो या वह अन्तर पूरी तरह सम्प्रेषित न हो पाता हो। बहरहाल परसाई की रचनाओं में 'रिपिटीशन' करने वाले ठोस उदाहरणों सहित अपनी बात को नहीं कहते, व उन रिपिटीशन वाली एक जैसी रचनाओं के नाम नहीं गिनाते, वरना उनसे बहस की जा सकती थी। सम्भवतः वे बहस से बचते हैं। परसाई जी हमारे समाज में लोगों की प्रवृत्तियों को अच्छी तरह समझते हैं। वे जानते हैं कि यदि पाठक ने अपने-आपको उनके पात्रों से जरा भी भिन्न पाया तो वह सन्तुष्ट हो जाएगा—"मैं अभी ठीक हूँ, मुझमें व्यवस्था का कोई प्रभाव नहीं है। मैं असामान्य नहीं हो सकता। परसाई मेरी नियति नहीं बता रहे। वे मेरा उपहास नहीं कर रहे, उनका पात्र तो मुझसे भिन्न है।" भले ही वे व्यवस्था से पूरी तरह प्रभावित हों और उतने ही स्वार्थी, बेईमान, अहंकारी या महत्त्वाकांक्षी हो रहे हों। यही कारण है कि परसाई बारीक अन्तर वाले पात्रों को चित्रित कर पाठक को बचने का कोई मौका नहीं देना चाहते। यह रिपिटीशन नहीं कलात्मक सूक्ष्मता है। कम-से-कम मैं तो यही समझता हूँ।

पाठक के लिए भी आवश्यक है कि वह सभी रचनाओं को पढ़े। वह एक रचना को पढ़कर उसके पात्र के व्यवहार की *विचित्रता तक ही* अपने विचार

सीमित रखता है। कई रचनाओं को पढ़कर वह उनके कई पात्रों के अलग-अलग व्यवहार में विशिष्टता और भिन्नता देखता है। इतने सारे विचित्र पात्रों के व्यवहार में भिन्नता देखकर वह इस अन्तर का कारण जानने को उत्सुक होता है। सारी रचनाओं को पढ़कर ही उत्सुकता होती है कि उनके व्यवहार के बारीक अन्तर के कारण को जानने के लिए पाठक उन पात्रों का जीवन-इतिहास जाने। इस तरह उनके इतिहास पर उनके विशिष्ट परिवेश (पारिवारिक या स्थानीय) का असर देखता है और सामान्य परिवेश (व्यवस्था) से उन पात्रों का टकराव तथा उसके परिणाम देखकर उस सामान्य परिवेश (व्यवस्था) का चरित्र जान पाता है। वह उन रचनाओं को पढ़कर वही निष्कर्ष निकालता है जो परसाई ने जीवित दुनिया को देखकर निकाले हैं। परसाई ने दुनिया में बहुत-सी घटनाएँ देखी—कुछ अनिवार्य तो कुछ आकस्मिक। उनमें से 'अनिवार्य घटनाक्रम' का चुनाव उसे पूरे जीवन के अनुभव से करना पड़ा। सामान्य पाठक यही नहीं कर पाता, अत उसे व्यवस्था का चरित्र आसानी से समझ में नहीं आता। परसाई की रचनाओं में घटनाएँ अपने अनिवार्य और स्वाभाविक क्रम में ही चुनकर गुथी जाती हैं, फलत वही पाठक इन रचनाओं में व्यवस्था का चरित्र आसानी से समझ लेता है। घटना-क्रम की इस अनिवार्यता को मैंने खाते-पीते परिवार में 'असहमत' और अभावग्रस्त परिवार में 'ठण्डा शरीफ आदमी' ('हमेशा सहमत') के विकसित होने की अनिवार्यता के रूप में पहले ही चित्रित कर दिया है। इससे परसाई की रचना पूरी तरह सम्प्रेषणीय और विश्वसनीय हो जाती है। उन रचनाओं को पढ़कर निकाले गये निष्कर्ष पाठक को परसाई के पास पहुँचा देते हैं। वह उनसे व्यक्तिगत रूप से बिना मिले उनका प्रशंसक, हमदर्द और मित्र बन जाता है। वह जितनी अधिक रचनाएँ पढ़ता है, यह मित्रता उतनी ही बढ़ती जाती है।

—प्रवीण अटलूरी

विष भी : औषधि भी

समकालीन रचना परिदृश्य मे मुक्तिबोध और परसाई, दोनों ही ऐसे लेखक हैं जिन्हे अपने रचना-मूल्यों और जीवन-मूल्यो के लिए सबसे अधिक जोखिमो का सामना करना पडा। आज अगर ये दोनों ही लेखक सबसे अधिक विश्वसनीय हैं और उनकी रचना हमारी सबसे बडी जरूरत हैं तो इसका स्पष्ट मतलब उन मूल्यो की पराजय भी हैं जिनके लिए नयी कविता और नयी कहानी आन्दोलन ने अपनी सम्पूर्ण प्रगतिशील परम्परा को नकार दिया था। 'नयी कविता का आत्मसघर्ष और अन्य निबन्ध' मे मुक्तिबोध ने इस ओर स्पष्ट सकेत किया था कि नयी कविता प्रतिगामी मूल्यो की ओर मुड गयी है और इस तरह वह दो भागो मे बँट गयी है। मुक्तिबोध ऐसे तनाव और आत्मसघर्ष मे गुजर रहे थे कि उनकी रचना जटिल से जटिलतर होती गयी और उन्हे अपनी पक्षधरता और रचना मे अतर्निहित मूल्यो की स्पष्टता के लिए निबन्ध और टिप्पणियाँ लिखने को बाध्य होना पडा। परसाई ने अपनी लडाई को दो स्तरो पर विभाजित होकर नही लडा, उन्होने कमोवेश एक अधिक कठिन और कारगर रास्ता अख्तियार किया—व्यग्य का रास्ता। व्यग्य का यह विशिष्ट गुण है कि वह लेखक के समकालीन ससार की प्रक्रियाओ का सीधा विरोधी होता है। अपनी प्रवृत्ति मे ही व्यग्य शोषित की अभिव्यक्ति का माध्यम है, क्योकि वह बेहद तीखे गुस्से के साथ अपने समय की विद्रूपताओ को बेनकाब करता है। व्यग्य निश्चित ही एक कठिन शैली है, उसके लिए बेहद सतुलित दक्षता और काफी महीन शिल्पकारिता की आवश्यकता होती है। परसाई की रचना के विकास को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारभिक रचनाओ वाली भावुकता एक वयस्क सवेदना की तरह विकसित हुई है और शिल्पगत अनुशासन केवल बढा ही नही है बल्कि उसमे विविधता भी आयी है। इसके ठीक विपरीत नयी कहानी के अन्य कथाकारो ने अपने लिए जिस भाषा और मुहावरे की खोज की थी वे आज भी उसी मे गोते लगा रहे हैं।

'तिरछी रेखाएँ' के पहले लेख 'व्यग्य क्यो ? कैसे ? किसलिए ?' मे व्यग्य के सदर्भ मे कुछ मान्यताएँ दी हैं। परसाई ने लिखा है, "सच्चा व्यग्य जीवन की समीक्षा होता है" और "व्यग्य मानव सहानुभूति से पैदा होता है × × × अच्छे व्यग्य मे करुणा की अन्तर्धारा होती है।" एवनेरजिस (AVNERZIS) ने अपनी पुस्तक 'फाउन्डेशन्स ऑफ मार्क्सिस्ट ऐस्थेटिक्स (Foundations of

Marxist Aesthetics)' मे लिखा है—"व्यग्य—वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों ही कारणों से पैदा होता है, इसका नुकीलापन केवल उन चीजों की ही आन्तरिक सडन का परिणाम नही होता, जिन्हे वह सुधारना या दण्ड देना चाहता है, बल्कि वह उन लोगो की मानवीय चिन्ता (या उत्सुकता) को भी प्रतिबिम्बित करता है जो ऐसी तमाम चीजो को समाप्त कर देना चाहते हैं, जो प्रतिगामी है।" परसाई ने जिसे मानव महानुभूति कहा है, वह वस्तुत सर्वोदयी हवाई सहानुभूति नहीं है। वह निश्चित ही शोषित के प्रति महानुभूति है, जो उनकी रचना से एकदम स्पष्ट है। व्यग्य म कामेडी के अन्य रूपो के बनिस्बत हास्य का एक अधिक कारगर और जीवन्त उपयोग होता है। व्यग्य मे वह एक धमकाने वाला, एक क्रूर हास्य होता है, जो निहत्थे शोषित का हथियार भी है और विसगतियो को उद्घाटित करने मे जो व्यग्य को तीखे और आलोचना के उच्चतम रूप मे परिणत कर देता है। परसाई मानते है कि सगति के गडबड हो जाने से चेतना मे चमक पैदा होती है और "इस चमक मे हँसी भी आ सकती है और चेतना मे हलचल भी पैदा होती है।" परसाई ने प्रच्छन्न हास्य का प्रयोग किया है और अतिनाटकीयता तथा मसखरेपन का भी। कई रचनाओं मे वे क्लासिक के पात्रो या पौराणिक कथाशैलियों द्वारा इस नाटकीयता को रचते है और कुछ जगहो पर घटनाओ की अतिरजना द्वारा। पात्रो के बोलने की टोन्स मुद्राएँ या वैयक्तिक विशिष्टताओ का उनकी रचना मे भरपूर उपयोग है। लेकिन यह कोरा चरित्र चित्रण नही है बल्कि समाज मे स्थित विशिष्टताओ और विविधताओं और भाषा के डायलेक्ट के प्रति एक सूक्ष्म और सवेदनशील दृष्टि का परिणाम है।

भोलाराम का जीव, वाक आउट—स्लीप आउट ! ईट आउट, सुदामा के चावल, फेल होना कुँअर अस्तभान का (उपन्यास-अश) तथा 'और अत मे' आदि रचनाओं मे जिस मसखरेपन का उपयोग परसाई ने किया है, वह केवल 'मजा' पैदा करने के लिए नही है। लेनिन ने एक जगह कहा है, "मसखरापन प्रचलित रीतियो की तार्किक असंगतियों को रेखांकित करके एक व्यग्य-उद्देश्य की पूर्ति करता है।" इस वाक्य मे दो महत्त्वपूर्ण बातें हैं (एक) तार्किक असगतियों को रेखांकित करना और (दूसरी) व्यग्य उद्देश्य की पूर्ति। याने पूरा व्यग्य न तो एक मसखरापन है ना ही इस अकेले औजार से पूरी रचना सभव है, वह केवल व्याग्य के उद्देश्य की 'पूर्ति' मात्र है। लेकिन इसके साथ ही यह मसखरापन निरुद्देश्य नही है, वह 'तार्किक असगति' को रेखांकित करता है। परसाई भी सगतियो की गडबड को ही इसका मुख्य कारण मानते हैं।

□

यह अप्रत्याशित नहीं है कि परसाई ने मुक्तिबोध पर एक लेख 'मुक्तिबोध एक सस्मरण' लिखा। जितनी आत्मीयता और वस्तुनिष्ठता के साथ इस लेख मे मुक्तिबोध के व्यक्तित्व और रचना का विश्लेषण उन्होंने किया है, उतना बेबाक

और आत्मीय ढग से अपने समकालीन का विश्लेषण हिन्दी मे दूसरा दुर्लभ है। ऐसा क्यो है कि मुक्तिबोध के विरोधाभासो का विश्लेषण परसाई इतनी आत्मीयता के साथ करते है ? क्या केवल इसलिए कि वे मुक्तिबोध से व्यक्तिगत रूप से तथा विचारधारात्मक रूप से जुडे हुए हैं ? यह एक कारण हो सकता है पर यही एकमात्र कारण नही है। परसाई की अपने पात्रो के प्रति या कहे मनुष्य के प्रति एकागी दृष्टि कभी नही रही। 'करुणा की अन्तर्धारा' जो उनकी रचना प्रक्रिया का मुख्य हिस्सा है उसने उन्हे मनुष्य को उसकी पूर्णता मे देखने की दृष्टि दी है। वे जिसके विरुद्ध है, क्रूर है, उसके प्रति भी एक साफ्ट कार्नर उनमे हर वक्त मौजूद होता है, जो उन्हे एक बडा और मानवीय लेखक बनाता है। वे व्यक्ति के प्रति हिसक नही है। गलत व्यवस्था और प्रतिगामी विचार के विरुद्ध है, उनको सचालित करने वाली शक्तियो के विरुद्ध हैं। मुक्तिबोध पर लिखना, मुक्तिबोध मे अपने को और अपनी तकलीफो को तथा अपने मे मुक्तिबोध को तलाशना भी है। यदि इस लेख और आत्मकथ्य (गर्दिश के दिन) को बारीकी से मिला-जुलाकर देखे तो इस बाध्यता और आन्तरिक निकटता की

[illegible] लिखा "वे गहरे अन्तर्द्वन्द्व

[illegible] पैरे म लिखा, "मुक्तिबोध

जैसे पारदर्शी सचाई के सरल आदमी का अपन आसपास की यह अविश्वसनीयता और अकेलापन देती थी" और आत्मकथ्य मे परसाई ने लिखा, "मैं एक निहायत बेचैन मन का सवेदनशील आदमी हूँ।" इसके अतिरिक्त—आर्थिक तगी, प्रतिक्रियावादियो के हमले, यारबाजी, मस्ती, शक्की नजर और उसी स्कूल मे नौकरी जहाँ पहले मुक्तिबोध थे, आदि अनेक बातें है जहाँ परसाई ने मुक्तिबोध की तकलीफो और प्रवृत्तियो मे अपने को भी खोजा होगा। इसके बावजूद दोनो की रचना के स्वभाव मे अतर है। मुक्तिबोध की रचना मे व्यग्य की जगह तकरीबन नही है। वहाँ आतक है, बेचैनी है। परसाई क पास लडने का माध्यम दूसरा है। एक-से जीवन-सघर्षों के बीच रहते भी मानसिक बुनावट भिन्न है—पर रचना और जीवन के मूल्य एक हैं—पक्षधरता एक है।

☐

परसाई की काव्यदृष्टि पर बात करना कुछ लोगो को नागवार गुजर सकता है। लेकिन उनके लेखन मे कविता की एक महीन बुनावट है। यह एक 'तीव्र सामाजिक अनुभूति' की कविता है। कलावादी कविता नही—बल्कि कलावादी कविता और यथार्थ के विरोधाभासो को खोलते हुए, जो कलावादी रचना को हास्यास्पद स्थिति मे ला खडा करती है। ऋतुराज बसन्त को पहले तो परसाई उधारी के तगादे लगाने वाला बसन्त समझ लेते है और आखिरकार जब दरवाजा खोलते है तो कहते है "उमगें तो मेरे मन मे भी हैं पर यार ठण्ड बहुत लगती है। वह जाने के लिए मुडा तो मैंने कहा—जाते जाते एक छोटा-सा काम मेरा करते जाना। सुना है तुम ऊबड-खाबड चेहरो को चिकना कर देते हो, फेसलिफ्टिंग

के अच्छे कारीगर हो तुम। तो जरा यार मेरी सीढी ठीक करते जाना, उखड गई है।" (घायल वसन्त)

या

'मगर अमराई और कुज बगीचे भी हमे प्यारे है। हम कारखाने को अमराई मे घेर देंगे और हर मुहल्ले म बगीचा लगा देंगे। अभी थोडी देर है। पर कोयल को धीरज के साथ हमारा साथ तो देना था। कुछ दिन धूप तो हमारे साथ सहना था। जिसन धूप म साथ नही दिया, वह छाया कैसे बँटायेगी ? नही, तब तक तो कौए अमराई पर भी कब्जा कर लेंगे। कोयल को अभी आना चाहिए। अभी जब हम मिट्टी खादें, पानी सींचें और खाद दें, तभी से उसे गाना चाहिए।" यहाँ एक पूरा दृश्य है, एक पूरा बिम्ब, जो कविता की तरह हमारी सामाजिक विसगतिया को खोलता है। एक तीव्र सामाजिक अनुभूति और एक सच्चे समाज का स्वप्न जहाँ कारखाने अमराई से घेरे जायेंगे।

फतासी और यथार्थ के समन्वय के अद्भुत प्रयोग परसाई ने किये है। वे कहानी और निबन्धो मे एक समर्थ शिल्पकार भी है। उनकी कला मे लोक-कथाओ की सरलता और नाटकीयता, दोनो है। आत्मकथ्य मे उन्होने लिखा, 'जिम्मेदारी को गैर-जिम्मेदारी की तरह निभाने' की कला उन्होने सीखी। इसका एक निश्चित उपयोग परसाई के लेखन मे भी स्पष्ट दीखता है। रचना का ऊपरी कलेवर हर बार यह एहसास देता है जैसे फक्कडिया अन्दाज मे कोई सामाजिक विद्रूपताओं को उधेड रहा है, पर उसके भीतर एक गहरी सामाजिक जिम्मेदारी अन्तर्निहित है। यह अप्रत्याशित नही है कि कबीर और गालिब को ही बार-बार परसाई ने अपनी रचना मे याद किया है। परम्परा मे सबसे अधिक लगाव इन्ही दोनो कवियो के प्रति जाहिर किया है। क्यो ? इसलिए कि फक्कडता और सामाजिक जिम्मेदारी का गहन बोध जो इन कवियो मे है, परसाई की अपनी मानसिकता के एकदम निकट है।

एक कहानी है 'जैसे उनके दिन फिरे' यह लोककथा शैली मे एक राजनैतिक कहानी है। राजनीति परसाई की रचना का एक सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। परसाई ने लिखा है, "राजनीति मनुष्य की नियति तय कर रही है।" यह केवल सतही राजनीति नही है, यह मुख्य राजनीति अर्थात् वर्गों की राजनीति है जो सारे सामाजिक सम्बन्धो और समाज के तमाम क्रियाकलापो मे हस्तक्षेप करती है। समाज की सरचना, विसगतिया और रूढियो, यथास्थिति को कायम रखने वाली शक्तियों और गतिशीलता के लिए जूझने वाली शक्तियों की गहरी पडताल परसाई ने अपनी रचना मे की है। इसीलिए राजनीति भी यहाँ दिखती है। समाज को उसकी सम्पूर्ण विविधता मे समझने और पकडने का यह परिणाम है कि, कथ्य और शिल्प दोनो ही स्तरो पर विराट विविधता उनकी रचना मे है। 'जैसे उनके दिन फिरे' मे लोककथाओ वाली शैली है तो 'भोलाराम का जीव' मे पौराणिक पात्रो और धार्मिक कथाओ के शिल्प का प्रयोग है। इसी तरह

'सुदामा के चावल' मे क्लासिक की कथा को एकदम नये संदर्भ मे बदल डाला है। नयी कहानी आन्दोलन के अधिकांश कथाकार जिस 'तथाकथित आधुनिकता' को ओढ़ बिछा रहे थे उससे उनकी रचना न अपनी जातीयता की पहचान को पूरी तरह खो दिया था। जबकि परसाई की रचना मे 'भारतीयता की पहचान' निरंतर गहरी होती गयी है। केवल इसलिए नहीं कि उन्होंने जातीय सूत्रों और बिम्बो का प्रयोग किया, वरन् इसलिए भी कि उन्होंने हमारे समाज की सरचनात्मक विशेषताओ और सामान्य प्रवृत्तिया का गहरे मे जाकर पकडा है। परसाई की रचना की दो और विशिष्टताएँ हैं। एक तो यह कि अधिकाशत कहानी के बीच जो मुख्य कहानी और मुख्य पात्र हैं वे मात्र रचना को रचने की सामग्री होते हैं और रचना का जो मुख्य उद्देश्य है, या वह बात जो वस्तुत परसाई कहना चाहते है, उसे कहानी के भीतर एक सेकेण्ड्री इम्पार्टेन्स की तरह कहा जाता है। जैसे बात मे से बात निकल गयी हो, इसलिए कह दी गयी हो। 'भोलाराम के जीव' मे इस खूबी का बेहद अच्छा उपयोग हुआ है। दूसरी विशिष्टता है—परसाई रचना का जब अत करते है। वहा रचना कनक्लूड होती है। उसका एक निश्चित अत भी होता है—लकिन प्रक्रिया की निरतरता—या कहे विचार की निरतरता जारी रहती है। लेकिन ऐसा अत होते हुए भी वह अटपटा नहीं होता। यहाँ दो उद्धरणो से बात अधिक स्पष्ट होगी।

धर्मराज और चित्रगुप्त मे भोलाराम के जीव के गायब होन पर चर्चा चल रही है। चित्रगुप्त इसी सदर्भ का बढाते हुए कहते है, "महाराज आजकल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तो को चीज भेजते हैं और उसे रास्ते मे ही रेलवे वाले उडा देते है। × × × राजनैतिक दलो के नेता विरोधी नेता को उडाकर बन्द कर देते है।"

इस कहानी का अत इस प्रकार होता है।

'नारद ने कहा—मैं नारद हूँ। मैं तुम्हे लेने आया हूँ। चलो स्वर्ग म तुम्हारा इतजार हो रहा है।

आवाज आयी—मुझे नही जाना। मैं तो पेंशन की दरख्वास्तो म अटका हूँ। यहीं मेरा मन लगा है। मै अपनी दरख्वास्तें छोडकर नहीं जा सकता।" परसाई कहानी को यहीं समाप्त कर देत है, यानि तत्र का भ्रष्टाचार और नौकरशाही की सारी लालफीताशाही की निरतरता यहाँ जारी है। भोलाराम के जीव के गायब होन और उसके पेंशन क मामले को लेकर बुनी गयी यह फतासी वस्तुत एक आफिस की कहानी म उठकर पूरे देश की व्यवस्था और उसम फैले भ्रष्टाचार, असगतियो और अन्याय को बेहद ठण्डे ढग से परत-दर परत उधेडती चली जाती है। अपने समय और परिवेश का यह सूक्ष्म अन्वेषण ही परसाई को प्रेमचन्द की परम्परा से जोडता है। अन्य अनेक कथाकारो की तरह न तो उन्होन प्रेमचन्द की परम्परा जुडने क मुखर दावे किये और ना ही गाँव की फार्मूला

कहानी लिखने का छद्म और शार्टकट का रास्ता उन्होंने चुना। वस्तुत परम्परा से जुडने का यह अर्थ है भी नहीं, कि आप उन अग्रजो (जिनसे आप जुडना चाहते है) द्वारा अर्जित मुहावरे की नक्ल करने में जुट जायें। मीर की परम्परा के नाम पर उर्दू मे मीर की अदाजेबयानी की भरपूर नक्ल हुई और हिन्दी मे वही तमाशा प्रेमचन्द की परम्परा का ढिढोरा पीटने वालो ने किया। परम्परा से जुडने का अर्थ 'उस' गहन दृष्टि को प्राप्त करते हुए, अपन वर्तमान को विश्लेपित करना और अगली रचना लिखना होना है। रवीन्द्रनाथ त्यागी ने ठीक ही लिखा है, "आजादी के पहले का हिन्दुस्तान जानने के लिए जैसे सिर्फ प्रेमचन्द पढना ही काफी है, उसी तरह आजादी के बाद के भारत की पूरी दस्तावेज परसाई की रचनाओं मे सुरक्षित है।"

परसाई की सवेदनशीलता, पक्षधरता और व्यग्य की शक्ति उनके जीवनानुभवों का ही रूपान्तरण है। निराला की ही तरह उन्होंने भी प्लेग की विभीषिका का सामना किया। इस महामारी के बीच अनेक आत्मीयो की असामयिक मृत्यु और विलाप का साक्षात्कार उन्हे बचपन मे ही करना पडा। फिर जगल विभाग की नौकरी और बेरोजगारी के निरतर सिलसिले, आर्थिक कठिनाइयो और उसके बीच आन वाले सामाजिक (रूढ) दायित्वो ने उन्हे निराशा और अस्तित्ववाद के अँधेरे मे नही धकेला, वरन् अपने इस सारे सघर्ष और मृत्यु के भयावह साक्षात्कार के बाद उनकी जीवन मे आस्था अधिक दृढ हुई। वे अन्तर्मुखी से वहिर्मुखी हुए। और दृष्टि अधिक तीक्ष्ण और विस्तृत हुई। आत्मकथ्य मे पिता की मृत्यु के बारे मे लिखते हुए परसाई ने लिखा, 'माँ के जेवर बेचकर पिता का श्राद्ध किया" होने को यह एक साधारण घटना है। परसाई ने इसके आगे-पीछे कोई कमेन्ट भी नही किया है। पर इस वाक्य को लिखने का ही मतलब है कि परसाई पर इस घटना का एक विशेष प्रभाव पडा है। पतनशील बूर्ज्वा मूल्यो, धार्मिक बाध्यताओ के प्रति जो तीखी आलोचनात्मक दृष्टि परसाई ने अर्जित की है उसमे इसी तरह के छोटे-छोटे निजी अनुभवो न प्रारम्भिक भूमिका अदा की है।

एक घटना का जिक्र 'गर्दिश के दिन मे परसाई ने किया है। नौकरी की तलाश मे होशगाबाद जाना था और जेब का एकमात्र रुपया भी वे कही खो चुके थे। दूसरे महायुद्ध का जमाना था, गाडियाँ बेहद लेट चल रही थी। परसाई ने लिखा—'पेट खाली। पानी से बार-बार भरता। आखिर बेंच पर लेट गया। 14 घटे हो गये। एक किसान परिवार पास आकर बैठ गया। टोकने मे खरबूजे थे, मैं उस वक्त चोरी भी कर सकता था। किसान खरबूजा काटने लगे। मैने कहा—तुम्हारे ही खेत के होगे। बडे अच्छे है। किसान ने कहा—सब नर्मदा मैया की किरपा है भैया। शक्कर की तरह हैं। लो खाके देखो। उसने दो बडी फाँकें दी। मैंन कम-से-कम छिलका छोडकर खा लिया।" यहाँ 'कम-से-कम छिलका छोडकर' बहुत सरलता के साथ, बिना किसी अतिरजना के भूख की

सारी तक्लीफ को उजागर कर देता है। परसाई तक्लीफो को बेहद साधारण और सरल ढग से कहकर उनकी आतरिक पीडा को अधिक ठण्डेपन से उजागर कर देते है, यही कारण है कि वह हमारे अन्दर अधिक दूर तक हलचल पैदा करती है।

हमारे समाज की शासक राजनीति के ढोग कठमुल्लेपन, क्रूरताएँ और विसगतियो को जितना परसाई ने बेनकाब किया है, उतना हमारे समय के किसी अन्य लेखक ने नही। (यहाँ कुछ उद्धरण देना चाहूँगा)

(1) "धर्म की नजर अक्सर ऐसी ही विसगत हो जाती है। जो पानी छानकर पीते है, व आदमी का खून बिना छना पी जाते हैं।"

(गेहूँ का सुख)

(2) "आखिर मन्त्री ने जवाब दिया—विरोधी सदस्यों के सब आरोप झूठे हैं। हमने उस कुत्ते का पोस्टमार्टम कराया है। बस के पहिये की भी रासायनिक जाँच कराई है। रासायनिक की रिपोर्ट है कि कुत्ता बस से कुचलकर नही मरा। पहिये पर जो खून लगा था उसके सम्बन्ध मे रासायनिक का मत है कि वह कुत्ते का खून नही है।

एक सदस्य—तो वह किसका खून है ?

मन्त्री—वह आदमी का खून है।" [वाक आउट! स्लीप आउट! ईट आउट!]

(3) *"लेकिन हम नही बजा रहे है, फिर भी तालियाँ बज रही हैं। मैदान* मे जमीन पर बैठे वे लाग बजा रहे है जिनके पास हाथ गरमाने के लिए कोट नही है। लगता है गणतन्त्र ठिठुरते हुए हाथो की तालिया पर टिका है।

(ठिठुरता गणतन्त्र)

(4) *'उन्होंने कागज की पर्ची पर लिखा—हिन्दू राष्ट्र, गोरक्षा, भारतीय* सस्कृति × × × व एक औजार मे कृष्ण का मिर खोलन लगे। कृष्ण चीखकर हट गय। बोले—क्या कर रह हो ?

उन्होंन समझाया—आपका बौद्धिक सस्कार कर रहे है। मिर खालकर ये विचार आपक दिमाग मे रखकर ताला लगा देंगे और चाबी नागपुर गुरुजी के पास भेज देंगे।'

ऐसे अनेक उद्धरण है जिनम परसाई ने मानव विरोधी राजनीति की क्रूरताओ को उद्घाटित किया है, लकिन यहाँ उनके व्यग्य क निशाने और उनकी सहानुभूनि एकदम स्पष्ट है। मैदान मे बैठकर जो लोग तालियाँ बजा रहे हैं उन पर राजनीति का न समझने पर परसाई कमेन्ट भी करत हैं लेकिन इसके साथ ही वे यह नही भूलत कि उनके पास 'हाथ गरमाने के लिए कोट नही है। ठीक इसीप्रकार पूजीवादी ससद के अमानवीय स्वरूप को वे 'वाक आउट, स्लीप आउट, ईट आउट' मे उजागर करते हैं।

☐

प्रसिद्ध मध्यकालीन फिजीशियन पेरासेलसस (Paracelsus) न लिखा है,

'all is poison—all is physic' व्यग्य की भूमिका के सन्दर्भ में परसाई ने भी यही बात कही है अर्थात् वह विष भी है औषधि भी। परसाई ने लिखा है, "डाक्टर के पास जो लोग जाते है उन्हें वह रोग बताता है। तो क्या डाक्टर कठोर है? अमानवीय है? ××× जीवन की कमजोरियों का निदान करना कठोर होना नही है।"

—राजेश जोशी

चादर ही बदलनी पड़ेगी, जनाब !

माटी कहे कुम्हार से सकलन श्री हरिशकर परसाई के पिछले दिनो करट मे छपे इसी शीर्षक के साप्ताहिक कालम के निबधो का सकलन है। ये निबध जनता पार्टी शासन के प्रति जनता की ओर से निगरानी की तरह हैं। एक सच्चा लेखक जनता का प्रतिनिधि होता है, सरकार का नही। सरकारी लेखक और सपादक भी होते है, पर परसाई जी उनमे से नही है। उन्होने लगातार, चाहे वह काग्रेस का शासन हो या जनता पार्टी का शासन, अपने-आपको इतना सतर्क रखा है कि इन सरकारो का कोई भी जन विरोधी कदम उनकी आँख से ओझल नही हुआ। वस्तुस्थिति को पहचानना एक बात होती है और उसके भाडेपन की खिल्ली उडाना, मजाक करना, उसकी चीर-फाड करते हुए चोट करना, उनकी नीयत तक पहुँचकर उसे खोलना—ये खतरे के काम है। खतरा अनुभूति म उतना नही होता है बल्कि अभिव्यक्ति मे होता है। सीधी और स्पष्ट अभिव्यक्ति तो और भी खतरनाक होती है, क्योकि तब पूरी व्यवस्था अपनी पूरी खतरनाक कार्यवाही पर उतर आती है। परसाई जैसे लेखक यदि इस पूरे दौर मे जयप्रकाश नारायण मोरारजी देसाई, चरणसिंह, जार्ज फर्नाण्डीज, अटल बिहारी वाजपयी, लालकृष्ण अडवानी, राजनारायण जैसे स्वत स्फूर्त और सामती-पूंजीवादी वर्ग के प्रतिनिधियो पर एक साथ चोट करते है, इनकी भाषा मे छिपे दोगलेपन को उजागर करते है, तो वह कौन-सी चीज उन्ह इतना बडा खतरा लेने की शक्ति प्रदान करती है, निश्चय ही यह कबीर की यह प्रेरक शक्ति है—"*हम न मरिहै, मरिहै समारा।*' परसाई की आत्मा मे कबीर पूरी सजीदगी से मौजूद है और कबीर जनता का प्रतीक है। जनता की ही शक्ति का सहारा परसाई को है। लाखो करोडा ज्ञात अज्ञात मित्रो के लिए सपना सँजोकर उनकी शक्ति का अपनी चेतना म महसूस कर वह खतरे उठाता है। बडे स-बडे सरकारी तत्र और फैसलो को वह चुटकी म उडा देता है। लगता है कि जिस तरह वर्तमान म शोषको ने बहुत ही चालाकी पूण बारीक औजार गढ लिय है, उन औजारो को तोडने और उनकी तह दर-तह को समझने के लिए परसाई के पास भी बहुत ही बारीक पहचान वाली दृष्टि है। यह दृष्टि उन्हे एक झटके से वैज्ञानिक फैसल तक पहुँचा देती है। इसी फैसल क कारण देश की जनता के बीच अलख जगाता हुआ यह लेखक घनघोर अँधेरी रात मे 'जागते रहो' का नारा लगाता है। मुझे तो यह कहने मे सकाच नही कि लगातार परसाई को पढने

वाला पाठक दर्शन की महीन गुत्थियों में उलझे बगैर स्थितियों को सही तरह से समझता रह सकता है और इस तरह वह गुमराह होने से बचा रह सकता है।

'माटी कहे कुम्हार से' मुख्यत जनता पार्टी शासन का ही पक्षधर संवदनशील इतिहास है। जनता पार्टी परसाई की नजर मे एक मरकस है। जैसे—"जनता पार्टी, एक ऐसा प्राणी है जिसे 'प्रकृति वैचित्र्य' कहते हैं। इसका आकार मनुष्य है। सिर बारहसिंगा का है। दिमाग बदर का। बारहसिंगे से यह दल हमला करना चाहता है, तो खरगोश का दिल रोक देता है। घोडे के पाँवों से दौडना चाहता है तो बदर का दिमाग वही कौतुक करने लगता है। भालू खाऊँ-खाऊँ करता है और हाथी का पेट भरता ही नही है।" (माटी कहे कुम्हार से, पृष्ठ 101) इस पार्टी ने सपूर्ण क्रांति का नारा दिया और वादा किया कि वह जनता की सेवा करेगी। उस सपूर्ण क्रांति को परसाईं जी ने परिभाषित किया है—"क्रांति आखिर क्या है? प्याऊ है, जिसे पैसे वाला खोल देता है और हम उसका खैराती पानी पीते है? सपूर्ण क्रांति की प्याऊ भी तो लोकनायक ने गोयनका वगैरह से खुलवा दी है।" (वही, पृष्ठ 80) जयप्रकाशजी ने हमेशा समाजवाद का नारा दिया और बिडला से दोस्ती की, अमेरिका का पक्ष लिया, जाहिर है कि यह सपूर्ण क्रांति जनता को धोखा देने के लिए एक विषैला नुस्खा थी। इस पार्टी ने अपना नेता चुना मोरारजी देसाई को जिनकी पहली चिंता थी कि वे लगातार प्रधानमत्री बने रहें और जयप्रकाश से अधिक लोकप्रिय हो जायें। जनता पार्टी मे शामिल घटक आपस मे लगातार लडते रहे, मोरारजी को प्रधानमत्री पद से उतार देने की धमकी देते रहे और वे निश्चित होकर प्रधानमत्री बने रहे। एक बार जब मोरारजी अमेरिका गये तो लेखक टिप्पणी करता है। "बडी कठिनाई थी। जिमी कार्टर भी पसोपेश मे होंगे कि मैं यूरेनियम किसे दे दूँ? दिल्ली मे इनकी पार्टी और सरकार का तो यह हाल है। मैं यूरेनियम दे दूँ और वहाँ चरणसिंह और नाना जी देशमुख आधा-आधा बाँट लें तो जगजीवनराम कहेंगे—हमारी लोकतत्री काग्रेस के साथ हमेशा अन्याय किया गया है। अब हम आगे बर्दाश्त नही करेंगे। हम कम-से-कम एक टन यूरेनियम लेंगे और कहीं शाही इमाम ने ऐलान कर दिया कि आधा टन यूरेनियम जामा मस्जिद भेजो, वरना जेहाद बोल दिया जायेगा और सरकार को गिरा दिया जायेगा।" (वही, पृष्ठ 74) जिस देश को चलाने वाली पार्टी मे सैद्धातिक एकता न हो और महत्त्वपूर्ण पदो पर रहकर जो स्वार्थो की लडाई लडते हो, सतुष्ट-असतुष्ट का झगडा जहाँ जनहित को एक ओर रखकर कुर्सी का खेल खेलता हो, दल के भीतर नये महाभारत की तैयारी होती हो, भूतपूर्व-अभूतपूर्व बनने में जहाँ बिल्कुल देरी न लगती हो, हरिजनो की हत्या जहाँ आँकडे मे बदल जाती हो, समस्याओ के निदान के लिए अनशन जहाँ उपाय हो, जहाँ का प्रधानमत्री निरतर मूत्र पीने का उपदेश देना प्राथमिक कार्य समझता हो, उस दल की नीयत के बारे मे गभीर विचार करने की जरूरत नही, क्योंकि वह स्वत

स्थूल रूप से उद्‌घटित है। देश महँगाई से कराह रहा है, लोग उनसे व्यापारियों की शिकायत करते है—साम्प्रदायिक दगे हो रहे है, खबरें उनके पास जाती है और वे केवल कीमतें कम करने और एकता की अपीलें करते हैं। परसाई जी व्यग्य करते हैं—प्रधानमत्री ने कहा—"मेरा विश्वास न अर्थशास्त्र मे है और न प्रशासकीय कार्यवाही मे। यह गाधी का देश है, जहाँ हृदय-परिवर्तन से काम होता है मैं व्यापारियों से नैतिकता की अपील कर दूंगा। वे कीमतें एकदम घटा देंगे। अपील से उनके दिलो मे मैं लोभ की जगह त्याग फिट कर दूंगा। मैं मर्जरी भी जानता हू।" (वही, पृष्ठ 11-12) परसाई जी ने जनता की ओर से कहा कि, "राजनीतिज्ञों के लिए हम नारे और वोट है। बाकी के लिए हम गरीबी, भूख, बीमारी और बेकारी है। मुख्य मन्त्रियों के लिए हम सिरदर्द है और उनकी पुलिस के लिए हम गोली दागने के निशाने हैं।" (वही, पृष्ठ 61)

जनता पार्टी का प्रमुख घटक जनसघ था जिसका प्रेरक राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ है। इस सगठन के ही द्वारा महात्मा गाधी का वध किया गया था, लेकिन जनता सरकार मे शामिल होकर इसके लोग अपने-आपको गाधीवादी कहने लगे। वे गाधी और अपने भेद का समाप्त करके पहले यह सिद्ध करना चाहते थे कि गाधी राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ से सबद्ध थे। उन्हें भगवे झडे के नीचे दर्शाने के प्रयास शुरू कर दिये गये थे। बाद म वे गौडसे को भगतसिह का दर्जा देकर यह सिद्ध करते कि गाधी का वध राष्ट्रहित म था। उनकी यह पूरी कोशिश लगातार जनता पार्टी के भीतर काम करती रही। यहाँ मैं यह स्पष्ट और कह देना चाहता हूँ कि देश के अदर एकमात्र परसाई जी ही ऐसे जागरूक लेखक रहे है, जिन्होंने आर० एस० एस० की राजनीति के चरित्र को लगातार उजागर किया है और परसाई जी ने स्पष्ट तौर पर जनता को बतलाया है कि आर० एस० एस० की तथाकथित सास्कृतिक मान्यतायें हैं—घृणा, सकीर्णता, साप्रदायिकता, हिंसा, द्वेष और हत्या। परसाई जी भविष्यवाणी करते है—"आगे चलकर जनता पार्टी पूरी तरह जनसघ हो ही जायगी। तब 30 जनवरी का यह महत्त्व होगा—इस दिन परमवीर राष्ट्र भक्त गौडसे ने गाधी को मारा। इस पुण्य के प्रताप से इसी दिन पार्टी का जन्म हुआ, जिसने हिन्दू राष्ट्र की स्थापना की।" (वही, पृष्ठ 25) असयोग है कि पार्टी का शासन बहुत दिन तक नही चला। इसकी अकाल मृत्यु हो गयी, परन्तु यह तो सिद्ध हुआ कि उसके अन्य घटक इधर-उधर छितरा गये, जनता पार्टी के नाम पर केवल भारतीय जनता पार्टी जीवित है। महात्मा गाधी के नाम का दुरुपयोग भी सबसे पहले परसाई जी ने ही पहचाना था। परसाई जी ने इस शासन मे शामिल समाजवादियों की अच्छी खबर ली है, उनकी कलई अच्छी तरह से इसी समय खुली। चाहे वे जार्ज हो, कर्पूरी ठाकुर या अन्य नेता, स्पष्ट है कि कोई भी राजनीति मात्र विरोध मे अपनी हैसियत और नीयत का खुलासा नही दे पाती। उसका रहस्य सत्ता मे आने पर खुलता है। उनका समाजवाद समझ मे आ जाता है कि वह बिडला का सहयोगी समाजवाद है कि जनता का सहयोगी।

जनता पार्टी के शासनकाल मे सबसे अधिक प्रचार जांच कमीशन का हुआ, हर छोटी-बडी बात के लिए जांच कमीशन बैठाया जाता था। मोरारजी डरे और सताये हुए लोगो को निर्भय रहने का उपदेश देते थे और अपने देश के मुख्यमत्रियो को अफीम बेचने नेपाल जाने की अनुमति देते थे। यह सब खेल इस तरह घटित हुआ कि जैसे यही सब कुछ है। इसी खेल ने सभव बनाया कि जनता फिर उनका निषेध करे और जिसका पूरी तरह से निषेध कर चुकी थी उसे फिर पेश करे। परसाई जी जानते है कि चाहे इस पार्टी का शासन हो या उस पार्टी का, उनकी लडाई किसी सरकार के खिलाफ नही बल्कि वह वर्ग के खिलाफ है। अब काग्रेस सरकार है तो वे उसका विरोध कर रहे हैं और इस विरोध के अदर पूंजीवादी-सामतवादी ताकतों का विरोध है जो जनता के विकास मे बाधक है। परसाई जी का अभिप्राय तो जनता को यह बताना है—"इस व्यवस्था की चादर फट कर तार-तार हो गयी है। इसमे कही पैबद लगता है। चादर ही बदलनी पडेगी, जनाब।" (वही, पृष्ठ 137) परसाई जी ने सघर्ष को टालने वाली मध्यम वर्गीय शक्तियो को भी नही बख्शा, क्योकि वे शक्तियाँ जाने-अनजाने पूंजीवादी हितो का पोषण कर रही हैं। प्रतीक कथन यह है कि वे 'जय सतोषी माता' की फिल्मे हैं और मध्य वर्ग उनमे रम जाता है। परसाई जी कहते है—"मान लो इस देश मे कोई लेनिन प्रकट हो जाये और क्रान्ति की प्रक्रिया शुरू कर दे, लेनिन आवाज दे कि चलो, क्राति की निर्णायक लडाई के लिए। बढो आगे वीरो! तो लोग कहेंगे—आप ही करो क्रान्ति, हम अभी 'जय सतोषी माता' देख रहे हैं। हमे जीनत अमान को पूरा तो देख लेने दो। रग म भग मत करो। (वही, पृष्ठ 91) कैसी विचित्र सगति है कि मध्य वर्ग और पूंजीपति के बीच। जहाँ वे चाहते हैं, वहीं वह रम जाता है। जैसे वे नचाते है, वैसा वह नाचने लगता है। बदर की तरह मदारी के इशारे पर नाचते हुए भी वह व्यक्तिगत आजादी का नारा लगाता हुआ खुशफहमी मे घूम रहा है।

परसाई जी के ये व्यग्य-निबध बहुत ही नुकीले हैं। निबध मे निजी स्थापनाओ और राग-द्वेष की भी अभिव्यक्ति होती है, लेकिन परसाई की निजता और उनका राग-द्वेष निरपेक्ष नही है। इनके इन निबधो मे तीखापन, स्पष्टता, निर्भीकता और वर्गों की पहचान परसाई के व्यक्तित्व की निजता के गुण तो हैं ही अपने कथ्य मे ये उतने ही सार्वजनिक हैं। भाषा का इतना गहरा जन-वादी प्रयोग और तथ्य की इतनी भेदक दृष्टि मुझे जमाने के किसी और लेखक मे प्राप्त नहीं होती।

—कैलाश प्रसाद 'विकल'

साहब महत्त्वाकांक्षी : अंतरंग पडताल

हास्य रचना लिखना उतना ही आसान काम है जितना कि आँखो मे आँसू ला देने वाली निरी भावुकतापूर्ण कहानी की रचना करना । लेकिन गहरी चोट और कचोट पैदा करने, तिलमिला देने वाला व्यग्य लिखना अत्यत कठिन और बेहद जिम्मेदारी का कार्य है और यह कार्य वही लेखक सफलता से कर सकता है जो हास्य और व्यग्य के बीच के बारीक अतर को जानता है और जिसमे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक शक्तियो के द्वन्द्व और टकराव को सही सदर्भ मे देखने-परखने की क्षमता हो, अर्थात् जो यह अतर करना जानता हो कि व्यग्य का विषय और लक्ष्य शोषित-पीडित व्यक्तियो अथवा जनसमुदाय के नही बल्कि शोषको और निहित स्वार्थो को बनाया जाना चाहिए । इसलिए अपने समय की समाज व्यवस्था और राजनीतिक जीवन-शैली और उसस उत्पन्न विद्रूपमय स्थितियो की परख करने की क्षमता किसी भी ईमानदार व्यग्यकार के लिए एक अनिवार्य शर्त है ।

दरअसल मार्मिक कहकर पेश की गई जिन रचनाओ को पढने-सुनने पर हँसी आती है, वे अपने आप म भोंडेपन की श्रेष्ठ मिसाल है । हमारा 'गम्भीर साहित्य' एसी श्रेष्ठ मिसालो से भरा पडा है । दूसरी तरफ जिन व्यग्य-रचनाओ से होंठो पर हँसी, और यहाँ तक कि मुस्कान भी न उभरे, बल्कि आप विसगतियो से रूबरू होकर होठो को अजीब-सा बनाने लगें, यानी आप की जुबान का स्वाद कसैला-सा हो जाए वही सबसे सफल व्यग्य-रचनाएँ हैं । ऐसा ही कुछ परसाई की व्यग्य-रचनाओ को पढकर भी होता है जिनका मूल तेवर विसगतियो को उकेरना और मूल स्वर विसगतियो के खिलाफ आवाज उठाना है । लेकिन यहाँ एक बात गौरतलब है कि परसाई हर प्रकार की विसगति को अपने लखन का आधार नही बनात, व उनम भी सही गलत की पहचान करके लिखते हैं । कुछ समय पूर्व मैंन एक नवोदित हिन्दी व्यग्यकार का व्यग्य पढा जिसमे क्रिकेट खिलाडी पटौदी की एक आँख को व्यग्य का आधार बनाया गया था और टिप्पणी की गई थी कि अच्छा क्रिकेट खिलाडी बनन के लिए काना होना जरूरी है । कुछ लोगो को इस भोंडे व्यग्य से, जो वस्तुत व्यग्य तो क्या हास्य भी नही है, हँसी आयी होगी, क्योकि वे ऐसी ही विसगतियो पर हँस पात है, लेकिन परसाई का व्यग्य-क्षेत्र ऐसी विसगतियो को लकर नही चलता । इसी कारण परसाई अपने ढग के अलग व्यग्यकार है । उन्होंने व्यग्य सम्बन्धी पुरानी मान्यताओ

और सिद्धान्तो को कभी स्वीकार नही किया। एक अरसे तक हमारे नाटको मे कुबडो, लँगडो, बौनो आदि को जोकर के रूप मे प्रस्तुत किया गया। सरकस और फिल्म वालो ने इस परम्परा को अब भी नही छोडा है, लेकिन परसाई ने अपने लेखन के आरम्भिक काल से लेकर अब तक इस परम्परा को नकारा है। उन्होने व्यापक सामाजिक-आर्थिक जीवन मे उच्च-भ्रू वर्ग, अफसरशाही, पूंजीपतियो और नेता वर्ग की विसगतियो को, उनके छलछद्म, उनके दोमुँहेपन को आधार बनाकर व्यग्य-साहित्य को नयी दिशा दी है। विसगतियो के सदर्भो मे अपनी एक कहानी की चर्चा करते हुए वह कहते है—"मै रोटरी क्लब भाषण देने गया। वहाँ जान-पहचान के लोग थे, जो बाहर आदमी की तरह सादा हिन्दी मे बोलते है, सादा व्यवहार करते हैं। पर वहाँ वे इन्सान से 'रोटेरियन' हो गये थे। सब बनावट। झुक-झुककर मुझसे हाथ मिला रहे है और कह रहे है—ग्लैड टू मीट यू! दी प्लेजर इज माइन! इस बनावट और विसगति पर मुझे हँसी आने लगी। फिर डिनर मे सलाद और चटनी के साथ मछली खाते-खाते कहते है—यू आर राइट। हम बडे पतित लोग है। देश नाश की ओर जा रहा है। मेरे मुँह से निकल गया—मुझे नही मालूम था कि सलाद के साथ देश की दुर्दशा इतनी स्वादिष्ट लगती है।"

जिस कहानी मे परसाई ने यह सब लिखा है, वह है—'साहब महत्वाकाक्षी'। यह इस कहानी की अत्यत सक्षिप्त व्याख्या है। परसाई के लेखन को समझने के लिए इस छोटी-सी व्यग्य-रचना की गहराइयो मे जाना होगा, क्योकि इसमे एक साथ कई विसगतियो, पाखड, धूर्तता और सरकारी तत्र मे छोटे-बडे कर्मचारियो के साथ भ्रष्टाचार के अलग-अलग मानदडो आदि पर व्यग्यात्मक प्रहार किए गए हैं जो हमारी समाज-व्यवस्था मे उच्च-भ्रू वर्ग के दोगलेपन का पर्दाफाश करते हैं।

कहानी का पहला वाक्य ही व्यग्य से आरम्भ होता है। लेखक कहता है—"उस क्लब मे देश की दुर्दशा पर भाषण देने के लिए हम चार लोगो को बुलाया गया था।" वह क्लब एक 'रोटरी क्लब' है। ऐसे क्लब हमारे देश के लगभग हर शहर मे है जो नवधनाढ्य वर्ग के मनोरजन और उच्च सरकारी अधिकारियो व अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो से सम्पर्क साधने के स्थान हैं। अत इन क्लबो के सदस्यो को वास्तव मे देश की दशा या दुर्दशा की कितनी चिन्ता है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। वे क्लब मे देश की दुर्दशा पर गम्भीर-से-गम्भीर भाषण को भी शुद्ध मनोरजन के रूप मे लेते हैं। इसीलिए भाषण के अन्त मे वक्ता के समक्ष उद्गार व्यक्त करते हैं कि आपका भाषण 'मोस्ट इटरेस्टिंग, शार्ट एड स्वीट' रहा। वे आपस मे भी कहते हैं कि 'कार्यक्रम अच्छा रहा'। इस दौरान स्वय उन्ही के कई विरोधाभास सामने आते हैं—क्लब मे आने पर उनका व्यवहार बदल जाता है। वे बाहर सादी हिन्दी मे बोलते हैं किन्तु क्लब मे अग्रेजियत पर उतर आते है। वे देश की दुर्दशा पर विचार करने के लिए बढिया कपडे पहनकर

आते है। वे प्रसन्न होकर देश की दुर्दशा पर बातें करते है। उनके स्वभाव मे कृत्रिमता का यह आलम है कि वे अलग-अलग व्यक्तियो को देखकर अलग-अलग ढग से मुस्कराते हैं, कभी कम और कभी थोडा-सा ज्यादा मुस्कराते हैं और जब वक्ता देश की दुर्दशा पर मार्मिक ढग से कुछ कहता है तो वे प्रसन्न होकर तालियाँ बजाते हैं। कदम-कदम पर उनके व्यवहार मे कृत्रिमता है, विसगति है, पाखड है।

परसाई ने अपनी इस व्यग्य-रचना मे रोटरी क्लब के इन सदस्यो मे से किसी की भी शरीर-रचना पर टिप्पणी नही की है। उन्होंने किसी को कुबडा या लँगडा दिखाकर पाठक को हँसाने का भोंडा प्रयास नही किया है। यही उनमें और अन्य अनेक व्यग्यकारों मे अन्तर है। परसाई ने क्लब के सदस्यो-श्रोताओ के सवादो को भी कतई 'डिस्टॉर्ट' नही किया है। लेकिन फिर भी एक-एक वाक्य, एक-एक शब्द व्यग्य बन गया है। क्यों ? कैसे ? यही परसाई की रचना-प्रक्रिया की विशेषता है। वह पात्रो के हाव-भावो, स्थितियो (या स्थानो) और सवादो को परस्पर इस प्रकार समायोजित और समन्वित करते है कि प्रत्येक पक्ति व्यग्य बन जाती हैं। उदाहरण के लिए इस कहानी के मुख्य पात्र को लिया जा सकता है जिसके हाव-भाव को दर्शाते हुए लेखक कहता है कि 'मुस्कान का अभ्यास उसने औरों से ज्यादा किया था', स्थान के रूप मे हमारे सामने है नव कुबेरो का रोटरी क्लब जहाँ सब सूटेड-बूटेड होकर आये है, बढिया भोजन ले रहे है और सवाद के रूप मे हैं ये शब्द—"इट वाज वडरफुल ! मोस्ट इटरेस्टिग।" अर्थात् देश की दुर्दशा पर आपका भाषण 'बढिया और बहुत दिलचस्प रहा'। ये तीनो बातें—हाव-भाव, स्थिति या स्थान और सवाद—मिलकर सहज ही तीखा व्यग्य बन गयी हैं। यही परसाई की कलम का कमाल है।

परसाई की प्रत्येक रचना मे अनेक 'क्लाइमेक्स' होते हैं। 'साहब महत्त्वाकाक्षी' मे भी है। इसका कारण यह है कि उनका कोई जो व्यग्य आम तौर पर किसी एक विचार को, किसी एक केन्द्रबिन्दु को लेकर नही चलता। उनके यहाँ हमे एक साथ कई विचार मिलते हैं। प्रत्येक विचार को चरम स्थिति पर पहुँचाकर वह अगली बात कहने के लिए आगे बढते है। उदाहरण के लिए 'साहब महत्त्वाकाक्षी' मे वह सर्वप्रथम अग्रेजीदाँ उच्च-भ्रू वर्ग के स्वभावगत पाखड को वैचारिक धरातल पर चरम स्थिति तक पहुँचाते है। यह चरम स्थिति तब आती है जब परसाई *बढिया भोजन की मेज पर इन लोगो के मुँह से कहलवाते हैं—"रीयली* दी कट्री इज गोइग टु डाग्ज। आई से, वी आर दो मोस्ट फालन पीपुल। रीयली, दी होल कट्री इज स्टारविग।" (सचमुच देश बरबाद हो रहा है। हम बहुत गिरे लोग हैं। सारा देश भूखा मर रहा है।) सलाद, मछली आदि खाते हुए लोगों का यह कहना कि 'सारा देश भूखा मर रहा है' उनकी क्रूरता को, सामाजिक-आर्थिक प्रश्नो के प्रति उनके निर्मम दृष्टिकोण को और उनकी विरोधाभासपूर्ण चारित्रिक विशेषताओ को सामने लाता हैं। यह पाखड की चरम सीमा है। इसी

सीमा पर पहुँचकर लेखक या कहानी का 'मैं' पात्र अपनी ओर से सटीक टिप्पणी करता है—"मुझे पहली बार मालूम हुआ कि तली मछली और सलाद के साथ देश की दुर्दशा इतनी स्वादिष्ट लगती है।" लेखक कहीं पर भी देश की गरीबी का रोना नहीं रोता, लेकिन फिर भी गरीबी और अमीरी के बीच खाई का विद्रूपमय चित्र उतर आता है। यही परसाई में और अन्य व्यंग्यकारों में अन्तर है। यही उस मार्क्सवादी दृष्टि का परिणाम है जो लेखक को उसके रचनात्मक लेखन में वर्गगत अन्तर्विरोधों को प्रस्तुत करने में मदद करती है। जिस लेखक के पास इस दृष्टि का अभाव है, वह शनीचर और लंगड के अंडरवियर पहनने को ही व्यंग्य का निशाना बना सकता है, इससे हटकर नहीं सोच सकता। इसी कारण जहाँ हमारे अन्य व्यंग्यकार या तो व्यंग्य लिखते समय भोंडेपन पर उतर आते हैं या फिर स्वयं रोटेरियनों सरीखे बन जाते है, वहीं परसाई जनसामान्य का अंग बने रहकर व्यंग्य के माध्यम से उनकी लड़ाई को सही दिशा देते हैं।

इस चरम स्थिति को प्रस्तुत करने अथवा उच्च-भ्रू वर्ग के पाखंड को उजागर करने की चरम सीमा पर पहुँचने के तत्काल बाद परसाई उस मुख्य पात्र को सामने ले आते है जिसने लेखक का विशेष ध्यान खींचा और 'जिसकी किस्मत में कहानी का पात्र होना लिखा था।' यह सम्भवत क्लब का अध्यक्ष या मुख्य पदाधिकारी था क्योंकि, 'उनमें सबसे अच्छे कपडे उसी के थे। मुस्कान का अभ्यास उसने औरों से ज्यादा किया था।' इस रूप में परसाई इस मुख्य पात्र का परिचय पहले दे चुके है, अब वह उसे पूर्णता के साथ सामने लाते है—उसकी स्वभावगत विसंगतियों और विरोधाभासों सहित। अब वह उसे सामने लाने, यानी उच्च भ्रू वर्ग के इस प्रतिनिधि को प्रस्तुत करने के लिए रोटरी क्लब की बात को समाप्त करके कॉफी हाउस में आ जाते हैं।

जैसा कि हम कह चुके है, रोटरी क्लब जैसे स्थान बडे लोगों के सम्पर्क साधने के केन्द्र होते है। रोटरी क्लब का यह प्रमुख पदाधिकारी कुछ दिन बाद लेखक से कॉफी हाउस में मिलता है। उसे पता है कि वह लेखक है, अत बात उसके साहित्य से ही आरम्भ करता है यह कहते हुए कि 'परसों रेडियो पर आपकी कविता सुनी। बहुत अच्छी थी।' यहाँ पर लेखक फिर व्यंग्य करता है जो साहित्य संस्कृति के प्रति उच्च-भ्रू वर्ग के सतही लगाव या संस्कारहीनता पर कटाक्ष है। लेखक जवाब देता है—"वह कहानी थी।" लेकिन इस पात्र को और उसके वर्ग को कहानी-कविता में अन्तर से कोई मतलब नहीं, साहित्य-संस्कृति से कोई मतलब नहीं, इसीलिए इसे अन्दाज में बात आगे बढ़ाता है मानो कुछ हुआ ही न हो। वह कहता है—"कहानी थी? तब तो और भी बढ़िया थी। शार्ट एंड स्वीट।" देश की दुर्दशा पर भाषण हो, तब भी 'शार्ट एंड स्वीट' और कहानी-कविता हो, तब भी 'शार्ट एंड स्वीट।' उच्च-भ्रू वर्ग के सदस्य के बने-बनाये जुमले है जिनका वह हर कहीं इस्तेमाल करता है, क्योंकि उसे देश की दशा-दुर्दशा या कहानी-कविता से कुछ नहीं लेना-देना, उसे मतलब है अपने

स्वार्थों से। परसाई इसी तथ्य को, इसी सच्चाई को नगा करते है। इस सच्चाई को नगा करने के लिए वह सवादो, स्थितिया और पात्रों के हाव-भाव के जरिये एक बार फिर कहानी को 'क्लाइमक्स' पर लाते हैं। वह बार-बार उस पात्र के मुंह से बडे स्वाभाविक अन्दाज मे कहलवाते हैं—"इस वक्त देश की हालत बहुत नाजुक है।" और फिर व्यग्यात्मक अन्दाज मे—आक्रामक अन्दाज मे नही मात्र व्यग्यात्मक अन्दाज मे—स्पष्ट करते हैं कि 'देश' मे उसका क्या मतलब है? किसके देश पर सकट आया है? क्यों सकट आया है? कैसा सकट आया है? और इस सकट का जनसाधारण से क्या वास्ता है? वह कहते हैं, "बहुत हो गया तो मैंने नक्शा फैलाकर उसका 'देश' ढूंढने की कोशिश की। कही नही मिला। मेरी भूगोल की पढाई बेकार गयी। आखिर इसका देश है कहाँ? किस देश की चिन्ता कर रहा है? घर और क्लब बनाकर जिसकी दुनिया बनती है उसका देश क्या बाथरूम है या बार है? अगर उसका यही देश है, जो हम सबका, तो इस देश पर नया सकट क्या आ गया? क्या बाजार मे स्कॉच व्हिस्की नही मिलती या क्या इसका रसोइया छुट्टी पर चला गया?"

दरअसल उच्च-भ्रू वर्ग के लिए देश का अर्थ कुछ और ही है, वह नही जो हम सबके लिए है। वे देश की दुर्दशा पर रोटरी क्लब मे चर्चा करते हैं और स्काच-व्हिस्की न मिलने या रसोइये के छुट्टी पर चले जाने पर उन्हे लगता है कि देश की हालत नाजुक ही नही, बहुत नाजुक है। उनके देश की परिधि मे देश के वास्तविक प्रश्नो का कोई महत्त्व नही है। इसीलिए वे बढती हुई महँगाई, बेराजगारी, कालाबाजारी, लूट-पाट आदि की कोई फिक्र नही करते। इन प्रश्नों के प्रति उनके मन म कोई वास्तविक चिन्ता नही हैं। अगर है तो मात्र दिखावटी चिन्ता। उनके व्यवहार उनके सवादो और उनके हाव-भावो के जरिये परसाई देश से कटे हुए इन 'रोटेरियनो' की सच्चाई को नगा करके रख देते है और इस प्रकार वे व्यग्य की मारक शक्ति के जरिये उस वर्ग को हमारे सामने वास्तविक रूप मे ला खडा करते है जो देश से और आम जनता से वस्तुत कटा हुआ है और 'डीजैनरेट' हो रहा है।

इस प्रकार उच्च भ्रू वर्ग के स्वभावगत पाखड और स्वभावगत विसगतिया को सामने लाने के साथ ही परसाई कहानी को और आगे बढाते है तथा इस वर्ग की सच्चाई को पूरे तौर पर पूरी गहराई से सामने लाने मे कोई कसर नही रख छोडते। यदि कोई अन्य लेखक होता तो बहुत सम्भव है कि वह इस वर्ग के इस प्रमुख पात्र का वास्तविक परिचय पहले ही दे डालता। लेकिन परसाई ने ऐसा नही किया। उन्होने पहले केवल उसकी मानसिकता के एक स्तर का परिचय कराया जहाँ वह देश की नाजुक हालत पर तथाकथित चिन्ता प्रकट करता है और अवसरानुकूल अपनी नपी-तुली मुस्कान तथा सवादो के जरिये अपनी स्वार्थी मनोवृत्ति को स्वय ही उजागर कर देता है। इसके बाद परसाई उसके व्यक्तित्व का यह कहकर वास्तविक परिचय देते है, "वह पहले एक सरकारी प्रतिष्ठान का

मैनेजर था। दो-तीन साल पहले उसे 'कपलसरी रिटायरमेंट' मिल गया। बड़े भ्रष्टाचारी को बाइज्जत अलग कर देने की विधि को 'कपलसरी रिटायरमेंट' कहते हैं। चपरासी या बाबू का भ्रष्टाचार पकड़ा जाय, तो वह 'डिसमिस' होता है। जेल भी भेजा जा सकता है क्योंकि वह सिर्फ पाँच-दस रुपये खाता है, मगर बड़ा अफसर जब पाँच-दस लाख दबा लेता है और सरकार इस पर ध्यान देने को मजबूर हो जाती है तब उससे हाथ जोड़कर कहती है—हुजूर, आशा है, आप अब तक काफी खा चुके हैं। अब अगर आप उचित समझें तो बाकी जिन्दगी चैन से गुजारें। वह सरकार के प्रति करुणा से भरकर 'कपलसरी रिटायरमेंट' ले लेता है और बाइज्जत बाकी उम्र काटता है।"

परसाई के इन वाक्यों में कई बातें ध्यान देने की हैं। जहाँ अन्य अनेक व्यंग्यकार ऐसी स्थितियों में सरकारी या सार्वजनिक प्रतिष्ठानों पर हमले बोलकर अपनी लेखनी को सहज ही उन निहित स्वार्थों के पक्ष में मोड़ देते हैं जो समाजवाद और सार्वजनिक क्षेत्र आदि के विरोधी और निजी क्षेत्र तथा मुक्त व्यापार आदि के प्रबल समर्थक हैं, वहीं परसाई ने अपनी कलम सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठान पर नहीं बल्कि भ्रष्ट ब्यूरोक्रेसी पर चलाई है जिसके कारण सार्वजनिक क्षेत्र को क्षति उठानी पड़ती है। साथ ही उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार वे लोग 'रोटरी क्लबों' के सदस्य बनते हैं। वे, जो भ्रष्ट हैं। इतना ही नहीं, वह इस तथ्य को भी सामने लाते हैं कि भ्रष्टाचार के मामले में भी सरकारी तंत्र के अन्दर किस प्रकार का भेदभाव किया जाता है। जो लोग सरकारी व्यवस्था से परिचित हैं, वे जानते हैं कि भ्रष्टाचार का मामला हो या कोई अन्य बात, कार्रवाई करने का अधिकार अफसर वर्ग को ही होता है और अफसर वर्ग संगीन से संगीन अपराध में भी अपनी बिरादरी को बचाने का यथासंभव प्रयास करता है। इसीलिए भ्रष्ट अधिकारी को, लाखों रुपया हजम कर जाने पर भी, केवल अनिवार्य रूप से रिटायर किया जाता है, जबकि बाबू या चपरासी को पाँच दस रुपये के गोलमाल के आरोप में नौकरी से निकाल दिया जाता है। यह एक सच्चाई है। और इस सच्चाई को प्रस्तुत करने में परसाई अपनी मार्क्सवादी दृष्टि का इस्तेमाल करते हुए सटीक व्यंग्य करते हैं—ऐसा व्यंग्य जिसमें दो अलग-अलग वर्गों के साथ किए जाने वाले अलग अलग व्यवहार की हकीकत सामने आ सके और पाठक को यह भी पता चल सके कि देश की हालत पर चिन्ता प्रकट करने वाले स्वयं कितनी गहराई में हैं और वे देश की हालत पर चिन्ता क्यों प्रकट करते हैं? कोई न कोई कारण तो होगा ही। लेखक इन शब्दों के जरिये कारण की ओर संकेत करता है—"एक सुबह वह मेरे घर आ गया। कार से उतरा, तो पहचानने में देर लगी। वह बदल गया था। कोट, पैंट, टाई छूट गए थे। कुरता, पायजामा, जाकिट पहने हुए था।" उसके पिछले परिचय के संदर्भ में इतना संकेत काफी है। रोटरी क्लब का प्रमुख पदाधिकारी, जो लाखों रुपये हजम करके सरकारी प्रतिष्ठान से बाइज्जत अनिवार्य रूप से रिटायर कर

दिया गया था, अब सचमुच बदल गया था। उसने समय देखकर अपनी पोशाक बदल ली थी। समझदार लोग ऐसा ही किया करते हैं। परसाई के शब्दो मे—"15 अगस्त 1947 को ऐसा सामूहिक रूप से हुआ था। ज्यो ही तिरगा झडा ऊपर गया था, बहुत लोगो के पैंट नीचे खिसक गये थे। उनकी जगह धोती आ गयी थी।" कहना न होगा कि ऐसा वर्ग अवसर के अनुकूल रग बदलता रहता है। उसकी मानसिकता नही बदलती, सिर्फ पोशाक बदलती है, क्योंकि पोशाक बदलने से उसकी मनपसद शाति सहज ही हो जाती है। वह जानता है कि इस नयी पोशाक के जरिये वह ऐसी जगह पहुँच सकता है जहाँ अधिकाधिक सुविधाएँ हों, लाख-दो लाख नही करोड दो करोड बनाने के अधिकाधिक अवसर हों। चूँकि हमारा यह 'प्रजातत्र' और उसके प्रतीक भ्रष्टाचार के गढ बन चुके है, इसीलिए यह रोटेरियन चरित्र कहता है—"मैंने ससद का चुनाव लडने का निश्चय कर लिया है।" और इस पर लेखक की यह टिप्पणी—"अब मै समझा कि पिछले दो-तीन महीनो से देश की हालत क्यो नाजुक है।"

एमपीगिरी यानी ससद सदस्यता हमारे इस जवान लोकतत्र मे प्रतिष्ठा का सबसे बडा प्रतीक है। जब पैसा हो जाये, कार और बगले हो जायें, तो देश की चिंता सताने लगती है और भारत माता की इन अदभुत सतानो के मन म परिवर्तन लाने की ललक करवटें लेने लगती है। उनकी सजी सँवरी पत्नियाँ कहती हैं कि घर मे सब कुछ है, लाख-दो-लाख खाकर आपने 'कपलसरी रिटायरमेंट' भी ले लिया, अब कुछ ऐसी चीज भी ले आइये, जिससे इज्जत बढे और रोटेरियन महोदय 'लोकसभा' लाने निकल पडते है। उन्हे लगता है कि पैसे के बल पर सब कुछ खरीदा जा सकता है, क्योंकि 'अपने देश का चुनाव तो एक नाटक है। हमारा गँवारो का देश है। सच पूछा जाय तो हम प्रजातत्र के लायक ही नही है। यहाँ वोट पाने के कई तरीके है। मैं सब जानता हूँ। सारा प्रबन्ध कर लिया है।' उनके चरित्र की इस विशेषता को उजागर करने के बाद परसाई सम्पूर्ण कहानी को फिर एक 'क्लाइमेक्स' पर ले जाते है, जो उनके और अन्य व्यग्यकारो के बीच सोच के स्तर पर अन्तर को एक बार फिर व्याख्यायित करता है। अन्य व्यग्यकार, बहुत सम्भव है, उच्च-भ्रू वर्ग के इस प्रतिनिधि और जनता के तथाकथित जाने-माने सेवक को चुनाव मे विजयी दिखा देते और इस प्रकार यह सिद्ध कर डालते कि सचमुच इस चुनाव व्यवस्था मे 'सब कुछ ही पैसे के बल पर खरीदा जा सकता है। ऐसा करने पर यह रचना अततोगत्वा जनता की निर्णय कर पाने की क्षमता पर ही व्यग्य होकर रह जाती तो जनवादी विचार-दृष्टि के बिलकुल प्रतिकूल होती। परसाई ने इस सच्चाई को महसूस किया, इसीलिए कहानी के अन्त म उन्होने 'इस महान भ्रष्टाचारी' को न केवल पराजित दिखाया है, बल्कि यह भी कहा है कि उसकी जमानत जब्त हो गयी है। यह अत जनशक्ति पर लेखक के विश्वास का प्रतीक है। परसाई कहानी का ऐसा अत मार्क्सवादी विचार दृष्टि के कारण ही कर सके है। उन्होने

जनता को एक भ्रष्ट व्यक्ति के धोखे मे आ जाने वाली नही दिखाया है। और इस प्रकार उनका व्यग्य अततोगत्वा उस रोटेरियन, उच्च-भ्रू वर्ग के उस प्रतिनिधि पर ही हुआ है जो कोध मे कहता है—"आपने उस दिन क्लब मे ठीक ही कहा था—वी आर ए मोस्ट फॉलन पीपुल। दी कट्री इज गोइग टू डाग्ज ! बडे गिरे हुए लोग है।" लेकिन कहानी के इस अत तक पहुँचते-पहुँचते पाठक भलीभाँति जान जाते हैं कि वास्तव मे गिरे हुए लोग कौन है ? लेखक ने 'फॉलन पीपुल' किनके लिए कहा था ?

परसाई को अपनी इस कहानी मे आजादी के बाद बडी तेजी से सामने आय नवकुबेर वर्ग को नगा करने मे, उसके चारित्रिक पतन, उसके दोमुँहेपन, उसके पाखड, उसके विरोधाभासो और विसगतियो को उजागर करने म अपार मफलता मिली है—एक ऐसी सफलता जो अधिकाश व्यग्यकारो को, गहरी सामाजिक-राजनैतिक समझ के अभाव के कारण, नही मिल पाती। उनकी दृष्टिहीनता प्राय उनके व्यग्य को फूहड बनाकर रख देती है या पाठको को असली मुद्दो और प्रश्नो से भटकाने लगती है। यह अकारण नही कि औद्योगिक प्रतिष्ठानो से निकलने वाले पत्रो मे ऐसे ही तथाकथित व्यग्यकारो के तथाकथित माहित्य का स्वागत किया जाता है। 'तथाकथित' इसलिए कि उनके पास प्राय कथ्य नही होता बल्कि मदारियो की तरह चटकीले किन्तु बेतुके जुमले होते है जिनके सहारे वे पाठको को शाखामृग समझकर नचाने का भ्रम पाले रहते हैं, हालाकि अततोगत्वा वे स्वय ही शाखामृग बनकर रह जाते है और शब्दो तथा शैलीगत प्रयोगो के भँवरजाल मे डूब जाते है ? इसी कारण पाठक घूम फिर कर परमाई जैसे रचनाकारो के इर्दगिर्द ही सिमट आते है, जबकि परसाई के पास एक नितात सपाट भाषा और एकदम शिल्पविहीन कथ्य है। 'साहब महत्त्वाकाक्षी' जैमी सशक्त व्यग्य-कथा भी शिल्प और भाषा दोनो ही स्तरो पर सपाट है। इस सच्चाई के बावजूद परसाई ने इस कहानी मे एक सामयिक विषय को शाश्वत व्यग्य मे बदल दिया है। वस्तुत परमाई ने अधिकाशत सामयिकता के रास्ते से चलते हुए ही शाश्वत व्यग्य लिखे हैं। यही उनकी सबसे बडी विशेषता है। जहाँ अनेक लेखक सामयिक प्रश्नो और तात्कालिक समस्याओं से जूझने मे प्राय पिछड जाते हैं या कतराने लगते हैं, वहीं हरिशकर परसाई इनसे सीधे मुकाबला करने के लिए सबसे पहले सामने आते हैं। दरअसल सपाट भाषा और शिल्पहीनता के बावजूद उनकी इस अद्भुत लेखकीय सामर्थ्य और कथ्य की सम्पन्नता के पीछे उस दृष्टि का हाथ है जो मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि कहलाती है और जिसके प्रति परसाई प्रतिबद्ध हैं। तमाम जोखिमो के बावजूद उन्होंने इस प्रतिबद्धता को न केवल अगीकार किये रखा बल्कि उसे अपने समकालीनो की अपेक्षा अपन लेखन मे सबसे अधिक जिम्मेदारी और सबसे ज्यादा गभीरता के साथ उतारा भी है।

कहानीकार की तरह

नयी कहानी की अन्तर्वस्तु के विस्तार की दृष्टि से अपने समकालीन कहानीकारों के बीच हरिशंकर परसाई की स्थिति कुछ ज्यादा ही महत्त्वपूर्ण दिखाई देती है। इस दौर के बहुत-से कहानीकारों की तरह न तो कहीं वह स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अंकन में उलझते हैं और न ही शिल्प की बारीकियों को लेकर परेशान मालूम होते हैं। इससे भिन्न उनकी कहानियाँ पतनशील बुर्जुआ समाज में मूल्यगत संक्रमण, विपर्यय और स्खलन की स्थिति में एक नैतिक हस्तक्षेप की हैसियत रखती दिखाई देती हैं। राजनीतिक भ्रष्टाचार और सामाजिक विसंगतियों की जितनी स्पष्ट और प्रामाणिक पहचान हरिशंकर परसाई की कहानियों में मिलती है उतनी उस दौर के कदाचित् किसी दूसरे कहानीकार में नहीं मिलती है। अपने साहित्यिक सरोकार और सामाजिक चिंता की दृष्टि से वह अमरकांत के निकट लगते हैं लेकिन कहानी का विधागत अनुशासन और प्रच्छन्न एवं सूक्ष्म व्यंग्य के उपयोग का कौशल अमरकांत को उनसे काफी अलग भी कर देता है।

हरिशंकर परसाई अपने लेखन को एक सामाजिक कर्म के रूप में परिभाषित करते हैं। उनकी मान्यता है कि सामाजिक अनुभव के बिना सच्चा और वास्तविक साहित्य लिखा ही नहीं जा सकता। साहित्यकार और सामाजिक अनुभव के अंतर्सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—"साहित्यकार का समाज से दोहरा सम्बन्ध है। वह समाज से अनुभव लेता है, अनुभव में भागीदार होता है। *बिना सामाजिक अनुभव के कोई सच्चा साहित्य नहीं लिखा जा* सकता, लफ्फाजी की जा सकती है। साहित्यकार सामाजिक अन्वेषण भी करता है। उन छिपे अँधेरे कोनों का अन्वेषण करता है जो सामान्य चेतना के दायरे में नहीं आते। वह इन सामाजिक अनुभवों का विश्लेषण करता है कारण और अर्थ खोजता है, उन्हें संवेदना के स्तर तक ले जाता है और उन्हें रचनात्मक चेतना का अंग बनाकर रचना करता है। और फिर समाज से पाई इस वस्तु को रचनात्मक रूप देकर फिर समाज को लौटा देता है। इस तरह साहित्य एक सामाजिक कर्म हो जाता है।"[1] लेखन को सामाजिक कर्म के रूप में परिभाषित करने के बाद अपने समय की राजनीति के साथ लेखक का रिश्ता

1 पूर्वग्रह अंक 10 पृ० 4

काफी कुछ खुद-ब-खुद तय हो जाता है। इस मुद्दे पर परसाई ने और भी साफ ढंग से लिखा है—"राजनीति मनुष्य की नियति तय कर रही है। बुद्धिजीवी जो यह कहते है कि हमे राजनीत्ति से क्या मतलब, वे वास्तव मे बडी गदी देशद्रोही राजनीति मे फँसे हैं। मैं यह नही कहता कि हम किसी पार्टी के सदस्य हो जाएँ। पर मैं यह जरूर चाहूँगा कि इतनी समझ हो और निष्ठा भी हो कि यह राजनीति समाज को प्रगति के रास्ते पर ले जा रही है, और यह राजनीति प्रतिगामी और यथास्थितिवादी है।"[1]...

यही कारण है कि हरिशकर परसाई यूरोप की पतनशील साहित्यिक प्रवृत्तियो के अनुकरण मे लिखे जा रहे साहित्य की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि ऐसा सारा साहित्य अपने केन्द्र से सामाजिक चिन्ता और कर्म को नकार कर आगे बढता है। 'हारर', 'फ्रस्ट्रेशन','मृत्युबोध' और 'सकट' के दर्शन को वह अपरिवर्तनीय मानकर नही चलते। केवल फैशन के लिए इन चीजो को ओढ लेने का कोई अर्थ नही हो सकता है। वस्तुत इस सबको वह रचनाकार के अपने परिवेश से कटे होने या फिर अशत जुडे होने के अनिवार्य परिणाम के रूप मे लेते और स्वीकार करते है और इस बात पर बल देते हैं कि ऐसा करने वाले लेखक गलत ढग से अपनी कुठाओ और हताशा को साहित्य मे प्रोजेक्ट कर रहे हैं। ऐसे सारे लोगो के लिए वह हिदायत करते हुए लिखते है—"अहकार के घोंघे से आप बाहर आइये और अपने को व्यापक सपर्क से जोड दीजिये।"[2]...

इस सदर्भ मे जो लोग सत्रास और अजनबीपन की बातें करते हैं उनके बारे मे किंचित कडा रुख अपनाते हुए वह लिखते है—"यह एक प्रकार की बौद्धिक 'स्नाबरी' होती है। अपने को परिवेश से कटा हुआ और अकेला मानने वाला उस आदमी की तरह हो जाता है, जो किसी विशाल इमारत मे बद हो। वह बोलता है तो उसे अपनी ही प्रतिध्वनि सुनाई पडती है। तब वह घबराता है और उसे भय, आशका और मौत की अनुभूति होने लगती है।"[3]...और ऐसी हालत मे अपनी स्थिति और भूमिका का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—"अपने परिवेश से मैं अपने को पूरी तरह जुडा हुआ पाता हूँ। सहभागी हूँ, दर्शक नही।"[4]

'हँसते हैं रोते है' नामक सग्रह मे अपनी प्रारम्भिक कहानियो मे परसाई अपने आसपास की जिन्दगी मे जुडकर चलते दिखाई देते हैं। इन कहानियो मे निम्न-मध्यवर्गीय अभावो और विडम्बनाओ को उभारा गया है लेकिन उनमे तराश का वह पैनापन और सामाजिक विरूपताओ को लेकर वह तल्खी नही है जो आगे

1 'पूर्वग्रह' अक 10, पृ० 5
2 'ज्ञानोदय' फरवरी 66 । कलकत्ता कथा समारोह की एक गोष्ठी मे दिया गया अभिभाषण पृ० 126
3. 'नयी धारा' कमलेश्वर द्वारा सपादित समकालीन कहानी अक, पृ० १२०
4. वही

चलकर परसाई की एक खास पहचान बनती है। 'सेवा का शौक' और 'भीतर का घाव' जैसी कहानियाँ इस सग्रह मे अपवाद जैसी लगती है जो मानवीय पीडा के सदर्भ मे नैतिक-सामाजिक मान्यताओ की विकृतियो को पर्याप्त विश्वसनीय और प्रभावशाली ढग से अकित कर सकी है। इस सग्रह की अधिकाश कहानियाँ या तो भावुकता का शिकार है या शिल्प के कच्चेपन की जिसके कारण उनका सश्लिष्ट प्रभाव बहुत प्रीतिकर नहीं होता। इन कहानियो को आधार बनाकर हरिशकर परसाई के भावी विकास को समझना भी किसी कदर मुश्किल होता है। आगे चलकर, एक लेखक की हैसियत से वह अपना जो सरोकार तय करते हैं ये कहानियाँ सिर्फ आशिक रूप से ही उसका सकेत दे पाती है। इन्हे पढकर इतना पता अलबत्ता चल जाता है कि समाज म जो असत्य और विरूपतायेँ है उनका शिकार वे लोग ही सबसे अधिक है जो सरल और ईमानदार किस्म के लोग है। और इसी सकेत के सहारे कदाचित् यह अनुमान भी लगाया जा सके कि इन लोगो के सार्थक ढग से जीने की इच्छा और सघर्ष को लेखक अनदेखा करके नही चल सकेगा।

सामाजिक विकृतियो के चक्रव्यूह म फँसे साधारण आदमी की यातनाओ को केन्द्र मे रखकर चलने वाला लेखक शाश्वत साहित्य का प्रभामडल बनाकर नहीं चल सकता। इसीलिए हरिशकर परसाई की यह घोषणा एकदम विश्वसनीय लगती है—'मैं शाश्वत साहित्य रचने का सकल्प करके लिखने नही बैठता। जो अपने युग के प्रति ईमानदार नही होता, वह अनन्त काल के प्रति कैसे हो लेता है, मेरी समझ मे परे है।'[1] यही कारण है कि परसाई की परवर्ती कहानियाँ जो अधिकाश मे 'जैसे उनके दिन फिरे' और 'सदाचार का तावीज' मे सकलित है—अपने समय की विडम्बनाओ और कुरूपताओ का बडी सहजता के साथ अकित करती है। हरिशकर परसाई की इन कहानियो के आधार पर आजादी के बाद के भारत की एक मुकम्मिल तस्वीर आसानी से तैयार की जा सकती है जिसम राजनीति शासनतत्र, शिक्षा पद्धति नौकरशाही और साहित्य एव कला की विकृतियो के साथ शायद ही एसा कोई पक्ष होगा जो छूटा हो। 'रानी नागफनी की कहानी' को वैसे एक व्यग्य-उपन्यास की सज्ञा दी गयी है लकिन उसके कितने ही अश स्वतत्र कहानियो के रूप मे भी उतने ही स्वीकार्य है और कदाचित् इसी का लाभ उठाकर लेखक ने उनम से कुछ अलग से कहानियो के तौर पर प्रकाशित भी कराये हों। ऑधी और विद्रोही पीढी का दर्शन, सरकारी कार्यालयो की कार्यपद्धति, लडके का कुटीर उद्योग की श्रेणी मे रखकर विवाह के टेंडर की सिफारिश आदि कुछ ऐसे मुद्दे है जिनसे मौजूदा समाज की बनावट समझने मे मदद मिल सकती है, लेकिन हमारे समय का राजनीतिक जगत लेखक के लिए एक ऐसा स्थायी सरोकार है जिसे लेकर उसकी तल्खी की कोई सीमा

1 रानी नागफनी की कहानी, भूमिका, पृ० 5

नही है। जब मुफ्तलाल के साथ राजकुमार अस्तभान, राजा राखड सिंह के अमात्य के पास जाता है तो वदले में ये लोग उसके लिए भी कुछ करने की इच्छा प्रकट करते हैं। वताने मे उसे सकोच करते देख मुफ्तलाल उसे उत्साहित करते हुए पूछता है कि कौन-सा काम करना है—भ्रष्टाचार समाप्त करना है ? अफसरो को समय पर दफ्तर बुलाना है ? भत्ते के सच्चे बिल बनाने की आदत डालनी है ? तो इन सारी वातो को अमात्य यह कहकर नकार देता है कि यह तो शासन की शोभायें है। वह अपने विरोधी विधायक के 'जीव' की माँग करता है और उसके लिए अपनी ओर से की जाती रही कोशिशो का हवाला देते हुए कहता है—"गुप्तचर विभाग तो सालो से इसी काम मे लगा है। आप तो जानते है कि प्रजातत्र मे गुप्तचर विभाग राजनैतिक विरोधियो के पीछे पड़े रहने का ही काम करना है। अपराधियो का पता लगाना तो एक वहाना है।"[1]···हमारे देश की इस तथाकथित जनतात्रिक राजनीनि मे जनता और नेताओ का सम्बन्ध भेड़ें और भेडिये से बहुत बेहतर नही रहा है। अभी तक जैसी स्थितियाँ रही है उनमे हमारे चुने हुए प्रतिनिधि ही बाकायदा नियम से दिन मे तीन बार हमारा भोजन और नाश्ता करते रहे हैं और गीदडो—झूठे प्रशसको और चाटुकारो का एक दल—उनमे हमेशा जुडा रहकर जन-विरोधी नीतियो का समर्थन बेशर्मी के साथ करता रहा है।·· वास्तविकता यह है कि समूची नयी कहानी मे परसाई अकेले लेखक हैं जो राजनीतिक भ्रष्टता और सत्ता की विकृतियो को इतनी दूर तक जाकर उद्घाटित करने का जोखिम उठाते दिखाई देते है···

हरिशकर परसाई की कुछ प्रमुख कहानियो को आधार बनाकर उनके रचना-ससार और सरोकारो का अन्वेषण उपयोगी हो सकता है। 'मौलाना का लडका', 'राग-विराग', 'सदाचार का तावीज', 'भोलाराम का जीव', 'मुडन', 'एक तृप्त आदमी की कहानी', 'मैं हूँ तोता, प्रेम का मारा' और 'सत्य साधक मडल' आदि कहानियाँ अपने आशयो और अन्तर्वस्तु की व्यापकता की दृष्टि से कमोबेश परसाई के समूचे लेखन के प्रतिनिधि-अश के रूप मे ली जा सकती हैं। इन कहानियो मे यदि एक ओर राजनीति और शासनतत्र की विकृतियो एव कार्य पद्धति की आलोचना की गयी है तो दूसरी ओर साधारण आदमी की यातनाओ और महत्त्वाकाक्षा शून्य मानसिकता के निर्माण की विडम्बना को भी रेखाकित किया जा सका है। इस पूँजीवादी समाज मे धर्म और अध्यात्म प्राय हमेशा ही धूर्तता, छद्म और ढोंग का पर्याय बनकर उपस्थित होता है, अत स्वाभाविक ही परसाई गहरे कसर्न के साथ उसकी वास्तविकता के उद्घाटन मे दिलचस्पी लेते दिखायी देते हैं। स्त्री-पुरुष सबधो वाली कहानियो का परसाई के यहाँ प्राय एकात अभाव-सा है लेकिन कुछ कहानियो मे उन्होंने हमारे सामन्ती और अर्ध-सामन्ती समाज मे स्त्री की स्थिति पर बडे सार्थक और अधिकार-सम्पन्न ढग

1 रानी नागफनी की कहानी, भूमिका, पृ० 91

मडल का सबसे बडा आकर्षण क्या है ? वहाँ व्यापारी और अच्छे नौकरी-पेशा लोग इसलिए आते है कि इन्कमटैक्स और सेलमटैक्स अधिकारियो के आने की सभावना बनी रहती है—भले ही वे अपनी एकात साधना के कारण अब तक आ न सके हो ! •

"कालेज की एक युवा सुन्दरी अध्यापिका मिस सक्सेना आती थी। पर उनका तबादला हो गया और वे अपने सामान के साथ हमारे चार साधको का सत्य बाँधकर ले गयी। चारो ने आना छोड दिया···"[1] ईगो, अह और सेल्फ को गलान का उपदेश देने वाले चोपडा साहब जो आज तक किसी शनिवार का बीमार नही पडे और प्रसाद के रूप मे मिठाई बाँटने के बाद नियमित रूप मे आधा घटा प्रवचन देते रहे हैं, एक दिन शुक्ला जी के द्वारा प्रसाद ले आने पर और उत्तेजना मे उनसे पहले ही बाँट देने पर यकायक अस्वस्थ महसूस करने लगने है। उस दिन फिर न तो वे प्रसाद ही बाँटते हैं और न ही प्रवचन दे पाते है जैसे उनका एकाधिकार किसी ने जबरन छीन लिया हो। उसके बाद कई शनिवारो तक मुतवातिर उनकी प्रतीक्षा रही लेकिन फिर धीरे धीरे लोगो ने समझ लिया कि वह अह को गलाने की साधना मे लग गये हैं ! •

'मौलाना का लडका पादरी की लडकी' और 'मैं हू तोता प्रेम का मारा' के सरोकार निश्चय ही कुछ भिन्न प्रकार के है। 'मौलाना का लडका ' मे धार्मिक कट्टरता और धर्मोन्माद का सघर्ष प्रगतिशील वैज्ञानिक आग्रहो से होता है। मौलाना और पादरी दोनो ही का एतराज बच्चो के प्रेम-विवाह को लेकर इतना नही है जितना कि यह आग्रह है कि वे अपने-अपने धर्म मे उनका बाकायदा मत-परिवर्तन कर पुण्य हासिल करे। लेकिन रफीक और बेला आध्यात्मिक प्रेरणा से शुरू करके क्रमश भौतिक आवश्यकताओ से अनुशासित होने लगते हैं। उनके अपने इस निजी अनुशासन का टकराव जब उनके अपने-अपने पिता के अनुशासन से होता है तो बहुत सोच विचार कर जो रास्ता व चुनते है वह वही है जिसके लिए उनके पिता अलग-अलग, अपने-अपने प्रभुओ से प्रार्थना करते है—उन नादानो को माफ करके सही रास्ता दिखाने की प्रार्थना। और यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि दोनो की प्रार्थना का असर एक ही होता है· • "दोनो के अलग-अलग प्रभुओ ने उनकी सतानो को सही रास्ता दिखाया। लगभग दस बजे वे दोनो एक ताँगे म बैठे उस रास्ते पर जा रहे थे। उस रास्ते का नाम था अल्बर्ट रोड, जिसके उस छोर पर सिविल मैरिज के रजिस्ट्रार का दफ्तर था •"[2]

'मैं हूँ तोता प्रेम का मारा' बडे सहज ढग से हमारे सामाजिक अन्तर्विरोधो को खोलकर रखती है। भारतीय समाज मे पत्नी, आर्थिक निर्भरता के अभाव

1 'सारिका' 1 अक्टूबर 78, पृ० 54

2 'जैसे उनके दिन फिरे', पृ० 54

मे, न तो तोते की मादा जैसा व्यवहार कर सकती है और न ही उस काछिन की तरह जो अपने पति को किसी और से फँसा देखकर अपनी जमापोटली बाँधकर और चार खरी-खोटी सुनाकर अपने घर चल देती है। इसके विपरीत पढे-लिखे और सभ्य माने जाने वाले लोगो मे पहले तो यह आँखमिचौली चलती है कि पडोसी की लडकी को भरसक अपनी बहन न बनाकर अपने पति की बहन बनाना ही सस्कारो की दृष्टि से सुरक्षित स्थिति मालूम पडती है। फिर भी यदि होनी हो के ही रहती है तो अपनी खीज और हताशा वह किसी और पर उतारने पर विवश है क्योकि पति कमाऊ जीव है और उसके प्रति सचित सारी घृणा और आक्रोश के बावजूद उससे विनम्र समर्पण के साथ पेश आने के अलावा और कोई रास्ता ही नही है। तोते की निश्छल जिज्ञासा हमारे सामाजिक अन्तर्विरोधो की कितनी ही परतें छील देती है""मगर यह सरला भी अजीब है। प्रोफेसर साहब ने प्रेम ही तो किया है न ? लडाई तो नही की। किसी से लडाई करते तो बुरा मानती, पर प्रेम तो बुरी चीज नही है। और अगर प्रेम दंडनीय ही है, तो उसे दड दो जिन्होंने प्रेम किया है। पर उनकी तो हँस-हँसकर चाकरी करती हो और मुझ बेकसूर को दड देती हो। मैंने तो किसी से प्रेम नही किया ?"[1]...और यदि एक विवाहिता स्त्री की स्थिति यह है तो अविवाहिता की स्थिति तो और भी बुरी है। उमा तो प्रोफेसर साहब को लिखे गये अपने पत्र मे स्वय ही स्वीकार करती है कि प्रेम करके उसकी स्थिति पिंजरे मे बद उस तोते से बेहतर नही है जिसे अपने प्यार का प्रतीक मानकर उसकी अनुपस्थिति मे, वह उसके लिए, छोड आयी है।...

हरिशकर परसाई मूल रूप से एक व्यग्यकार हैं। यही कारण है कि कहानीकार के रूप मे उन्हे प्राय अनदेखा किया जाता रहा है।...आज किसी लेखक की व्यग्य-क्षमता दूसरी तथाकथित रचनात्मक विधाओ के मुकाबले दूसरे दर्जे की चीज समझी जाकर उपहास और उपेक्षा की चीज बने यह स्थिति अपने मे विशेष रूप से विडम्बनापूर्ण रहती है। सच्चाई यह है कि सामाजिक विसगतियो के प्रति गहरा सरोकार रखने वाला कोई लेखक ही व्यग्य की जमीन पर उतरता है। स्थितियो, प्रवृत्तियो और व्यक्तियो पर व्यग्य करके वह सामाजिक विसगतियो के प्रति अपने गुस्से का इजहार तो करता ही है, अपने लेखन को वह एक नैतिक हस्तक्षेप के रूप मे भी इस्तेमाल कर रहा होता है। एक व्यग्य-लेखक को लेकर यह शिकायत प्राय ही दोहराई जाती है कि वह मूलरूप से निराशावादी होता है जो हर कही बुराई की तलाश मे परेशान दिखाई देता है। लोग यह स्वीकार करने को तैयार नही होते कि व्यग्य का आस्था से भी कोई वास्ता हो सकता है। जबकि सच्चाई यह है कि व्यग्य का आस्था से गहरा सबध है। सामाजिक परिवर्तन मे गहरी आस्था रखने वाला लेखक ही सार्थक व्यग्यकार हो सकता

1 'ज्ञानोदय' दिसम्बर 69—जनवरी 70 : श्रेष्ठ सचयन खड, पृ० 275

है, क्योंकि सामाजिक बुराइयों के प्रति उसके आक्रोश और कटुता में ही एक बेहतर समाज की आकांक्षा छिपी होती है। विसंगतियों के प्रति सारी कटुता के बावजूद अपने पात्रों के प्रति उसके मन में गहरी ममता और सहानुभूति भी होती है।'[1]

हरिशंकर परसाई व्यंग्य को गंभीरता से लेते हैं और इच्छा करते हैं कि दूसरे भी ऐसा ही करें। सामाजिक विसंगतियाँ और उनसे पैदा हुई स्थितियाँ उनके व्यंग्य की प्रधान उपजीव्य हैं। वह स्वयं इस बात को लेकर पर्याप्त सचेत दिखायी देते हैं कि *महत्त्वपूर्ण सामाजिक विसंगतियाँ ही व्यंग्य को अपेक्षित* गहराई और व्यापकता दे सकती है। इसी ओर संकेत करते हुए वह लिखते हैं, "मगर विसंगतियों के भी स्तर और प्रकार होते हैं। आदमी कुत्ते की बोली बोले —यह एक विसंगति है। और वन महोत्सव का आयोजन करने के लिए पेड़ काटकर साफ किये जायें जहाँ मंत्री महोदय गुलाब के वृक्षों की कलम रोपें—यह भी एक विसंगति है। दोनों में भेद है, या दोनों में हँसी आती है। मेरा मतलब है—विसंगति की क्या अहमियत है, वह जीवन में किस हद तक महत्त्वपूर्ण है, वह कितनी व्यापक है, उसका कितना प्रभाव है—ये सब बातें विचारणीय हैं।"[1] इस 'चेतना के बावजूद', 'चार बेटे', 'मन्नू भैया की बारात' और 'भगत की गत' जैसी कहानियाँ विसंगतियों की व्यापकता के निषेध के कारण एकदम सतही *कहानियाँ बनकर रह गयी है। किसी सामाजिक या राजनीतिक विसंगति* के बदले जब परसाई निजी संबंधों की जमीन पर उतर आते हैं तो उनके चार बेटों में से दो धन के मोह में माँ को कुलटा तक बना देते हैं। इसी तरह 'मन्नू भैया की बारात' भारतीय समाज में लड़के वालों की वादू प्रवृत्ति के बदले अर्थहीन अतिरंजनाओं में उलझकर रह जाती है। 'भगत की गत' में लाउडस्पीकर पर पूजा और कथा को एक सामाजिक समस्या के रूप में लेने के बावजूद उसका ट्रीटमेंट एकदम स्थूल है। इसके विपरीत जब वह पूरी कहानी या उसमें पिरोये गये चुस्त जुमलों के जरिये सामाजिक विसंगति की ओर संकेत करते हैं तो उसकी मार कहीं गहरी और दूर तक छीलने वाली होती है। 'प्रेमियों की वापसी' नामक कहानी में स्वर्ग का सिपाही प्रेमचंद से कहता है—"तुम्हारे पुरान संस्कार अभी *छूटे नहीं हैं तभी तो हत्या के लिए पुलिस से सलाह माँगते हो—*"[2] *या 'मन्नू* भैया की बारात' में ही बारात के लिए जरूरी सामान की सूची तैयार करते हुए चाचा मामा से कहते हैं—"दो चोर और दो डाकू भी चाहिए। मैंने अपने दोस्त दरोगा श्याम सिंह से कह दिया है वे प्रबंध कर देंगे।"[3] इस प्रकार वे बड़े सहज ढंग से हमारी जनतांत्रिक व्यवस्था में पुलिस के चरित्र और

1. 'सदाचार का तावीज' कैफियत पृ० 6
2 वही, पृ० 18
3 वही पृ० 39

भूमिका की ओर संकेत कर देते है। •

आकार की दृष्टि से परसाई की कहानियाँ बहुत छोटी होती है। वे कथानक की पुरानी मर्यादाओ को नकार कर आगे बढती है। अपने कथ्य की सघनता के कारण वे शिल्प की मोहताज नही है बल्कि उसी कथ्य के अनुरूप अपना शिल्प भी वे स्वय खोज लेती है। इतिहास, पुराण, लोककथा, लोकवार्ता और फैंटेसी ये सारी चीजें उनके यहाँ उनकी अपनी शर्तो पर उपस्थित है। परसाई जैसे चाहते हैं काम लेते है। काल की परिमिति यहाँ स्थगित हो जाती है और सब कुछ एक विराट वर्तमान पर आकर स्थिर हो जाता है। बात चाहे वह दो हजार वर्ष पहले की या दो हजार वर्ष आगे की—समय की दूरी का यह बोध उनके यहाँ महज एक रचना कौशल बनकर रह जाता है। जबकि अपने आशयो और सरोकारो मे वह पूरी तरह से वर्तमान को समर्पित हैं।

—मधुरेश

विचारधारा और सौन्दर्य-दृष्टि

इस शताब्दी के रचनात्मक लेखन मे मनुष्य, संस्कृति और मूल्य के सन्दर्भों मे जितनी अराजकता मिलती है उससे यह साफ जाहिर होता है कि रचनाकार की चिन्ता और उसके लगावो मे उसके युग के सामाजिक सम्बन्धो की अभिव्यक्ति के यथार्थवादी आधार स्पष्ट नही हैं तथा परिवर्तन और प्रगति के बुनियादी कारणों की समझ अभी तक वैज्ञानिक नही हो सकी है। रचनाकार ने अपनी स्वत स्फूर्त वैयक्तिकताओं के लोभ और मोह मे इतिहास के वस्तुवाद से लाभ नही उठाया है। रचना मे निरूपित होने वाले सामाजिक सम्बन्धो मे इतिहास को कसौटी नहीं बनाया गया है। रचनाकार की मुश्किल उस समय और बढ जाती है जब वह आधुनिकीकरण का तो पक्ष लेता है लेकिन आधुनिकताबोध मे मनुष्य को महत्त्वहीन बना देता है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मे तथा आधुनिकताबोध मे यह अन्तर्विरोध क्यो समा गया है? क्या रचनाकार इस गहरे अन्तर्विरोध के कारण को समझे बगैर मनुष्य, संस्कृति और मूल्य की सम्भावना पर बोल सकता है? प्रक्रिया और परिणाम के अन्तर्विरोध मे जो यथार्थ विसंगति है, उसे वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न सामाजिक विचारधारा से ही समझा जा सकता है—मार्क्सवाद से ही समझा जा सकता है।

क्या कारण है कि रचनाकार भौतिकवाद मे आस्था रखते हुए, विज्ञान मे विश्वास रखते हुए तथा बुद्धि और तर्क के सहारे अपने युग की जटिलताओ पर सोचते हुए भी संस्कृति, मूल्य और मनुष्य के संकट को दूर करने का उपाय नही खोज पाता? निराश होकर वह पुरातन शास्त्रवादी मिथकों तथा रूमानी-स्मृतियो मे वापस लौटने की इच्छा करता है, वह अपनी समकालीनता को छोड़ता-सा नजर आता है, उसे तुच्छ और निरर्थक मानने को बाध्य हो जाता है? या फिर सबसे अलग होकर विद्रोह की मुद्रा मे आत्मतुष्टि का अभिनय करता है, उसके आक्रोश मे जुनून सवार होने लगता है? भौतिकवाद—विज्ञान और विवेक को स्वीकार करने के बाद भी उसमे अरचनात्मक विस्फोट क्यो होता है? वह जीवन को नकारता-सा क्यो दिखाई देता है? इसका सही उत्तर मार्क्सवादी साहित्य विचार मे मिलेगा। शोषण की व्यवस्था का यह गुण है कि वह प्रक्रिया और परिणति की एकरूपता को तथा उसके सामाजिक प्रभावों को यान्त्रिक ढंग से काटती है। अतः अरचनात्मकता से मुक्ति के लिए जरूरी है कि जीवन के द्वन्द्ववाद को ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से ग्रहण किया जाए।

प्रगति के वैज्ञानिक नियमों से परिचित होकर ही अब मनुष्यता को सृजनशील बनाये रखा जा सकता है।

आधुनिक रचनाकार के संवेदन में बिखराव और अन्तर्विरोध क्यों है? इसके लिए रचनाकार के जीवन-दृष्टिकोण को बनाने वाले इतिहास और समाज की विकासमान परिस्थितियों को देखना होगा। इतिहास और समाज से पता चलेगा कि जिस व्यवस्था में मनुष्य का यथार्थ विभक्त है, उसका रहन-सहन, खान-पान, अभिरुचि और मनोविनोद के आधार विभक्त है, उसको नियमित करने वाले कानून, न्याय-नीति के आधार विभक्त हैं, उसे किसी एकरस और एकविध समाजशास्त्र में कैसे समझा जा सकता है? विज्ञान कहता है कि हर भेद को, हर स्तर को, हर श्रेणी को तुलनात्मक ढंग से समझे बगैर समग्रता तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसीलिए मार्क्सवादी चिन्तन में उत्पादन-स्रोतों और सम्बन्धों के द्वारा सभ्यता और संस्कृति के विकास में जातियों उपजातियों तथा उनकी सैद्धांतिक और व्यावहारिक मान्यताओं, रीति-रिवाजों, विश्वासों, नैतिक आस्थाओं आदि की वास्तविकता को पकड़ा जा सकता है आद्यरूपों, मिथकों और प्रतीकों की सृष्टि किस प्रकार की मनोधारणाओं के अमूर्त व्यापार को दर्शाती है तथा उसमें सामूहिक जीवन की कितनी शक्ति लगी है, कौन-सी प्रेरक-अभिवृत्ति क्रियमान है, क्या उद्देश्य है? आदि तर्कसंगत विश्लेषण ऐतिहासिक वस्तुवाद में होता है।

क्या आधुनिक रचनाकार ने समूचे समाज की रचनात्मक चेतना को उद्बुद्ध किया है? उसे उकसाया है? क्या उसके मन में सामाजिक समग्रता के प्रति कोई नयी दृष्टि पैदा हुई है? मनुष्यमात्र के जीवनमान में प्रगति के लिए क्या कोई पाजिटिव चुनौती दी गयी है? क्या इन प्रश्नों का उत्तर हमें एकरसतावादी समाजशास्त्र और ऐतिहासिक विकासवाद में मिल सकेगा? उद्योग, विज्ञान और तकनालाजी ने सामाजिक जीवन में विसंगतिबोध, अपराधबोध को क्योंकर पैदा किया है? आत्मनिर्वासन और मानवद्रोह की अरचनात्मकता कैसे पैदा हुई है? कारण क्या है और विकल्प कितना यथार्थ है, इसका समाधान भी द्वन्द्वात्मक तर्क से हो सकेगा। यहीं पर एक सवाल और उठा लिया जाये कि क्या रचनाकार के लिए मनुष्य, संस्कृति और मूल्य की सृजनशीलता के लिए किसी पाजिटिव विजन की—कि जिसमें संकट से मुक्त होने का सही विकल्प हो, जरूरत नहीं है? (मनुष्य, संस्कृति और मूल्य को तीन प्रवर्गों में विभक्त करना ठीक नहीं है क्योंकि संस्कृति तो मनुष्य के सामूहिक कर्म की गुणात्मक समृद्धि की द्योतक होती है और मूल्य उस समृद्धि के युग-सापेक्ष और निर्धारक प्रतिमान होते हैं।)

रचनाकार क्या अपने सामाजिक परिवेश में मनुष्य के सामूहिक कर्म की की गुणात्मक समृद्धि को व्यक्त करने वाले युगसापेक्ष और निर्धारक प्रतिमानों के रचनात्मक कारकों और प्रेरकों से मुक्त रह सकता है? यदि नहीं तो उसकी पक्षधरता और प्रतिबद्धता का हवाला मिलना चाहिए। इसीलिए तो संस्कृति के

रचनात्मक मूल्यों से जुड़ा रचनाकार वर्ग विभक्त समाज मे क्रान्तिकारी होता है, वह यथास्थिति के विपक्ष मे होता है। वह आत्मसघर्ष करता है। उसे अपनी रचनात्मक स्थिति के अन्तर्विरोधो का हल खोजना पडता है। वह ऐसा तभी कर पाता है जब उसके रचना-सवेदन मे युग और इतिहास की तमाम जटिलतायें किसी श्रेष्ठ सभावना-विकल्प से खुलने सवद्ध हो। रचनात्मक नैतिकता के सारे प्रश्न इसी सभावना-विकल्प से जुड़े होते हैं। यही पर होती है सस्कृति और यही पर होते हैं मूल्य। इसके बाहर शब्द-ब्रह्म है, अनहदनाद है जहाँ शब्दों की आवृत्तियो तथा उनके वाक्य-बन्धों से ध्वनियाँ फूटती हैं, नाद व्यजित होता है और लयो का ससार ब्रह्माण्ड व्यापी होता है, यहाँ है ध्वनि का विस्फोट, शून्य और विराट का दर्शन। सविकल्पक और निर्विकल्पक के भौतिक और सापेक्ष तथा अभौतिक और निरपेक्ष भेद को शब्द और अर्थ मे, ध्वनिशास्त्र तथा अर्थ-तत्त्वशास्त्रमे पुन समीक्षित होना चाहिए।

यदि रचनाकार की सवेदन-सस्कृति मे वह सब कुछ नही है जिससे मनुष्य और समाज के यथार्थ भविष्य की रचनात्मक स्थितियो का पता चल सके तो कहना पडेगा कि रचना ही सस्कृति मृतप्राय और निश्चेष्ट है। वह विश्व-दृष्टिविहीन है। अत इस तथ्य को दोहराना पड रहा है कि भविष्य की जटिल स्थितियो को समग्र रूप मे प्रतिपादित करने के लिए इतिहास-बोध तथा यथार्थ बोध की द्वन्द्वात्मक समझ अनिवार्य होनी है। उसे समकालीन गुणो-तत्त्वो के निरन्तर प्रगतिमान प्रारूपो से आश्वस्त होना पडता है। उसके प्रेरणा-स्रोतो मे एक समूचा समाज और एक समूचा युग अपने भीतरी और बाहरी अन्तर्विरोधो के साथ उद्वेलित होना है।

रचनाकार जब सुनिर्दिष्ट पाजिटिव विचारधारा के माध्यम से रचना मे अपनी सक्रिय हिस्सेदारी का निर्वाह करता है तो वह मनुष्य-सस्कृति और मूल्य के प्रति जवाबदेह हो जाता है। ऐसी हालत मे उसके अभिप्राय और उद्देश्य अराजक और विघटनकारी नही हो सकते, तब सार्थकता का सवाल गभीर होने लगता है। उसके कर्म और कर्त्तव्य स्पष्ट और साकार होने लगते है। और ऐसी ही रचना मे मूल्यगत सभावनाओं के अक्षय-स्रोत फूटने लगते हैं।

हरिशकर परसाई का सम्पूर्ण लेखन इसका प्रमाण है जहाँ मनुष्य, सस्कृति और मूल्य के निमित्त उनकी विचारधारा सक्रिय हिस्सेदारी करती मिल जाती है। उनके लेखन मे एक ओर तो उन बुनियादी कारणो को स्पष्ट किया गया है जिनसे सकट पैदा होता है, दूसरी ओर उस विकल्प को प्रतिपादित किया गया है जिससे मनुष्य को सकटो मे मुक्ति मिलती है तथा जीवन मे रचनात्मक उत्साह बना रहता है जो किसी भी परिस्थिति मे अनैतिक नही होने देता। परसाई का आलोचनात्मक विवेक सृजनशील है। वे मार्क्सवादी विचारधारा से प्रतिबद्ध है। उन्होंने पूँजीवादी समाज और सस्कृति के विघटनकारी तत्त्वों का विश्लेषण किया है और समाजवादी जीवनमूल्यो की पक्षधरता को स्पष्ट किया है। **परसाई के**

व्यग्य सोद्देश्य है। परसाई ने आधुनिक भारतीय समाज मे बढ़ते हुए वर्ग-वैषम्य के स्तर-दर-स्तर की खोज की है, वे भारत के इतिहास में घुसे हैं, पुरातन-दर्शन, धर्मनीति और आचार मान्यताओं से परिचित है। उन्हे भारतीय मन के ऐतिहासिक विकास की जानकारी है। उन्होंने भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग के सामाजिक सम्बन्धो का विश्लेषण किया है, इसीलिए परसाई आधुनिक समाज के शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो को पकडने मे सफल हुए है।

परसाई ने भारतीय समाज की वर्ग-विसगति को पहचाना है, उसे अपने लेखन मे खोल-खोलकर नगा किया है। खूब उघारा है तथा उसके मर्म-स्थलो पर चोटें की हैं। इस तरह परसाई ने भारत के जीवन-दर्शन की मार्क्सवादी मीमासा की है। उसकी क्षुद्रतापूर्ण असलियत का निर्ममतापूर्वक सामने रख दिया है। माईथालाजी न जिस तत्त्व और गुण को, चरित्र और उसके आचरण को गौरवान्वित किया है और, जिस पर हम बडा गर्व है, परसाई ने अपने इतिहास के तर्क से उस सबको उपहासास्पद बना दिया है। तथा भारतीय जीवन की नूतन सम्भावनाओं के प्रति सावधान भी किया है। ऐसा करते समय परसाई आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान का आधार लेते है, तथा उसको विकृत करने वाले सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक षड्यन्त्रों पर आक्रमण करते है।

परसाई के लेखन के केन्द्र मे राजनीति-तत्त्व है, राजनीति-दृष्टि है जो आधुनिक युग मे मनुष्य और समाज की नियति को निर्धारित करती है। परसाई इस राजनीति के प्रति सजग हैं, इसके प्रति बेखबरी मे ही अनेक प्रकार के छल, फरेब पैदा होते है, और समाज मे विसगति का भाव पैदा होता है। उनके व्यग्य राजनीतिक विचारधारा से प्रेरित है। उनके व्यग्य का जन्म ही मनुष्य की रचनात्मक पक्षधरता से होता है। परसाई मनुष्यता के प्रति किये जाने वाले हर षड्यन्त्र के विरुद्ध दिखाई पडते हैं। परसाई अपन लेखन मे उस सिस्टम या व्यवस्था को बदलना चाहते है, जिसमें मनुष्य अर्थहीन हो चुका है। इस प्रकार परसाई व्यक्ति की नियति और अस्मिता क लेखक नही है, वे तो सामाजिक जीवन की विडम्बनाओं के विश्लेषक है।

परसाई के लेखन म प्रेमचन्द की तरह विविधता और विस्तार है। लेकिन अन्तर यह है कि प्रेमचन्द ने शोषण के दुष्परिणामो से भावात्मक हल निकाले हैं। परसाई की वर्गदृष्टि परिपक्व है, अत इन्होंने शोषण की व्यवस्था और उसके परिणामो का चित्रण आलोचनात्मक ढग से किया है जो अधिक यथार्थवादी है। प्रेमचन्द ने सामन्तवादी सामाजिक सम्बन्धो की जटिलता को अपनी रचना का विषय बनाया था जबकि परसाई ने मुख्य रूप से पूँजीवादी सामाजिक सम्बन्धो की जटिलता को अपने व्यग्यो मे उतारा है। इस तरह परसाई का लेखन प्रेमचन्द युग के लेखन से आगे की कडी है, प्रेमचन्द को पुनरुत्थानवादी-नवजागरणवादी परिवेश मिला था, परसाई को पूँजीवादी उत्थान और ह्रास का परिवेश मिला है। इसीलिए स्पष्ट दिखाई देता है कि प्रेमचन्द की रचना मे शोषण की, परिपीडन

की राजनीतिक दृष्टि मुखर नही है। सामाजिक, आर्थिक स्थितियों के स्पष्टीकरण मे प्रेमचन्द ने नैतिक, धार्मिक परम्परावादी, रूढिवादी मान्यताओ का ही आधार लिया है। (यद्यपि 'गोदान' के रचनाकाल तक 'कफन' कहानी और 'महाजनी सभ्यता' निबन्ध के लिखते समय तक प्रेमचन्द पुनरुत्थानवाद से बाहर आ गये थे।) जबकि परसाई ने पूँजीवादी व्यवस्था पर व्यग्य करते हुए राजसत्ता के चरित्र को प्राथमिकता दी है। उसमे निहित राजनीति की पकड़ा है। प्रेमचन्द मे पुनरुत्थानवादी नैतिकता के ह्रास का यथार्थवाद है। परसाई मे पूँजीवादी राजनीति के ह्रास का विश्लेषण है।

आजादी के बाद प्रेमचन्द के यथार्थवाद को आचलिक बनाया गया। समूचे देश के जीवन को समेटने वाले यथार्थवाद को अचलधर्मी बना दिया गया। फणीश्वरनाथ रेणु ने लोकोन्मुखी आचलिक रोमाचकता के दृष्टातो की रचना की। रेणु ने भारतीय ग्रामो के आर्थिक और राजनीतिक यथार्थवाद को अप्रमुख बनाया तथा उनकी विशद होती हुई चेतना को खडित कर दिया। रेणु ने ग्रामीण व्यवस्था मे राजनीतिक रोमासवाद को जन्म दिया और तत्त्वत व्यक्तिवाद को पुष्ट किया। रेणु के आचलिक बोध मे आजादी के बाद की अमूर्त उमगो और महत्त्वाकाक्षाओ को सँजोने वाला व्यक्ति है। एक ईमानदार सोशल-डैमाक्रेट है— जो समाज को एक फोटोग्राफर की तरह देखने मे अधिक रुचि रखता है। लेकिन कभी-कभी वह आचलिक दबावो से उत्पन्न सकटो मे शरीक भी होता है। सामयिक समस्याओ के समाधान के निमित्त किये गये सघर्ष मे शामिल होता है, वह उस भीड मे सबसे आगे होता है जो राजसत्ता के निहित उद्देश्य को नही समझता। रेणु और उन जैसे अनेक ईमानदार तथा आदरणीय लेखक और रचनाकार राजसत्ता के विरोध मे अति उत्साह के कारण उस पहलवान की तरह शेर के सामने आते रहे है, जिन्हे मुँह की खानी पडी है। राजसत्ता की राजनीति के अभिप्रायो, उद्देश्यो को समझने के बाद जब तक विचारधारात्मक अनुशासन के तहत सगठन मजबूत नही होगा, हर प्रकार का विरोध असफल रहेगा। भीड की स्वत स्फूर्त भावना को विचारधारात्मक अनुशासन की सगठित चेतना मे बदलने के लिए व्यक्ति और समाज के वर्गीय आधारो को पकडना होगा। रेणु के लेखन मे आचलिकता के जो तत्त्व है, वे वर्ग-दृष्टि के विपरीत गुणवाले है। इसीलिए रेणु ने प्रेमचन्द के यथार्थवाद को अमूर्त कर दिया, विभक्त कर दिया और उसकी समग्रता मे छेद कर दिया। रेणु ने ग्राम्य जीवन के यथार्थवाद को रूपवादी सौष्ठव मे बदल दिया। उनके लेखन मे शब्द 'नपोरशख' की तरह बोलते है। ध्वनियाँ और लय यात्रिक हैं। रेणु ने प्रेमचन्द के समाज मे व्यक्ति को बैठा दिया।

हरिशकर परसाई आजादी के बाद के रूमान से मुक्त है। वे रेणु तथा उन सरीखे लेखको की तरह आजादी की उमगो से गाफिल नही हुए, बल्कि सर्वहारा-बोध के तथा श्रम की सस्कृति के सजग द्रष्टा बन गये। फिर भी परसाई के लेखन मे नगरबोध और मध्यवर्गीय जीवन की अभिव्यक्ति मुख्य रूप से होती है।

रेणु की सर्वग्राही समाजवादी विचारधारा पर परसाई ने समय-समय पर व्यग्यो से आक्रमण किया हैं। 'पहल' (12) के 'दूसरी आजादी का एक साल' लेख मे तथा कथायात्रा (प्रवेशक) में 'तीसरी आजादी का जाँच कमीशन' मे सर्वग्राही समाजवादी आदर्शवाद के विचारो मे निहित प्रतिक्रियावाद और फासीवाद के खतरो को स्पष्ट किया है। जब तक स्वत स्फूर्त और विचारधारा के अन्तर को नही समझा जाएगा तब तक मतभेद, विरोध, विद्रोह, आदोलन और क्रातिकारी चेतना के यथार्थवाद तक नही पहुचा जा सकेगा। परसाई ने अपने व्यग्यो मे स्वत स्फूर्त और विचारधारा के भेद को धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक भूमिका मे प्रस्तुत किया है।

जिस समय हिन्दी-कथा मे मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर का दबदबा था, हिन्दी कथा इस त्रिमूर्ति के चारो ओर घूम रही थी, रचना का कथ्य व्यक्तिबोध तथा अराजनीति-बोध मे सीमित होता जा रहा था, स्त्री-पुरुष के काम-सम्बन्धो मे यथार्थ-परिवेश और क्रान्तिकारी समझ की बहसें हो रही थी, सामाजिक जीवन मे समकालीन और सामयिक अर्थ को तोड-मरोड कर पेश किया जा रहा था, बदलते हुए आर्थिक और राजनीतिक माहौल को योजना-बद्ध ढग से विरूपित किया जा रहा था, उस समय हरिशकर परसाई के लेखन मे वर्ग-सघर्ष की राजनीतिक मुद्रा देखने लायक रही है। आश्चर्य और दुख इस बात का है कि हिन्दी के प्रगतिशील आलोचको ने परसाई के यथार्थ और प्रासगिक प्रश्नो पर कलम क्यो नही उठाई? क्या यह मान लिया जाए कि यथार्थवादी व्यग्य-रचना की विशदता को समझने की कूवत हिन्दी के समीक्षको मे नही थी? या यह माना जाए कि व्यग्य-साहित्य को एकैडेमिक स्तर पर स्वीकार करने की बुद्धि-मत्ता का अभाव रहा है? हिन्दी मे एकैडेमिक मान्यता को जरूरी माना जाता है, इसके बगैर सच्चा लेखक और रचनाकार यथोचित स्थान नही पा सकता, इसके बगैर वह भीड का लेखक बनकर रह जाता है।

लेकिन सातवें दशक के बाद हिन्दी रचना और लेखन मे हर प्रकार के एकैडेमिज्म की धज्जियाँ उड चुकी हैं। अब एकैडेमिज्म के आचार्यत्व का नशा उतर चुका है। सही बात तो यह है कि परसाई के राजनीतिक व्यग्य के यथार्थ की पड-ताल करने से समीक्षको को खतरे उठाने पड सकते थे, वे खतरे जिन्हे मुक्तिबोध ने झेला था। मुक्तिबोध बनकर लिखने और रचने की ललक किसी म नही रही है। सभी तो किसी न किसी खूंटी से बँधे रहे है। सभी ने खालें ओढ ली है। सभी ने झडे हाथो मे थाम लिए हैं। मुक्तिबोध के सघर्ष-पथ पर चलने का दम्भ भी कोई नही कर सका। हरिशकर परसाई मुक्तिबोध के सघर्ष-पथ पर चलते रहे हैं। 'स्वतन्त्रता और न्याय' के सामाजिक सघर्ष मे परसाई के लेखन का महत्त्व कम नही है। 'मुक्तिबोध—एक सस्मरण' लेख मे परसाई ने व्यग्य किया है, "जो प्रगतिवादी आन्दोलन के कन्धे पर चढकर 'नया पथ' म फ्रन्टपेजित भी होते थे, पडित द्वारिका प्रसाद मिश्र की कृष्णायन का धूप-दीप के साथ पाठ करके

फूलने लगे, अब जनसघ राजमाता की जय बोलकर फल रहे हैं।" चूंकि मुक्तिबोध की तरह परसाई के लेखन मे भी 'गहरे अन्तर्द्वन्द्व और तीव्र सामाजिक अनुभूति' है। उन्होंने 'निष्क्रिय ईमानदार और सक्रिय बेईमान के षड्यन्त्र' को समझा है। मुक्तिबोध की तरह परसाई को भी मालूम है कि लेखक यदि स्वतत्रता का पक्षधर है तो फासीवादी ताकतें रूप बदल-बदलकर उस पर चोटें करेंगी, कभी लुकछिपकर, कभी साथी-सगी बनकर और कभी सीधे दुश्मन बनकर सामने आयगी। यहाँ यह कहना प्रासगिक है कि मुक्तिबोध के सस्मरण म परसाई का तमतमाया हुआ बौद्धिक आक्रोश इसी समूची व्यवस्था के विरुद्ध है।

परसाई ने निजी महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति तथा पैसे के लिए नही लिखा, उनका लेखन व्यवसाय धर्मी नही है। वे सुख-भोग और विलासिता के लेखक नही है। समाज को लेखक और उसके लेखन की आवश्यकता क्यो है? कौन-सा लेखन अपने समाज के लिए अनिवार्य होता है? किस प्रकार के लेखन के बगैर समाज अरचनात्मक होकर ठडा पडने लगता है? इन प्रश्नो के बीच मे परसाई के व्यग्यो को देखें तो मालूम होगा कि समाज और व्यवस्था के अन्तर्विरोधो को पकडने तथा विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य से उनका समाधान करने मे कितनी जोखिम उठानी पडती है। परसाई ने अपने हर व्यग्य मे लडाई लडी है। वे व्यक्ति, समाज और समूचे राष्ट्र की भीतरी कक्षाओ मे घुसते है, और गुंथी हुई, उलझी हुई, गांठो भरी व्यवस्था मे विद्रूपो, विसगतियो और विडम्बनाओं को सामने लाते हैं। इस तरह परसाई ने समूची सास्कृतिक अधिरचना को अपने व्यग्य-लेखन का विषय बनाया है।

कभी कभी तो लगता है कि जैसे हरिशकर परसाई एक कुशल डाक्टर की तरह *इतिहास और समाज के बीमार,* जर्जर *शरीर* और *प्राण की* डाइग्नोस करते हैं। परसाई ने आधुनिक भारत के सामन्तवादी पूंजीवादी, सामाजिक व्यवस्था की शल्य क्रिया की है। उसके बीमार दिमाग और भ्रष्ट आचरण की गन्दगी और बदबू को साफ किया है। वे बडे दुलार प्यार से, पुचकारते हुए, मरीज-समाज और व्यवस्था को मुहब्बत-भरी निगाहो से निरवस्त्र करते हुए, आवरण हटाते हुए, दर्द-भरे प्रत्येक घाव को सहलाते हुए, शीघ्रतापूर्वक धारदार औजार चला देते हैं। सडांध निकालकर रख देते हैं और निर्भाव हाथ धोकर सहज हो जाते हैं।

हरिशकर परसाई हिन्दी के प्रगतिशील लेखन से सम्बद्ध रहे हैं। उनका सम्बन्ध एक तरह से ट्रेड यूनियन आदोलन से भी रहा है। और फिर एक मार्क्सवादी ट्रेड-यूनियनिस्ट 'समस्या' और 'घटना' की सामूहिकता को पकडता है। लेखक उस सामूहिकता की समग्रता का प्रतिपादन करता है। परसाई ने अपने लेखन म कथ्य और दृष्टान्तो के सामूहिक तथा समग्र रूपो का उद्घाटन किया है। उनके कथ्य और दृष्टात, सिद्धान्तो को बघारने वाले नही हैं, वे सिर्फ बोलते ही नही है, काम भी करते हैं, काम करने की स्थितियो को स्पष्ट करते है तथा

निहित उद्देश्य तक पहुँचते है। इसीलिए उनके व्यग्यो मे मानवीय आस्था और विश्वास की स्वीकृति है। परसाई ने शोषण की काली ताकतो के मूल-स्रोतो पर चोट की है, उनके मसूबो का पर्दाफाश किया है। आदमी 'कीडा' कब और कैसे बनता है? वह नाचीज बनकर क्यो रह जाता है? परसाई ने शोषण की व्यवस्था मे मनुष्य के अरचनात्मक हो जाने के कष्ट को छेदकर उस पार किया है और इसान की हिपोक्रेमी को उद्घाटित किया है।

परमाई के व्यग्य लेखन का क्षेत्र व्यापक है। उन्होने मानव समाज और सस्कृति की युगयुगीन जटिलताओ को ऐतिहासिक वस्तुवाद के द्वन्द्वात्मक तर्क से खोला है। मनुष्य और जाति के सामूहिक अवचेतन की धारणा ने माइथालाजिकल फन्तासी के द्वारा 'देवता और राक्षस', 'पाप और पुण्य' को प्रतिपादित किया है। किस तरह जादू-टोना, अपार्थिव आत्मा और आकस्मिक चमत्कार के अबौद्धिक उन्माद ने धर्म और नीति के नाम पर मनुष्य समाज के माथ अपराधपूर्ण व्यवहार किया है। रीति-रिवाजा, अन्ध-परम्पराओ ने सामाजिक चिंतन को कितना रूढ और जड बनाया है। पुराकथाओ ने मनुष्य को कीट, पतग जितना क्षुद्र बनाया है। ऐसा क्या हुआ? परसाई ने अपने व्यग्यो मे मनुष्य तथा उसके भौतिक-सामाजिक परिवेश मे गहरे जाकर इसको उसकी सम्पूर्णता मे स्पष्ट किया है। 'आवश्यकता', 'स्वतन्त्रता' और 'न्याय' के अभिन्न योग स समाज निश्चेष्ट नही हो सकता, सघर्ष करना उसका स्वभाव हो जाता है। आवश्यकता की वृद्धि ने उत्पादन-स्रोतो को विकसित किया, स्वतन्त्रता की कामना ने उत्पादन सम्बन्धो मे क्रान्तियाँ की तथा न्याय पाने की इच्छा ने उच्च वशावलियो को धूल चटा दी, चर्च और राज्य की निरकुशता को मिटा दिया। उत्पादन-स्रोतो के विकास का अर्थ ही सामाजिक सम्बन्धो मे परिवर्तन और प्रगति से होता है। इसी अर्थ मे मनुष्य अपने उत्पादन महत्त्व के बल पर इतिहास और समाज को समृद्ध करता है, अपने चिंतन और आचरण को समृद्ध करता है। वह पुरातन प्रारूपा को नये-नये परिधानो मे, नये-नये शिल्पो मे रूपान्तरित करता है।

परमाई ने इस तथ्य को पकडा है कि वह कौन सी शक्ति है और कैसी व्यवस्था है, जो सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए किये गये सघर्ष को रोकती है? तथा मनुष्य और प्रकृति के सघर्ष को व्यक्तिमुख करती है व उसे सामाजिक नही होने देती? यही पर परसाई ने सामतवाद और पूंजीवाद की सास्कृतिक शिक्षा-दीक्षा पर कडे से कडे प्रहार किये हैं।

परमाई की प्रगतिशीलता के आयाम बहुमुखी हैं। वे मानते है कि सास्कृतिक चिन्तन और आचरण के पुराने पैमाने बेकार हो गये है। अब धर्म भी सामन्तवादी गिरजाघरो, मन्दिरो और मस्जिदो से बाहर निकल चुका है। उसमे बदले हुए समाज के अनुरूप काफी परिवर्तन हो गया है। यह बदला हुआ धर्म मनुष्य के द्वारा निर्मित समाज की भौतिक समृद्धि मे बाधा उपस्थित नही करता। वह

आधुनिक युग के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे जगह पाने लायक बने रहने के लिए अपनी ऐतिहासिक विरासत को तेजी से बदल रहा है। वह धीरे-धीरे मनुष्य के जीवन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन के अनुकूल होता जा रहा है। वह जाति-वर्ण और नस्ल के स्थान पर वर्ग-वैषम्य की समस्याओ मे जुडने लगा है तथा वर्गविहीन समाज की ठोस-धारणा को आत्मसात करने मे ही अपने अस्तित्व की रक्षा मानने लगा है। लेकिन इस तरह के विचार के विकास की परिस्थितिया अभी तक खुली नही है। सघर्ष छिड चुका है। धार्मिक समाजो की आँखें भी खुल रही है। अब धर्म अपनी पिछडी हुई सामतवादी विरासत मे मुक्त होकर एक ओर तो विज्ञान-युग के पूँजीवादी षड्यत्रो मे फँस गया है दूसरी ओर समाजवादी मूल्यो मे रुचि रखने लगा है। कही-कही तो वर्ग-सघर्ष मे सहायक भी होने लगा है। उद्योग, विज्ञान और तकनालाजी ने धर्म के रूढ, सकुचित सस्कारो को काट-छाँट दिया है। वह बचे-खुचे सामती-समाजो मे उन्माद-पूर्ण ढग मे अपनी मौत की लडाई लड रहा है। उसका कोई राजनीतिक परिप्रेक्ष्य नही है, वह अपनी सामाजिक सार्थकता से रहित हो चुका है, लडाई सडको पर आ चुकी है। अत स्पष्ट है कि दुनिया के किसी भी हिस्से मे जहाँ भौतिक समृद्धि के वैज्ञानिक साधनो का विकास हो रहा है, वहाँ धर्म अपनी सामतवादी कुडली मे नही रह सकता। पूँजीवादी समाज मे भी धर्म की आभ्यातरिक शक्ति क्षीण और हीन हो चुकी है। वह प्रदर्शन, विज्ञापन और खोखले आरोपण तक सीमित रह गया है। उसकी सामाजिक नैतिकता समाप्त हो चुकी है। अब तो वह शोषण को भी गौरवान्वित करने मे असमर्थ हो गया है। शोषण के प्रतिष्ठापन मे धर्म की भूमिका अर्थहीन हो चुकी है। अब पूँजीवादी जीवन-व्यवस्था मे फासीवादी सैन्य-तत्र का इतना प्रभाव है कि धर्म केवल राजनीतिक स्वार्थों की बलात् पूर्ति का यान्त्रिक ढग बनकर रह गया है। वह मनुष्य के विरुद्ध किये जाने वाले षड्यत्र की एक शैली बन गया है। इसीलिए परसाई के व्यग्यो मे धर्म की ह्रासमान स्थितियो का खुला चित्रण हुआ है। परसाई के व्यग्यो ने यह प्रमाणित कर दिया है कि धर्म बीते युग का सिक्का था, जो खोटा हो गया है। उसकी मूल्यवत्ता समाप्त हो गयी है। क्योकि मध्ययुग तक जो स्थान 'धर्म और ईश्वर' का था, आधुनिक युग मे वैसा ही स्थान 'विज्ञान और मनुष्य' का है। मध्ययुग मे धर्म नीतितत्त्व निर्धारक था, आधुनिक युग मे विज्ञान राजनीति-तत्त्व निर्धारक है। अब जीवन की परिभाषा मे राजनीतिक आवरण प्रमुख हो गया है। अब व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की राजनीति के बाहर कुछ भी नही है। परसाई ने राजनीतिक परिप्रेक्ष्य के द्वारा ही युग-युगीन धर्म की निर्बाध सत्ता की खिल्ली उडाई है, उसे उपहासास्पद बना दिया है।

आधुनिक युग मे सस्कृति का परिचय विविध प्रकार की सस्थाओ, सस्थानो और प्रतिष्ठानों से मिलता है। पूँजीवादी व्यवस्था मे प्रत्येक सस्था, सस्थान और

प्रतिष्ठान स्वायत्त होता है, उसकी अपनी अलग सत्ता होती है। उसकी अपनी वर्गीय स्थिति होती है, वर्गीय कार्यप्रणाली होती है। एक सस्था या सस्थान दूसरी सस्था या सस्थान से सवद्ध नही होना। वह ज्ञान-विज्ञान के अनुशासनो की तरह पृथक् पृथक् होना है। उनमे सोदृश्यता हो सकती है, लेकिन आन्तरिक तारतम्य नही हो सकता। पूँजीवादी व्यवस्था के सास्कृतिक सस्थानों मे भेदोपभेद है श्रेणियां हैं। जिनम पद और पगार के हिसाब से सस्कृति की पहचान होनी है। इसीलिए इन सस्थानो-प्रतिष्ठानो की सस्कृति मे अफसरशाही होती है। रोने मे लेकर हँसन तक की अपनी-अपनी पिच होती है, तर्ज होती है। हर सस्था और प्रतिष्ठान की सास्कृतिक अदाएँ होती हैं। इस तरह के स्वायत्त और आत्मपूर्ण सस्थानों म सस्कृति के चिन्तन और आचरण के केन्द्रीय सूत्र को पकडना सभव नही हो पाता। उसकी समग्रता का आकलन नही किया जा सकता। क्योंकि इसमे इतनी यात्रिकता होती है कि पूर्वापर सबधो म ताल-मेल नही बिठाया जा सकता।

हरिशकर परसाई की व्यग्य-सस्कृति मे उस सस्थानगत सस्कृति के प्रदूषण का सजीव चित्रण हुआ है। उनके अधिकाश व्यग्यो मे आधुनिकता-बोध के सकट को स्पष्ट किया गया है। परसाई ने पूँजीवादी व्यवस्था के आध्यात्मिक सकट को एक जोकर की तरह, एक कार्टूनिस्ट की तरह व्यक्त किया है। हँसते-हँसत दर्द के मूल को छू लेने और पकड लेने मे परसाई अकेले हैं। हद से गुजरे हुए दर्द की दवा परसाई के पास है। उन्होंने अपने व्यग्यो मे पूँजीवादी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्रियाकलापो की आलोचनात्मक पडताल की है। परसाई को मालूम है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे सस्कृति, कार्यालयो मे यत्र की तरह स्वचालित है और समाज से आत्मनिर्वासित है। परसाई को मालूम है कि सस्कृति की राजनीतिक लाबी है और हर राजनीतिक लाबी के विशिष्ट सदस्य हैं, उनके अपने हित है। और आज तो इस कार्यालयीन सस्थागत, प्रतिष्ठानगत सस्कृति मे भी वर्ग-वैषम्य पैदा हो गया है। कुछ सस्थानो का अन्तर्राष्ट्रीय सास्कृतिक सस्थानो से सहकार है। कभी-कभी तो विदेशी सस्थाना की प्रभाव छाया मे हमारे देशी सस्थान अपनी औकात से बाहर आ जाते हैं, भारतीय जनता के विरुद्ध हो जाते हैं।

परसाई ने 'कबिरा खडा बजार म', 'सुनो भाई साधो' तथा 'आदम' के नाम से सास्कृतिक शोषण की षड्यत्रकारी नीतियों का पर्दाफाश किया है। पूँजीवादी राष्ट्रो की राजनीति के मूल मन्तव्या को तथा आर्थिक साम्राज्यवाद क मसूबो को स्पष्ट किया है। मनुष्य को गुलाम बनाने के छल की सस्कृति को परसाई ने बडी दिलचस्पी के साथ स्पष्ट किया है। इस तरह परसाई ने सस्कृति के तहखाना को खोला है और बन्द किया है। ऐसा करते समय परसाई जनता को भूलते नहीं हैं, सबोधन किसी को भी क्यों न हो, उद्देश्य मे जनता रहती है। यद्यपि, परसाई ने पूँजीवादी व्यवस्था मे आत्म निर्वासित भीड जैसी जनता की भी भरपूर हँसी उडाई है, लेकिन ऐसा करते समय वे विचारधारा से अनुशासित

सगठन की आवश्यकता को ध्यान मे रखते है, जिससे क्रान्तिकारी परिवर्तन आ सकता है। परसाई इस तथ्य को जानते हैं कि भीड "दिल वाली होती है, दिमाग वाली नही।" भीड मे उन्माद होता है, वह अराजक होती है, उसमे आवेग भी होता है, और उदासीन भी रह सकती है। भीड के अपने बुद्धिजीवी होते हैं, नेता होते हैं तथा उसकी अपनी राजनीति होती है। परसाई ने अपने व्यग्यो मे विशिष्ट सस्थान को, प्रतिष्ठित व्यक्ति और वर्ग को तथा जनता को हमेशा आमने-सामने रखा है। तीनो मे कन्फ्रन्टेशन बनाये रखा है।

परसाई यथार्थवादी व्यग्यकार है। यथार्थवाद मे फन्तासी की कितनी कलात्मक, प्रभावपूर्ण और आकर्षक सृष्टि हो सकती है, इसके लिए मुक्तिबोध और परसाई के लेखन का उदाहरण दिया जा सकता है। 'रानी नागफनी की कहानी' के यथार्थवाद को समझने वाले कितने लोग हैं? वह आधुनिक भारत की प्रजातान्त्रिक राजसत्ता और समाज-व्यवस्था के चरम पतन की व्यग्य-कथा फन्तासी है। इस रचना ने समूचे देश की लोकतन्त्री नियति पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। क्योकि हमारे प्रजातत्र मे रजवाडो-जमीदारो और नौकरशाहो के हित सर्वोपरि हैं। फलस्वरूप शेष समाज भ्रष्ट हो गया है। राजसत्ता मे अपराधबोध पैदा हो गया है। इस व्यग्य-कथा-फन्तासी मे यह स्पष्ट किया गया है कि सामाजिक निष्ठाओ से विहीन व्यक्ति के जीवन मे डार्विन की शक्तिमत्ता का उन्माद तथा फ्रायडियन रति-पीडा पैदा हो जाती है। व्यक्तिवादी तिकडम-परस्त मक्कारी का वातावरण हो जाता है।

वर्ग विभक्त समाज की यह विडम्बना है कि मनुष्य निजी स्तर को प्राथमिकता देने लगता है और तरह-तरह के मुखौटो मे जीना जो बाध्य होना है, वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए काइयाँ हो जाता है। और हर तरह की प्रतिबद्धता को तोडने मे जुट जाता है। वह प्रतिज्ञाविहीन व्यक्ति बनकर रह जाता है। 'नागफनी की कहानी' मे यह भी स्पष्ट किया गया है कि शत्रुतापूर्ण अन्तर्विरोधो के दीर्घकाल तक बने रहने से उनके समाधान की यथार्थ दृष्टि क्षीण हो जाती है, फलस्वरूप समकालीन अनिवार्यताएँ अर्थहीन होने लगती हैं, जीवन-तत्त्व क्षीण होने लगता है और विसगति को गौरवान्वित किया जाने लगता है। प्रस्तुत रचना मे विडम्बनापूर्ण जीवन की सारी पोल-पट्टी खुल जाती है, नकाब उतर जाते है, स्तरहीनता प्रकट होने लगती है। व्यवस्था विनौने रूप मे दिखाई पडने लगती है जिसमे उचक्को, लफगो की बन आती है। इस उपन्यास मे भारतीय प्रजातत्र के गर्भपात का चित्रण हुआ है। क्योकि इसके जन्म से ही रजवाडो और सामन्तो, भ्रष्ट नेताओ और कर्मचारियो ने हस्तक्षेप करके इसके लोकतान्त्रिक सारतत्त्व को पूरे अगो के साथ बाहर आने का अवसर ही नहीं दिया।

परसाई के व्यग्यो मे आधुनिक जीवन की विडम्बनाओ को स्पष्ट करनेवाली मिथक योजनाए और फन्तासियाँ भी मिलती हैं। परसाई ने मिथक और को स्वच्छन्दतावादी व्यक्तिवादी की मनोगत धारणाओ से मुक्त किया है

सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आधार प्रदान किया है। इस प्रकार मिथ और फतासी को प्रासगिक बनाया है। गद्य के मिथ और गद्य की फतासी कविता की अपेक्षा अधिक मूर्त होती हैं उनमे वास्तव की जटिलताएँ सग्रथित होती है। परसाई की रचना मे वास्तव के तर्क का आधार रहता है, चूँकि परसाई का यथार्थवाद द्वन्द्वात्मक है इसीलिए वे उसकी सृजनशील सभावनाओ को उद्घाटित कर सके है।

परसाई ने कहा है "व्यक्ति तथा समाज के जीवन की भीतरी तहो मे जाकर विसगति खोजना, उन्हे अर्थ देना तथा उसे सशक्त विरोधाभास मे पृथक् करके जीवन स साक्षात्कार कराना दूसरी बात है—जीवन की कमजोरियो का निदान कराना कठोर होना नही है—जीवन के प्रति कमिन्ड होना है।—अपने बाहर निकलकर सबम मिल जाने से व्यक्तित्व और विशिष्टता की हानि नही होती। लाभ ही होता है। मैंने अपने को विस्तार दे दिया है। दुखी और भी है। अन्याय पीडित और भी हैं। अनगिनत शोषित हैं। मैं उनमे से एक हूँ। फिर मरे हाथ मे कलम है, मैं चेतना सम्पन्न हूँ। जो हथियार हाथ म है उसी से लडना है। मैंने तब ढग से इतिहास, समाज राजनीति और सस्कृति का अध्ययन शुरू किया। लेखन को दुनिया से लडन के लिए एक हथियार के रूप म अपनाया। इसी म मैंने अपने व्यक्तित्व की रक्षा का रास्ता देखा। क्योकि मुक्ति अकेले नही होती। अलग स अपना भला नही हो सकता। मनुष्य की छटपटाहट है मुक्ति के लिए, सुख के लिए, न्याय के लिए। पर यह लडाई अकेले नही लडी जा सकती।"

तिरछी रेखाएँ, 'व्यग्य क्यो तथा आत्मकथ्य से—"

परसाई के लेखन की यथार्थवादी मान्यताएँ स्पष्ट है। हिन्दी रचना और समीक्षा म यथार्थवाद सबधी तरह-तरह के भौंडे मत और ऊलजलूल विचार मिलते है। हिन्दी के अधिकाश रचनाकार और समीक्षक आज भी प्रकृतिवाद और अन्तश्चेतनामूलक यथार्थवाद से भ्रमित है। वह इनके स्रोतो को, इनकी शैलिया को ठीक से समझ नही पाते। व यथार्थवाद को भी स्वत स्फूर्त बना देते हैं तथा मात्र इन्द्रियानुभव के आधार पर ग्रहण करते हैं। हिन्दी मे कुछ ऊँची कुर्सी वाल है जिन्होन दुनिया भर के उद्धरणो को इकट्ठा करके अपना पाठ्यपुस्तकीय यथार्थवाद बना लिया है। कुछ लोग हैं जो फोटोग्राफिक चित्रो यथातथ्य वर्णना तथा निजी जीवन की अडरग्राउड, बैकग्राउड लाइफ की बौद्धिक व्याख्याओं का यथार्थवाद कहते हैं। हिन्दी म यथार्थवाद सबधी मान्यताएँ यात्रिक अधिक है लकिन यथार्थवाद के द्वन्द्वात्मक परिप्रेक्ष्य की समझ के बगैर जीवन के गुणात्मक वजन को महत्त्व नही मिल सकेगा। रचना के सवेदन-व्यापार म जीवन की सभावनाये रहती हैं। यदि यथार्थवाद को द्वन्द्वात्मक न रहने दिया जाये तो समस्त सभावनाएँ यूतोपिया बनकर रह जायेंगी। फँसी बनकर रह जायेंगी।

रचना अपने ऐतिहासिक द्वन्द्वो के क्षीण हो जाने से जीवन की मुख्य धारा

से कटने लगती है। वह किसी घटना या परिस्थिति के सामयिक और क्षणिक अभिप्राय तक सीमित रह जाती है। इसके अलावा स्थान-स्थिति और परिस्थिति-परिवेश के दबाव तथा सापेक्षिक सबधो के ज्ञापन और प्रदर्शन से ही यथार्थवाद नही बन जाता है। घटना या फैनामिना को, उसके प्रभाव को, मूल कारण से अलग करके, उसके घटित होने या उपस्थिता होने की ऐतिहासिक परिस्थितियो से अलग करके तथा उसकी अनिवार्यताओ और आकस्मिकताओ को समझे बगैर —कुछ लोग है, जो यथार्थवाद मे विश्वास करते हैं। यथार्थवाद यदि सृजनशील है तो उसमे सभावना विकल्प का ठोस और मूर्त आधार भी होगा।

परसाई के रचना सवेदन मे उपस्थित होने वाली वस्तु अपने ऐतिहासिक परिवेश मे विकसती है। अपनी मूलभूत विशेषताओ और चारित्रिक गुणो को निरन्तर समृद्ध करती है। इसीलिए उनकी प्रत्येक व्यग्य-रचना मे गहरा सघर्ष होता है। इसी सघर्ष म परसाई ने अपने कथ्य-विचार की रक्षा के लिए तमाम तरह की विसगतियो को उठाया और पटका है। वे कथ्य-विचार की सम-विषम भूमियो तक पहुँचते हैं, उसे विशद् बनाते हैं और तब सभावनाओ को खोजते हुए अपना हल या निष्कर्ष देते है। यह निष्कर्ष कभी अप्रत्यक्ष और साकेतिक होता है, तो कभी एकदम प्रत्यक्ष होता है। लेकिन इतना गूढ नही होता कि ऐम्बीग्युटी पैदा हो जाये। परसाई कथ्य-विचार को रूप देते समय सजग रहते है। उन्होंने हिन्दी के अन्य कथाकारो, नाटककारो की तरह रूप-रचना मे लापरवाही नही की है क्योकि रूप रचना भी सृजन अभिप्राय से बाहर नही होती। रूप-समृद्धि मे मूलमन्तव्य खिले हुए पुष्प की तरह होता है। इसीलिए तो शब्द शब्द मे, वाक्य-वाक्य मे वैचारिक गति का उतार-चढाव दिखाई देता है। परसाई की रूप-रचना मे अवरोध और व्यवधान तो पैदा ही नही होता, क्योकि उनका परिप्रेक्ष्य स्पष्ट है, उनका अभिप्राय साफ है तथा उनकी पकड द्वन्द्वात्मक है। वे अपने व्यग्या मे आसपास की तमाम स्थितियो को समेटते हुए, उन्हें निर्देशित करते हुए अपने मूल विचार को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा देते हैं।

इतिहास-बोध और राजनीति दृष्टि ने परसाई के यथार्थवाद को न केवल प्रासगिक और अनिवार्य बनाया है बल्कि समूचे जीवन की खुली सच्चाई का दस्तावेज बना दिया है। मार्क्सवादी दिमाग की ताकत से जो परिचित है वह परसाई के व्यग्यो मे निहित सास्कृतिक मूल्यो की वास्तविक परख कर सकता है। मूल्य के धरातल पर व कितने निर्मम हैं, बेरहम हैं, इसे वे लोग नही समझ पायेंगे जो परसाई को हास्य और मनोरजन की दृष्टि से पढते हैं। उनकी निष्पत्तियाँ चट्टानी विश्वासों से भरपूर हैं वैज्ञानिक समाधान से युक्त हैं। इसीलिए उनके व्यग्यो मे मनुष्य के ओछेपन और खोखलेपन की त्रासदी तथा उससे मुक्ति के लिए क्रान्तिकारी विकल्प की प्रतिबद्धता मिलती है। इसके लिए परसाई ने मानव सस्कृति के सम्पूर्ण भौतिक-आत्मिक परिवेश का द्वन्द्वात्मक विश्लेषण किया है।

व्यग्य की विश्व दृष्टि

विश्व-दृष्टि की रचना मनुष्य की प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्धो को स्पष्ट करने वाले युगो और समाजो से नही हो सकती। विश्व-दृष्टि का निर्माण जीवन के एकान्तिक विस्तार से नही हो सकता। अनन्तता और अमरता, क्षणभगुरता और माया के रहस्यात्मक भ्रमो से विश्व-दृष्टि टूटती है, विनष्ट होती है। विश्व दृष्टि की रचना के लिए तो मनुष्य की ऐतिहासिक अवस्थाओ के प्रगतिमान सारतत्त्व को पकडना पडता है। विश्व-दृष्टि के स्रोतो और हेतुओ को समझने के लिए उसके रूप-धात्री अगो का अध्ययन करना होगा। यहाँ माध्यम और शैली की विशेषताओ को देखना होगा। क्योकि शब्द और अर्थ के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध योग मे व्यवधान आते ही रचना-दृष्टि के अमूर्ततावादी आयाम खुलने लगते है। और तब प्रतीको, लक्षणाओ और व्यजनाओ की मुद्रा अन्तर्मुखी होने लगती है, यही से रहस्यवाद का तथा चमत्कार का जादू छाने लगता है। आकस्मिकता प्राधान्य हो उठती है तथा निरपेक्ष अध्यात्म की नीव पडने लगती है। इस रास्ते पर आते ही शब्द और अर्थ के सम्बन्धो मे मनुष्य जीवन के वास्तविक गुणो का विकास-क्रम धूमिल हो उठता है।

शब्द और अर्थ के तन्त्र मे मिथकीय अनियमितताओ और असघटनाओ का जाल बुनने लगता है। यही से वेद, उपनिषद, गीता, योग और तत्रादि की मनोगत प्राकृतिक सम्बन्ध दृष्टि के सूत्र बनने लगते है। व्यक्ति अपने युग और समाज के ऐतिहासिक सम्बन्धो से बाहर होने लगता है, मुक्त होने लगता है—वह भव्य और दिव्य होने लगता है। यह विश्व-दृष्टि नही है। यह तो विश्व दृष्टि की आत्मवादी प्रतिक्रिया है। उसकी अन्तर्मुखी विपरीत अवस्था है। यह विश्व-दृष्टि का विलोम है। यहाँ मनुष्य साख्य का पुरुष बन जाता है लेकिन समाज की इकाई नही रह पाता। मनुष्य के जीवन की सच्चाई क्या इसी तरह शाश्वत होती है ? इतिहास, समाज और मनुष्य को निरपेक्ष बनाने वाली तथा उसे ब्रह्म रूप प्रदान कराने वाली, आत्मा की अमरता का बोध कराने वाली दृष्टि फासीवादी शुद्धतावाद से प्रेरित होती हैं। यहाँ आर्यत्व का प्रकृतिवादी माहात्म्य-बोध होता है, जो मिथक-शैलियो मे धीरे-धीरे विकृत होता हुआ धर्मशास्त्रो, स्मृतियो, पुराणो तथा नीति काव्यो म बिखरता रहा है।

आज, विश्व-दृष्टि की वैज्ञानिकता स्पष्ट है। उसकी रचना मे मनुष्य के ऐतिहासिक, सामाजिक सम्बन्धो के जटिल विकास का योगफल है। इस तरह विश्व-दृष्टि तो एक प्रकार से यथार्थवाद की घन-सश्लिष्ट मानसिकता होती है। कविता और कला मे उसका परावर्तन होता है, रूपान्तरण होता है।

सार्थक व्यग्य की सृष्टि तो इतिहास और समाज की प्रगतिमान यथार्थताओ और वास्तविकताओ के बगैर सम्भव ही नही हो सकती। क्योकि व्यग्य की प्रकृति ही निहित फूहडपन और मूर्खता को सही और साफ करने की होती है। अतः

व्यग्य हर हालत मे यथार्थ और सोद्देश्य होता है, वह उचित का पक्षधर होता है। व्यग्य की रचना ही जीवन के सही अर्थ की पहचान कराने, उसे महत्त्व दिलाने के लिए होती है। व्यग्य कलावादी नही होता।

व्यग्य आधुनिक युग की कला-विधा है, शैली या प्रणाली नही है। व्यग्य का जन्म जीवन मे यथार्थवाद की प्रतिष्ठा के साथ हुआ है। अत स्वभावत वह अयथार्थ के विरुद्ध होता है। इब्सन--शा-मार्क टुयेन आदि ने व्यग्यो के माध्यम से बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धो मे वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ही पुष्ट किया है। सभी व्यग्यकारो ने अपने युग की व्यवस्था और समकालीन राजनीति के गतिरोधो को पकडा है। क्योकि सामतवादी और पूँजीवादी व्यवस्था मे प्रतिक्रियावादी राजनीतिक विषयवस्तु का समाज और सस्कृति के तमाम प्रगतिशील तत्त्वो से अन्तर्विरोध बढने लगता है। व्यग्यकार अमानवीय और मानवद्रोही राजनीति की सूक्ष्मताओ को जानता है। हरिशकर परसाई ने तुर्गनेव, गोर्की तथा अन्य रचनाकारो की व्यग्यविश्व-दृष्टि का उल्लेख किया है। वे व्यग्य रचना के विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य पर सदैव जोर देते हैं। परसाई मानते हैं कि "राजनीति बहुत बडी निर्णायक शक्ति हो गयी है।"

परसाई ने अपने व्यग्यो मे "युग की विसगतियो को गहराई से खोजा है।" "व्यग्य, चेतना मे हलचल पैदा करता है, जीवन मे व्याप्त मिथ्याचार, पाखड, असामजस्य और अन्याय से लडने के लिए तैयार करता है।"·· "व्यग्य मानव सहानुभूति से पैदा होता है। वह मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाना चाहता है।"····"मैं सुधार के लिए नही, बदलने के लिए लिखना चाहता हूँ।" परसाई ने 'व्यग्य क्यो ?' मे अपनी व्यग्य-रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट किया है, प्रकृति, प्रकार और प्रयोजन को स्पष्ट किया है। व्यग्य की रचना-प्रक्रिया जटिल होती है। उसमे वस्तुपक्ष का आत्मिक ग्रहण अन्य कलाओ की तरह नही होता। व्यग्य मे वस्तु की विशेषतायें क्षीण नही होती, बल्कि उसकी गुण स्थितियाँ अधिक सघन और मूर्त हो जाती है। इस तरह व्यग्य की सृष्टि का कारण, उसका विकास तथा उसकी परिणति म व्यग्यकार के व्यक्तित्व के साथ उसका बाह्य परिवेश मुख्य होता है। अत परसाई के व्यग्य खडित और स्खलित व्यक्तित्व तथा अधूरे भौतिक परिवेश की सृष्टि नही है। उनमे अनिवार्यताओ के दबाव और विशदताओ के फैलाव दिखाई देते हैं। परसाई के व्यग्यो की तुलना 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' के टुटपुजिया मसखरेपन से नही की जा सकती। परसाई के व्यग्य व्यवसायी-सिनेमाई नही है। परसाई के व्यग्य वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन मानवीय व्यवस्था से प्रेरित है।

परसाई ने कहा है कि "व्यग्यकार के जीवनबोध, व्यग्यकार की दृष्टि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवेश के प्रति उसकी प्रतिक्रिया, विसगतियो की व्यापकता और उनकी अहमियत, व्यग्य-सकेतो के प्रकार, उनकी प्रभावशीलता, व्यग्यकार की आस्था, विश्वास आदि बातें समझ और मेहनत की माँग

करती है।" (सदाचार का तावीज)

परसाई ने भारतीय समाज की सरचना और जीवन-दृष्टि की ऐतिहासिक स्थितिया को स्पष्ट किया है। विडम्बना तो देखिए कि भारतीय भी अपनी दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक मान्यताओ के द्वारा अपनी सामाजिक विसगतियों को अमूर्त बनाकर गौरवान्वित हुए है। उसमे स्वप्न, फैंसी फैंटेसी तथा भ्रम-अतिरजना अविवेक के हानिकर तत्त्व समा गये है। भौतिक परिवेश के प्रति अपार्थिव उन्माद के कारण असामजस्य, अनुपातहीनता और असतुलन बढता गया है। कही-कही तो पदार्थ की सत्ता का सपूर्ण नकार मिलता है। उसकी नगण्यता और तुच्छता को सिद्ध करने के लिए हमारे देश की प्रतिभा का दुरुपयोग हुआ है। परसाई ने अपने अधिकाश व्यग्यो मे भारतीयो की क्षीण होती हुई शक्ति की फिजूलखर्ची और कृपणता पर कटाक्ष तो किये है, लेकिन यथार्थवादी ढग से नये समीकरण बनाने का प्रयास भी किया है। मात्र विसगति ज्ञापन तो हास्यास्पद बने रहने तक की स्थिति है लेकिन विसगति को दूर करने के रचनात्मक उपक्रमो मे परसाई अधिक गभीर हैं। इसलिए उनकी रचना मे हास्य तत्त्व की स्थितियाँ स्पष्ट है। दूसरी ओर विरोधाभासो को मिटाने के प्रयत्न मे परसाई एक त्रासदी रचनाकार की तरह भी दिखायी देते है। वे कहते है, "अच्छे व्यग्य मे करुणा की अन्तर्धारा होती है। वह अधिक सच्चा, मानवीय और न्यायी बनाता है।"

परसाई का व्यग्य, विश्व-दृष्टि का सर्वाधिक सशक्त पहलू है राजनीति—क्या राजनीतिक परिप्रेक्ष्य से रहित व्यग्य-रचना प्राणवान, प्रासगिक और अनिवार्य हो सकती है? आज राजनीति मे समूची मान्यताये, परम्परायें, आस्थायें अपनी-अपनी उपयोगिता और सार्थकता सिद्ध कर रही है। हमारी युग-युगीन जीवन-दृष्टि भी आज की राजनीतिक गतिविधि मे अपनी सभावनाओं को परखने लगी है। आज सस्कृति का राजनीतीकरण हो रहा है। इसलिए परसाई ने विचारधारात्मक अनुशासन की राजनीति के सबल तर्कों से मिथ्याचारी सास्कृतिक आचरण और चिन्तन के विरुद्ध यथार्थवादी विकल्प को सामने रखा है। उसके प्रति प्रतिबद्ध हुए हैं यही उनकी मार्क्सवादी विश्व-दृष्टि है।

आधुनिक रचना के इतिहास-दर्शन पर टिप्पणियाँ

परसाई ने आधुनिक लेखन की समस्याओ पर विचार किया है। लेखक की स्थिति और उसकी नियति से लेकर उसके कर्म कर्त्तव्य, सहकार-सरोकार तथा लेखकीय अभिप्राय और उद्देश्य पर लिखा है। जब सस्कृति मे विसगति है तो लेखन मे सामजस्य नही हो सकता और फिर आज तो विदेशी विचारो की मिलावट ने लेखन मे प्रदूषण पैदा कर दिया है, फलस्वरूप बडे-बडे लेखको की हैसियत और औकात पर छीटाकशी की जाने लगी है। हिल्ले-रोजी के चक्कर से वास्तविक लेखन मे गिरावट आयी है। लेखक स्वतन्त्र नही रह गया है। तहखानो

मे बंद होते हुए भी स्वतनता का बोध करने लगा है। परसाई ने लेखक और लेखन के सदर्भ मे स्वतनता और न्याय की बात उठाई है, इसके लिए उन्होने व्यग्यो की रचना की है और स्वय अपने लेखन मे सघर्ष किया है। वे अपनी व्यग्य-रचनाओ मे कही-कही एक कार्यकर्ता की तरह उपस्थित होकर निर्देश देते है।

परसाई ने पुनरुत्थानवादी मूल्यो और आधुनिकताबोध की ऐतिहासिक, सामाजिक सकीर्णताओ को स्पष्ट किया है और जोर देकर कहा है कि विज्ञान, तकनालाजी के युग मे व्यक्तिवादी आत्मपरकता मृतप्राय है। पुनरुत्थानवादी हमेशा ही इतिहास को पीछे ढकेलते है। आधुनिकतावादी उसे व्यक्ति और जाति के अहकार की अवचेतनीय अवस्थाओ मे अमूर्त बना देते है। अत इतिहास की गतिमान सभावनाओ को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा ही उकेरा जा सकता है। परसाई ने इस दृष्टि से अपने लेखन मे वैज्ञानिक और भौतिकवादी नजरिये के सास्कृतिक सघर्ष को बढावा दिया है। वे अपने लेखन मे समाजवादी जीवन-मूल्यो की रचना के लिए प्रतिबद्ध रहे है। लोकतत्र और धर्म-निरपेक्षता तो विज्ञान और तकनालाजी के सामाजिक सस्कार की शर्त है। परसाई का समूचा व्यग्य-लेखन इतिहास के सदर्भ मे भारत की सास्कृतिक क्रान्ति का प्रतीक है। उसमे मनुष्य और समाज के अस्तित्व की चिन्ता का वैज्ञानिक समाधान खोजा गया है। उसमे जीवन के रचनाशील तत्त्वो को सघटित किया गया है। उनके व्यग्यो मे जो विचारधारात्मक सघर्ष है उसमे आधुनिक भारत की सास्कृतिक क्रान्ति को दिशा और दृष्टि मिली है।

आजादी के बाद भारत मे सोशल-डैमोक्रेट्स की सस्कृति का विकास हुआ है। इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था की सस्कृति कहा जा सकता है। इसमे व्यक्ति के गौरव की रक्षा के लिए समाज के परिवेशगत यथार्थ की सच्चाई को पीछे धकेल दिया गया है। इसमे मुनाफा और उसके विरोध की वैज्ञानिक दृष्टि को भ्रमित किया गया है। इसमे मध्यवर्ग की वैयक्तिक महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति के अवसरो को स्थान मिला है। इसके अपने बुद्धिजीवी है, अपना आम आदमी है। इसने वर्ण और वर्ग को भ्रमित किया है, धर्म और विज्ञान को भ्रमित किया गया है। उत्पादक और उपभोक्ता को तथा शोषक पूजीपति और शोषित मजदूर के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सम्बन्धो को अमूर्त बनाया है। परसाई ने सोशल-डैमोक्रेट्स की सस्कृति पर चोटें की है। कुलीन वर्ग के कारनामो का कच्चा चिट्ठा पेश किया है। 'काग्रेसी समाजवादी', 'लोहियावादी समाजवादी' तथा 'प्रजावादी समाजवादी' पर व्यग्य लिखे है। परसाई ने माना है कि इन सोशल-डैमोक्रेट्स की सस्कृति मे हिन्दी लेखन में लफ्फाजी को महत्त्व मिल गया और अतिशय आवेग और बनावटी तेवर सही अभिव्यक्ति को ढकने लगे, जिसमे लेखन मे भी बड़बोलापन बढ़ता चला गया।

हिन्दी लेखन मे सास्कृतिक सघर्ष की ऐतिहासिक अनिवार्यता तथा

जनवादी चरित्र को गलत दिशा मे मोडने का कार्य इन सोशल-डैमाक्रेट्स ने किया है। परसाई ने आधुनिक हिन्दी लेखन की सामाजिक चेतना मे पाये जाने वाले जनवादी-सघर्ष को गति दी है। 'मुक्ति बोध एक सस्मरण' मे परसाई ने आधुनिक रचनाकार और व्यवस्था के प्रश्न को उठाया है। 'लेखक सरक्षण, समर्थन और असहमति' मे लेखन की यथार्थ परिस्थितियो को स्पष्ट किया है। उन्होने कहा है, "क्रान्तिकारिता की बात करने वाले बुद्धिजीवी अक्सर बुर्जुआ के एजेन्ट होते है। वे सामाजिक क्रान्ति की तर्कपूर्ण, योजनाबद्ध और यथाविधि प्रक्रिया मे अडगा डालते हैं। भारतीय बुद्धिजीवी और लेखक को, रचनात्मक ईमान तथा जन-आदोलन मे सहभागिता के साथ इन प्रश्नो पर गभीरता से विचार करना चाहिए। कभी-कभी एकेडैमिक अन्दाज मे कुछ कह देने से कुछ नही होगा।"

परसाई ने ऐतिहासिक वस्तुवाद की बुनियाद पर 'कबीर समारोह क्यो नही ?' लेख लिखा है। इस लेख मे परसाई ने हिन्दी साहित्य के इतिहास दर्शन मे तुलसीदास की समन्वयवादी, मर्यादावादी दृष्टि के स्थान पर कबीर की क्रान्तिकारी लोकदृष्टि को अपनाने का आग्रह किया है। हिन्दी प्रदेश की लोकधर्मी रचना चेतना पर सरहपा, कबीर, निराला और मुक्तिबोध का, कितना प्रभाव है ? इसका वास्तविक मूल्याकन होना चाहिए। वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रतिमानो से साहित्य के इतिहास के नार्म्स को, उसके मोटिव्स को, उसके एटीट्यूड्स को पूरी तरह से नही समझा जा सकता। "मध्ययुग मे सम्प्रदाय-निरपेक्षता और धर्म-निरपेक्षता का आन्दोलन सक्रिय था और लोकव्यापी था।" इस आन्दोलन को अनदेखा नही किया जा सकता। "यह आन्दोलन उच्चवर्ण की शोषण प्रधान धार्मिक, नैतिक परम्पराओ की प्रतिक्रिया के रूप मे था।" इसके पीछे कोई सुनिश्चित भौतिकवादी विचार नही था। "यद्यपि, अकबर ने इस राजनीतिक स्तर पर चलाने का प्रयास किया था।"

काव्यबोध म युग और इतिहास समाहित होता है। परसाई ने 'कबीर समारोह क्यो नही ?' लेख मे तुलसी और अकबर के योगदान का तुलनात्मक मूल्याकन किया है। "अकबर ने सघराज्य की राजनीतिक सरचना पर ध्यान दिया था। क्योकि हिन्दू क्षत्री राजा आपस मे लडते थे।" वे मुसलमानो को भारतीय इतिहास का अग नही मानते थे। अकबर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को राजनीति के स्तर पर स्वीकार किया था, तो कबीर ने अकबर से पहले ही उस एकता को सस्कृति की आँख से देखा था। "कबीर मध्ययुग के ऐसे कवि-व्यक्तित्व थे जिन्होंने अपने समय के सत्य को आरपार देखा था। उन्होने एक फक्कडाना शक्तिशाली भाषा को गढा। वे जीवन के अनुभवों से सीधे जुडे थे। कबीर धर्म-निरपेक्षता के महान प्रतीक थे।" (परसाई, कबीर उत्सव, रायपुर) "तुलसी के मूल्य वैष्णवपथी थे।" उन्होंने हिन्दू-जीवन दर्शन के कल्पित आदर्शो को नीतिबद्ध छदो म ढाल दिया था। परसाई ने इतिहास की गतिमान यथार्थ दृष्टि के आधार पर "हिन्दू काव्य और मुसलमान काव्य की सकीर्ण मूर्खताओं" पर

आपत्ति की है। और तुलसीदास पर खुली बहस के लिए आमन्त्रित किया है। परसाई ने जायसी की अवधी भाषा और हिन्दू नायक तथा मुसलमान खलनायक के प्रश्न को भी उठाया है। वे मानते हैं कि इस बहस से मध्ययुग के इतिहास की द्वन्द्वात्मक वस्तुवादी चेतना को पकड़ा जा सकता है। इस बहस से 'ब्राह्मण', 'ब्राह्मणत्व' और 'ब्राह्मण-संस्कार' की ह्रासमान परिस्थितियाँ स्पष्ट हो जायेंगी तथा छोटी जातियों और उपजातियों का भारत के इतिहास में और संस्कृति में योगदान का भी पता चल जाएगा।

परसाई ने कहा है "तुलसी का अनुभव-क्षेत्र विशाल था। उनका जीवन-चिन्तन गहरा था, लेकिन उनके मान-मूल्य सामंती थे। वे समर्पित भक्त थे।" "उन्होंने सामन्ती राजनीतिक परिवेश में बेनीवोलेन्ट मानर्क के रूप में राम की कल्पना की थी।" यहीं पर परसाई मध्ययुग के अन्तर्विरोध को पकड़ते हैं और कबीर की आवश्यकता को पहचानते हैं। यथास्थिति के विरुद्ध कबीर ने आत्म-संघर्ष किया था। तुलसी ने अन्तर्विरोधों को समन्वित करके रिनामा-मूल्य की रचना की। कबीर ने तुलसी से पहले ही अन्तर्विरोध के यथार्थ का विश्लेषण किया था। वे जानते थे "उच्च वर्ण वाले शोषक ने समाज के बहुसंख्यक शोषितों को ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति से वंचित कर दिया है, उसे अछूत कर दिया है और उसमें हीन सेवायें कराई हैं।" कबीर ने उच्च वर्ण की शोषक मनोवृत्ति पर आक्रमण किया है। इसलिए परसाई ने कहा है, "कबीर के सिवा किसी में युगीन सामाजिक चेतना नहीं थी।" उसने पाखंड को तथा निहित स्वार्थों को समझा था। तिलमिला देने वाली चोट की थी। वह पलीता लेकर कुसंस्कारों को जलाने के लिए घूमा करता था।" इस तरह परसाई ने मध्ययुग से लेकर आधुनिक युग तक की रचना-दृष्टि के ऐतिहासिक-सामाजिक आधार को पकड़ा है और रचना की राजनीति के भीतरी सत्य को उद्घाटित किया है।

हर प्रकार के रचना-संवेदन में राजसत्ता की संस्कृति व्यक्त होती है। जिस रचना में राजसत्ता के ऐतिहासिक चरित्र की जटिलताओं को स्पष्ट करने की जितनी जीवन-शक्ति होती है, वह रचना उतनी ही गतिमान होती है। इतिहास की गतिमानता से ही रचना-संवेदन में वर्तमान के द्वन्द्व और भविष्य की संभावनायें बनी रहती हैं। इसके बगैर रचना या तो ऋचा बनकर रह जायेगी या मंत्रसिद्ध हो जायेगी—वह प्रार्थना बन जायेगी।

व्यंग्य कला—कार्टूनिस्ट जैसी पकड़ और नाटकीयता

यदि नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, संस्मरण, जीवनी और रिपोर्ताज आदि विधाओं को घुला-मिलाकर एकरूप बना दिया जाय तो परसाई के व्यंग्य-कथ्य का विधान बन जायेगा। परसाई अपने व्यंग्यों में एक साथ संवाददाता, पत्रकार, आलोचक, कलाकार और सहृदय पाठक की तरह उपस्थित होते हैं। उनके व्यंग्यों में सूचनायें हैं, वक्तव्य हैं, लेकिन विज्ञापन और फैशन का व्यावसायिक

भोंडापन नही है। परसाई कला और शिल्प के सजग व्यग्यकार नही हैं, वे कथ्य-सजग हैं तथा प्रभावपूर्ण सप्रेक्षण की दृष्टि से अन्यों की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं। परसाई ने जनता के लिए लिखा है। विशिष्ट बुद्धिजीवियों मे अपनी वैयक्तिक श्रेष्ठता की पहचान के लिए नहीं लिखा है। उनके लेखन मे लोक तत्त्व की यथार्थ छवियाँ मिलती है।

भारतीय जीवन मे एक जोकर से मिलती-जुलती आमदी को आत्मसात किये हुए, समूचे युग और इतिहास के आध्यात्मिक सकट को भोगते हुए, परसाई अस्तित्ववादियों की तरह मृत्युबोध का वरण नही करते, निराश और हताश होकर एकात को नही खोजते बल्कि एक सजग कार्टूनिस्ट की तरह सभी तरह के सकटो के कारणो को समझते हुए, उन्हे विश्लेपित करते हुए अपनी पाजिटिव दृष्टि से दम्भ, छल, छद्म, फरेब, कपट, पाखड और मक्कारी पर प्रहार करते हैं। एक व्यग्यकार मे जोकर और कार्टूनिस्ट समाहित होता है। वह जोकर की नियति को जीते हुए कार्टूनिस्ट की तरह उस नियति की निर्माता स्थितियों पर अपनी टिप्पणी करता है। व्यग्यकार के हास्य मे एक जोकर और कार्टूनिस्ट की सोद्देश्य सवेदनशीलता होती है। उसके हास्य की सृष्टि तो जीवन मे गहराई से बैठी हुई और छिपी हुई हिपोक्रेसी की पकड के साथ होती है। और तब व्यग्यकार तमाम प्रकार की अबौद्धिकताओ, वैचित्र्यों और सनक को उपहासास्पद बना पाता है।

परसाई ने "विसगति की अहमियत"को स्वीकार किया है। वह 'जीवन मे किस हद तक महत्त्वपूर्ण होती है, कितनी व्यापक है तथा उसका कितना प्रभाव है।" व्यवस्था के दिवालियेपन और खोखलेपन को गौरवान्वित करने वाली हर चेष्टा और हर शैली को परसाई ने समझा है तथा आलोचनात्मक यथार्थवादी की तरह उघारा है। देश के व्यवस्था-चरित्र पर व्यग्य करते हुए कहा है "ईमान और मात्रा मे चुनाव करना पडे तो हम मात्रा चुन लेते हैं। मात्रा बराबर हो, ईमान भाड मे जाये। इस देश का दुर्भाग्य यह है कि सदियो से यह मात्रा, गति और यति को ठीक रखने मे लगा हुआ है। परिवर्तन का आवेग उठता है तो यह फौरन उसे मात्रा, गति और यति मे बाँध लेता है। रीति तोडना यह जानता ही नही है। आज भी कौम के रहनुमा कहते है, क्रान्ति तो होनी ही चाहिए, पर मात्रा, गति और यति न टूटे।' (ठिठुरा हुआ गणतत्र)

'मजाक' और 'उपहास' के गुण-भेद को समझकर व्यग्य म निहित मनोरजन के कलात्मक स्वरूप को समझा जा सकता है। व्यग्य और हास्य के प्रति परसाई की दृष्टि नकारात्मक नही है। जीवन के नये सृजन के लिए पत्थर जैसी जड व्यवस्था की परतो को तोडना आवश्यक है, लेकिन तोडने के कार्य मे मस्त होने के लिए, मौज लेने के लिए तथा अल्हड बने रहने के लिए, हास्य के खुलेपन की जरूरत होती है। जीवन का अनुभव यदि भरा-पूरा हो तो उसका आनन्द लाभ भी कम नही होगा। परसाई के व्यग्य उनके भरे-पूरे अनुभव की आनन्ददायी वृत्ति को कलात्मक

बनाते है। परसाई ने हिन्दी-व्यग्य की वर्ण-विशेषता पर लिखा है "व्यग्य की प्रतिष्ठा इस बीच साहित्य मे काफी बढी है, वह शूद्र से क्षत्री मान लिया गया है। व्यग्य, साहित्य मे ब्राह्मण बनना भी नही चाहता क्योकि वह कीर्तन करता है।" (वैष्णव की फिसलन)

कुल मिलाकर ब्रेख्त के नाटको की सिचुयेशन्स की बनावट मे जो सघर्ष तत्त्व है, दृष्टातो के उतार-चढाव मे जैसी नाटकीय क्षिप्रता है तथा उत्कर्ष की ओर बढती हुई कथा मे प्रभाव की समग्रता को आच्छादित करने की जैसी यथार्थवादी चेतना है और इन सबके साथ सार्थक सवाद-सृष्टि और उसके कथन की अभिनेयता मे रग-तत्त्व सामजस्य का जितना विशाल अर्थफलक है कुछ वैसा ही विधान परसाई के व्यग्यों का है। इतना अवश्य है कि नाटककार ब्रेख्त मे अद्भुत कन्ट्रोल है, जो नाटक के लिए अनिवार्य होता है, परसाई के व्यग्यो मे खुलापन और विस्तार है जो उत्कृष्ट व्यग्य-कला की विशेषता है। परसाई के व्यग्य निर्वैयक्तिक गुणा से सपन्न है।

पुनरुत्थानवादी और पूंजीवादी व्यवस्था के आतरिक सघर्ष से उत्पन्न नये मुहावरे नई उक्तियां और नई कहावते

कहावतें, लोकोक्तियाँ और मुहावरे अभिव्यजना-सस्कृति के गूढार्थ को व्यजित करने वाले सूक्तकथन हुआ करते हैं। वे परिवर्तनशील होते है। युग और इतिहास के जीवन की नाटकीय छवियो के प्रतीक होते है। हर मुहावरे, हर उक्ति और हर कहावत की रचना सामाजिक—अभिव्यजना—की आवश्यकता के अनुरूप होती है। उसमे चिन्तन और व्यवहार के किसी एक कोण की परिस्थिति सापेक्ष सगठित बोधव्यता रहती है। समाज के जीवन मे कितना लालित्य है, वह कितने रगो वाला है, इसका अदाजा भी मुहावरो, उक्तियो और कहावतो के चलन-प्रचलन और प्रयोग से लग जाता है। ये लोक-प्रचलित छदो की तरह मुखाग्र होती है। इसमे अभिव्यजना और सप्रेषण के तमाम गुण समाहित होते है। इनमे जाति के मिथक-कोष का सारतत्त्व भी रहता है। इनमे फैंटेसी की कलात्मकता होती है, किन्तु ये लक्ष्यप्रेरित होती है। इनमे सुलक्षित कथ्य की सूत्र-गर्भित जीवन-चेतना रहती है। अभिव्यजना मे कितनी विकासमान प्रगतिमान जीवनशक्ति है इसका पता भी पुराने मुहावरो, उक्तियो, कहावतो के मुरझाने और मरने तथा नया के पैदा होन से लगता है। रचनाकार की प्रतिभा के गुण-धर्म भी इनसे स्पष्ट होते हैं।

खडी बोली—हिन्दी मे उक्तियां, कहावतो और मुहावरो का पुरातन भण्डार है। परसाई ने इस भडार की साफ सफाई की है और सडे गले को निकाल फेंका है। उन्होने नये युग की आवश्यकता के अनुरूप खडी बोली की सप्रेषण-क्षमता और अभिव्यजना क्षमता को आगे बढाया है, प्रौढ बनाया है। उनकी हर व्यग्य-रचना मे नये-नये मुहावरो का प्रयोग हुआ है, श्रेष्ठ और कलात्मक **व्यग्य** एक

मुहावरे के रूप में होता है। उदाहरण के लिए कुछ को चुना गया है जैसे—

"नारी मन से खूब प्यार करके भी, ऊपर से निरपेक्ष भाव बनाये रख सकती है, यह छल नही है, उसकी प्रकृति है।"

"बडे दर्द के रहते, छोटा दर्द प्रभावहीन होता है, जब बडा दर्द समाप्त हो जाता है, तब छोटी-सी खरोंच भी पीडा देती है।"

"भीड का हृदय होता है, मस्तिष्क नही।"

"प्रतिष्ठा के बोझ के नीचे सत्य किस कदर चीखता है।"

"दूसरे के मामले में हर चोर मजिस्ट्रेट हो जाता है।"

"कमजोरी नैतिकतावाद की माँ होती है और फिर क्षुद्रता तो हमेशा से ही महत्ता का उपदेश देती आई है।"

"पाप के हाथ मे हमेशा पुण्य की पताका लहराती है।"

"राधा और कृष्ण के यमुना-कुज-मिलन के गीतों से भक्ति-विभोर हो जाने वाले लोग, आदमी के बारे मे कजूस होते है।"

"ठुकराई हुई धूल आँधी की राह देखती रहती है, जब वह सिर पर चढ सके। मोम तो आघात से दबकर रह जाता है, पर पत्थर पर आघात पडने से दरार पड जाती है।"

(तट की खोज)

"कुछ बडे आदमी, जिनकी हैसियत है, इस्पात की नाक लगवा लेते है और चमडे का रग चढवा लेते है।"

"बिगडा रईस और बिगडा घोडा एक तरह के होते है, दोनो बौखला जाते हैं।"

"बनिया मन्दिर मे भगवान का मुकुट बनवा देगा, पर किसी को नक्द एक पैसा भी नही देगा।"

(बुद्धिजीवी की खरीद फरोख्त के बारे मे) "यह शिकायत उस चूहे की तरह है जो रोटी देखकर चूहादानी म फँस गया है। यह शिकायत उस चूहे की भी है जिसे अभी तक चूहादानी नही मिली है, वह तलाश मे है।"

"सड़ा विद्रोह एक रुपये म चार आने किलो के हिसाब से बिक जाता है।"

"मछलियों को दस पैसे का दाना चुगाकर फिर उन्हे जाल मे पकडवा कर किस भाव बेचा जाता है।"

"दानशीलता, सीधापन, भोलापन असल मे एक तरह का इनवेस्टमेन्ट है।"

"इस देश मे सामान्य आदमी के खून का उपयोग फूलो के रग और खुशबू देने के काम आ रहा है।"

'आत्मा बडे लोगो का शौक है'''अध्यात्म भी धधा है।"

"अमरीका हो आने से ईश्वर खुद ही पास सरक आता है और ईश्वर पास सरक आय तो बिजनेस ही बिजनेस हैं।"

"स्वार्थ और परमार्थ ने हाथ मिला लिये हैं—या ईश्वर बिजनेसमैन हो

गया है।"

"धर्म धन्धे से जुड जाए इसी को योग कहते हैं।"

(एक लडकी पाँच दीवाने)

"शुद्ध आत्मा चालाक होती है, उसे कोई धोखा नही दे सकता।"

"जिसकी जितनी मुश्किल से शादी होती है, वह बेचारी उतनी ही बडी माँग भरती है।"

"जो पानी छानकर पीते है, वे आदमी का खून बिना छना पी जाते हैं।"

"जिन्हे पसीना सिर्फ गरमी और भय से आता है, वे श्रम के पसीने से बहुत डरते हैं।"

"प्रश्न पूछना और विचार करना हमारे यहाँ अनुशासन के विरुद्ध माना जाता है।"

"गणतत्र ठिठुरते हुए हाथो की तालियो पर टिका है।"

'पिटे हुए राजनीतिज्ञ के लिए या तो भारत सेवक समाज है, या सर्वोदय।"

(तिरछी रेखायें)

"हमने हर चीज का शील भग हो जाने दिया है, पर शर्म के शील की रक्षा की है।"

"सस्कृति की हड्डी को अब कुत्ते चबाते घूम रहे है।"

"इस देश के बुद्धिजीवी शेर हैं, पर वे सियारो की बारात मे बैंड बजाते हैं।"

"मानवीयता उन पर रम के किक की तरह चढती-उतरती है, उन्हे मानवीयता के फिट आते है।"

"शासन का घूँसा किसी बडी और पुष्ट पीठ पर उठता तो है, पर न जाने किस चमत्कार से बडी पीठ खिसक जाती है और किसी दुर्बल पीठ पर घूँसा पड जाता है।"

"पैसे कम हो तो आदमी परमहस हो जाता है। सच्चा सन्यासी पैसे की तगी का शुभ परिणाम है।"

"सफलता की चाँदनी रात मे चारो तरफ उल्लू बोल रहे हैं।"

"बेइज्जती मे अगर दूसरे को भी शामिल कर लो, तो अपनी आधी इज्जत बच जाती है।"

"मैदान से भाग कर शिविर मे आ बैठने की सुखद मजबूरी का नाम इज्जत है।"

"इज्जतदार ऊँचे झाड की ऊँची टहनी पर दूसरे के बनाये घोसले मे अडे देता है।"

"नशे के मामले मे हम बहुत ऊँचे हैं। दो नशे खास है—हीनता का नशा और उच्चता का नशा, जो बारी-बारी से चढते रहते हैं।"

"महिमाशाली किसी गधे को पकडकर उसकी पीठ पर अपनी महिमा का

व्यंग्य की साहित्यिक हैसियत

क्या कारण है कि उपन्यास, कहानी या कविता की साहित्यिक हैसियत प्रश्नातीत लगती है और जिसे हम 'व्यंग्य लेखन' नाम देते है, उसकी साहित्यिक हैसियत तय करने जैसी जरूरत हम महसूस होती है। यह भी कहा जा सकता है कि हैसियत तो व्यक्ति की, साहित्यकार की होती है, साहित्यिक विधाओं के प्रसग म यह सवाल उठाना ही बेमानी है। मगर तब शायद एक दूसरा ही सवाल उठ खडा होगा और वह यह कि क्या 'व्यंग्य-लेखन' उसी मानी मे और उसी स्तर पर एक स्वत सम्पूर्ण और अपनी एक निश्चित परम्परा रखने वाली साहित्यिक विधा है जिस तरह कि उपन्यास, कहानी और कविता स्वतन्त्र विधाएँ है।

जाहिर है कि अब यहाँ कोरी सिद्धान्त-चर्चा म उलझने की बजाय ठोस उदाहरणो पर से बात करना जरूरी होगा। व्यंग्य-लेखन से हमारा अभिप्राय आखिर क्या है? 'अन्धेर-नगरी' और 'शिवशम्भु का चिट्ठा' को हम हिन्दी के आरम्भिक काल के व्यंग्य-लेखन का ही नही, बल्कि सभी कालो के व्यंग्य-लेखन की उत्कृष्टतम रचनाओ मे गिन सकते हैं। इस पर शायद ही किसी को ऐतराज हो, मगर हम भारतेन्दु को व्यंग्यकार या व्यंग्य लेखक नही कहना चाहगे कवि और नाटककार ही कहगे। इसी तरह हम बाबू शिवप्रसाद गुप्त को भी व्यंग्यकार या व्यंग्य-लेखक शायद नही कहना चाहेंगे उनके चिट्ठो को हम उनकी निबन्धकार या पत्रकार प्रतिभा की ही एक सशक्त अभिव्यक्ति मानेंगे। हालांकि मुझे एसा लगता है कि हम लोग अगर यह जिद पकड ही लें कि व्यंग्य-लेखन एक स्वतन्त्र, अपने आपमे मुकम्मल विधा है जो कि हिन्दी मे पिछले दो-एक दशको मे प्रतिष्ठित हो चुकी है और इसलिए साहित्यिक मूल्याकन के दफ्तर म उसका अलग खाता खुल ही जाना चाहिए तो फिर इस जिद को प्रतिष्ठित करन के लिए इस व्यंग्य-लेखन नामक विधा की जो भी जन्मकुण्डली हमारे विद्वान अध्यापकगण बनायेंगे, उसमे उनका साबका सबसे पहले 'शिवशम्भु' मे ही पडेगा। भारतेन्दु को एक बार व नजरअन्दाज कर भी जाएँ तो भी 'शिवशम्भु' को व उलांघ नही सकेंगे और झख मारकर उन्ह मानना ही पडेगा कि भाई, व्यंग्य-लेखन की परम्परा वहीं म शुरू हो रही है।

यहाँ पर एक रोचक बात सामने आ जाती है। अगर हम यह मान लें कि 'शिवशम्भु का चिट्ठा' से हिन्दी व्यंग्य-लेखन की शुरुआत होती है, तो इसका मत-

लव यह हुआ कि व्यग्य-लेखन वह विधा है, जो अखबार के कालम की कोख मे जन्म लेती है। मगर यही बात निबन्ध के बारे मे भी कही जा सकती है। जग-जाहिर बात है कि अगर 'लन्दन मैगजीन' के सम्पादक को चार्ल्स लैम्ब का दर-वाजा अपने कालम का पेट भरने के लिए खटखटाने की नही सूझती तो निबन्ध विधा के सर्वोच्च कलाकार का जन्म ही नही होता। निबन्ध का जो रिश्ता मासिक पत्रिका से है, वही व्यग्य-लेखन का 'दैनिक' और 'साप्ताहिक' से, और अपने आप मे यह कोई दुर्घटना नही है। मगर जो चीज हमारा ध्यान खीचती है, वह यह है कि इन अस्सी बरसो मे एक फर्क जरूर पड गया है और वह फर्क यह है कि बालमुकुन्द गुप्त तो निबन्ध की स्वतन्त्रता मे अपनी व्यग्य-प्रतिभा का उपयोग कर रहे थे ठीक उसी तरह जिस तरह ड्रायडन या पोप न अग्रेजी कविता का क्षेत्र-विस्तार किया था कि जोनाथन स्विफ्ट और एडीसन ने अग्रेजी गद्य और अग्रेजी निबन्ध की सम्भावनाओ का मार्ग प्रशस्त किया। दूसरे शब्दो मे व्यग्य वहाँ एक विशेषीकृत विधा नही है बल्कि एक पूर्व-स्वीकृत प्रतिष्ठित साहि-त्यिक विधा के अन्तर्गत, उसी की रूपगत विशेषताओ का भरपूर उपयोग करते हुए अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की सामाजिक सार्थकता खोजने का उद्यम है और चूंकि युग विशेष की सामाजिक परिस्थितियो का विशिष्ट दबाव ही साहित्यकार को अपने इस व्यग्यास्त्र का विशेष उपयोग करने की ओर प्रवृत्त करता है। अगर हम यह मान लें कि साहित्यकार के तरकस मे रहनेवाले अनेक अस्त्रो मे से एक अस्त्र व्यग्यास्त्र भी है तो इससे यही नतीजा निकलेगा कि एक विधा के रूप म व्यग्य-लेखन की प्रतिष्ठा स्वय व्यग्यास्त्र की साहित्यिक महिमा और प्रभ-विष्णुता के विरुद्ध जाती है। इसलिए कि, आज तक जिस अस्त्र का उपयोग कवि, उपन्यासकार और निबन्धकार करते रहे है—उसके इस तरह के विशेषीकरण से आखिर ऐसा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है जो पहले नही होता था ? एक सशक्त कविता या उपन्यास मे व्यग्य मानवीय अनुभव के जितने बडे फलक पर और सवेदन के जितने गहरे स्तरो पर रचा हुआ रहता है, क्या एक अखबार के स्तम्भ का 'व्यग्य' उसकी जगह ले सकता है ? निश्चय ही मेरा आशय यहाँ अखबारी कालमो के 'व्यग्य' या व्यग्य-लेखको पर व्यग्य करना नही है उनकी भी जरूरत और उपयोगिता असन्दिग्ध रूप से है और उसे अपनी लोकप्रियता से परे किसी प्रमाणपत्र की भी जरूरत नही है। पर जब हम साहित्यिक हैसियत का सवाल उठाते हैं तो हमे इस अप्रिय तथ्य का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि दुनिया के किसी भी बडे साहित्यकार ने—उस साहित्यकार ने भी जिसकी प्रतिभा मे व्यग्य का तत्त्व या प्रवृत्ति गहनतम स्तर पर क्रिया-शील रही है—वैसे साहित्यकार ने भी, अपनी साहित्यिक कीर्ति और सामाजिक मुक्ति इस तथाकथित व्यग्य-लेखन के बल पर नही, बल्कि उस कृतित्व के बल पर अर्जित की है जिसका ताल्लुक कथा, काव्य तथा निबन्ध सरचनाओ से है। **सर्वा-**तीज का जो क्लासिक है 'डान क्विक्जोट'—कौन कहेगा कि उसमे व्यग्य **शुरू से**

आखिर तक गहरे भिदा हुआ नहीं है ? पर हम उसे व्यग्य-लेखन कैसे कहेंगे ? जोनाथन स्विफ्ट का 'गुलीवर्स ट्रैवल्स' व्यग्य का प्रक्षेपणास्त्र ही है पर उसे भी हम सिर्फ 'सैटायर' कहके नहीं निपटा सकते। वह इतनी अद्भुत और दूरद्रष्टा फैण्टसी है कि उसकी बात करते हुए हम बहुत बड़ी काव्य-सरचनाओ और विचार-कृतियो की ओर ही सकेत कर सकते हैं। यही बात 'एनिमल फार्म' जैसी कृति के लेखक पर भी लागू होगी।

कहा जा सकता है कि आज के जमाने मे जब सभी विधाएँ अपनी धुरी से छिटक गयी है तो साहित्य म ही ऐसे कौन से सुरखाब के पर लगे हुए हैं कि हम विधागत निष्ठाओ स चिपके रहे। जब सभी कुछ पिघल रहा है तो गद्य और पद्य, उपन्यास और कहानी के बीच का विभाजन कहाँ तक टिकेगा ? निश्चय ही इस बात मे दम है और मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि स्वय रचनात्मक साहित्य और पत्रकारिता के बीच जो बडी स्पष्ट-सी विभाजन रेखा हुआ करती थी, उसे भी कुछ ऐसी तेजस्वी प्रतिभाओ ने जगह-जगह पर धुँधला के रख दिया है जो किसी और जमाने मे शायद कवि या कथाकार होते मगर आज सिर्फ पत्रकार हैं, क्योकि उनकी प्रतिभा और अन्तरात्मा तत्काल और प्रत्यासन्न के अभूतपूर्व तकाजो मे इस कदर बिंध गयी है कि उन्हे ईमानदारी से साहित्य की दुनिया और साहित्य की प्रणालियाँ न केवल अपर्याप्त बल्कि कुछ अवास्तविक और पुरुषार्थ-हीन सी लगने लगी है। मगर तब व व्यग्य लेखक भी नहीं कहलाना चाहते, सिर्फ 'रिपोर्टर' कहलाना चाहते है। यह दूसरी बात है कि उनके रिपोर्ताज पढ के नामी-गरामी उपन्यासकार भी एक क्षण के लिए ईर्ष्या से छटपटा उठें।

और हम विधाओ की इस पारस्परिक घुलनशीलता से कहाँ कोई ऐतराज है ? हमारा ऐतराज तो उल्टे यह है कि जिसकी साहित्यिक हैसियत तय करने की बात हो रही है, उस व्यग्य लेखक का अधिकाश इस घुलनशीलता के पक्ष मे नहीं, बल्कि विरोध मे कार्यरत है। सतही तौर पर कहानी या पद्य की तरकीबें अपना लेने स कुछ भी नहीं हासिल होता। उससे न कहानी का भला होता है न कविता का। व्यग्य का होता होगा। पर व्यग्य अपने भले के लिए नहीं लिखा जाता। विधाओ की पारस्परिक घुसपैठ ने आधुनिक युग मे साहित्य की प्रत्येक विधा को प्रभावित किया है तो इसके बहुत अच्छे नतीजे भी निकले हैं। मगर व्यग्य विधा नहीं, विधि और दृष्टि है जिस व्यग्य को कृति के समूचे रचाव मे से अलग प्रदर्शित किया जा सके उसका साहित्यिक मूल्य उतना ही कम हो जा सकता है। क्या हम चेखोव की कहानियो की कल्पना उनके अन्तर्निहित व्यग्य-तत्त्व के बगैर कर सकते हैं ? क्या हम पोप या ड्रायडन की काव्य-कला को उसकी व्यग्यात्मक प्ररणाओ से विच्छिन्न कर सकते है ? नहीं कर सकते। मगर दोनो मे से कोई भी व्यग्य-लेखन नहीं कर रहा था। एक ने कहानी-कला को विकसित किया तो दूसरे ने काव्य कला को। व्यग्य की सर्जनात्मक भूमिका दोनो जगह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है किन्तु वह स्वत चालित व्यग्य नहीं है, कहानी और कविता का अगीभूत व्यग्य

है, कहानी और कविता की रचना-प्रक्रिया म चरितार्थ हा सकने वाली शाद की शक्तिया से एकजान होकर पैदा हुआ व्यग्य है। इसीलिए उसकी मार और धार भी तथाकथित शुद्ध व्यग्य की तुलना म विशेष होगी।

हिन्दी मे एक तो वैसे ही हास्य और व्यग्य की वह रचनात्मक स्फूर्ति और ऊर्जा, जो उपन्यास और कविता की समूचे सरचना के भीतर मे प्रकाशित हो और स्वय उस रचना को प्रभावित याकि प्रेरित कर सके—कम ही दिखाई देती है। तिस पर जितनी जो कुछ प्रतिभा या सम्भावना जुटने की गुजाइश हो, वह भी अपनी असली जमीन छोडके काव्य, कथा या चिन्तन मनन की सश्लिष्ट सरचनाओं के भीतर से प्रकाशित होने की बजाय 'व्यग्य-लखन' नामक एक निराली विधा के रूप मे अपने को स्थापित करने पर तुल जाय तो ऊपर से देखने पर तो इसमे काई हर्ज की बात नही लगेगी, पर जरा गहरे पैठने पर साफ प्रतीत होगा कि ऐसा करके हम अपनी जातीय विपन्नता का ही और अधिक बलपूर्वक उजागर कर रहे हैं। हम एक ओर तो व्यग्य की साहित्यिक हैसियत जहाँ घटित होती है, उन विधाओं मे ही व्यग्य के निरन्तर ह्रास और क्षरण का दृश्य देख रहे हैं और इस स्थिति को चिन्ता का विषय नही मानते। हमे इससे दुख नही होता कि बालमुकुन्द गुप्त और प्रतापनारायण मिश्र ने निबन्ध को हाथ लगाते ही उसे जितना समावेशी और लचीला एक साथ बना डाला था—जैसी जिन्दादिली, जैसे आन्तरिक प्रतिरोध से सयुक्त नये जमाने को पचानेवाली, सम्पूर्ण समाज से एकात्मता स्थापित करने वाली और सम्पूर्ण समाज की आकाक्षाओ और चिन्ताओ को वाणी देने वाली व्यग्यविनोदात्मकता, जो सिर्फ शैली नही, दृष्टि थी, वह क्यो हमारे निबन्ध-साहित्य मे गायब हो गई है। हम यह भी चिन्ता का विषय नही लगता कि हमारे उपन्यासो म हमारे अस्तित्व का वह आयाम क्यो नही उद्घाटित होता जो हमारे जीवन और जातीय चरित्र की परिस्थितियो मे बद्धमूल हास्य और व्यग्य को समाविष्ट कर सकने वाली दृष्टि के लिए सम्भव हो सकना चाहिए। आखिर अभिव्यक्ति और सवेदन के अन्य तत्त्वो की भाँति व्यग्य की साहित्यिक हैसियत भी तो हमारे जातीय अस्तित्व और व्यक्तित्व के दुहरे और अन्योन्याश्रित स्तरो पर ही तो घटित हागी। इसमे सन्देह नही कि कविता मे व्यग्य ने काफी हद तक घुसपैठ करके कविता को व्यक्ति और समाज के नये यथार्थ के साक्षात्कार मे समर्थ बनाया। निराला के 'नये पत्ते' की कविताएँ ही इस तथ्य को उदाहृत करने को काफी होगी। हालाँकि यह प्रश्न फिर भी बचा रहेगा कि क्या निराला के बाद हिन्दी कविता मे व्यग्य की वह काव्य सश्लिष्ट वेधकता और तेजस्विता सचमुच आगे बढी ? दूसरी ओर गद्य मे—जहाँ तक सृजनात्मक गद्य का प्रश्न है, क्या हम निरन्तर अधिकाधिक सश्लिष्टता की तरफ बढने की बजाय अधिकाधिक विश्लिष्टता की तरफ और इसीलिए अपेक्षाकृत विपन्नता की तरफ नही बढते गये हैं ? इस तथ्य के बावजूद कि इस बीच गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियो से व्यग्य-साहित्य खासा धनाढ्य हो चला है। जितनी उत्कृष्ट

रचनाएँ पिछले बीस वर्षों में सामने आयी उतनी शायद पहले कभी नहीं आयी। यह भी एक तथ्य है कि इन्हीं व्यग्यकारों ने अपनी प्रतिभा के उन्मेषकाल में ऐसी रचनाएँ भी दी है जिन्हे सहज ही हिन्दी निबन्ध, यहाँ तक कि, हिन्दी कहानी के इतिहास में भी गौरव का स्थान दिया जा सकता है। मगर देखने में यह आया कि कालान्तर में इनकी व्यग्यात्मक प्रतिभा स्वय का रचना की सश्लिष्टता से तोडकर व्यग्य-लेखन की विविक्त शुद्धता म रूपान्तरित करने लगी। निश्चय ही इसमें एक नये प्रकार के लेखन का रास्ता खुला और वह बेहद लोकप्रिय भी हुआ। मुझे इसम भी सन्देह नही कि किसी औपन्यासिक प्रतिभा और गहरे चिन्तन-कृतित्व के अभाव मे हिन्दी गद्य की जो हालत इस वक्त है, वह इससे बदतर होती यदि हरिशकर परसाई जैसे प्रतिभाशाली व्यग्यकार हमारी भाषा में सक्रिय न हुए होते। यह कम बडी बात नही है कि हिन्दी गद्य मे जो गहरे स्तर पर समाज-सपृक्ति का सस्कार शुरू से ही विद्यमान रहा है, उसे किसी हद तक कायम रखने का काफी कुछ श्रेय परसाई जी जैसे व्यग्यकारो को जायेगा। मगर सवाल यह है कि क्या इस प्रकार की स्व रचनशीलता साहित्य की परम्परा पर वैसा सीधा दबाव डाल सकती है कि उपन्यास और निबध जैसी विधाओं मे काम करनेवाले लोग अपनी विधाओ के कलात्मक स्वभाव और अनुशासन को अक्षुण्ण रखते हुए इस व्यग्यात्मक सवेदना से गहरे मे प्रतिकृत हो सकें और इस तरह व्यग्य को एक अलग से ध्यान आकर्षित करने वाली चीज के बजाय हमारी जीवन-प्रक्रिया और रचना-प्रक्रिया के अविभाज्य अग के रूप मे उसे उसकी सही जगह रख सकें। मुझे ऐसा लगता है कि मानवीय अनुभव और बोध की स्वाभाविक सरचना मे व्यग्य और हास्य एक मूल्यवान् तत्त्व के रूप म निहित है। मैं यह भी मानता हूँ कि जिन सामाजिक और ऐतिहासिक कारणो से यह सरचना विक्षुब्ध होती है, उनके रचनात्मक साक्षात्कार और प्रतिकार के लिए अन्यान्य तत्त्वों के साथ इस तत्त्व की भी सक्रियता अनिवार्य है। ऐसा न होने पर रचना मे इकहरापन आ सकता है। मगर इसी तर्क से यह भी प्रतीत होता है कि इस पूरी सरचना मे अलग छिटककर यदि यह हास्य-व्यग्य की वृत्ति एक स्वयपर्याप्त, स्वयसिद्ध और केन्द्रापसारी गति-विधि अपना लेती है तो इससे एक तो वृत्तियों के रचनात्मक सामजस्य को (जो साहित्य की एक केन्द्रीय प्रेरणा और समस्या रही है, हमेशा,)—उसे कोई बल नही मिलता और दूसरी तरफ साहित्य की जो समाज-सम्पृक्त और क्रान्तिकारी भूमिका है, उसे भी इस विविक्त व्यग्य से वह कुमुक नहीं पहुँच सकती जो कि अन्यान्य वृत्तियो के साथ सरचनात्मक तर्क से सश्लिष्ट व्यग्यात्मकता से पहुँच सकती है।

इस दूसरी बात पर से, हो सकता है, कोई वाल्तेयर का जिक्र उठाए। पर मुझे लगता है कि हमारा जातीय सस्कार फ्रासीसियो जैसा तर्कमूलक कतई नहीं है पहले तो हम 'कान्दीद' जैसी चीज लिख ही नहीं सकते। वैसा तीखापन हममे हो नहीं सकता और अगर व्यग्य को ही मेरुदण्ड और हृदय की धडकन बनाते हुए हम वैसा कुछ करने को हाथ-पाँव मारें भी तो उसमे से जो निकलेगा वह 'राग

दरबारी' के ही आसपास की चीज होगा। मैं यह मान लेने को तैयार हूँ कि 'राग दरबारी' या 'रानी नागफनी की कहानी' जैसी चीजें हिन्दी के अलावा और किसी भारतीय भाषा मे नही लिखी जा सकती। पर मुझे इससे बहुत ज्यादा हर्षित होने की कोई खास वजह नही दिखलाई पडती। ये चीजें उस 'सरचनात्मक व्यग्य' के अभाव की क्षतिपूर्ति नही कर सकती। फिर भी, यह अच्छा ही हुआ कि श्रीलाल शुक्ल ने अपनी व्यग्यात्मक प्रतिभा को व्यग्य-लेखन के मैदान मे दौडाने की बजाय उपन्यास-लेखन के पहाड पर चढाने की जरूरत महसूस की। क्योकि व्यग्य एक धारदार चीज है और उसकी धार बनाए रखने के लिए उसे किसी विधा की चक्करदार सान जरूर ही चाहिए। व्यग्य खुद अपने ऊपर ही घिसता-घूमता रहे तो उसकी गति रुद्ध और भोथरी हो जाने का खतरा रहता है। व्यग्य आदत न बन जाय—पढने और लिखने वाले दोनो की—इसके लिए आवश्यक है कि व्यग्य की शक्ल मे न आये, किसी दूसरे भेष म आये—बल्कि ज्यादे से ज्यादा भिन्न और विपरीत भेष मे आए, ताकि चोट पहले से प्रत्याशित न हो। जिसे मुक्तिबोध 'कण्डीशण्ड रिफ्लेक्स' कहा करते थे—उसके बनने का खतरा सबसे ज्यादा इस 'विविक्त व्यग्य' को ही होना चाहिए। जिस व्यंग्य की आदत पड जाती है, वह व्यग्य नही रह जाता, विनोद बन जाता है। समकालीन दृश्य को देखें तो यह शका महज शकालुता नही लगेगी।

क्या यह अकारण है कि हमारे समर्थतम व्यग्यकार सिर्फ व्यग्यकार बनकर सन्तुष्ट नही हो सके? उन्होंने निबन्ध, उपन्यास, कहानी और नाटक की जटिल-तर पूर्णतर रचनाओ मे अपनी व्यग्यात्मक प्रतिभा की चरितार्थता ढूंढने की कोशिश की है। कोई प्रतिभा किस विधा के सहारे अपनी व्यग्यात्मक ज्ञान-सवदना और जीवनानुभूति से उत्तीर्ण हो सकती है, यह उसके स्वभाव-धर्म के तकाजो पर निर्भर करता है। आज से कोई पन्द्रह बीस साल पहले की बात है जब 'कल्पना' के किसी अक मे मुझे हरिशकर परसाई की एक रचना अकस्मात् पढने को मिली थी। रचना का शीर्षक था 'सफेद बाल'। उन दिनो मुझे निबन्ध की विधा से विशेष लगाव था और हिन्दी-अग्रेजी के अनेक निबधकारो का ताजा पठनानुभव मेरे पास था। मै कभी भूल नही सकता उस अद्भुत रचनात्मक उत्तेजन को जो परसाई जी की उस रचना ने मुझे दिया। उसने जैसे मेरी एक मानसिक और रचनात्मक गुत्थी सुलझा दी। मुझे लगा, हिन्दी निबन्ध के इतिहास मे यह एक विशेष घटना है, मोड है और उस मोड से आगे जो रास्ता झलक रहा है, वही आज के निबन्धकार का रास्ता है। उसके बाद मुझे उनकी कई और रचनाएँ पढने को मिली जिनसे मुझे उनकी प्रतिभा के एक और तत्त्व का परिचय मिला—कथामूलक फैंटेसी के तत्त्व का। उन्हे आत्म-निबध की निर्बन्ध आत्मीयता और कथामूलक फैंटसी की कल्पनाशील दूरी दोनो चाहिए। इस ताने-बाने से उनकी असली रचनात्मकता प्रगट होती मुझे लगती रही। श्रीलाल शुक्ल की रचनाओ मे मुझे एक ऐसी तटस्थ व्यग्य-वृत्ति दिखाई दी जो किसी हिन्दी

लेखक का स्मरण दिलाने की बजाय एडीसोनियन आयरनी का विशिष्ट स्वाद देती जान पड़ती थी। जीवन स्थितियां के साथ सीधे लगाव उलझाव वाली आवेगात्मकता वहाँ नहीं थी। उसकी जगह एक आलोचनात्मक, बौद्धिक क्रिया-शीलता थी। परसाई की बहिर्मुख 'विट' और सर्वाश्लेषी ह्यूमर की जगह यहाँ एक आयरनी थी जो एक विशेष प्रकार की शृंखलाबद्ध रचना की माँग करती है जिसमें चरित्र और स्थितियाँ दोनों उस आयरनी की नोक में बिंधन को ठहरी रहें गति का आभास हो, घटनाक्रम भी हो पर पहले से नियन्त्रित होकर। हम वही और उतना ही देखें जो जितना लेखक दिखाना चाहे। अनुभव पूरी तरह लेखक की व्यंग्यवृत्ति से अनुकूलित होकर हम तक पहुँचे। यह परसाई से एकदम भिन्न प्रकार का व्यंग्य था। यह दो मानसिकताओं का अन्तर था। यहाँ न तो परसाई जी की तरह आत्मनिबन्ध का खुलापन सम्भव था, न फैंटेसी का चीजों को बड़ा या छोटा कर सकने वाला लाघव। चीजें यहाँ सिर्फ तेज रोशनी में उघाड़े जाने के लिए ही दृष्टि के फोकस में लाई जाती थीं। जाहिर था कि ऐसी व्यंग्य-शीलता अपने को चरितार्थ करने के लिए निबन्ध और नाटक के पास नहीं जाती। क्योंकि निबन्ध और नाटक पूरी वैयक्तिकता और पूरी समाज-सम्पृक्ति वसूल करने वाले माध्यम हैं। उपन्यास ही एक ऐसी विधा बचती है जिसमें इस प्रकार की निरासक्त, सर्वज्ञ, और सर्वग्राही व्यंग्यात्मकता किसी हद तक अपने लायक आलम्बन पा और गढ़ सकती है। 'राग दरबारी' का ताना-बाना व्यंग्य ही है और यह उसकी विशेषता और सीमा दोनों बताता है पर फिर भी वह लिखा उपन्यास की ही शर्तों पर गया है व्यंग्य-लेखन उसे नहीं कहा जा सकता। यह जरूर है कि उपन्यास के क्षेत्र में व्यंग्य की चालक शक्ति की सीमाएँ बताने के लिए भी 'राग दरबारी' से बेहतर उदाहरण नहीं मिलेगा। यह कृति जहाँ उपन्यास-लेखन की एकरसता को तोड़ती है, एक नये विन्यास की रचनात्मक सम्भावनाएँ उजागर करती है, वहीं वह उन खतरों का भी स्पष्ट संकेत देती है जो लेखक की व्यंग्यमयी दृष्टि के चरित्र और स्थितियों के स्वतन्त्र प्रवाह पर छा जाने और उन्हें चुम्बक के पड़ोस में घिर आये लौह कणों में तब्दील कर देने में निहित हो सकते हैं। व्यंग्य की साहित्यिक हैसियत का सवाल दरअसल ऐसे कृतित्व के सन्दर्भ में ही उठाया जाना चाहिए, 'व्यंग्य लेखन' जिसे कहा जाता है आम तौर पर, उसके सन्दर्भ में नहीं। और जहाँ तक 'व्यंग्य-लेखन' नाम की चीज की साहित्यिक हैसियत का सवाल है जो लेखक खुद जीवन के हाशिए पर अवस्थित है उसे खुद के साहित्य के केन्द्र में होने की भ्रान्ति हो ही कैसे सकती है?

—रमेशचन्द्र शाह

व्यंग्य की रचनात्मक शर्तें

व्यग्य किसी भी भाषा की जिन्दादिली और जीवन्तता का प्रतीक होता है, मगर हिन्दी मे लोग उसके पहले हमशा हास्य का उपसर्ग लगाने के आदी रहे है और हास्य भी हमारे यहाँ सच्चा और उन्मुक्त नही है, दुर्लभ है। हँसी-मजाक के नाम पर या तो उसमे फूहडता मिलती है या वफूनरी। उसमे या तो 'टाँगखीचवाद' होता है या 'टोपी उछालवाद'। दरअसल यह हास्य नही, हास्यास्पद हो जाता है। व्यग्य को उसका उचित साहित्यिक दर्जा न मिल पाने का कारण एक ओर तो यह धारणा है कि "वह एक नकारात्मक योजना है और पराजय का सूचक है अन अकलात्मक है' और दूसरी ओर यह विश्वास है कि "व्यग्यकार मूलत एक दुखी प्राणी होता है और व्यग्य के पीछे लेखक की व्यक्तिगत हीन ग्रथियाँ काम करती हैं'। यान व्यग्य को रचनात्मक साहित्य की विधा मानने से ही इनकार किया जाता रहा है। सच तो यह है कि समकालीन स्थितियो मे व्यग्य शायद सबसे अधिक पुर असर और सार्थक विधा हो सकती है। आज कम अज कम हिन्दी मे वह जितना प्रचलित है, उतना ही कठिन भी है। हिन्दी मे जो व्यग्य लिखे गये या आमतौर पर लिखे जा रहे हैं, उनम से अधिकाश या तो 'बैठे-ठाले' या 'ताल-बेताल' पाठको के लिए लिखे जा रहे चुटकले हैं या फिर सस्ते मनोरजन की सामग्री।

व्यग्य की रचना मानसिकता की पहचान के लिए उसे हास्य से अलगाने की जरूरत है। हास्य दरअसल सवेदना की वह निर्मलता है जो जिन्दगी के सारे पहलुओ को एक तरल ऊष्मा से स्वीकार करती है। उसमे सोचने का ढग ही विनोदपूर्ण और क्रीडा-भरा होता है। हास्य हमे हमेशा याद दिलाता है कि यह दुनिया पूर्ण नही है, विसगतियो के बीच यदि जीना है तो इन पर हाय-तौबा मचाने की बजाय इन पर हँसिए।

ड्राइडन ने एक दिलचस्प वश वृक्ष के जरिये हास्य को परिभाषित किया है। वह कहता है—"Truth .was founder of the family and father of good sense His son was wit who married mirth and humour was their child" जब तक हास्य मे वाक्चातुर्य, आमोद और सदाशयता नही होगी, तब तक वह न तो सत्य का उद्घाटन कर सकता और न ही जीवन का पर्याय बन सकता। हास्य जब तक अपनी तरल सवेदना मे हास्यास्पद के साथ खुद भी तादात्म्य नही कर लेता, यानें जब तक हँसने वाला खुद पर हँसने का माद्दा

नही रखता तब तक हास्य पूर्णता हासिल नही कर सकता। सच्चा हास्य दर-असल किसी खास व्यक्ति पर नहीं, सारी कायनात पर हँसने-हँसाने का दर्शन है। हम इस बात की पडताल करनी चाहिए कि हास्य के इस धरातल पर, हिन्दी क हास्य-लेखन का कितना हिस्सा खरा उतरता है। मेरी फिलहाल कोशिश चूकि व्यग्य को चालू हास्य को अलगाने की है चुनांचे मैं दोनों के बीच की बारीक विभाजक रेखा को ही रेखाकित करना चाहूँगा।

एक सादृश्य का सहारा लिया जाय तो कहा जा सकता है कि हास्य एक ऐसा दर्पण है जिसमे सारी दुनिया की विरूपताएँ प्रतिबिम्बित होकर हमारा मनोरजन करती है। कभी-कभी उसम खुद हँसने वाले का चेहरा भी उभरता है। लेकिन व्यग्य एक्सरे से खीची गयी वह तस्वीर है जो ऊपर से स्वस्थ और भले-चगे दिखने वाले आदमी और समाज क अन्दरूनी क्षय और कैंसर को उभारती है। व्यग्य की बुनियादी प्रेरणा वह मेधा है जिसमे बौद्धिक तेजी होती है और जो कटाक्ष और श्लेप के जरिए एक तेज नश्तर की शक्ल अख्तियार कर लेती है। व्यग्य, रचनात्मक कल्पना के बिना महज 'बड-बोलापन' होकर रह जाता है और भावना का आवेग और एक मानवीय सहानुभूति खोकर महज निन्दारस हो जाता है। मजा शायद उसम तब भी होता है कि परनिन्दा से बडा सुख और क्या होता है? बहरहाल, हास्य विसगतियो के विनोदमय पहलुओं को उभारता है, व्यग्य अपनी निर्वैयक्तिक और बौद्धिक, आलोचनात्मक और वयस्क प्रज्ञा के जरिए उन पर प्रहार करता है। हास्य मे स्थितियो के प्रति एक लीलाभाव होता है, व्यग्य उनके प्रति परिवर्तन की मानसिकता से उत्तेजित होता है। हास्य की अपील हार्दिक होती है, व्यग्य की बौद्धिक हास्य मे अतिशयोक्ति और अतिरजना के साथ उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता होती है, शायद इसीलिए कई बार शिष्टाचार क स्वीकृत प्रतिमानो को वह रास नही आता। वह मन की एक निर्बंध दशा भी है जबकि व्यग्य अधिक सुनियोजित, केन्द्रित और लक्ष्योन्मुख होता है। एडम स्मिथ ने शायद इसीलिए कहा था—If humour is more biverting than wit, it is only as a duffoon is more diverting than a gentleman

रचनात्मकता के लिहाज से हास्य अधिक स्वच्छन्द ही नही, निस्वतन शिथिल लेखन भी है। वह अपने मनमौजीपन मे, एक तरग (जिसे भग की तरग भी आप कह सकते है) मे वह मौजूद विचित्रताओं, विषमताओ और कमजोरिया पर हँसता है जबकि व्यग्य अधिक अनुशासित रचनात्मकता की वजह से तेज, तल्ख और तुर्श होता है। हास्य मे आपको अक्सर की एक किस्म की गीली भावुकता मिल जायेगी, लेकिन व्यग्य मानसिक और बौद्धिक प्रौढता के बिना लिखा ही नही जा सकता। हास्य के जितने उपकरण है वे अक्सर ही दया और सहानुभूति के पात्र भी होते है। शायद इसीलिए बायरन ने कहा था—If I laugh at any mortal thing it is because I may not weep मनो-

विज्ञान भी इस बात की ताईद करता है। मेक्डूगल कहता है—Laughter saves us not only from depression and grief but from all othar forms of vicarious sympathy as well इसके विपरीत व्यग्य के जितने भी उपकरण होते हैं वे लगभग हमेशा ही हमारे मानवीय प्रतिवाद, प्रतिरोध और प्रहार के पात्र होते है। हास्य मे हास्यास्पद के साथ एक समान धर्मिता हो सकती है, बल्कि होती भी है लेकिन व्यग्य अपने पात्र के साथ एक कलात्मक दूरी बनाये रखता है और उसमे माध्यम का अवरोधक गुण Resistent quality of medium होता है। उसकी यह निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया ही उसकी रचनात्मकता समृद्धि का भी कारण होती है। या हास्य मे भी किसी हद तक 'वैयक्तिकता' का अतिक्रमण होता है, होना चाहिए कि वह किसी खास मूर्ख पर न हँसकर सार्वजनिक मूर्खताओ पर हँसता है, लेकिन व्यग्य न केवल इस वैयक्तिकता का अतिक्रमण करता है बल्कि वह उस सार्वजनिकता के सरलीकरण से भी बचता है और 'विशेष' पर चोट करता है। वह विशेष चारित्रिक विसगतियो को एक वर्गीय प्रतीक बना देता है। इस रास्ते वह कविता की उस objective correlativity पाता है जिसम चीजें स्थितियाँ, घटनाचक्र, उस खास व्यग्य भावना के सकेत मे रूपातरित हो जाती है। इसीलिए आप गौर करें हास्य मे परिहास की कुशलताओ से काम चल सकता है लेकिन व्यग्य म गम्भीर और वयस्क रचना की कलात्मक अपेक्षायें जरूरी होती है। यथार्थ के प्रति हास्य का रवैया एक उदार सहिष्णुता का होता है, किसी हद तक समझौतावादी और उसकी मानसिकता 'सब चलता है-वादी' होती है वह जो है और जो होना चाहिए के बीच की खाई को लगभग ईश्वरीय नियति मानकर स्थितियो की सीमा और कमजोरियो को स्वीकार कर लेता है। वह यथार्थ की अपूर्णता और विषमता को लगभग तय मान लेता है, लेकिन व्यग्य का दृष्टिकोण न केवल यथार्थवादी होता है, उसम बेहतर विकल्प की एक आदर्शवादी और मानवीय चेतना भी होती है। वह दुनिया को जैसी है वैसी ही स्वीकार करके सतुष्ट नही हो जाता, उसकी एक बेहतर तस्वीर उसके जेहन मे होती है। "दुनिया जैसी है, उसमे बेहतर चाहिए। हमे एक बेहतर चाहिए"। चाहे तो आप व्यग्यकार को ऐसा मेहतर भी मान सकते हैं।

हास्य, विनोद और परिहास के जरिए हमे यथार्थ के गम गलत करने और जीने के बहाने देता है। व्यग्य गम को गलत करने की बजाय उसकी बेचैनी को इस हद तक बढाता है कि जागरूक और चेतन होकर हम उसमे तब्दीली के एहसास को जी सकें। जो भी हास्यास्पद और छद्म है, विषम और विसगत है उसके प्रति हास्य म मजाक का भाव होता है, व्यग्य म ऊब और उकताहट की हरारत और हरकत। अपने भावात्मक सरगम और असर के इलाका की वजह से ही शायद हास्य को इस सदी की सास्कृतिक चेष्टाओ मे वह रचनात्मक दर्जा और इज्जत नही मिल पायी। एक वजह इसकी यह भी हो सकती है कि इस

शताब्दी के आम एहसास मे जकडन, उग्रता, तीव्रता और बर्बरता भी है। और शायद यही वजह है कि समकालीन परिदृश्य मे व्यग्य ही सबसे अधिक कारगर हथियार हो सकता है। अपने परिसर, आयाम और अभियोग की व्यापकता की वजह से वह मानवीय नैतिकता के आह्वान का असरदार माध्यम रहा है। शुरू मे ही याने चाहे तो आप आर्कीलोकस से ही शुरू करें, व्यग्य के तीखे और तुर्श प्रहारो के पीछे एक जबर्दस्त नैतिक और मानवीय जिम्मेदारी की भावना सक्रिय रही है। राजनीतिक दमन और नृशसताओ के जमाने मे व्यग्य ही मानवीय प्रतिवाद और सामाजिक प्रतिकार का औजार रहा है। खुद ड्राइडन ने उसे राजनीतिक प्रखरता और अभियोग की तल्खी के साथ एक रचनात्मक पूर्णता दी। स्विफ्ट की निर्भीक और तीखी और तार्किक कल्पना ने उन्हे राजनीतिक व्यग्यकारो का सरताज बनाया। अठारहवी सदी तो मूलत व्यग्य की ही सदी कही जा सकती है। उपन्यास और कहानी ही नही कविता तक उससे अभिभूत रही है। पूरा साहित्यिक परिदृश्य एक विराट व्यग्यकार की प्रतिभा से आच्छादित रहा है वाल्टेयर की प्रतिभा और आयाम का व्यग्यकार जिसने सामाजिक परिवर्तन और सघर्ष के दौरान शब्द की भूमिका का सबूत दिया व्यग्य के स्वतत्र रचनात्मक व्यक्तित्वका भी सबूत है।

यो व्यग्य का यहाँ-वहाँ खोज-बीनकर केन्द्रित किया जा सकता है और शब्द की आत्मा का विचार करें तो पूरा साहित्य ही क्यो समस्त कलायें ही व्यग्य है। लेकिन शब्द की झिल्ली को इस हद तक फैलाने की जरूरत नही है कि वह फट जाय। यह काम प्रयोगवादियो और खासकर अज्ञेय जी का रहा है, उन्हे मुबारक हो। इस अति-व्याप्ति दोष से बचाकर एक स्वतन्त्र विधा के रूप मे व्यग्य की पहचान के लिए जरूरी है व्यग्य के औजारो की पहचान।

व्यग्यकार के अस्त्र होते हैं आयरनी, सरकाज्म, इन्वेक्टिव और विट। उसका इलाका है पूरी व्यवस्था, मूल्य पद्धति और सामाजिक सरचना, उसका माध्यम है किसी विसगति पर रोशनी केन्द्रित करना उसका मकसद है परिवर्तन और क्राति और उसके शिकार आत्मतुष्ट और आत्मनिष्ठ व्यक्ति और समाज।

लेकिन हिन्दी व्यग्य लेखन मे आमतौर पर जिसकी मिकदार सबसे ज्यादा मिलती है वह है महज हास्य—वह भी हल्के स्तर का और सस्ता। इसीलिए वह टुच्चा और जनाना किस्म का होता है। सच्चे व्यग्य की यह खासियत होती है कि वह मूल्यो की आपाधापी और सक्राति का चित्र ही नही देता बल्कि नये मूल्यो की तलाश की छटपटाहट भी उसमे होती है। वह महज नकारात्मक या विद्रोह वाली योजना नही वरन् क्रातिकारी निर्माण चेतना से सम्पन्न लेखन है। वह अनिवार्यत साहित्य और लेखन की सामाजिक प्रतीति और आमलो मे विश्वास करने वाला लेखन होता है। इसमे युग की, उसको जीने भोगने वाले लोगो की आदतो, रुचियो, फैशनो और मूल्य-धारणाओ की एक साफ और प्रामाणिक तस्वीर उभरती है। व्यग्यकार समाज का निन्दक और दोष दिखाने वाला ही

नही उसका सुधारक भी होता है। एडीसन ने कहा था कि वह व्यंग्य जो सिर्फ चोट करना जानता है, *अँधेरे मे छूटे तीर के मानिन्द है । सच्चे व्यंग्य का रुख* व्यक्तिगत आक्षेपो से उठ-हटकर वर्ग और समूह की ओर होता है। वह गहरे नैतिक दायित्व और निस्वतन अधिक ताकतवर और व्यापक सामाजिक भावबोध का लेखन है। उसके प्रतिवाद और इसीलिए असर का इलाका अधिक व्यापक और विस्तृत होना चाहिए। उसकी तकरार अधिक गहरी और तीखी होनी चाहिए क्योंकि वह मानवीय अस्तित्व के आधारभूत सवालो से सीधे टकराता है और अमानवीय या विसंगत स्थितियो का जायजा ले या देकर ही संतुष्ट नही हो जाता, बल्कि उनके कारणों और जिम्मेदार निहित ताकतों की साजिशो को भी उघाडता और नंगा करता है। इसीलिए व्यंग्य अधिक प्रतिबद्ध और पक्षधर किस्म का लेखन है, होना चाहिए।

आर्थिक और सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक पूरी व्यवस्थागत हास्यास्पदताओं, विसंगतियों और छद्मो को खोलन-उघाडने और उन पर भरपूर प्रहार करने के लिहाज से व्यंग्य की विधा काफी कारगर साबित हो सकती है। ग्रीक और रोमन, लैटिन और फ्रेंच, अंग्रेजी और रूसी साहित्य मे व्यंग्य की जो समृद्ध परम्परा है, वह इसी बात का सबूत है। हिन्दी के आरम्भिक काल मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट आदि लेखकों के व्यंग्य भी अपनी समकालीनता और प्रासंगिकता के लिहाज से उल्लेखनीय हैं लेकिन कुछ तो भाषा का चरित्र और कुछ जातीय मानसिकता हमारे व्यंग्य-लेखन की शक्ति और सामर्थ्य, हँसी-मजाक के हल्केपन मे खोती *गयी । हिन्दी म जिसे हास्य-व्यंग्य कहा जाता है, उसके नाम से गोपाल* प्रसाद व्यास, बेढब बनारसी, जी० पी० श्रीवास्तव आदि का जो लेखन मिलता है वह साले-बहनोई, ननद-भावज, सास-बहू, नौकर-चाकर आदि के घेरे मे लगातार सीमित होता गया है।

उसने लेखन की धार को ही गुट्ठल नही किया वरन् व्यंग्य को वक्तरी और विदूपकता तक भी महदूद कर दिया। वे पाठकों को गुदगुदाने और हँसाने के लिए किसम-किसम की उठापटक करते हुए आखिरकार मुँह बिरान को ही अपनी कला-(बाजी) समझने लगे। इसीलिए शायद हिन्दी का औसत व्यंग्य मजमा लगाने वाला व हास्य की तरह छिछला और हास्यास्पद होता गया। सार्थक व्यंग्य केवल मन का एक भाव ही नही है, वह जीवन का एक बौद्धिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण भी होता है। वह जिन्दगी और मूल्यों की यथार्थवादी पहचान होता है। वह प्रहार करता है, दया की भीख नही माँगता। वह क्रान्ति चाहता है, महज सुधार नही।

एक बौद्धिक, आलोचनात्मक और क्रांतिकारी यथार्थवादी दृष्टिकोण वाला व्यंग्य हिन्दी मे केवल और केवल हरिशंकर परसाई - लेखन मे मिलता है। इतिहास और परम्परा मे स्थापित व्यंग्य की रचनात्मक शर्तो को अधिक से

अधिक वही पूरा करता है। समकालीन व्यंग्य-लेखन में परसाई की आवाज सबसे अलग और भारी इसलिए भी है कि उनके लेखन में व्यक्तिगत राग-द्वेषों की अन्तर्क्रिया सबसे कम है। उनका निशाना व्यक्ति नहीं है। उनमें भी नहीं जो सीधे-सीधे व्यक्तियों पर लिखे गये है। वहाँ भी व्यक्ति की विसंगतियों के जरिये अपने वक्त के त्रासद-बोध को ही उजागर किया गया है। मिल्टन ने कहा था—A satyre as it was borne out of a tragedy, so ought to resemble his parentage to strike high and adventure dangerously at the most eminent vices among the greatest persons परसाई के व्यंग्यों में महान व्यक्तियों के प्रभामण्डल और आतंक की जद में आये बिना उनके छद्मों, भ्रमों और मिथ्या मोहों पर वार तो होता है, लेकिन साथ ही उनकी अन्दरूनी त्रासदी भी खासी संवेदनशीलता से उभरती मिलेगी। वहाँ व्यक्ति भी 'प्रतीक' और 'बिम्बों' में रूपांतरित हो जाते हैं। समकालीन 'महानताओं' के टुच्चेपन, मूर्खता और सनकों पर जितनी तीखी चोटें उनकी हैं, उतनी कम-से-कम हिन्दी में तो किसी की नहीं है। यह उसके जाग्रत यथार्थबोध और भेदक विवेक चेतना की भी मिसाल है।

उनके व्यंग्यों में कथात्मकता की जो अन्तर्धारा है, वह न केवल पाठक की दिलचस्पी बनाये रखती है बल्कि व्यंग्य की प्रखर बौद्धिकता में भी उसकी अनायास भागीदारी का आधार बनती है। सबसे बड़ी बात उनके व्यंग्यों में सम्बद्धता का जो स्तर है, वह लेखक को दूर खड़े होकर, नैतिक संदेश और आचार संहिता देने वाले मसीहा के रूप में नहीं बल्कि रोजमर्रा की जिन्दगी में शिरकत करने वाले एक भुक्तभोगी का दर्जा देती है। वहाँ 'संवेदना' और 'सहानुभूति' का नहीं, अनुभव और अनुभूति का यथार्थ होता है।

परसाई का व्यंग्य जितना वेधक और तिलमिला देने वाला होता है, उसमें आम अनुमान यही होता है कि यह आदमी बेहद कठोर और निर्मम होगा, लेकिन असलियत इसके बिल्कुल विपरीत है। वह आदमी औसत से ज्यादा संवेदनशील है जो उसके व्यंग्य ही बताते हैं, शायद इसीलिए आदमी के वजूद पर मँडराते किसी भी संकट के प्रति उसकी चौकन्नी आँख सबसे पहले उठती है और उसकी विकृतियों और हास्यास्पदताओं पर भी सबसे करारी चोट उसी की होती है।

पीड़ित और शोषित के प्रति परसाई की हार्दिक अन्तरानुभूति और चिन्ता में उनके सारे व्यंग्यों में जो पक्षधरता और मानवीय संलग्नता आयी है वही उन्हें हिन्दी में नहीं, लगभग सारी भारतीय भाषाओं के व्यंग्यकारों में विशिष्ट बनाती है। उन्होंने व्यंग्य को सामाजिक और राजनीतिक प्रतिवाद का कारगर हथियार बनाया है और हिन्दी में उसको रचनात्मक लेखन की एक सार्थक विधा की शक्ल दी है। व्यंग्य में एक क्रांतिकारी परिवर्तन की मानसिकता और दृष्टिकोण में लैस उनके व्यंग्य आलोचनात्मक यथार्थवादी लेखन की सबसे प्रामाणिक मिसालें हैं। उनके व्यंग्य हमारे-आपके सोचने और अनुभव करने में एक

बुनियादी परिवर्तन करते है । जहाँ दूसरे लेखक व्यग्य करते-करते किसी हद तक हास्यास्पद और क्लाउनिश हो जाते है, वहाँ परसाई अपनी गहराई और अनेक स्तरीयता नही छोडते । वे पूरी गम्भीरता और विश्वास से चौतरफा वार करते नजर आते है । दूसरे लेखको मे उस विराट सामाजिक-बोध की विरलता होती है जो परसाई की खास विशेषता है। इसकी वजह भी शायद यह है कि परसाई की हद तक राजनीतिक, पक्षधर और प्रतिबद्ध व्यग्यकार हिन्दी मे दूसरा कोई नही है। मगर इधर कुछ दिनो से परसाई ने भी कुछ खास वृत्तो मे ही चक्कर काटना शुरू कर दिया है। उनके एक साथ चार-पाँच व्यग्य पढ लिए जायें तो एक अजीब-सी एकरसता और मैनरिज्म का एहसास होने लगता है ।

—धनंजय वर्मा

व्यंग्य के सौन्दर्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में

व्यग्य एक भावना है जो त्वरित होकर समय और कर्तव्य-कर्म से प्रेरित रहती है, और इसीलिए वह समाज के सडे-गलेपन पर—सडी-गली व्यवस्था पर 'प्रहार और सृजन' के रास्ते अख्तियार करती है। व्यग्यकार का प्रहार और सृजन (विदूपकत्व और हँसाना नही) मनुष्य समाज के क्रातिकारी विचार, सहार और सृजन की द्वन्द्वात्मकता से ही आगे आते है। यह बात विवाद का विषय हो सकती है कि किसी भी व्यग्य-रचना मे प्रहार के सिवाय सृजन का कितना अश रहता है, लेकिन यह विवाद से परे है कि सृजन के लिए किया गया सहार, सृजन का ही अग होता है। इसीलिए व्यग्यकार—जो है, जो स्थापित है उसके उपस्थित और अनुपस्थित अन्तर्विरोधो—की समझ की माँग, उसके लेखन की पहली शर्त हो जाती है। और हम जानते हैं कि समाज के अन्तर्विरोधो की सही पहचान, उनके अन्दर पैठने की दृष्टि और उन्हे उधेडने की पकड और युक्ति, एक क्रातिकारी विचारधारा के स्वीकार और सधान से ही आती है। इसीलिए लेखन का कर्म, अन्तर्विरोधो की पहचान से शुरू होता है और उसका रास्ता भी सीधा उसी दिशा मे जाता है जहाँ व्यग्यकार की बौद्धिक चेतना के साथ मानसिक बनावट तक, उसके निरन्तर क्रान्तिकारी लगाव के कारण मनुष्य की स्वतन्त्रता और मुक्ति मे प्रतिफलित होने के रास्ते अख्तियार करती है।

जैसा कहा गया है कि मनुष्य की आवश्यकताओ को न समझ पाने का अधापन उसकी स्वतन्त्रता की पहचान नही कर सकता। इसीलिए व्यग्यकार समाज की (और विकासमान समाज की) आवश्यकताओ की समझ के लिए अन्तर्विरोधों की जटिल एव गुँथी हुई बारीकियो के छोरा को हासिल करके, उन्हे लेखन मे आमने-सामने की सयोजना से प्रताडित करके, स्वतत्रता और मुक्ति के प्रकाश की धारणा मजबूत करता है और एक सीमा तक उसे आकार देता है, उसे विकसित करने के लिए (सिर आयी जिम्मेदारी के साथ) समाज मे सघर्ष करता है।

हर रचना रचनाकार से (पूर्ण रचना होने के लिए) एक गहरे आवेग की माँग करती है। लेकिन इस आवेग के साथ या इसके समानान्तर व्यग्य की कुछ अपनी निजी स्थितियाँ है। या व्यग्य की अन्तर्वस्तु अपनी अन्त विशिष्टता के कारण, रूपात्मक सयोजना मे, विशिष्ट तत्वो मे जुडकर रूपित होती है—आगे

आकार लेती है और सामने आती है। व्यग्य मे हास्य और समझ (बुद्धि का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप) और फिर कभी क्रोधावेश का वरण किया जाता है। बल्कि यह सब एक तरह की समायोजना न होकर, एक अन्तर्धारा के लिए अपनी आग की अनुकूलता का बहाव और विकास का रास्ता है। जिसमे उपस्थित घाल-मेल या जिनकी वियोजित विकसित स्थितियों मे आकार-प्रकार व्यग्य के रूपो की योजना कर देते है। व्यग्य की अन्तर्वस्तु, अपने विभिन्न इच्छित आत्म-उद्देश्यों के सधान मे, जिस तरह सूक्ष्म, तरल, गहन, सपाट या घमड-उत्तेजना मे अभिव्यक्त होती है, उसी आधार पर व्यग्य रूपो का एक भरा-पूरा परिवार-सा सामने आ जाता है। दूसरे शब्दो मे, व्यग्यकार अपनी रचना प्रक्रिया मे, अपने सामने की वस्तु से, जिस कोण से सवेदित होता है और अपनी अन्त प्रक्रिया मे (मूल अन्तर्वस्तु के आधार पर) उसे जितना और जिस तरह से महत्त्व देता है, उसी ठोस आधार पर, अभिव्यक्ति की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया मे, व्यग्य का एक खास रूप गढ जाता है। एक रूप आकार ले लेता है। लेकिन एक ही वस्तु-लेखक की अपनी धारण क्षमता, अन्तर्लक्ष्य का आवेगित कार्य-व्यापार प्रवाह गहनता के अभाव और सभाव मे, अन्तर्वस्तु के आकारित-वैभिन्य के कारण—अपनी रूपात्मक परिणति मे बदल जाती है। वस्तु की समझ लेखक को लेखकीय परिणतियों तक ले जाती है तो विशिष्ट अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति का रचनात्मक सघर्ष, व्यग्य के विशिष्ट परिवेश और स्थान और काल विशेष की मुद्राओं से गुजरकर, एक रूप-रचना का गवाह बन जाता है। इन भिन्न-भिन्न परिवेशो के बीच, व्यग्यकार का लक्ष्य, केन्द्रीय रूप से अपनी विचार-दिशा के लिए ही होता है और भिन्न भिन्न स्थितियों से पहचानी और उपजायी गयी, भिन्न भिन्न परिणतियां तक जाता है। इसीलिए एक व्यग्यकार अनेक अलग अलग व्यग्य-रूपो मे रचना करते मिल जाता है। लापरवाह या नासमझ व्यग्य लेखक जहाँ हल्के-फुल्केपन, फुदककर फुल-फुलाने मे सुख लेने लगता है (अपनी नासमझी मे नष्ट होता है) वही समझदार और समर्थ व्यग्य लेखक, जिम्मेवारी और जरूरी होकर व्यग्य के निन्दा-विनोद जैसे पतले रूप मे भी, सार्थक व्यग्य रचता है। मतलब यह कि व्यग्य रूप कोई भी हो, अपने कोण और आधार मे कम नही है, कमी तो केवल व्यग्यकार की नासमझी मे होती है। जो विषयवस्तु के चयन और परिणाम की अदृश्यता या कुल मिलाकर उसके अधकचरेपन से पैदा होती है। जहाँ, व्यग्यकार की अपेक्षित सामर्थ्य, व्यग्य-रूपो की अभियोजना उनकी अपनी अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति है, वही व्यग्यकार की असमर्थता अयोग्यता, कुठाग्रस्त अभिव्यक्ति के रूप मे उतरा जाती है।

सहज तौर से व्यग्य की अभिव्यक्ति अलग-अलग (अन्तर्वस्तु की निजता के आधार पर—बौद्धिक योग्यता, सदाशयता, एकनिष्ठ प्रहारात्मकता, हीनता, तिरस्कार विनोद, एकोन्मुखजलन, भर्त्सना या सीधे युद्ध की घोषणा के साथ) सामने आती है। व्यग्यकार समाज के बीच, एक हथियारो से सुसज्जित खड़े हुए

मझदार आदमी के समान है, जिसमे हथियारो के रखने के ढग, देखने का अदाज, ानु पर झपटने का तौर-तरीका, हथियार के हाथ की झपट और झेल, थियार का वजन और उसे पटकने का होश, उसका तेज और बातचीत की तह, ाक्रमण का सीधा और तिरछापन, उसकी चचलता और चालाकी, समय और थान की पहचान, उसके सही और सीधे मतव्य, समझ और चेतना की गहराई, मकी ऊँची बढकर उठती दिशा या गिरते उतार, का ज्ञान करा देते है। सीलिए यह सही है कि व्यग्यकार की मजामारी यह सोद्देश्य उद्दाम आवेग, ुविधा-बचाव के रिश्ते या जग के तरीके हमे गलत भँवर म डालने वाले या सीधे क्ष्य तक पहुँचाये बिना नही रहते।

अभी मैने व्यग्य के भिन्न-भिन्न रूपो की बात की है। मैं चाहूँगा कि व्यग्य के इन रूपो और उनके सम्बन्ध-स्वभाव पर भी कुछ विचार कर लिया जावे। व्यग्य के प्रमुख नौ रूप बनते है। अपनी-अपनी स्वभाव-सच्चाई के कारण, ये नौ रूप, उपरूप, और अनुरूप के तीन वर्गाकारो मे बँट जाते हैं। रूप तीन होते है—तीक्ष्ण-वैदग्ध्य, विडम्बना और व्यग्य। उपरूप भी तीन होते है—उपहास, निन्दा-विनोद और हेयहास। अनुरूप भी तीन होते है—कटाक्ष, प्रभर्त्सना और आक्षेप। इन रूपो की केवल स्वभावगत क्षमता पर विचार करें तो इन तीनो वर्गो मे से प्रत्येक पहले, प्रत्येक दूसरे और प्रत्येक तीसरे के कर्मगत स्वभाव का गुण और क्षेत्रगत समझ का सगठन भी बहुत कुछ एक-सा रहता है। लेकिन यहाँ पर इस विवेचना मे उलझना ठीक न होगा पर इस सबध मे सूत्र-सकेतो को ग्रहण करना भी जरूरी है। क्योकि व्यग्यशास्त्र की इस प्रारभिक पहचान के बगैर, व्यग्य-रचना की गहराई मे सक्रिय—विशेषकर उसके प्रतिफलित रूपाकार और उसम अन्तर्निहित सत्व की—मूलेच्छा को जान पाना सभव नही है। अत व्यग्य-रूपो की (इसलिए अन्तर्वस्तु की भी) विभिन्नता को लेकर थोडा विचार करना भी जरूरी है। व्यग्य की कर्मण्यता प्रहार मे निहित तो है लेकिन इसकी प्रक्रिया क्या है ? यह सवाल भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

व्यग्यकार तीक्ष्ण-वैदग्ध्य म प्रत्युत्पन्नमति से हास्यास्पद (शत्रु) का हथियार छीनकर उसी पर प्रहार करता है, तो विडम्बना मे एक ओढी हुई विनम्रता से घेरकर उसका खात्मा करता है, व्यग्य-रूप मे वह खुलकर योद्धा की भाँति आक्रमण करता है (इन सभी रूपो की विषय-वस्तु सामाजिक विस्तार मे निहित होती है) जिसमे सारे समाज को प्रत्यक्ष रूप मे (विशेष तरह से) भाग लेने के लिए आमत्रण होता है। तब ये लोग निरे पाठक न रहकर व्यग्यकार के साथी भी होते जाते है।

उपहास, निन्दा-विनोद और हेयहास मे (अपने सामाजिक दुश्मनो की पहचान करके) व्यग्यकार (अपने सश्लिष्ट सामाजिक स्वभाव से) उन्हे निजी शत्रु मानकर व्यवहार करता है। उपहास म वह सामाजिक शत्रुओ से अपने को (सामाजिक शक्ति के सगठन के अभाव या प्रभाव मे) हीन या सबल मानता है,

पर वह अपनी हीन भावना पर विजय पाने के लिए अपनी अभिव्यक्ति मे उनका तिरस्कार ही नही करता बल्कि उसके द्वारा लोगो मे समाज मे उनके प्रति तिरस्कार भावना जाग्रत करता है। जबकि निन्दा-विनोद मे व्यग्यकार उनके ही द्वारा स्वीकृत मूल्यो की उनके व्यवहारो को सामाजिक दयनीयता के रूप मे (निन्दा द्वारा) मनोरजन की वस्तु बना देता है। इस तरह भले ही वह उन आचरण या व्यवहारो को रोक पाने मे पूरी तरह सफल न दिखता हो पर दूसरे व्यक्ति उन आचरणो-व्यवहारो को अपनाने की हिम्मत नही कर पाते। तब हास्यास्पद अपने ही घेरो मे कोमिक क्रीडा जैसा करने को बाध्य हो जाता है। हेयहास मे व्यग्यकार शत्रु पर सीधी घृणा फेंकता है। उसका (सामाजिक प्रतिबद्धता से, सामाजिक शत्रुओ के प्रति उत्पन्न) द्वेष उन्हे पूरी तरह घृणास्पद बनाकर छोडता है।

व्यग्य अनुरूपो मे कटाक्ष, प्रभर्त्सना और आक्षेप पूरी तरह आक्रोश की पकड मे ढलने-बनने वाले रूप हैं। आक्रोश की एकबद्ध सत्ता इन रूपो मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रास्ते से प्रवाहित देखी जा सकती है। जैसे—कटाक्ष मे व्यक्ति का उपहास करके मजा लेने की बजाय, सीधा तीर छोडकर उसको छेदना सही होता है। इससे अलग प्रभर्त्सना मे एकदम अन्तरगता को शामिल करके, सारे समाज के बीच भर्त्सना कर सकने के हालातो को सामाजिक विस्तार मे से, हास्यास्पद के चरित्र के कोनो तक जाकर खोज लिया जाता है। और इस तरह, हजारो-लाखो की दृष्टि मे, उसे तुच्छ-अयोग्य या बदमाश और सारे समाज के खिलाफ प्रपची साबित किया जाता है। जबकि आक्षेप एक सीधा क्रोधातुर प्रहार है—सीधी लडाई का बिगुल है। लेकिन कभी-कभी व्यग्यकार लडाई के तरीके मे इतनी सिद्धहस्तता प्राप्त कर लेता है कि सीधा आक्रोश उसके लडने के तरीके मे डूब जाता है और उसको घेरने और नष्ट करने वाली लहरो मे ही आक्रमण की गहराई का पता लगता है। यह व्यग्यकार की सफलता की सबसे ऊँची जगह है।

कुछ और व्यग्य-विधि रूप भी होते है—जिनकी क्रियात्मक स्वाभाविकता के कारण उन्हे दो वर्गों मे विभाजित कर सकते है— 1 केन्द्रनिहित और 2 केन्द्र सहित। बात यह है कि व्यग्य का एक भरा-पूरा परिवार होता है जिसकी पहचान और उसकी विकास-प्रक्रिया की जानकारी जरूरी है। इन सभी व्यग्य-रूपो की पहचान के साथ लेखक की सुचिंतित सामर्थ्य भी जुडी रहती है जिसका प्रतिफलन व्यग्य-लेखन के भिन्न-भिन्न रूपो के विकास के रूप मे सामने आता है। इतना ही नहीं, व्यग्यकार की अपनी अन्तर्वस्तु की अभिव्यक्ति-उत्तेजना इन रूपो को तोडकर नये रूपो की सम्भावनाओ को रचनात्मक-यथार्थ मे बदल देती है और यदि व्यग्यकार ऐसा नही कर पाता या करना ही नहीं चाहता (हँसोड बनने-बनाने तक चक्कर लगाता है) तो इस बात की पडताल भी एकदम जरूरी है। इसके क्या कारण हैं? उसका आधार ठोस न होकर भुरभुरी मिट्टी का ही क्यो है? यह उसकी चाही हुई जमीन है या

अनचाहे उसकी नासमझी का परिणाम है। ऐसे अनेक सवाल है समय को समझने के लिए, उसमे से आगे बढने के लिए और जिनके उत्तर ढूँढ निकालने के लिए हम बाध्य है। एक इतिहास बन रहा वर्तमान और भविष्योन्मुख हमारे कार्य इन बातो के बीच मे तैरते हैं। हम जानते हैं कि मनुष्य की मुक्ति का सरोकार क्रातिकारी दिशा मे जाने के लिए अब अधिक प्रतीक्षा नही कर सकता। इसके लिए, अपने रास्ते पर पैर जमाने के लिए—एक सामाजिक पडताल की मशाल लेकर यदि हम व्यग्यकार के समूचे लेखन की पडताल करें तो हमारे लिए यह एकदम जरूरी है और अब हमारे विकसित स्वभाव की वस्तु भी है। यह हम सबके अस्तित्व का ऐसा सवाल है जहाँ हमारा समय और सधान दोनो एक साथ सामने आते हैं। मतलब यही कि यह एक ठोस धरातल की पडताल भी है। इसीलिए परसाई के व्यग्य एक दूसरी तरह से बनते ऐतिहासिक सन्दर्भ मे पहुँच जाते हैं या पहुँच रहे हैं जहाँ किसी समाज या देश के अन्तर्विरोध उनकी पडताल और पहचान, स्वीकृत रास्ते पर चलने के लिए ताकत देते है। वास्तव मे यह विचार की वस्तु है कि लेखन की परिणतियाँ हमे आगे बढाती है या एक स्थान पर खडा रखती हैं। हमे भ्रमित करती है या हमारी भूल को हथेली पर रखकर हमे सतर्क करने के साथ, सामने के प्रपच को उघाडकर हमे ताकत देती है। दूसरी बात यह कि वे हमारी रुखाई का मजाक उडाती है या हमारी लडाई का भूभाग होती है। यह भी कि वे हमारी किस कमजोरी को खतम करती है और मजबूत बनाती है या मजबूती को कमजोर करने मे सलग्न है—प्रपच रच रही है। ऐसे बहुत सारे सवाल है जो एक ही सवाल से जुडे हैं—मनुष्य की मुक्ति के लिए क्रातिकारी चेतना का सवाल। और जिसको बढाने या जिसके खिलाफ षड्यन्त्र करने वाले बहुत सारे प्रतिगामी सवाल। यहाँ से प्रतिगामी सवाल परसाई के लेखन के लिए महत्त्व नही रखते। फिर भी यदि हम इस बात को खुद देखना चाहे तो गलत नही है, क्योकि परसाई की बडी बात के साथ छोटी बात का भी कम महत्त्व नही है।

इस पडताल की यात्रा मे हम व्यग्य-रूपो के क्रम मे तीक्ष्ण-वैदग्ध्य से शुरु करेंगे और उन विकासात्मक रास्तो को ढूँढने का प्रयत्न करेंगे जो परसाई के व्यग्यो मे फैले हुए हैं—

हम जानते है कि तीक्ष्ण-वैदग्ध्य रूप उसकी सवादिक यथार्थता मे निहित होता है। इसमे व्यक्तियों के बीच का सवाद, एक हथियार की लोच होता है। व्यग्यकार शत्रु के हथियार-चालन के ढग को, इस तरह और इतना आगे (अपने झटके से) बढा देता है कि उससे आक्रामक स्वय घायल हो जाता है। लेकिन यह सब कुछ तीक्ष्ण-वैदग्ध्य की विकसित यात्रा का बिन्दु है। इसके पहले वह इतना सशक्त हथियार नही था। वह एक बौद्धिक-समारोही पटा-बिनैती घुमाने की चीज भर थी। दूर नही स्वय परसाई के लेखन मे इसका विकास देखा जा सकता है, जो आरम्भ मे एक तरह की चुटकी लेने से शुरू हुआ।

मच पर वैठे भवानी मिश्र अपनी कविता सुनाने को तैयार नही थे। जनता आग्रह कर रही थी। इस पर भवानी मिश्र ने कहा—"भाई, मैं कविता नही सुनाऊँगा। मेरी आँखो मे दर्द है।" यह सुनकर मच पर ही वैठे परसाई ने तत्काल कहा—"आप कविता सुना दीजिए आखें मैं मटका दूंगा।" जनता मे जोरदार ठहाका गूंज गया। कह सकते है कि यहाँ पर व्यग्यकार ने कविता की अभिव्यक्ति की समृद्धि को उसकी अपगतता मे वदलकर कवि पर सीधा 'अटैक' कर दिया। एक हल्के उपहास जैसा जोर का धक्का वाला। परसाई के इसी व्यग्य-रूप के विकास-क्रम मे अगला कदम इस तरह है—

" ''शहर मे गणेशोत्सव वडी धूम से मनाया जाता है आखिरी दिन गणेश-विसर्जन के लिए जो जुलूस निकलता है, उसमे सबसे आगे ब्राह्मणो के गणेश होते हैं। इस साल ब्राह्मणो के गणेश का रथ उठने मे जरा देर हो गयी। इसलिए तैलियो के गणेश जी आगे हो गये। जब यह वात ब्राह्मणो को मालूम हुई तो वे वडे क्रोधित हुए। बोले—तैलिया के गणेश की ऐसी-तैसी, हमारा गणेश आगे जायेगा।" (देवभक्ति) यहाँ पर देवता, भक्त और भक्ति के अन्तर्विरोध खुलकर सामने ही नही आते वल्कि एक-दूसरे से शत्रु जैसा व्यवहार करते हैं। धर्म और धार्मिकता आज कितने गहरे पानी मे है ? यह धार्मिक मनुष्य (?) का हाल है। भक्ति जो कभी ईश्वरीय माध्यम से ही समाज को किसी स्तर पर जोडने वाली थी, वह आज अपन पूरे व्यक्तिपरक घेरो मे जकडकर तोडने वाली अधिक हो गयी है। यहाँ की भक्ति, समारोही जडता में घमड की पुत्री है। और आज के समाज मे दूसरी वस्तुओ की तरह भक्ति और ईश्वर भी, व्यक्तिगत सपत्ति के रूप मे एकाधिकार, ईर्ष्या, जड प्रतियोगिता का रूप ले चुके हैं। दूसरी वात यह कि जातिवाद को जातिवादी मुक्के से ही चुनौती दी जा रही है। एक और दूसरी रचना का अश है—

"गोहत्या वन्द करो आन्दोलन के सिरमौर सेठ को सपने मे गोमाता दिखती है। वह अपने मुंह मे तृण दवाये है। गाय सेठ से प्रार्थना करती है—'सेठ तुम 'गोहत्या वन्द करो' आन्दोलन चला रहे हो। कलकत्ता मे तुम्हारा खुद का गो काटने का 'स्लाटर हाऊस' काम कर रहा है। ऐसा क्यो है सेठ ?' सेठ हाथ जोडकर तपाक से बोला—'माता तू वडी भोली है। हमारी माता को हमी काटेगा। दूसरा क्यो मारे ? उसे क्या अधिकार है ?' " (गोभक्ति)

देखिए चालाकी किस तत्परता से, समझदारी को भोलेपन के धुएँ मे छिपाकर अपना काम करती है। पूंजीवादी दौर मे मानवीय सवध भी किस तरह सम्पत्ति की कमाई के अग के सिवाय कुछ नही रहे हैं। यहाँ पर एक थोथी ओढ़ी हुई भावुकता का उपयोग विकसित पाखण्ड किस तरह करता है। वात यही कि धर्म अपने पाखण्ड मे शेष रह गया है और शोषण का हथियार वनने और सम्पत्ति कमाने के तरीके के रूप मे विकसित हो गया है—यह रहा धर्म का विकास ? यहाँ व्यग्यकार एक क्रियाशील प्रवचना को उघारने मे तीक्ष्ण-वेदना के रूप मे

अपनी अभिव्यक्ति को सार्थक बनाता है लेकिन सामाजिक ससक्ति की गहरी भावना का दबाव होने के कारण वह अपनी अन्तर्वस्तु की बनावट मे और उसके अभिव्यक्त रूप म भी केवल तीक्ष्ण-वैदग्ध्य न रहकर, व्यग्य-रूप की निकटता के लिए झपटता है, जो उसकी बढ़ती हुई सामाजिक समझ और सघर्ष की दिशा का सकेत करता है।

विचार और आवेग की द्वन्द्वात्मकता जब (जिससे वह बात करता है उसे) अपनी दिशा के घेरे मे समेट लेने को आतुर होती है, तब सवाद उत्पन्न होता है। इसीलिए सवाद की आरोही ऊर्जा म (बिना सम्बोधन के भी) अपनत्व का एक ऐसा तारल्य होता है जिसकी सहज विश्वसनीयता का रग हर एक सामने वाले को रँगता है। परसाई को इस सवादिक विश्वसनीयता की गहरी पहचान है। और उनका समूचा व्यग्य-लेखन इससे रँगा हुआ है। उन्होने अपनी अभिव्यक्ति को बहुआयामी बनाने के लिए इसका सार्थक उपयोग भी किया है। ऐसे अनेक प्रमाण हैं जहाँ परसाई ने शत्रु को, ओढी हुई विश्वसनीयता से घेरकर उसकी *असामाजिक वास्तविकताओं को उघाडकर रख दिया है—*

"मत्री ने उत्तर दिया—महाराज, हमारे राजा इस लोक के सुख के लिए नही, उस लोक के सुख के लिए विवाह करना चाहते है। व ज्ञानी है। व जानते है कि यदि उनकी अर्थी पर तरुण पत्नी की चूडियाँ नही फूटी, तो उस लोक मे उन्हें सुख नही मिलेगा।" यहाँ पर कुछ ही वाक्यों मे—देखिए, एक ओर तो हमारे समाज मे व्याप्त सामतीय विलासिता को उजागर किया गया है जहा नारी केवल एक विलासिता की वस्तु बनकर रह गयी है और जहाँ का समाज, बहु पत्नी प्रथा को मान्यता देता है। दूसरी ओर मुख्य रूप से नारी-दुरवस्था का चित्रण भी है जहाँ उसके अधिकारो की बात कौन करे, उसका जीवन भी उसकी ही अपनी परवशता मे सुरक्षित नही है। तीसरी ओर, बारीकी से व्यग्यकार, ज्ञानियो की उस परलोक-कातरता का सकेत भी करना चाहता है, जो इस लोक की स्वार्थ-पूर्ति के साथ (वासना भुक्ति के साथ) समाज या नारी-समाज की परवाह किये बगैर अपना परलोक (जो एक बहाना है) सुरक्षित कर लेना चाहता है। लेकिन जिस सामती व्यवस्था से टूटकर पूँजीवादी व्यवस्था मे नारी का प्रवश हुआ है उसमे आकर नारी की चेतना मे विकास हुआ है, यद्यपि वहाँ भी पूँजीवादी अन्तर्विरोध कम नही हैं। इस बात का प्रमाण (इस उपन्यास के) नागफनी और करेलामुखी के चरित्रो की समानान्तर वैभिन्नता मे अच्छी तरह उजागर होते मिल जाते हैं। लेकिन इतन व्यापक परिवेश को समेटकर चलने की क्षमता, व्यग्यकार की अपनी सफलता, कम नही है। इसके पीछे मुख्य रूप से इस विडम्बना रूप के पीछे—वह सवादिक प्रखरता है जिसमे प्रज्ञा के द्वारा अपने आवेग को नियत्रित किया गया है। यहाँ एक ओढी हुई अन्तरगता का जहर सारे कथन मे चुपचाप फैलकर अपना कार्य करता है और यही भावावेश के दबाव से उत्पन्न मुखरता तक पहुँच जाता है। आगे एक और विडम्बना रूप

का अंश है देखिए—"··· ' हमें अपने देश का विकास करना है, निर्माण करना है। प्रश्न उठता है निर्माण कैसे होगा? निर्माण अकेली सरकार से नहीं होगा। जनता के हर आदमी को परिश्रम करके निर्माण करना होगा। आज हम जनसेवा की संस्थाओं की बड़ी आवश्यकता है। अनाथालय एक ऐसी ही संस्था है। इस अनाथालय का निर्माण करके आप लोगों ने देश के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। ऐसी संस्थाएँ बड़ी संख्या में खुलनी चाहिए। मैं तो कहता हूँ हम ऐसे प्रयत्न करें कि हर मुहल्ले में अनाथालय खुलें। घर-घर विधवाश्रम हों। भाइयो! एक अनाथालय से देश का निर्माण नहीं होगा, दो अनाथालयों से नहीं होगा। तीन से भी नहीं होगा। लाखों अनाथालयों की हमें आवश्यकता होगी। मैं देश के तरुणों का, नयी पीढ़ी का आह्वान करता हूँ कि वे पूरी लगन से इस कार्य में जुट जायें।"

इस अंश में व्यंग्यकार ने संसदीय प्रजातंत्र की अयोग्य-योग्यता या पूँजीवादी रुझान की, जनता को मूर्ख रखकर और समझकर अपने 'जनता की सेवा' के जाल को फैला रखने की हार्दिक मंशा को उजागर करने का प्रयत्न किया है। वैसे तथाकथित लोकतंत्र में निरर्थकता और मूर्खता से भरे भाषण बहुत आम बात है। पर यह आम बात जब किसी वर्ग विशेष के लिए लाभकारी होती है तो वह एक चाल के रूप में सामने आती है। इस अंश का प्रारम्भ एक बड़ी सहज आत्मीयता से होता है। यह आत्मीयता देश के विकास की सहज उत्कंठा को सामने लाती है, लेकिन यह सहजता जो कि व्यंग्यकार की ओढ़ी हुई अज्ञानता से भीगी हुई है—जिसमें लोकतंत्र के प्रतिनिधि का छद्म भावावेश का जाल भी, उस समय लहरता दिख जाता है, जब व्यंग्यकार अन्त में अनाथालयों के निर्माण की बात करता है। यह एक विस्फोट है जो संसदीय प्रतिनिधि की मंशा को सामने लाकर सभी तथाकथित हितकारी सम्भावनाओं को ध्वस्त कर देता है। यद्यपि अनाथालय के अन्दर पनपने वाले प्रपंचों का सम्पूर्ण भंडाफोड़ तो यहाँ नहीं होता लेकिन संसदीय प्रजातंत्र की उपलब्धियों की दिशा को बराबर सामने ला देता है कि यह अनाथालयों के बढ़ाने की दिशा के सिवाय और क्या है? वैसे धूर्तता पूरी तरह उघड़ नहीं पाती। इसलिए आक्रोश की बजाय समझ के कारण उत्पन्न एक प्रकार की कड़ुआहट मुँह के अन्दर घुल जाती है। पाठक की समझ के आधार पर एक ही रचना में प्रभावों की भिन्नता उस समय विशेष रूप से विचारणीय हो उठती है जबकि बहुत सारी बातें संश्लिष्ट रूप में ही कह दी जाती हैं। इससे थोड़ा भिन्न विडम्बना का एक और रचनांश देखिए और विचार कीजिए—

"इतना कह राजा ने निजी सचिव को बुलाया और कहा—कुँवर पर जितना खर्च हुआ है, उसका हिसाब तुमने रखा है? बताओ! राजा ने पूछा—जन्म से ही खर्च लगाया है? प्रसव का खर्च क्यों छोड़ दिया? वह भी तो लड़की वाले से लेना पड़ेगा? वह भी जोड़ो 25 लाख के ऊपर होगा।" ' मेरे सामने चालाकी नहीं चलेगी। अस्तभान का अब तक का सारा खर्च देना होगा। **आखिर मैंने**

लडका इसलिए तो पैदा किया है, और पाला है कि उनकी लडकी को पति मिल सके। मैंने क्या उसे अपने लिए पाला है ? अगर मैं उसे नही पालता तो लडकी को पति कैसे मिलता ? तू समझता नही कि लडका पैदा करना व्यवसाय है, यह गृहउद्योग है। अभी तक मैंने इसमे पूंजी लगायी है।"

इस रचनाश मे ओढी हुई अज्ञानता का रूप पतला होता गया है। इसमें सभी कुछ साफ-साफ देखा-समझा जा सकता है। बल्कि यहाँ पर आवेग की प्रबलता के साथ विचारो की आग्रह-अनिवार्यता इतनी सघन हो गयी है, कि जो कुछ कहा गया है, उसमें लाग-लपेट नही रह जाती और सवादीय स्वाभाविकता में से ही व्यग्य का रूप उभर आता है। वैसे यह उपन्यास का अश है और वह भी जिसमे एक लम्बी फन्तासी के माध्यम से बात कही गयी है—फिर भी राजा के बजाय यदि कोई सेठ (आधुनिक राजा) इस बात को कहता तो बात और भी तर्कसगत हो सकती थी। क्योंकि इस पूंजीवादी व्यवस्था ने, मानवीय सबधो को भी विक्रय के बाजार मे ठेल दिया है जहाँ परिवार मे पुत्र, गृहउद्योग की (पैसा कमाने की) वस्तु हो गया है। या पैसे के लिए, सबध भी एक-दूसरे को छलने की वस्तु मे ढल गये हैं। मानवीय सबधो के बीच पनपने वाले ये पूंजीवादी अन्तर्विरोध, स्वय पूंजीवादी व्यवस्था की पहचान और उसके पतन का सच्चा रूप है। 'रानी नागफनी की कहानी' मे विडम्बना और व्यग्य रूप के ताने-बाने, ढहती सामती व्यवस्था और पनपती पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधो को समझने, और उन पर प्रहार करके, इनसे मुक्ति के लिए लेखक केवल एक छुपी चेतना और खुली उत्तेजना की पहल के रूप मे सामने आता है। वैसे इसमे प्रस्तुत अन्तर्विरोधों के बहुत-से बारीक रेशे स्पष्ट रूप से एक्सपोज्ड होने के लिए छूटते गये है। फिर भी उपन्यास अपनी सम्बद्धता मे कम महत्त्वपूर्ण नही है। क्योंकि वह मानवीय सबधो को—सबधो मे व्यक्त सवेदना को समझने के लिए वैज्ञानिक विश्लेषण का बीजारोपण करता गया है—यह सब विडम्बना और व्यग्य की आवेगात्मक क्षमताओं के अन्तर्गत किया गया है जहाँ प्रहार और सहार की सक्रियता बराबर मिलती है। लेकिन इससे एकदम अलग, व्यग्य रूप का पूरा सबल पक्ष, परसाई के स्वतत्र निबधो मे मिल जाता है।

"सरकार कहती है, चूहे पकडने के लिए हमने चूहेदानियाँ रखी है, एकाध चूहेदानी की हमने भी जाँच की है। उसमें घुसने के छेद से बडा एक छेद पीछे मे निकलने के लिए है। चूहा इधर से फँसता है और उधर से निकलता है। पिंजडे बनाने वाले, और चूहा पकडने वाले, चूहों से मिले है। वे इधर हमे पिंजडा दिखाते है, और उधर चूहे को छेद दिखा देते हैं। हमारे माथे पर सिर्फ एक चूहेदानी का खर्च बढ रहा है।"' सुन्दर सपने वाले रवीन्द्रनाथ की जिज्ञासा थी कि ये हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई, सब जिसके आह्वान पर भारत महासागर मे इकट्ठे हो गये है ? मैं पूछता हूँ कवि, वे तो ठीक आये, मगर ये सब जातियों के लुच्चे किसके आह्वान पर इधर आ गये'''''' जो कौम भूखी मारी जाने पर सिनेमा मे

जाकर बैठ जाये, वह अपने दिन कैसे बदलेगी। अद्भुत सहनशीलता है इस देश के आदमी में। और बड़ी भयावह तटस्थता। कोई उसे पीटकर उससे पैसे छीन ले तो वह दान का मंत्र पढ़ने लगता है।" (अन्य की मौत)

अपनी प्रतीकात्मक पैठ, और चयन तथा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ की संवेदनशील चुस्ती के कारण, रचना अपनी रूपगत क्षमता को गहरा और पैना बनाने में सीधी और तीखी है। प्रतीकों की पर्त-दर-पर्त अर्थवत्ता और अनुकूल अर्थ गुंफन के छोरों को जिस तरह, जिस आधार पर लाकर जोड़ा जाता है, वह रहस्यों को, उनकी कटु यथार्थता को, उघाड़ने और उधेड़ने तथा अनुकूल तीखापन पैदा कर पाने में सक्षम है। व्यंग्य में हास्य का एक रूप तैरता होता है, लेकिन हम याद रखना चाहिए कि यह अक्सर वैचारिक सघनता और पुष्टता के अभाव का पूरक भी होता है। इसीलिए व्यंग्य की सबल होती यात्रा हास्य को पीछे छोड़कर आक्रोश की दिशा को देखती है। वैचारिक पुष्टता, आवेग सघनता और लक्ष्य का ताप, हास्य को अनदेखा कर आगे बढ़ जाता है। यहाँ पर व्यंग्यकार अपनी रूपगत सामर्थ्य के प्रति इतना सतर्क है कि रोषपूर्ण अभिव्यक्ति में ऊपर उतरा आने से बचने के लिए और उसके हल्केपन को गाढ़ी और वजनदार प्रौढ़ता में बदलने के लिए भी वह एक सांस्कृतिक शिखर की तलाश कर लेता है (रवीन्द्रनाथ के सांस्कृतिक स्मरण के रूप में) जिसके सहारे व्यंग्यकार देशगत परिवेश की परिष्कृति, सामाजिक-सांस्कृतिक ग्रहणशील उत्फुल्लता के उन्मेषी उभार पर स्वयं खड़ा होकर अपनी क्रियाशील समझ और वैचारिक पवित्रता को स्थापित करता है। तो वहीं पर, उसी म में उभर आई 'लुच्चई' को चीरकर सामने रख देता है। 'लुच्चई' को चीरने का आक्रोश—आक्रोश के अन्ध-हल्केपन के बजाय, आवेग की प्रखरता और भार प्रबलता में बदला हुआ है, जिसके लिए उसकी जड़ें सांस्कृतिक समझ की गहराई में उठकर व्यंग्यकार की अपनी लक्ष्य-बद्धता से पुष्ट हुई हैं। यहाँ पर व्यंग्यकार को सांस्कृतिक मोह तो नहीं है, लेकिन सांस्कृतिक चेतना की मानवीय मूल्यवत्ता बराबर उसकी संवेदना को ताकत देकर सक्रिय बनाये हुए है। वैसे सांस्कृतिक मोह से पराभूत होने से व्यंग्य का (उसकी अन्तर्वस्तु का) कितना क्षय होता है इस पर भी विचार कर लिया जाय। देखिये—

"कृष्ण ने कहा, मैं तुमसे सौदा कर सकता हूँ। तुम्हारे पास राज्य का गुप्त रहस्य है (जिसे प्रकट करने से शायद कम ही सही, पर राजा कलंकित होगा) बोलो इस रहस्य को गुप्त रखने का क्या लोगे?' 'कभी जब ये पृष्ठ प्रकाश में आयेंगे तो यह सत्य प्रकट होगा कि चावल का एक दाना भी कृष्ण को नहीं मिला। चावल तो 'कर्मचारियों' के खुरचन हो गये। यह भी लोग जानेंगे कि मैंने कृष्ण से दान नहीं लिया, सौदा किया था, कुछ काल के लिए ईमान गिरवी रख दिया था।" (सुदामा के चावल)

कुल मिलाकर यह अंश उतना प्रहारक नहीं है, जितना इसके पहले का है।

(अपनी प्रतीकात्मकता मे) इसका वर्तमान भी ऐतिहासिक सांस्कृतिक परिवेश से छनकर आता है। फिर भी वैसा नही है (वैसा हो भी नही सकता, क्योंकि) हर एक रचना का अपना समय और स्थान और उसको घेरने वाली दृष्टि की प्रखरता म अन्तर हो जाता है। लेकिन यहाँ पर इसको सामने रखने के पीछे मेरा मतलब केवल यह है कि रचना मे सास्कृतिक मोह भी क्या रोल अदा कर जाता है या यह भी कि अवाछित उदासीनता, सतर्कता को ढकेलकर कहाँ ले जाती है। इसके कई कारण हो सकते है लेकिन पहला और महत्त्वपूर्ण तो यह है कि कृष्ण का जो कल्याणी रूप—ईश्वरीय रूप—जो आज भी स्थापित है, उसका प्रभाव व्यग्यकार पर किसी न किसी स्तर पर रहा है। लेकिन कृष्ण की प्रतीकात्मकता सत्ता की सम्पूर्णता मे भी है। इसलिए कोई भी प्रहार जो सत्ता के शीर्ष को छोडकर केवल उसकी मशीनरी पर किया जायेगा, यथार्थ रूप से कमजोर और अपने परिणाम मे अधूरा ही नही, एकागी भी होगा। बल्कि सत्ता को अँधेरे मे डाल देने से, उतने समय मे उसे, खुद को मजबूत कर लेने का मौका दे देता है। *मेरा मतलब साफ है कि अधिकारियो के भ्रष्टाचार पर प्रहार करके,* और कृष्ण को उसे छुपाने वाला बताकर, सत्ता का सतर्क (भ्रष्टाचारी और भ्रष्टाचार विरोधी आडम्बर का) चेहरा सामने तो आता है, लेकिन सत्ता अपने इस चेहरे के अन्दर कितनी अमानवीय और घातक है यह पक्ष एकदम ओझल रह जाता है। यह वह पक्ष है जिसके कारण सुदामा खुद भूखो मरता है। इसके पीछे का कारण वही है कि व्यग्यकार पर कृष्ण के सास्कृतिक नायकत्व का प्रभाव, किसी कोण से असरदार बना रहा और वे इस दौर मे आधी दूर से ही लौट आये—कृष्ण के सत्ता के उस चेहरे को छूने से बच गये जिसकी विकराल स्थितियाँ उनका गहरा और सार्थक अग हो सकती थी। यह सास्कृतिक मोह ही है कि "भ्रष्टाचारी अधिकारी और (शायद) बेचारे कृष्ण" की अभिव्यक्ति (न चाहकर भी) सामने आ जाती है। इसमे शायद सुदामा की "दीन हीन गरीबी" *की गहराई मे रची हुई कथा भी है, जिसका दूसरा छोर सत्ता पक्ष पर आक्रमण* करने का तेज, क्रातिकारी साहस नही दे पाता—वैसे यह भी सही है कि भुखमरे ही क्रान्ति के वाहक होते हैं लेकिन तब उनमे दीनता के लिए दुत्कार और हीनता के बदले (उनके हाथ मे) हथियार होता है। व्यग्य-लेखक परसाई इन सारी बातो से अच्छी तरह वाकिफ भी हैं इसलिए जहाँ लेखक पूरी तरह से सास्कृतिक चेतना से हथियारबन्द हो गया है वहाँ देखिए—

'प्रिय तुम बहुत भोली हो। मेरे दौरे का कार्यक्रम, यह कौआ थोडे ही बनाता है, वह कौआ बनाता है जिसे हम 'बडा साहब' कहते हैं। इस कलूटे की चोच सोने से क्यो मढाती हो। हमारी दुर्दशा का यही तो कारण है कि तमाम कौए सोने से चोच मढाए है, और इधर हमारे पास, हथियार खरीदने को सोना नही है। हम तो कौओ की चोच से सोना खरोच लेना है। जो आनाकानी करेंगे उनकी चोच काटकर सोना निकाल लेगे। प्रिये यह बहुत बडी गलत परम्परा है,

जिसमे हस और मोर की चोच तो नगी रहे और कौए की चोच पर सुन्दरी खुद सोना मढे।"

यह एक प्रमाण है परसाई की व्यग्य-चेतना का। सास्कृतिक आवेग का उभार और सामाजिक परिवेश के विकार नही, जहर से ही द्वन्द्वात्मक चेतना का विकास होता है। यहाँ का रूमानी प्रसग रूमानी प्रसग नही है बल्कि है यह, कि गदे पारिवारिक और सामाजिक सरोकार किस तरह क्रातिकारी धारणा तक ले जाते हैं। परसाई अपनी वस्तु के लिए सास्कृतिक खोज मे, सस्कारो से सुचिंतित ओज को सुरक्षित रखते हैं जो एक छोर पर अन्धता तो दूसरे छोर पर धूर्तता का उखाडने मे सक्षम है। वैसे इस रचनाश मे एक-दो शब्द बराबर खटकते है जैसे—'हथियार खरीदने'[1] क्योकि रचना मे हम अर्थ के सतहीपन के बजाय उसकी वैचारिक परिणति मे अधिक होते हैं। इसलिए यह 'युद्धवाद' हमारी आकाक्षा नही है जिनकी हो वे हमारे विपरीत पडते है। इसी तरह कुछ सवाल 'बडा साहब' के सम्बन्ध मे भी हो सकते है लेकिन सम्पूर्ण रचना और विशेष रूप से रचना का अन्त हमे जहाँ पहुँचाता है, उसमे और वहाँ पर, इन शकाओ की धज्जियाँ उड जाती है। देखिए व्यग्यकार के साथ ही आगे चलिए—

" • मौसम के इन्तजार से कुछ नही होता। वसत अपने आप नही आता, उसे लाया जाता है। सहज आने वाला तो पतझड होता है, वसत नही। अपने आप तो पत्ते झडते हैं। नये पत्ते तो वृक्ष का प्राणरस पीकर पैदा होते है। वसत यों नही आता। शीत और गरमी के बीच से जो जितना वसत निकाल सके, निकाल ले। दो पाटो के बीच मे फँसा है देश का वसत। पाट और आगे खिसक रहे है। वसत को बचाना है तो जोर लगाकर, इन दोनो पाटो को पीछे ढकेलो—इधर शीत को—उधर गरमी को। तब बीच म से निकलेगा हमारा घायल वसत।" (घायल वसत)

यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्यग्य कोई अधूरा क्रिया-कलाप नही होता। वह पूरी सास्कृतिक चेतना के धनुष पर, अपने वर्तमान की सामाजिक समझ और हथियारबन्द साहस का तीर होता है—तमाम जड और षड्यन्त्रकारी शक्तियो के खिलाफ। वह वर्तमान मे छूटकर वर्तमान को गुँजाता है और अपनी चरितार्थता भविष्य के लिए छोड देता है। इसीलिए वर्तमान की दायी और बायी समझ व्यग्यकार के लिए एकदम जरूरी होती है। तभी तो 'घायल वसत' को दो पाटो के बीच से निकालने के लिए हमे आधुनिक श्रवण कुमारो तक पहुँचना भी जरूरी होगा। और वहाँ पर पहुँचने का मतलब है हमारा रुआसा (यदि वह शेष है तो) और हँसना एक कडुवाहट मे बदल जायेगा, जैसे

1 यह रचना पाकिस्तान का चीनी आक्रमण के समय लिखी गई थी—शायद यही कारण है

हमारे मुँह में कोई नीम की पत्ती आ गयी हो—मूल रूप से यह कड़ुवाहट सवेदना को गहरा और त्वरित करती है तो उसमे डूबी हुई समझ के रेशो को आधार देकर फैलाती और प्रबल बनाती है। इस विचार सवेदन मे डूबने के लिए या तैरकर शक्ति ग्रहण करने के लिए व्यग्यकार के निकट पहुँचिए—

"' कितनी कावडे है—राजनीति मे, साहित्य मे, कला मे, धर्म मे, शिक्षा मे, अधे बैठे है और आख वाले उन्हे ढो रहे है। अधो मे अजब काइयापन आ जाता है। वह खरे और खोटे सिक्को को पहचान लेता है। पैसे सही गिन लेता है। उसमे टटोलने की क्षमता आ जाती है। वह पद टटोल लेता है, पुरस्कार टटोल लेता है, सम्मान के रास्ते टटोल लेता है। आँख वाले जिन्हे नही देख पाते वह उन्हे टटोल लेता है। नये अधो के तीर्थ भी नये है। वे काशी, हरिद्वार, पुरी नही जाते। इस कावडे वाले अधे से पूछो कहाँ ले चलें। वह कहेगा तीर्थ। कौन सा तीर्थ? जवाब देगा कैबिनेट! मन्त्रिमडल! उस कावडे वाले से पूछो तो वह भी तीर्थ जाने को प्रस्तुत है। कौन सा तीर्थ चलेंगे आप? जवाब मिलेगा—अकादमी! विश्वविद्यालय! '

मगर कावडें हिलने लगी है। ढोने वालो के मन मे शका पैदा होने लगी है। वे झटका देते हैं तो अधे चिल्लाते है—ओ पापी! यह क्या कर रहे हो? क्या हमे गिरा दोगे? और ढोने वाला कहता है—अपनी शक्ति और जीवन हम अधो को ढोने मे नही गुजारेंगे।" (कधे श्रवण कुमार के)

व्यग्यरूप की इस विवेचना मे व्यग्यकार की रचना-प्रक्रिया मे उपस्थित कुछ तत्त्वो पर विचार करने उत्सुक हो तो यह बात साबित है कि व्यग्यकार म यथार्थ की गहरी समझ, सास्कृतिक पर्तो को तोड पाने का युक्तिमय विवेक, और इन सबके केन्द्र मे लक्ष्य का उत्तेजित ताप (जो आपूरित वस्तुओ को एकरस करता हुआ अपनी दिशा मे ले जाता) है। बुर्जुआ सुविधावादी जडता और पूँजीवादी समाज का विकसित 'व्यक्तिवादी स्वर्ग' वास्तविक रूप से स्वार्थ के घेरो मे घिरकर कितने अमानवीय है। इनसे घिरा हुआ 'सामाजिक प्राणी' अपने इर्द-गिर्द देखने के सिवाय अपनी आगामी पीढी के भविष्य पर भी कुछ चिंता नही करता। कितना शोचनीय और कष्टदायक यह अधापन है इसीलिए इस व्यग्य-रचना की अतिम परिणति 'ठहाकावाद' मे नही है बल्कि एक ऐसा विस्फोट है जिसका धुआँ आँखो से भले ही न दिखे पर दिमागो मे भरकर चिरपिरान लगता है। यह व्यग्यात्मक ताप दुर्गम रास्तो को सहज बनाने वाली अपार शक्ति और चेतना की सयोजना भी करता है। व्यग्य का यह विधेयात्मक पक्ष, कितना प्रखर, गहरा, और दिशागामी निष्कर्षो तक ले जाता है। उसमे अनेक सभावनाओ के वृत्त उसी तरह छुपे और उभरते होते है जैसे किसी एक रेखा मे समायी बिन्दुओ के वृत्त अपने उभारो से रेखा को बल देते है। यह सब कुछ ठीक है। लेकिन अभी तक वैचारिक आधार लोगो मे पूरी तरह उत्पन्न नही हो पाया

अपनी कटु असामाजिकता के कारण यह प्रहार तिरस्कार भावना के साथ तुच्छता और घृणा के घालमेल को भी एकात्म कर लेता है। वैसे 'उखाड़ने' की प्रक्रिया एक साहस से उत्पन्न प्रक्रिया ही होती है। स्वयं व्यंग्यकार की स्थिति भी यही है। इसलिए (कभी-कभी) साहसी हास्यास्पद पर घृणा के बजाय सीधा प्रहार ही किया जाता है, और यह ठीक भी है, इसलिए ऊपर के रचनांश में व्यंग्यकार ने तिरस्कार की अपेक्षा उनकी असामाजिकता पर प्रहार ही किया है जबकि यह सब कुछ उपहास के क्षेत्र में ही घटित होता है, इसीलिए उपहास के इस रूप की बनावट एक ओर व्यंग्यकार की (अन्तर्वस्तु को विशिष्ट कोण से प्रक्षेपण से) रूपात्मक प्रतिपत्नन को स्पर्श करने वाली समझ से और दूसरी ओर स्वार्थों की घेरेबन्दी के प्रति बरती जाने वाली सतर्कता में निहित है। उपहास की एक नरम कोशिका निन्दा-विनोद तक जाती है तो दूसरी ओर दूसरी कोशिका एक द्वेषपूर्ण कड़वाहट में डूबकर अधिक वजनदार होकर फिर संश्लिष्ट होकर तलस्पर्शी बन जाती है। देखिए हेयहास की एक अभिव्यक्ति —

"ग्लानि मुझे तब हुई जब एक आस्थावान लेखक ने डाँटा। वे कहने लगे—तुम लोग सबके सब आस्थाहीन हो। कहीं तुम्हारी आस्था नहीं है। किन्हीं मूल्यों के प्रति तुम आस्थावान नहीं हो। मैं चुपचाप उनके पीछे हो लिया कि पता तो लगाऊँ कि इनकी आस्था कहाँ है? मैं भी नयी आस्था जोड़ लूँगा। ' ' एक बार मुख्य मंत्री की नजर पड़ जाय। सिर्फ एक कृपा कटाक्ष के लिए वे लालायित थे। शाम को मैंने उनसे पूछा—आपकी आस्था कहाँ है? उन्होंने कहा—देखा नहीं तुमने? पाठ्य-पुस्तक समिति में। शिक्षा मंत्री में और मुख्य मंत्री में मेरी आस्था है। तुम्हारी तो इनमें भी नहीं। मैंने कहा – मगर किन मूल्यों में आस्था है? वे बोले—जो पुस्तक मैं पाठ्यक्रम में लगवा रहा हूँ उसका मूल्य पौने पाँच रुपये है। इसमें मेरी कट्टर आस्था है। मैं इसे कम नहीं करने दूंगा। और जैसा कि शिक्षा मंत्री ने आश्वासन दिया है। और जैसा मुख्य मंत्री की करुणामय दृष्टि से विदित होता है, अगर मेरी दो पुस्तकें पुस्तकालयों के लिए खरीद ली गयी तो कुल मूल्य लगभग 25 हजार रुपये होगा। तुम लोगों सरीखा मैं नहीं कि किसी मूल्य में आस्था न हो।"

इस रचना में हेयहास अपनी समग्रता के साथ ही निहित तुच्छता से ऊपर उठा हुआ लगता है। इसका प्रमुख कारण है कि व्यंग्यकार ने संवाद की आत्मीयता (और विडम्बना रूप की ओढ़ी हुई विश्वसनीयता) के साथ ही लेखक-प्रकाशक की तुच्छता को उजागर किया है। इसलिए एक समग्र प्रभाव—अपनी प्रहारात्मकता में तुच्छता और तिरस्कार के बजाय, पूरी तरह बखिया उधेड़कर रख देता है। वैसे रचना अपनी अन्तर्वस्तु के रूप में 'आस्था' और 'मूल्य' और 'एक बार मुख्यमंत्री की नजर पड़ जाए'—सारी बातें घृणा और तिरस्कार को उभारने के बजाय कुछ नहीं करती। लेकिन पूँजीवादी 'आस्था' का गुलाम इतना हीन नहीं होता, घृणा और तिरस्कार चरकर तो वह और भी मोटा होता है।

इसलिए व्यग्यकार की प्रहारात्मक पकड यदि अपेक्षातर अधिक शक्ति से पेश आती है तो यह उसकी समझ और प्रौढता का प्रमाण है ।

जैसा कि मैंने कुछ पहले कहा, कि उपहास की एक नरम केशिका निन्दा-विनोद तक जाती है जिसके कारण ही इसे 'दी ह्यूमर इन सटायर' भी कहा गया है । इसीलिए कि विनोद के एटीट्यूड के कारण निन्दा का तीखापन कम हो जाता है (हल्की मजा के रस की मिठास के कारण) । इसीलिए निन्दा-विनोद मे अक्सर मूर्खता के विषय विनोद के आधार बनकर एक 'विचारापन' पैदा करते है । देखिए—

"जब तक पत्नी खाना बनाती है, मास्टर बच्चो को लिखाते है या पढाते है । उद्देश्य यह कि वे ऊधम न करें । कभी कुछ साथी शिक्षक आ गये तो वह दो घडी गप्पें भी हाँक लेते है । छोटी-छोटी बात पर सब खूब हँसते हैं । क्योंकि शाम का हँसना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता है । भोजन करके मास्टर ने बच्चो को सुला दिया और बाल्टियाँ लेकर सामने सडक पर के नल से पानी लाकर घडो मे भरने लगे । घर का नल रोता-रोता चलता है, इसलिए सुबह के लिए पानी रात को ही सडक के नल से भर लेते है । (मास्टरनी कैसे पानी भरने जाए, कुलीन घराने की जो है ।)

काम-काज समाप्त कर मास्टरनी 'हे राम' के साथ थकान-भरी साँस लेकर छोटे बच्चे के पास आकर लेट जाती है । मास्टर उसे एकटक निहारते है, श्रम की हँकनी से चढते-उतरते उसके वक्ष को देखते है । उनके नेत्रो मे असीम प्यार है । वे कहते हैं, तुम मुझे बहुत अच्छी लगती हो, और सो जाते है ।" (एक तृप्त आदमी की कहानी)

यहाँ पर व्यग्यकार किसी मनुष्य की परवशता का मजाक नही उडाता, वह सामाजिक दायित्व बोध को वहन करने के कारण ऐसा कर भी नही सकता, वह तो हमारा ध्यान ऐसे मनुष्यो के जीवन की ओर ले जाता है जो मनुष्य होने की तेज आकाक्षित गति से कटकर या सामाजिक विसगति की निरी जडता मे सूखकर (घरेलू किसिम का आदमी) समाज के लिए क्या ? अपने और अपने परिवार के लिए भी (समझदार आदमी न होने के सदर्भ मे) निस्सार और निरर्थक हो गया है । बल्कि आश्चर्य और कष्ट तो इस बात मे है कि वह निरर्थकता को चचोरने मे ही—उसे चचारते जाने मे ही अपने जीवन की सार्थकता मान लेता है । इसीलिए व्यग्यकार ने इसे 'एक तृप्त आदमी की कहानी' कहा है ।

यहाँ पर व्यग्यकार के इस रचना-रूप पर यदि हम विचार करें तो कह सकते है कि निन्दा-विनोद की सक्षम अभिव्यक्ति मे ऐसा कुछ होता है कि एक बार हास्यास्पद को लज्जाबोध भले ही न हो, पर पाठक को तो होने ही लगता है । वैसे परसाई के निन्दा विनोद हेयहास की पतली रेखा के साथ अपनी विशिष्ट रूपाभिव्यक्तियो मे भरे पडे हैं । इसीलिए सम्पूर्ण रचना की परिणति, एक

तुच्छता के साथ विनोदी मनोरंजन में होती है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि निन्दा-विनोद या विनोद जब अन्ततः हेयहास में अन्त होकर घृणा पैदा करता है तो वह एक तरह से अपनी प्रयोजनबद्ध सचेतना के लिए, एक सामाजिक अंग को कम कर देता है। जो गलत निर्णय है। लेकिन जब वह निन्दा-विनोद में तिरस्कार भावना को बढ़ाता है तो तिरस्कृत व्यक्ति या उस जैसों के लिए एक तरह की 'शुद्ध होने की' प्रक्रिया में ढकेलता है। यह स्वाभाविक है कि घृणित करार कर दिया व्यक्ति समाज की ओर एक होने नहीं बढ़ेगा, दूर हटेगा, छुपेगा। लेकिन तिरस्कृत व्यक्ति की आकांक्षा स्वीकार की दिशा की ओर अधिक तेज नहीं तो गहरी तो होगी ही। इसीलिए निन्दा-विनोद के जिन रूपों में हेयहास की प्रवृत्ति का रंग उभरा हुआ है (जैसे एक तृप्त आदमी की कहानी ही) उनकी अपेक्षा जिसमें तिरस्कार और अपमान गाढ़ा है (गांधी जी का शाल) वे व्यंग्यकार के लक्ष्य के ताप की दृष्टि से अधिक कारगर लगते हैं। लेकिन निन्दा-विनोद इस तरह की मूर्खताओं के बजाय आज उन चालाकियों की ओर भी उन्मुख हो गया है जो चालाकियाँ और धोखाधड़ी (जिसमें आज के प्रेम के रास्ते पुष्ट होते हैं।) फैशन में शामिल होकर आम बन गयी है। और एक तरह की योग्यता जैसी धारणाओं में बदल रही है। यह सब कुछ इतना आम और आकर्षक हो गया है कि जिन्होंने इसे विकसित कर लिया है उन्हें ही बुद्धिमान और आधुनिक माना जाने लगा है। इसलिए वे विनोद के बहाने निन्दा के बजाय मनोरंजन के विषय बन गये हैं। मतलब यही कि निन्दा-विनोद का विकास निन्दा-मनोरंजन में बदलकर पैनी धार को और भी भोथरी ही नहीं करता, समाप्त कर देता है। लेकिन 'एक जोरदार लड़के की कहानी' एक बेहद प्रौढ़ निन्दा-विनोद है। जिसकी अन्तर्वस्तु कटाक्ष को भी नासमझी के हाथों उठाकर और विनोद के तारल्य में भीगकर निन्दा का मोहनी रूप तैयार कर लेती है।

परसाई जी के लेखन में भरे-पूरे कटाक्ष के उदाहरण कम मिलते हैं। वैसे उनके भाषणों, सभा-गोष्ठियों या किसी विशेष बातचीत में—कटाक्ष कुछ खास-खास जगहों में उछलकर सामने आ जाता है। अक्सर जब वे किसी धब्बे को छुपी-छुपी फैलने की कोशिश को ताड़ लेते हैं तो उसके केन्द्र बिन्दु का तपाक से कटाक्ष की नोंक से उच्छेदन कर देते हैं। यहाँ पर बहुत समय पहले कलकत्ता में आयोजित 'कथामंच' की गोष्ठी से लिया गया यह अंश सामने है, जिसमें परसाई जी के पहले नागर जी बोल चुके थे। "‥ नागर जी ने जिस तरह का सबको मरहम लगाया, उससे तो स्नेह, वात्सल्य आदि भाव पैदा होने लगे हैं।‥ गांधीवाद की हृदय परिवर्तन वाली बात पर यह डिमक्व्हरी हो गयी कि हृदय ही नहीं हो तो बदलोगे कैसे‥ बहुत बार ऐसा होता है कि भीतर से अवसरवाद बोलता है और हम समझते हैं कि आत्मा बोल रही है।" इस अंश में कटाक्ष की प्रहार करने की अपनी विशिष्ट प्रकृति और प्रक्रिया बराबर मिल जाती है। कटाक्ष का स्वभाव घाव को धीरे-धीरे लौट लौटकर बढ़ाना होता है। कटाक्ष जो

कुछ और जितना कष्ट पहुँचाना चाहता है, वह एकदम एक साथ नहीं करता। वह 'केलकुलेटेड' ढंग से हर बार मे सुनिश्चित प्रहार करके बार-बार के प्रहार से कष्ट को गुणित आधारों मे बढाता जाता है। वह एक बार ही पूरा प्रहार करके—हास्यास्पद को उतने ही प्रहार की 'प्राप्त निश्चितता' नहीं देता। बल्कि हर बार उसे चोट पहुँचा-पहुँचाकर निरन्तर थोडा-थोडा (पर तीव्र पीडादायक) काटता है। जैसे आरी लकडी को लौट-लौटकर एक खास मात्रा मे चीरती भी है, और घाव को उतना-उतना हर बार गहरा करती है। बल्कि बार-बार का घाव अपनी सीमाओ मे हर बार अधिक भयावह और गतिशीलता म प्रहारक होता है। यहां भी—नागर जी, मरहम लगाते हैं—पहली दांती, उसमे वात्सल्य भाव भी पैदा करते हैं—दूसरी दांती, जिन्दा मनुष्य भी हृदयहीन होता है (व्याख्या मेरी है)—तीसरी दांती और अवसरवाद आत्मा का मुखौटा लगाकर सामने आता है (व्याख्या मेरी है)—चौथी दांती—इन सबसे बार-बार एक ही घाव को गहरा किया गया है। हम समझ सकते है कि यह कटाक्ष कितना संश्लिष्ट, केलकुलेटेड, और चीरने वाला है।

कटाक्ष स्वयं आक्रोश को पूरी तरह दबाकर प्रतिफलित होता है। और हास्यास्पद शत्रु पर अपने ढग से प्रहार करता है। लेकिन आक्रोश की आवेगमयी प्रौढता हिन्दी मे प्रभर्त्सना एव आक्षेप रूपो मे प्रतिफलित होती है। परसाई क लेखन मे प्रभर्त्सना रूप की रचनाओ की कमी नहीं है। देखिए—

"····हिन्दी मे शोध का बडा हल्ला है। साहित्य मे डाक्टरों, कम्पाउडरों और मरहम पट्टी करने वालो का क्रम लगा है। ऐसे मे जो शोध न करे, वह अभागा है।' मैंने दूसरा विषय चुना 'छायावादी काव्य मे नारी'। यह विषय इसलिए चुना कि मुझे प्रसाद की दो पक्तियाँ याद हैं 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पगतल मे।'···आखिर वे कौन सी चीजें है, जिनकी शोध होगी और विषय मे पी एच० डी० मिल जायेगी।···तब मेरे अनुभवी मित्र ने मेरे *शोधकार्य की भूमिका बना दी। जो शोधात्मक छात्रों के लाभार्थ यहाँ दे रहा हूँ।* विषय—छायावादी काव्य मे नारी। शोध कार्य की रूपरेखा—(अ) आचार्य की शोध करनी जो किसी विषय का विशेषज्ञ न हो पर जिसके सम्बन्ध अन्य विश्व-विद्यालयों मे ऐसे हो कि डिग्री दिला दें। (विशेषज्ञ से दूर रहना, क्योंकि वह कष्ट देता है) (ब) ऐसे आचार्य को निर्देशक के रूप मे प्राप्त करना—शोध प्रक्रिया—प्रथम चरण—आचार्य की रुचियो की शोध—वे सब्जी कौन-सी पसन्द करते हैं? लौकी या बैंगन। वस्त्र कौन से धारण करते हैं? पान कौन सा खाते है? तम्बाकू कौन-सी? मनोरंजन का माध्यम सिनेमा, सगीत, नाटक, निन्दा या मिथ्या भाषण? द्वितीय चरण—आचार्य तथा आचार्य सतति की रुचियो की शोध। विशेष—आचार्य की ईर्ष्यापिपासा नारियों के चरित्र की शोध। तृतीय चरण—आचार्य के साहित्यिक और गैर-साहित्यिक शत्रुओं की तालिका बनाना। और हर एक की व्यक्तिगत कमजोरियों की शोध करना। जहाँ मम-

जोरियाँ न मिलें, वहाँ अपनी प्रतिभा का उपयोग करके कमी को पूर्ण करना। चतुर्थ चरण—ऊपरलिखित शत्रुओं की हानि करने के साधनों की खोज। इस बात का ध्यान रखना कि यहाँ किसका हित साधन हो रहा है। उसमे यथाशक्य बाधक होना। पंचम चरण—आचार्य की साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं की शोध करना—(यदि हो तो) और उनके मुख से झरने वाले निर्णयात्मक वाक्यों को मंत्र की तरह रट लेना। जैसे—'प्रेमचन्द प्रचारक हैं।' 'यशपाल नारेबाज है।' उग्र गन्दा है।' 'नया साहित्य कचरा है।' 'नयी कविता हुस्ट !' पष्ठम चरण—आचार्य की महत्त्वाकांक्षाओं की शोध करना—जैसे (क) पद-सम्बन्धी (ख) सम्मान, अभिनन्दन सम्बन्धी। (ग) प्रशस्ति श्रवण। (घ) अपने ऊपर पुस्तक लिखवाना आदि। सप्तम चरण—आचार्य की सेवाओं के प्रकारों की शोध—बाजार से खरीदा आम बनारस से लाया बताना। पान खिलाना। बच्चों को नाटक दिखाना। सौदा सुलुफ कर देना, प्रशंसा लेख लिखना, फोटो खिंचवाना आदि।"

इस प्रभर्त्सना में आक्षेप होने की पूरी संभावनाएँ है। यदि यह किसी एक आचार्य के नाम से तथा कुछ उनकी और भी व्यक्तिगत बातों की पहचान से जोड़ा जाता तो आक्षेप हो सकता था। लेकिन इसमें बहुत-सी ऐसी बातें हैं—वही अधिक है जिसके कारण यह आक्षेप न होकर प्रभर्त्सना ही है। पहली बात तो यह कि यहाँ जिन बातों को आधार बनाया गया है वे (कभी रही हों) आज किसी एक हिन्दी आचार्य भर की न होकर, एकाध अपवाद (जो विषय का विशेषज्ञ है) को छोड़कर हिन्दी आचार्य (वर्ग रिसर्च कराने वाले) समाज की है। यहाँ तक कि व हिन्दी आचार्यों के सिवाय बहुत कुछ हर एक ऐसे आचार्यों के स्वभाव की या उनके स्वभाव की निकटता की है जो रिसर्च की कमाई में एक व्यापारी बन चुके है। मतलब इसमें रिसर्च-व्यापार का जायजा लिया गया है। इसमें रिसर्च के नाम से एक सामाजिक भ्रष्टाचार पर 'अटेक' किया गया है या इन नामधारी रिसर्च-केन्द्रों से समाज के लिए क्या निकलता है ? और क्या निकलना चाहिए—इसके बीच एक प्रपंच का पर्दाफाश, व्यंग्यकार ने—आक्रोश को गहरे बौद्धिक—संतुलन में पचाकर आवेग के लम्बे और गहरे हाथों से वस्तुओं की खोज करके किया है। एक-एक कर विचारिये, किस तरह इस सामाजिक भ्रष्टाचार का पर्दाफाश हुआ है ? ऐसे आचार्यों को निर्देशक बनाना जो विषय के विशेषज्ञ न हों और जिनकी पहचान और भी ऐसे (व्यापारोन्मुख ?) आचार्यों से हो। इसके सिवाय यहाँ चमचेबाजी और झूठ और फरेब का प्रशिक्षण होता है। आचार्य या आचार्यों की अनुकूलता के लिए—आचार्य की ईर्ष्यापात्र नारियों की खोज—गोया स्कालर व्यभिचार के दायरे में प्रवेश करता है। आचार्य शत्रुओं की खोज और पहचान का मतलब रिसर्च स्कालर शत्रुता के गुणों की गहराई में सिद्धहस्त होना है। वह अपनी प्रतिभा से विषय की गहराई का स्पर्श करने के बजाय शत्रुता के विकास की जड़ों के लिए खाद तैयार ही नहीं करता—कोई-कोई तो स्वयं खाद बन जाता है। वह शत्रुता का विकास करके समाज में अमानवीयता

का अग बनता है। उसमे दूसरे के हित साधन मे बाधक बनने की दुष्प्रवृत्ति का बीजारोपण और पोषण भी होता है। उसका ज्ञान, खोज और विकास के रास्ते मे अलग जाकर आचार्यों की जड मान्यताओ, बल्कि मूर्खता की रटन्त से स्वय जडवद्ध हो जाता है। वह बाजार का लाया आम बनारस का बतलाकर शोषण की मुखालफत न करके घृणा और तिरस्कार की धार को द्विधर्मी स्वार्थ-पूर्ति के पत्थर पर घिसकर नष्ट कर देता है और झूठ और छद्म को आचरण का अग बना लेता है। और बहुत कर यह व्यक्ति जो मूर्खता के स्तर का होता है—आगे जाकर आचार्य के पवित्र आसन को (गुर कृपा ? से) रौदने का हकदार बन जाता है। कुल मिलाकर सब ऐसी बातें है जो आचार्यनुमा व्यक्ति के इर्द-गिर्द सामाजिक भ्रष्टता की सभावनाओ के साथ चक्कर लगाती रहती है। इसलिए प्रभर्त्सना का यह प्रहार कितना समाजवद्ध और तीखा है इसकी घातक पीडा का अनुभव रिसर्च करने और कराने वाले आचार्यों के सिवाय समाज के साधारण पढ़े लिखे लोग भी कर सकते है। मैंने हिन्दी के भूतपूर्व शोध छात्रो को (जो अब डाक्टर हैं) अलग-अलग अपने-अपने 'आचार्य प्रवर' की इसी तरह की प्रभर्त्सना करते और उनके आचरण की असामाजिक दुर्गन्ध से नाक सिकोडकर हँसते—गोया हँसकर निन्दा करते देखा-सुना है। जो भी हो यहाँ पर व्यग्यकार की सृजनात्मक दृष्टि कितनी सक्षम और सक्रिय है कि उसने इस प्रभर्त्सना रूप मे और अधिक प्रभाव-विस्तार के लिए भिन्न भिन्न (यदि चिह्न) रूपो के पतले एहसास बिन्दुओ की अन्तर्वस्तु की प्रवृत्यात्मक पकड और उसके सक्रिय घालमेल से प्रभर्त्सना का पूरी तरह नय प्रभाव-क्षेत्र म विकसित कर लिया है। एक सरसरी दृष्टि से देखिए—कटाक्ष (नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल मे—ज्ञान की अपूर्णता पर) निन्दा-विनोद (आचार्य की ईर्ष्यापात्र नारियों की शोध) उपहास (आचार्य की साहित्य सबधी मान्यताओं की खोज—नया साहित्य कचरा है, यशपाल नारेबाज है नयी कविता हुश्ट !) हेयहास (पान खिलाना, बच्चो को नाटक दिखाना, सौदा सुलुफ कर देना), आदि को विशेष-विशेष रीति से मिलाकर, आक्रमण की तेज रफ्तार के उठते क्रम मे—(एक प्रपोरशन के साथ) जोरदार प्रहार किया गया है। व्यग्यकार अपनी शक्ति की सम्पन्नता और सहज सफलता के विवेक के लिए व्यग्य के विभिन्न रूपो से अनुकूल रेशे निकालकर मजबूत जाल तैयार करता है जो फँसाने के बजाय अपने स्पर्श मे अधिक जहरीला साबित होता है। वह प्रभर्त्सना के द्वारा सुधार की गुजाइश का कायल न होकर, उसे ध्वस्त करने का आकांक्षी रहता है। सबसे पहले वह सामाजिक अपराध ही नहीं, अपराधिक प्रवृत्तियों की बाढ की छानबीन करता है और फिर उन सबको ध्वस्त करने के लिए अपराधी या अपराधियों को ध्वस्त करने की मशा लेकर आगे आता है। वह उन्हे सामाजिक तिरस्कार का अग कम मानता है वह तो उन्हे सामाजिक रोग के रूप म समाज से अलग कर देना चाहता है—उसको काटकर अलग फेंकना चाहता है। इसीलिए

दुष्प्रवृत्तियों को उघाडकर उनके जनक उन व्यक्तियों की ओर जाता है जो ऊँचाई पर बैठे है। वह वहीं पहुँचकर वहीं से ढकेलकर, ढेर कर देने के लिए, आगे आता है। अपराधों को खोलकर सामने लाना और अपराधियों को नष्ट करना उसका लक्ष्य है । वह इस कर्म के द्वारा पाठकों म प्रभाव और परिणाम के माध्यम से —उनकी मानसिकता को अपनी अनुकूलता मे बदल देता है और यही प्रभर्त्सना का मुख्य कार्य है। उसमे व्यग्यकार अकेला नष्ट करने को तैयार (अत मे) नही रहता बल्कि सारे पाठक अपनी मानसिक सघनता मे उसके उतने ही शत्रु हो जाते है जितना कि स्वय व्यग्यकार है। परसाई की प्रभर्त्सना का अन्तरग विकास और उसकी अपनी मौलिकता, आक्रोश के उभार म न होकर, आक्रोश की प्रौढता के आवगात्मक सतुलन म निहित रहती है—यह आधार परसाई के लेखन मे इतना विकसित है कि आक्षेप तक म आक्रोश की गहनता और अन्धता तक मे बौद्धिक प्रकाश का सतुलन और प्रहार की सतर्क दिशा का चयन मिल जायगा। देखिए इस आक्षप को— जो विडम्बना रूप की सवादिक सहज आत्मीयता के साथ सामने आता है। जहाँ व्यग्यकार आक्रोश की सघनता को ताकत मे बदलन के लिए विचारधारा के द्वन्द्वात्मक हथियारों का अन्तर्विरोधो क साथ नाकाम आचरण और परिणाम का खात्मा करता है।

" कमीशन—पर सम्पूर्ण क्रांति का नारा तो आपने ही दिया था ? जय प्रकाश—सही है, पर रिकार्ड है कि पूरी जिंदगी मैंन वही नारा दिया, जो हो नही सकता। यह मेरी आदत है और नियति भी। 1952 के पहले आम-चुनाव मे मैंने नारा दिया था कि प्रजा समाजवादी दल सरकार बनायेगा 'हमारी पार्टी की खटिया खडी हो गई। पार्टी का टूटना शुरू हुआ। मैं छिटककर विनोबा के पास चला गया। मैने भूदान का नारा विनोबा के साथ दिया। पर भूमि नही मिली। ग्रामदान का नारा दिया। ग्राम नही मिले। मैं देशदान का नारा भी दे रहा था, पर जवाहरलाल ने नही देने दिया। मैने जीवनदान का नारा दिया, पर मेरे सिवा किसी ने जीवन नही दिया। आखिर मैंने ही अपना जीवन वापस ले लिया। मैने पार्टीहीन लोकतत्र का नारा दिया। वह नही हुआ। मैने बुनियादी लोकतत्र का नारा दिया। वह नही हुआ। मैंने जनेऊ तोडने का नारा दिया, पर लोगों ने दो-दो जनेऊ पहन ली। मैंन नारा दिया जात तोडो, तो ऊँची और नीची जात वालो मे आपस मे सिरफुटौवल होने लगी। जो मैंने कहा वह कभी नही हुआ। मेरे चाल-चलन का ऐसा बढिया रिकार्ड है। सरकार बदली *और इसका रिकार्ड मेरे माथे मढ दिया गया! मैं बेकसूर हूँ।" (तीसरी* आजादी का जाच कमीशन)

प्रस्तुत आक्षेप मे व्यग्यकार ने अपने आक्रोश को तह देने के लिए उसे तह दकर अनुकूल वस्तुओ म छुपा देने के लिए विडम्बना रूप का सहारा लिया है, जिसम अपने कार्यों की तार्किक स्वीकृति की सहजता, हास्यास्पद को कायरता मे भी दूर रखकर निरर्थकता तक ले जाती है। जहाँ उसका अस्तित्व समाप्त

नहीं होता पर धुएँ की रेखाओं जैसा उभर-उभरकर फुस्स होता रहता है। व्यग के आक्षेप रूप मे व्यग्यकार छुपकर हत्या करने वाला हत्यारा होता है जिसमे हास्यास्पद को समाप्त होते तो देखते है किन्तु समाप्त करने वाले को नही देख पाते। विडम्बना के सहारे से ठोस आधार और अधिक प्रबलता के साथ प्रमाणित होता हुआ प्रहारात्मक सफलता अर्जित करता है। आक्षेप मे समाज मे किये गये कार्य अकार्य-दुष्कार्य बिन्दुओं से हास्यास्पद पर एक सगठित अस्त्र धारा उसके सिर पर एक साथ टूटती है—गिरती है। इस तरह अवाछित कार्य समाज से निर्णीत अवाछित कार्यों के रूप मे उस पर ही 'अटेक' करने आगे आते है। सामाजिक अस्वीकृति और फिर यही दण्ड स्वीकृति की भावना उसका विध्वस करती है। लेकिन यहाँ स्थिति थोडी भिन्न है—क्योंकि व्यग्यकार ने यहाँ हास्यास्पद को इतना छोटा बना दिया है—हीन कर दिया है कि समाज उस पर प्रहार करना ठीक नही मानता तो यह अस्वाभाविक नही। क्योंकि हास्यास्पद स्वय अपने हाथो ही ढेर हो रहा है यह समाज अपनी आँखो से देखता है। बहरहाल यही कि व्यग्यकार ने हास्यास्पद को दयनीय और निरीह बनाकर—'निष्फल अकर्मण्य' बनाकर 'नाकुछ' की निरीहता मे डुबो दिया है, जहाँ उसकी साँस थोडी थोडी चल भर रही है, वह अपने कार्यों की अकर्मण्य स्वीकृति के साथ स्वय ढेर हो रहा होता है।

जो भी हो, परसाई के इन व्यग्यात्मक रूपो के विकास के पीछे उनकी सामाजिक अन्तर्वस्तु के, विचारधारा के व आधार हैं जिनका सत्व अपनी रूपात्मक प्रक्रिया मे समय और स्थान के आयामो के साथ, अपनी अनुकूलता के लिए अनुकूल तेज हथियारो को प्राप्त करके, उनके चलाने, उपयोग कर लेने की प्रक्रियाओं का भी विकास कर लेते हैं। वास्तव मे उनके समूचे व्यग्यात्मक विकास के पीछे स्वय उन नये-नये सरोकारो की सृष्टि भी है, जो मनुष्य की मुक्ति से सम्बद्ध है। यह सृष्टि अपनी सार्थकता मे (तब तक) होती रहेगी जब तक मुक्ति की प्रत्याशा उन उच्च सम-भूमियो तक ले जाया करेगी जो वाछित, आकाक्षित और सघर्ष तथा वर्गहीन समाज की विजय और स्थापना की निश्चितता से जुडी है। यदि परसाई के लेखन का यह आधार बिल्कुल सही है (और जैसा कि अभी इस निबन्ध मे सही प्रमाणित होता है) तो यह निश्चित है कि उनका लेखन इतिहास और वर्तमान के साथ उन भविष्योन्मुख सरोकारो की एक प्रक्रिया है जो अपनी रचनात्मकता और सामाजिक वास्तविकता मे उजागर होकर मनुष्य की मुक्ति को आकार देने म सलग्न है। इसीलिए यह सब सघर्ष का एक दस्तावेज भी है।

वैसे हमे इस पिटी पिटाई बात पर भी विचार करना चाहिए कि व्यग्यकार का काम क्या केवल हास्यास्पद पर प्रहार करना होता है? और इस प्रहार मे वह पाठकों को मजा देता है! यह दृष्टिकोण आज के विकसित व्यग्य के लिए बहुत कुछ अध बना और अधूरा भी है। वास्तव मे सच्चा और समझदार व्यग्यकार,

अपनी लडाई मे, पाठको को अपने साथ करता है। और साथ करने के लिए वह दो काम करता है। एक तो वह अपनी जैसी दृष्टि प्रदान करके, वस्तुओ को उनके परिवेश के साथ, पूरी तरह समझ पाने का विवेक देता है। और दूसरी बात यह है कि वह उनके मानसिक आधार को अपने अनुरूप मजबूती देकर, उनकी सवेदनात्मक रुझान मे अपने आवग की दिशा का समायोजन और अन्तर्प्रवाहन करके उन्हे साहसी योद्धा बनाता है। लडाई के लिए भीतर-बाहर से तैयार करता है। साहित्य के दूसरे रूपो की अपेक्षा व्यग्य माध्यम की तैयारी कुछ दूसरे तरह की होती है—जो तात्कालिक उद्वेगों की पूर्ति और भविष्योन्मुख जिज्ञासाओ के लिए खाली मैदान निर्मित करने वाली—लडाई के मैदान की जगह तैयार करने वाली कही जा सकती है। दूसरी तरह से यह कि वह सामाजिक परिवेश से सीधा सम्पर्कित करके बौद्धिक दृष्टि मे विकास और प्रकाश एक साथ देता है। और आवेग और आक्रोश की दिशा को आगे तक आकारित कर देता है—जैसे कोई पक्की नहर बनाता है। यहाँ तक आते-आते व्यग्य मे न तो हँसी रह जाती है और न हँसने वाले हजरत रह जाते है। यहाँ केवल अपनी जमीन से उठकर, व्यग्यकार के साथ शामिल होने वाले लोगो का समाज ही रह जाता है। जो व्यग्य-रचनाओ के अनेक छोरो के, अन्त के सश्लिष्ट बिन्दुओ से आकारित, एक ठोस केन्द्रीय भूभाग होता है, जहाँ सब खडे हुए प्रतीक्षारत होते है। परसाई इस प्रतीक्षा मे *योग करने वाले लोगो के बीच कितने बडे भागीदार है, अब इतिहास स्वय इस बात* को उजागर करने की प्रतीक्षा मे हो तो आश्चर्य नही। परसाई का लेखन, उनकी परख और प्रकाश हमारी पहचान की द्वन्द्वात्मकता मे जुडकर कितने सार्थक हो सकेगे, हमे अब इस बात की प्रतीक्षा है।

—मलय

मूल्य और मूल्यांकन

व्यंग्य का सर्जनात्मक कर्म

हरिशंकर परसाई ने परिमाण और गुण दोनो की दृष्टि से एक जनवादी कथा-कार के दायित्व की पूर्ति की है। व्यग्य-कथा ने आज हिन्दी मे एक विशिष्ट विधा के रूप मे जो अपनी पहचान बनायी है, इसका नब्बे प्रतिशत श्रेय परसाई की रचनाओ को ही है। व्यग्य-रचना उनके लिए देश-विदेश के अनेकानेक व्यग्यकारो की तरह मात्र 'फनी थिंग्ज'[1] (हास्यजनक विषय-वस्तु) नही है, वह 'विद्रूप का उद्घाटन', 'परदाफाश', 'करारी चोट', 'गहरी मार' या सिर्फ झकझोर देने[2] की प्रक्रिया का एक लम्बा सिलसिला ही नही है, यह तो गहरे और व्यापक 'सामाजिक-राजनैतिक अर्थ-सकेतो'[3] की सम्प्रेषक सर्जनात्मक प्रक्रिया का एक अग है। ऐसी सर्जनात्मक प्रक्रिया तभी तक जीवत और सार्थक रह पाती है जब तक कि वह समष्टि से अपनी ऊर्जा ग्रहण करती रहे। यह सर्जनात्मक प्रक्रिया व्यापक और गहन जीवन-बोध, वैज्ञानिक विश्वदृष्टि, रचनाकार की आस्था और विश्वास पर निर्भर रहती है। अपने आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सास्कृतिक परिवेश के प्रति एक साथ सवेदनात्मक और आलोचनात्मक सवाद स्थापित करती हुई, उसके प्रति क्रियावान-प्रतिक्रियावान होती हुई, उसकी विसगतियो के व्यापक और गहन अहसास को एक तर्कसगत परिणति प्रदान करती हुई वह हमे और अधिक जागरूक और मानवीय बने रहने का सुझाव देती है। सामती, अर्द्ध-सामती, अर्द्ध-पूंजीवादी और पूंजीवादी मानसिकता से उत्पन्न विकृत रुचियो को गुदगुदाने की बजाय वह आदमी की चेतना को प्रखर और धारदार बनाने मे अपनी सास्कृतिक-साहित्यिक भूमिका का निर्वाह करती है। व्यग्य-रचना की ऐसी सर्जनात्मक प्रक्रिया से भी कुछ 'आत्ममुग्ध स्वतन्त्रचेता' बुद्धिजीवियो को उपदेश की गध आती है (क्योकि उनकी नासिकाए व्यक्तिवाद के विषाणुओ को सूंघ-सूंघकर लगभग सड गयी हैं)। ऐसे परिभू स्वयमू-ओ को आचार्य मम्मट के इस वाक्य की याद दिलाना अप्रासगिक न होगा—"· व्यवहार विदे, शिवेतर क्षतये। कान्ता सम्मतयॉ उपदेश युजे" साथ ही ऐसे 'बुद्धिजीवी' अक्सर वही होते है जो (परसाई के ही शब्दो मे) "किसी के प्रति दायित्व का

1 सदाचार का तावीज, कैफियत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1971, पृ० सख्या 5

2 वही

3 वही

कोई अनुभव नही करते। वे सिर्फ अपने को मनुष्य मानते है और सोचते हैं कि हम कीडो के बीच रहने के लिए अभिशप्त है। ये लोग तो कुत्ते की दुम मे पटाखे की लडी बाँधकर उसम आग लगाकर कुत्ते के मृत्यु-भय पर भी ठहाका लगा लेते हैं।"[1] शायद इसी तरह की मानसिकता एक समय रूस मे भी वहाँ के 'बुद्धिजीवियो पर हावी हो गयी थी जिसका हवाला देते हुए मैक्सिम गोर्की ने अपने 'व्यक्तित्व का विघटन' शीर्षक निबन्ध मे लिखा था—"हमारे देश मे एक नयी किस्म का लेखक पैदा हुआ है—एक पब्लिक मसखरा, एक विदूषक किस्म का लेखक, जो सस्ते मनोरजन के भूखे फिलिस्टाइन लोगो की विकृत रुचियो को गुदगुदाने का काम करता है। ऐसा व्यक्ति 'देश' की नही 'पब्लिक' की सेवा करता है। उसकी सेवा ऐसे आदमी की सेवा नही है जिसे अपनी साक्षी देने और अपना निर्णय सुनाने के लिए आमन्त्रित किया गया है। बल्कि, उसकी सेवा इस प्रकार की है जैसे एक मेढक-भक्षी गरीब आदमी अपने मालिक की खिदमतगारी करता है। वह पब्लिक मे अपने-आपको ही मुँह बिचकाता है और स्वय अपना मखौल उडाता है।"[2]

निश्चय ही ऐसे 'व्यग्य-लेखको' की रचना-प्रक्रिया और परसाई की सर्जनात्मक प्रक्रिया मे एक गुणात्मक अन्तर है। उदाहरण के लिए 'गेहूँ का सुख' शीर्षक उनकी एक छोटी-सी व्यग्य-रचना है। लेखक अपने घर से ही प्रारम्भ करता है—"भाई ने ठेले परसे बोरे उतरवाकर बरामदे मे रखवाये और एक हाथ कमर पर रख दूसरे मे पसीना पोछते हुए कुछ इस तरह मेरी ओर देखा मानो कह रहा हो···आज देखो मेरी सामर्थ्य ! तुम कभी इतना गेहूँ लाये ? ठीक कहता है। मुझसे कभी यह नही बना। जो-जो मुझसे कभी नही बना, यह भाई कर दिखा रहा है।" इसके बाद बातचीत का सिलसिला काले बाजार मे गेहूँ के बोरो की ओर हमारा फोकस ले जाता है—"एक जून का आटा अँगोछे मे बाँधकर चलने वाले को सजा हो जाती थी और उधर हजारो बोरे गेहूँ रातोरात सीमा पार हो जाता था।" यहाँ आकर लेखक सामाजिक अन्याय के एक वर्ग-विशिष्ट पक्ष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है—"न्याय को अन्धा कहा गया है—मैं समझता हूँ, न्याय अन्धा नही काना है, एक ही तरफ देख पाता है।" व्यग्य यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते एक सार्थक परिणति का रूप लेने लगता है। यानी न्याय की पक्षधरता देखिए, वह अँगोछे मे आटा बाँधकर ले जाने वाले गरीब को नही बख्शता, क्योकि उसे एक आँख से ही दिखायी देता है, लेकिन अपने दाहिनी तरफ का कालाबाजार उसे दिखायी नहीं देता। अत न्याय अन्धा नही है, काना है। इसी के पीछे एक और महत्त्वपूर्ण अर्थ-सकेत है। प्राय यह धारणा

1 सदाचार का तावीज, कैफियत, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1971, पृ० 10

2. 'व्यक्तित्व का विघटन'—गोर्की। अनुवादक शिवदान सिंह चौहान, श्रीमती विजया चौहान। राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1969, पृ० सं० 72

रही है कि काने की एक रग फालतू होती है। जो अन्धा है, वह सहानुभूति का अधिकारी हो जाता है, लेकिन काना, वह तो काइयाँ भी होता है। विद्यमान न्याय-प्रणाली के प्रति कोई सहानुभूति रखने की जरूरत नहीं है। वह एक तरह के काइयाँपन पर आधारित है। इसके बाद लेखक भूलोक से स्वर्गलोक का दृश्यावलोकन कराता हुआ कहता है—"आदम इस न्याय धर्म का शिकार हुआ। स्वर्ग के निवासियो को गेहूँ खाने वाले से इतनी नफरत क्यों हुई? ••स्वर्ग के वासियो ने सोचा होगा कि आदमी को गेहूँ का चस्का लग गया है, अब यह गेहूँ पैदा करेगा, खेत जोतेगा, अनाज बोयेगा, फसल काटेगा—यानी परिश्रम करेगा। व स्वय तो बिना खुद पैदा किया खाद्य खाते थे। जिन्हे पसीना सिर्फ गरमी और भय से आता है, वे श्रम के पसीने से बहुत डरते हैं। स्वर्ग के आलसी, निठल्ले, परोपजीवी निवासी कर्मी मनुष्य से डरे होंगे और घबडाहट में उसे बाहर निकाल दिया होगा।" रचनाकार प्रकारान्तर से यह व्यंजित कर रहा है कि 'स्वर्गलोक' की कल्पना आलसी, निठल्ले और परोपजीवी वर्ग ने की थी। इसके अतिरिक्त यह भी व्यंजित किया गया है कि श्रम के पसीने से डरे हुए 'देवताओ' और अपने परिश्रम से अपनी जीविका अर्जित करने वाले आदमियो का सघर्ष बहुत पुराना है।

लेखक पुन अपने घर की ओर लौटता है—"गेहूँ के बोरे ने जादू कर दिया। कल भाई-बहन में किसी बात पर खटपट हो गयी थी। आज दोनो ने बोरे का एक-एक सिरा पकडकर घसीटा तो मन मिल गया। बोरा सेतु बन गया।" व्यग्य यह है कि यह गेहूँ का बोरा ही मानव और मानव के बीच सेतु बन सकता है क्योंकि इसका अभाव ही सघर्ष को जन्म देता है। अन्न का अभाव ही सारे क्लेशों का एक प्रमुख कारण है।

अन्त में रचनाकार की टिप्पणी एक विशिष्ट अर्थ-सकेत की वाहक है—"कुछ लोग गेहूँ की बात को 'भौतिक' कहकर मुँह चिढाते है। अगर भौतिक बुरा है तो सबसे बडी भौतिक क्रिया तो जन्म धारण करना है। तो भाई, भौतिकता से पिंड छुडाने के लिए मरते क्यों नही? उपनिषद का वह ब्रह्मचारी मूर्ख नही था, जिसने छूटते ही कहा कि अन्न ब्रह्म है। लेकिन अब कुछ लोग गेहूँ से गुलाब की ओर इस तरह ले जाते हैं, जैसे गेहूँ जरूरत से ज्यादा हो गया, इसलिए गुलाब की खेती करनी चाहिए।" यहाँ गुलाब के बहाने बूर्ज्वा सौन्दर्य-चेतना और गेहूँ के बहाने मानव की आत्यतिक आवश्यकता के बीच के अन्तर्विरोधो को व्यजित किया गया है। गुलाब के मुकाबिले परसाई गेहूँ को तरजीह देते हैं। गेहूँ की बालो से लहलहाते खेतो का सौन्दर्य गुलाब की क्यारियो के सौन्दर्य से निस्सन्देह उन्नत स्तर का होता है। यही वह अन्तर है जो दो तरह की मानसिकताओ को अलग कर देता है। परसाई के व्यग्यो में गुलाबी मानसिकता का मजाक उडाया जाता है। गेहूँ यहाँ मानव-समाज की आवश्यकताओ को तरजीह देने वाली सामाजिक चेतना का प्रतीक बन जाता है। 'भौतिक चेतना' कहकर मुँह बिचकाने वाले

'अध्यात्मचेताओ' की खबर लेते हुए परसाई उपनिषद के ही ब्रह्मचारी का हवाला देते है (यानी उन्ही का जूता उन्ही के सिर पर दे मारते है)। "···जैसे गेहूँ जरूरत से ज्यादा हो गया···" कहते हुए उस राजनीति की ओर इशारा करते हैं जो जनता का ध्यान असली मुद्दो और आवश्यक समस्याओ से हटाती हुई तथा फालतू और अनावश्यक किस्म की समस्याओं मे उलझाये रखती हुई अपना उल्लू सीधा करती जाती है।

इस प्रकार 'गेहूँ का सुख' शीर्षक व्यग्य-रचना का उदाहरण देते हुए, बानगी के तौर पर, मैंने यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि परसाई की सचेतन और व्यापक व्यग्य-रचनाओ मे किस प्रकार एक सिलसिलेवार बातचीत की सी विधा होती है, बोलचाल की भाषा मे बातचीत का यह सिलसिला किस प्रकार व्यक्ति से समष्टि की यात्रा तय करता हुआ एक तर्कसगत परिणति का स्वरूप ग्रहण कर लेता है और इस यात्रा मे मार्ग के दोनो ओर पडने वाले, सारे जीवन-सदर्भो को ध्वनित करता हुआ तथा एक कुशल योद्धा की तरह अपने अनुभव-कोष के तूणीर से व्यग्यो की बाणवर्षा करता हुआ अग्रसर होता है। इन जीवन-सदर्भो मे 1 व्यक्तिगत सुख-दु ख, राग-द्वेष, 2 पारिवारिक और सामाजिक समस्याएँ 3 राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, और अन्य प्रकार के अनेकानेक प्रसग शामिल होते हैं। इस यात्रा के अन्तिम पडावो के रूप मे रचनाकार नये युग के क्रान्ति-कारी जीवन-मूल्यो को सम्प्रेषित करता है।

परसाई की व्यग्य-रचनाओ मे व्यजित अर्थ-सकेतो को ग्रहण करने के लिए एक जागरूक मानसिकता की अपेक्षा रहती है। वरना अक्सर ऊपरी और सतही छीटाकशी का आनन्द तो मिल जाता है लेकिन अभिप्रेत अर्थ-सकेतो की ओर पाठक का ध्यान नही जाता। उनकी प्रत्येक व्यग्य-रचना की तह मे मानवीय करुणा और मानवीय कल्याण के गम्भीर अहसास की अन्तर्धारा होती है। "Reader will have to prepare himself" का आधुनिक पाश्चात्य साहित्य-सिद्धान्त यहाँ पूरी तरह लागू होता है। बहरहाल पाठक को सिर्फ इतनी तैयारी करना पर्याप्त होता है कि उसकी गुलाबी मानसिकता टूट जाये और वह गेहूँ वाली मानसिकता अपना ले। यह कोई आश्चर्य की बात नही है, निराला न 'कुकुरमुत्ता' की रचना हिन्दी पाठको की गुलाबी मानसिकता को तोड डालन के लिए ही तो की थी!

मानवीय करुणा और मानवीय कल्याण के गम्भीर, गहरे और व्यापक अहसास की अन्तर्धारा के उल्लेख के रूप मे उनकी दो व्यग्य-कथाओं 'इस्पेक्टर मातादीन चाँद पर' और 'मन्नू भैया की बारात' के उदाहरण देना अप्रासगिक न होगा। *"इस्पेक्टर मातादीन चाँद पर" अपने सतही रूप मे पुलिस की ज्यादतियो (Police* excesses) की ओर देश की जनता का (और देश के कर्णधारो का) ध्यान ले जाने वाली एक व्यग्य-कथा है जो फैंटेसी की शैली मे लिखी गयी है। अपने-आपमे सतही तौर पर सही, यह भी कोई कम महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नही है। लेकिन, इस व्यग्य-

कथा की सार्थक परिणति उस मानवीय करुणा और मानवीय कल्याण के गम्भीर, गहरे और व्यापक अहसास के सम्प्रेषण में है जो उक्त कथा की अन्तिम पंक्तियों मे व्यंजित की गयी है—"आपके मातादीन ने हमारी पुलिस को जैसा कर दिया है, उसके नतीजे ये हुए हैं कोई आदमी किसी मरते हुए आदमी के पास नहीं जाता, इस डर से कि वह कत्ल के मामले में फँस जायेगा। बेटा बीमार बाप की सेवा नही करता। वह डरता है, बाप मर गया तो उस पर कहीं हत्या का आरोप नहीं लगा दिया जाये·· बच्चे नदी मे डूबते रहते हैं और कोई नही बचाता, इस डर से कि उस पर बच्चों को डुबाने का आरोप न लग जाये।"

जरा पाठक गौर करें कि देश की आम जनता कितने भयावह सत्रास में जी रही है। (वो बात भला क्या बिगड़ेगी जो बात यहाँ तक आ पहुँचे) यदि थोड़ी भी मानवीय संवेदना हो तो समाज की यह स्थिति हृदय को हिला देती है। मानवीय करुणा का यह अहसास एक अर्थपूर्ण आक्रोश की दिशा में सक्रियता प्रदान करता है।

इसी तरह 'मन्नू भैया की बारात' शीर्षक व्यग्य-कथा के ऊपरी कलेवर मे बारातियों का उचक्कापन ही उभरता है, लेकिन कन्या के पिता की मृत्यु पर जो कारुणिक अवसाद उभरता है, वह किसी भी बेटी वाले के लिए 'रोदिति ग्रावाऽपि, गलति वज्रस्य हृदयम' से कुछ कम नही है। भारतीय परिवारों मे विवाह के महोल्लास की पृष्ठभूमि में कन्या का पिता कितना अभागा होता है, इस तथ्य का जितना गहरा अहसास यह व्यग्य-कथा कराती है, समीक्षा की शैली मे उसका संकेत कर पाना भी असभव प्रतीत होता है।

विषय-वस्तु की व्यापकता और विविधात्मकता की दृष्टि से परसाई की व्यग्य-रचनाओं का एक विराट ससार है। मानव, समाज और प्रकृति (जिसमे मानव-प्रकृति भी शामिल है) से सम्बन्धित शायद ही कोई ऐसा विषय हो जिस पर उनका ध्यान नही गया। धर्म, दर्शन, राजनीति सम्बन्धी सभी समस्याओं पर उनका ध्यान जाता है। धर्मान्धता, मतान्धता, विचारान्धता ('सस्कारों की लड़ाई', 'भारत को चाहिए जादूगर और साधू'), छद्म कर्मशीलता, और झूठे प्रकृति प्रेम ('आचार्य जी, एक्सटेंशन और बगीचा'), और छद्म बुद्धिजीविता ('बुद्धिवादी') की उन्होंने कड़ी और निर्मम आलोचना की है। सुविधाभोगी थैलीशाहों ('असुविधाभोगी'), जमाखोरों ('जमाखोर की क्रान्ति'), भ्रष्ट और अवसरवादी राजनैतिक नेताओं ('राजनीति का बँटवारा'), जन-जीवन से कटे भ्रष्ट प्रोफेसरों (वेताल की छब्बीसवीं कथा'), कुत्ते की तरह फेथफुल ब्यूरोक्रैटों ('साहब महत्त्वाकांक्षी'), चुनाव के दिनों मे नयी नस्ल की तरह पैदा होने वाले राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं ('धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे'), सेक्स-ग्रस्त साधुओं ('राग-विराग'), देशद्रोहियों, समाज-विरोधी तत्त्वों ('चावल से हीरे तक') और प्रति-क्रियावादियों की उन्होंने निर्भय होकर भर्त्सना की है। झूठी प्रतिष्ठा ('लघुशका न करने की प्रतिष्ठा'), झूठी साहित्यिकता ('अमरता'), महत्त्वाकांक्षा ('साहब

महत्त्वाकांक्षी'), झूठी देशभक्ति ('देश के लिए दीवाने आये'), उत्सववादिता (अकाल-उत्सव) आदि जैसी कितनी ही मनुष्य और समाज की कमजोरियों की उन्होंने आलोचना की है। अपने देश-काल और समाज का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं बचा होगा जिसकी विसंगतियों और विडम्बनाओं का उन्होंने चित्रण न किया हो। मनोवृत्तियों की तह में जमे हुए हर तरह के पाखंड को उन्होंने अपनी कलम से कुरेदा है। किसी व्यंग्य-रचना में आलोचना का केन्द्र 'व्यक्ति' है ('एक तृप्त आदमी') तो किसी में पूरा मोहल्ला है ('एक लड़की, पांच दीवाने'), किसी में नगर ('कर कमल हो गये') तो किसी में पूरा देश ('पेट का दर्द और देश का')। रचना-सामग्री का इतना व्यापक आयाम शायद ही किसी समकालीन कथाकार ने सजोया हो। कहीं-कहीं तो एक ही व्यंग्य-कथा के अन्तर्गत एक ही स्वीप (Sweep) में व्यापक से व्यापकतर उड़ानें भरती हुई उनकी प्रतिभा आश्चर्यचकित कर देती है। पेट के दर्द से शुरू करते हैं और देश के दर्द पर खत्म करते हैं। लेकिन संवाद का सिलसिला नहीं टूटता और तर्क की संगति कभी रहती है।

विधा और स्वरूप दोनों ही दृष्टियों में उन्होंने बहुविधात्मक और बहुरूपात्मक व्यंग्य-साहित्य की सृष्टि की है। विधा की दृष्टि से यदि देखें तो कुछ व्यंग्य-रचनाएँ निबन्धपरक हैं जैसे 'भूत के पाँव पीछे' शीर्षक पुस्तक में संकलित रचनाएँ तो कुछ रचनाएँ टिप्पणियों के रूप में हैं, जैसे 'अपनी-अपनी बीमारी'। कुछ इन्टरव्यूपरक हैं, जैसे 'सज्जन, दुर्जन और कांग्रेस जन', 'प्रजावादी समाजवादी', 'लोहियावादी समाजवादी'। कुछ संस्मरणपरक, जैसे 'बारात की वापसी'। कुछ लघु कथात्मक, जैसे 'हनुमान की रेलयात्रा'। कुछ मिनी कथाएँ भी हैं (लघुतम आकार की ऐसी कुछ छोटी-छोटी कथाएँ मन्टो ने भी लिखी थीं)—जैसे 'मित्रता', 'देवभक्ति', 'जाति', 'लिफ्ट', 'खेती' आदि। ये 'सदाचार का तावीज' में संकलित हैं। कुछ लम्बी कहानी हैं, जैसे 'एक लड़की पाँच दीवाने'। कुछ लघु उपन्यास, जैसे 'ज्वाला और जल', 'तट की खोज', 'रानी नागफनी की कहानी' आदि-आदि। स्वरूप की दृष्टि से भी इन व्यंग्य-रचनाओं के अनेक प्रकार हैं। फैंटेसीपरक कथाएँ, जैसे 'प्रेमियों की वापसी' जिसमें नायक-नायिका प्रेम करने की स्वतन्त्रता न मिलने पर आत्महत्या कर लेते हैं लेकिन स्वर्ग-लोक में प्रेम करने की स्वतन्त्रता से ही ऊबकर वापस भूलोक में आना चाहते हैं। कुछ कथाएँ मिथक और पुराण प्रसंगात्मक हैं, जैसे—'लंका विजय के बाद', 'सुदामा के चावल'। कुछ बेताल कथाओं की शैली में हैं—जैसे 'बेताल की छब्बीसवीं कथा' आदि। कुछ कथाओं में फैंटेसी और मिथक के मिश्रित प्रयोग हैं—जैसे 'भोलाराम का जीव', 'त्रिशंकु बेचारा'। लघु प्रेमाख्यानों के रूप में भी कुछ प्रयोग किये हैं। आधुनिक भारतीय फिल्मों की चलताऊ कथानक रूढ़ियों पर एक महत्त्वपूर्ण व्यंग्य-कथा ('एक फिल्म कथा') है जो फिल्मी कथानक के ही रूप में अभिकल्पित है। इस कहानी को पढ़ने के बाद फिल्मों के कथानक सम्बन्धी सारे टोटकों और नुस्खों की कुंजी मिल जाती है और फिर कोई आधुनिक फिल्म

देखने की जरूरत नही रह जाती। कुछ कहानियां दिनचर्यात्मक विवरणों के रूप मे लिखी हैं—जैसे 'दस दिन का अनशन'। कहानियों के इतने तरह-तरह के प्रयोग हिन्दी मे और किसी भी कहानीकार ने नहीं किये।

कुल मिलाकर बडी-छोटी रचनाओं की गिनती करें तो उन्होंने लगभग एक हजार से ज्यादा व्यग्य-रचनायें की है। प्रत्येक रचना सर्जनात्मक क्षमता और मूल्यवत्ता का पारदर्शी क्रिस्टल है। परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियो से उन्होंने एक महान रचनाकार के दायित्व की पूर्ति की है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि परसाई ने अपनी रचनाओं द्वारा मानव-समाज के कलुष और अशिव पक्ष को क्षत-विक्षत करने की भरसक कोशिश की है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों से अनुभवों को बटोरते हुए, इस प्रक्रिया मे अपने पैने आब्जर्वेशनों का इस्तेमाल करते हुए, अपनी जागरूक और वैज्ञानिक विश्वदृष्टि द्वारा उन्हे एक तर्क-सगत परिणति प्रदान करते हुए और इस पूरे प्रोसेस मे अपनी प्रतिभा का उत्तरोत्तर विकास करते हुए व्यग्य-लेखन के क्षेत्र मे उन्होंने एक ऐसी सिद्धावस्था प्राप्त कर ली है जिसका मूल्यांकन करना अतिशयोक्ति कहला सकता है। क्योंकि, जीवन-काल मे ही लेखक का मूल्यांकन करना हिन्दी की परम्परा के अनुकूल नही है, ऐसे किसी भी मूल्यांकन को 'स्तुति', 'पक्षपात' या 'प्रशस्ति' आदि के फतवे दिए जा सकते हैं। तथापि यह तो कहा ही जा सकता है कि पूंजीवादी-अर्द्धसामन्ती माहौल मे मानव के निरतर होते हुए अवमूल्यन को इस रचनाकार ने बडे सार्थक और सटीक ढग से चित्रित किया है। प्रेमचद ने कहा था कि साहित्य समाज की आलोचना है। इस दृष्टि से हरिशकर परसाई हमारे समकालीन समाज के सबसे समर्थ समालोचक हैं। इस आलोचना करने के जो जोखिम होते है, उन्हे उन्होंने निर्भय होकर आगे बढते हुए अगीकार किया है। शाहेवक्त की भी उन्होंने बडी से बडी आलोचना की है। 'उखडे खम्भे' शीर्षक उनकी प्रसिद्ध व्यग्य-कथा मे उस एलान का सदर्भ है जो भूतपूर्व प्रधानमत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने मुनाफाखोरो के खिलाफ किया था। इस व्यग्य-कथा मे जब मुनाफाखोरो को बिजली के खम्भे से लटकाए जाने की घोषणा की जाती है तो रातोरात सब खम्भे उखाड दिए जाते हैं। मुनाफाखोरों को दड देने के श्री नेहरू के हवाई साहस की जो परिणति हुई वह इतिहास के तर्क को देखते हुए स्वाभाविक ही थी। इसी प्रकार 'अकाल-उत्सव' शीर्षक फैंटेसी मे रचनाकार को अनेक दु स्वप्न आते हैं। ऐसी ही एक दु स्वप्न मे भूखी जनता "विधान सभा और ससद की इमारतों के पत्थर और ईंटें काट-काटकर" खाती हुई दिखाई देती है। 'भोलाराम का जीव' शीर्षक फैंटेसी मे हम देखते हैं कि रिटायर्ड कर्मचारी भोलाराम की मृत्यु हो चुकी है। स्वर्गलोक मे धर्मराज परेशान हैं कि भोलाराम के प्राण-पखेरू उडने के पांच दिन बाद भी उसका जीव स्वर्गलोक मे नही पहुँचा। बाद मे भू-लोक की खाक छान लेने के बाद नारद मुनि यह पता लगाने मे सफल होते हैं कि भोला-

राम का जीव तो उसके दफ्तर की उस फाइल मे अटका है जिस पर अभी भोला-राम की पेंशन का मामला तय होना है। मामला तय नही हो पा रहा क्योंकि भोलाराम की ओर से पेंशन सबधी आवेदन पर कोई 'वजन' नही रखा गया था। 'वजन' (रिश्वत) न रखे जाने के कारण कितने ही ऐसे कागज अफसरो की मेजो से उड-उडकर इस देश के वायुमडल मे उड रहे है।

व्यग्य करने की उनकी सी क्षमता हिन्दी के दूसरे किसी भी समकालीन लेखक मे नही है। इस दृष्टि से कुछ समर्थ वाक्यो की बानगी देना अप्रासगिक न होगा। 'चुनाव के ये अनन्त आशावान' शीर्षक रचना मे कहते हैं—"नेतागिरी आवाज के फैलाव का नाम है।" 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' शीर्षक रचना मे कहते है—"मतदान का 'पवित्र' अधिकार जिसे कहते हैं उसे यह रिक्शा वाला हाथ पर काला धब्बा लगाना कहता है।" 'भेडें और भेडिए' शीर्षक रचना मे बूढा सियार (जो बूढे पूंजीवादी राजनैतिक नेता का प्रतीक है) जब आकाश की ओर देखता है तो उस पर टिप्पणी करते हुए कहते है—"बूढा सियार अब ध्यानमग्न हो गया। उसने एक आँख बन्द की। नीचे के होठ को ऊपर के 'दाँत' से दबाया और एकटक आकाश की ओर देखने लगा जैसे विश्वात्मा से कनेक्शन जोड रहा हो।" पाठक जी का केस' शीर्षक व्यग्य-कथा मे पाठक जी अपने केस के लिए अनुष्ठान कर रहे है। वे रोज नियम से सुबह-शाम दो-दो घण्टे पूजा करते है। पडोसी की तबियत खराब हो जाए 'वे पूजा के बीच नही उठते चाहे दुनिया इधर की उधर हो जाए' लेकिन दफ्तर के साहब (सेक्रेटरी साहब) का बुलावा आने पर उनकी पूजा भग हो जाती है। पत्नी उनके इस तरह भगवान की पूजा छोडकर उठ आने पर कैफियत देने का कमजोर प्रयत्न करती है तो पाठक जी दाँत पीसकर कहते है—"क्या भगवान भगवान लगा रखा है! 'केस' भगवान के पास है कि सेक्रेटरी के पास?" और अफसर से मिलने के लिए चल देते है। 'शहादत जो टल गई' मे एक 'क्रान्तिकारी' कवि पर टिप्पणी करते हुए कहते है—"उन्हे कविता म क्रान्तिदेवी के उरोज दीखते थे। एक दिन उन्होंने कविता पढी तो ऐसा लगा कि आज उन्हे क्रान्तिदेवी मिल जाए तो बलात्कार कर लेंगे।" क्रान्तिकारी लफ्फाजी पर इससे अधिक तीखा व्यग्य और क्या हो सकता है! 'गुड की चाय' शीर्षक व्यग्य-रचना मे कहते है कि "दाने दाने पर काला बाजार वाले का नाम लिखने लगा है।" एक पुराने प्रचलित मुहावरे का आधुनिक सदर्भ मे *इससे अधिक सर्जनात्मक इस्तेमाल और क्या होगा!* 'दूसरे के *ईमान* के रखवाले' मे आने वाली घटनाओं का सकेत देते हुए कहते है—"बिहार के भूखो की आँखो मे भी पीडा के साथ लाल डोरे दिखने लगे है।" इसी व्यग्य-रचना मे एक स्थान पर सवाल करते है कि "अगर सब मिथ्या माया है, तो मठ की गद्दी के लिए शकराचार्य हाईकोर्ट म मुकदमा क्यो लडते है?" इससे अधिक *अर्थपूर्ण और सवाल क्या होगा?* 'सज्जन, दुर्जन और काग्रेस जन' शीर्षक व्यग्य-रचना मे 'भैया साहब' नाम क एक काग्रेसी नेता पर टिप्पणी करते हुए कहते

हैं—"भैया साहब का ब्राह्मणवाद जनसघ के हिन्दुवाद के खिलाफ एक कवच है।" यह 'भैया जी' नाम का पात्र उनकी रचनाओं मे बार-बार आया है, तो यह अचानक नही है। 'भैया जी' शुद्ध 'गाधीवादी' हैं। 'खादी जी' की पूजा करते है। उनके घर मे 'तक्ली जी' और 'चरखा जी' भी है। 'पगडडियो का जमाना' म कहते हैं कि 'अच्छी आतमा फोल्डिग कुर्सी की तरह होनी चाहिए।' झूठी नैतिकता पर इससे बेहतर व्यग्य क्या होगा! "सोचना एक रोग है, जो इस रोग से मुक्त है, वे धन्य हैं" ('भारत को चाहिए जादूगर और साधु') और "आदमीयत पानी बनकर निकल रही है, पता नही खून बनकर कब निकलेगी।" ('देश के लिए दीवाने आए') जैसे अर्थवान वाक्य वही लिख सकते हैं।

'एक और जन्म दिन' मे जन्म दिन मनाने के लिए लालायित रहने वाले सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक नेताओं की खिल्ली उडाते हुए स्वय को भी शामिल कर लेते है। फिर साम्प्रदायिक शक्तियों पर व्यग्य करते हुए कहते है—"कुछ लोग फिरकापरस्त होते है, मैं 'फिकरापस्त' हूँ। फिकरा जबान पर आ गया तो निकल आता है, और उसके नुकसान मैं भुगतना हूँ।" 'फिकरापस्त' कहकर आत्मालोचन भी करते है। 'नुकसान भुगतता हूँ' कहकर अपनी निर्भय वृत्ति को भी व्यजित करते है। साथ ही साम्प्रदायिक शक्तियो द्वारा उन पर जो प्रहार किये गये हैं, उन घटनाओ की ओर भी सकेत कर जाते है। उनकी व्यग्य करने की क्षमता इतनी परिपूर्ण है कि वह अनेक स्तरो पर विभिन्न अर्थ-सकेतो की व्यजक होती है। यहाँ व्यग्य के कई लेअर्ज (Layers) होते है और उन सभी के बीच एक तर्क सगति (Logical consistency) होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि परसाई की व्यग्य कथाओ मे पतनोन्मुख बुर्जुआ और पैटी-बुर्जुआ मन स्थितियो को गुदगुदाने की कोशिश नही होती। ये व्यग्य-सचेतन और व्यापक अर्थ सकेतो की गूँज के साथ प्रतिध्वनित होते हैं। 'हास्य-रस', 'फन', 'व्हिट' या 'सैटायर' कहकर उन्हे व्याख्यायित नही किया जा सकता। जैसा कि एक पश्चिमी विद्वान ने गेटे के सबध मे कहा था—उनका साहित्य-सृजन सूर्य की तरह आलोकित तो करता है लेकिन निकम्मे बुद्धिजीवियो की चुरट जलाने के काम नही आता। चटपटे मजाको और फूहड हास्य का वहाँ अभाव मिलेगा। मिर्च-मसालेदार किस्सागोई की मिसाल वहाँ ढूँढने पर भी नही मिलेगी। जिस हास्य की सृष्टि के लिए रचना को ही हास्यास्पद होना पडे, उसे व्यग्य-रचना मान लेना व्यग्य से उसकी वह प्रतिष्ठा भी छीन लेना है जो प्राचीन साहित्य चिंतकों ने उसे दी थी। हिन्दी मे आज यही हो रहा है। व्यग्य की शक्ति उसकी सार्थक व्यजना प्रधान शैली मे होती है। यह व्यजना-प्रधान शैली जीवन-मूल्यों की सम्प्रेषक होती है ऐसी किसी भी व्यग्य रचना मे सामाजिक यथार्थ ध्वनित होता है। सीधे-सादे वाक्यों मे जटिल और व्यापक अर्थ-सकेत छिपे होते है। परसाई की अधिकाश रचनाएँ ऐसी ही हैं। साथ ही परसाई की सर्जनात्मक प्रक्रिया सामाजिक दायित्व से मुँह मोडने वाले, अपने

को 'तटस्थ', 'निष्पक्ष' कहकर सभी तरह के जोखिमों से अपने को बचाकर भी लेखक बने रहने वाले और इस प्रकार शोषित गरीब जनता को उनके हाल पर छोड़कर अपने सफेदपोश मार्सपिंडों को बूर्ज्वा कला-तंत्र के *'सिंहासनों'* (*शृगालासनों ?*) पर प्राणान्त होने तक आरूढ किये रहने वाले तथाकथित कलाबाजों और 'बुद्धिजीवियों' की मुद्राएँ नहीं ओढ़ती, पुरानी, नयी या किसी और तरह की कहानी के प्रवर्तक कहलाने का भी दम नहीं भरती। इसके बावजूद परसाई ने परम्परित कथा-रूपों के विकास और नये से नये कथा-रूपों के अन्वेषण तथा निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। 'एक जोरदार लड़के की कहानी' शीर्षक व्यग्य-कथा मे वे आधुनिक चालू किस्म की 'रचना-प्रक्रिया' पर तीखा व्यग्य करते हैं। हिन्दी के कई कहानीकार ऐसी रचना-प्रक्रिया की गिरफ्त मे हैं। कलावादी नुस्खों (नये या पुरानों) को उन्होंने हमेशा हेय दृष्टि से देखा है क्योंकि उनकी दृष्टि इन बातों से ऊपर रही है। एक व्यापक, सामाजिक विश्वदृष्टि सम्पन्न इस रचनाकार ने अनुचित के विरुद्ध उचित का, ह्रास के विरुद्ध विकास का, मृत्यु के विरुद्ध जीवन का, सामतवाद-पूँजीवाद के विरुद्ध साम्यवाद का हमेशा पक्ष लिया है। व्यक्ति की मानसिकताओं की स्पष्ट और रहस्यात्मक पर्तों से लेकर समष्टि के अनेक ज्ञानात्मक सवेदना, घर-परिवार से लेकर समाज की व्यापकतम इकाइयों के विविध कार्यकलापों की उन्होंने व्यग्यात्मक समीक्षा की है। मुक्तिबोध की कविता कभी खत्म नहीं होती थी, परसाई के व्यग्य भी सार्थक बातचीत के एक ऐसे सिलसिले की शुरुआत करते हैं, जो कभी खत्म नहीं होगी।

—राजकुमार सैनी

साहस और दृष्टि का खुलापन

वस्तु सत्य और विज्ञापित सत्य के बीच भीतरी और बाहरी सचाइया--असलियत और दिखावा के बीच विरोध उत्पन्न होने पर, किन्ही विकृतियो के व्यापक रूप लेन के बाद उनके साथ सामाजिक समायोजन की नौबत उत्पन्न होने पर, सत्ता के निरकुश और दमनकारी तथा जनसामान्य के असहाय और मूकप्राय होने की स्थिति मे जब आलोचना और आक्षेप या तो असभव हो जात हैं अथवा तत्र की उपेक्षा के कारण बार-बार दुहराये जान पर अपना प्रभाव खोकर व्यर्थ हो जाते है अथवा उनको कुचल दिया जाना है, तब लोगो का मनोबल इतना गिर जाता है कि सगठित होकर विरोध के लिए सामने नही आते। वे वस्तु-स्थिति को ही अपनी नियति मानकर उसमे जीने की अभ्यस्ति गढने लगत है। इस घुटन-भरे वातावरण मे किसी प्रबुद्ध व्यक्ति का साँस ले पाना भी कठिन हो जाता है। वह यदि यथास्थिति से समायोजन नही कर सकता तो लड भी कैसे सकता है? अकेला वह किन किनसे लडे? किस किस चीज़ को तोडे और खास तौर स उनकी मानसिक जडता को कैसे तोडे? लोग धीरे-धीरे अर्ध या पूर्ण समायोजन की स्थिति मे पहुँच चुके है और उसकी आलोचना को स्वय अपनी आलोचना मानकर उसे चुप करने की कोशिश करेंगे। उसे उपद्रवी, द्रोही और अनाचारी की सज्ञा देकर वही उसका नैतिक हनन स्वय कर डालेगे और क्या वह स्वय भी उसी समाज का अग नही है? क्या बहुत बडा पाखड और प्रवचना भय और असुरक्षा से मुक्ति की आकाक्षा उसम भी नही है जिसने बहुजन का समायोजन की स्थिति मे पहुँचाया है? अपने विरुद्ध भी तो लडना होगा, किस हथियार से लडे वह एक साथ इन सभी मोर्चो पर?

अलग-अलग परिस्थितियो मे, अलग अलग युगो मे इस प्रश्नो स जूझन के जिसे हथकडे की प्रबुद्ध लेखको ने सृष्टि की है उसे ही हम व्यग्य के नाम से जानते है। यदि सीधी बात का असर नही हो रहा है तो हम व्याज से कहेंगे। सीधे आक्षेप से खीजकर लोग अपनी कमजोरी के कारण तिलमिला उठते है और विरोध को दबाने मे एकजुट हो जाते है तो हम अपनी बात को कुछ इशारे से कहेंगे पर कहेंगे अवश्य, चुप नही रहा जा सकता इस सडाँध के भीतर। उपहास और विनोद की प्रवृत्ति नही, अपितु सामाजिक और व्यक्तिगत देश की तीखी अनुभूति, करुणा का गहरा भाव, सामान्य कृत औचित्यो को नकारन वाला आतरित विद्रोह होंठ की इस तिरछी शिकन को और आवाज की इस पीकी और

किंचित वेपरवाह अभिव्यक्ति को जन्म देती है। यह एक प्रकार का प्रहार है अपने भीतर से लेकर बाहर तक व्याप्त ढोंग, दबाव और उत्पीडन के विरुद्ध। जहाँ आसपास के तथाकथित प्रबुद्ध और पडित जन भी अपनी शानदार ममूर वाली दुम को गर्व से हिलाते, अपने पोषको की गोद मे मचलते हुए दुबक रहे हो वहाँ चतुर्दिक् व्याप्त इस दूषण के विरुद्ध अकेले खडे होना बहुत बडी चुनौती बन जाना है। इसके साथ थोडा 'हीरोइज्म' भी स्वभावत ही आ जुडता है। यहाँ यह कहना उचित होगा कि जहाँ सामाजिक परिवर्तन का समर्थन करने वाली शक्तियाँ हर व्यक्ति के भीतर सोये हुए हीरो को जगाने का प्रयत्न करती है वहाँ तन्त्र और तन्त्र पर हावी जन इस अहसास को जगाने की चेष्टा मे रहते है कि आदमी मात्र हमारे तन्त्र का पुरजा है। वे उसे लघुमानव मे बदलने के लिए अग्रसर होते है ताकि अपनी हीनता से ग्रस्त वह अपने समस्त विद्रोह और पौरुष को छोडकर नपुसक समायोजन के लिए तैयार हो जाये या चीत्कार भी करे तो इस अर्थ मे कि हाय हम कुछ नही है, हमसे कुछ नही हो सकता।

कबीर जब चुनौती देते हैं कि वह लुकाठी लेकर बाजार मे खडे है और जो अपना घर फूँकने को तैयार हो वही उनके साथ आ सकता है, तो वह व्यग्यकार की प्रतिबद्धता, साहस, शिल्प की प्रौढि को तो परिभाषित करते ही है लेखकीय स्वतत्रता की भी व्याख्या करते प्रतीत होते है। वह लघुमानव के अहसास से ग्रस्त सामान्य मानव के भीतर सोयी महामानवीय सभावना को उद्बोधित करते प्रतीत होते है। यह मात्र सयोग नही है कि कबीर नाम का वह क्रान्तिकारी, ढोंग और पाखण्ड पर सीधा प्रहार करनेवाला वह फकीर हिन्दी का सबसे बडा व्यग्यकार भी है। सबसे जागरुक और प्रतिबद्ध और लेखकीय स्वतत्रता का सबसे बडा हामी भी। और यदि भारतेन्दु-युग अपने व्यग्य के लिए प्रसिद्ध है तो लेखकीय प्रतिबद्धता और स्वतन्त्रता का भी जीवन्त दृष्टान्त है।

जब व्याजोक्तियाँ निजी शेखी या श्रेष्ठता बोध का साधन बनकर आती है तब वे व्यग्य नही अपितु छीटाकशी का रूप ले लेती है। इतिहास के ऐसे भी अनेक युग आते हैं जिनमे गिरावट अपने पूरे रूप मे रहती है पर व्यग्यकार की प्रतिभा के स्थान पर केवल चाटुधर्मी तजबाजो और विदूषकों का ही विकास होता है। रीतिकाल और नयी कवितावाद का काल इसके दो अच्छे उदाहरण हैं।

व्यग्यकार केवल अपने प्रहार को तेज और अचूक बनाने के लिए ही नहीं अपितु विरोधी शक्तियों की जकड से बचने के लिए भी कुछ हथकडे अपनाता है। वह वस्तु सत्य के अनुपात, सदर्भ, आयाम को विरूपित करके उसकी अन्तर्निहित कुरूपता को उद्घाटित करता है, पर इस क्रम मे वह वास्तविकता के अभिज्ञान को भी कुछ धुँधला बना देता है। यदि विरूपण इतना अधिक हो जाये कि अभिज्ञान पूरी तरह मिट जाये तो उसका प्रहार व्यर्थ होता है और यदि प्रहार का लक्ष्य ही लुप्त रहे अर्थात् किसी भी चीज का जैसा-तैसा विरूपण करना अपने आपमे ही उसका लक्ष्य बन जाय—कला कला के लिए की भाँति, तो यह

मात्र एक मजाकिया खाका या हास्य बनकर रह जाता है। मात्र वाक्चातुर्य विदग्ध भंगी से युक्त भणिति जिसकी अगली परिणति भँडैती होती है। सुविधावादी और तंत्र के सेवक सदा व्यंग्य को मजाकिया खाका बनाने की ओर प्रवृत्त रहते है क्योंकि यदि व्यंग्य किसी क्रान्ति दृष्टि से प्रेरित हुआ तो वे स्वयं भी इसके शिकार होने से नही बच सकते। हरिशंकर परसाई की रचनाओं की परीक्षा हम इस पृष्ठभूमि को सामने रखकर ही करेंगे। हरिशंकर परसाई की रचनाओं का प्रकाशन दो प्रकार के पत्रों मे हुआ है, जिनमे से कुछ तो छोटी पत्रिकाएँ रही है और कुछ व्यावसायिक तंत्रसेवी पत्र। इनमे से दूसरे का लक्ष्य निश्चय ही व्यंग्य को बैठेठालो की सर्जना, बैठेठालों की पाठ्यवस्तु मानकर चलता है और संघर्षोन्मुख शक्तियों को बैठेठालो की जमात मे बदलने को प्रतिश्रुत रहता है। वह व्यंग्यकार और चुटकुलेबाज मे फर्क नही करता और यदि प्रत्यक्ष घोषणा सहित नही तो व्याज रूप से लेखकीय ऊर्जा का अपमान करता है। जब व्यंग्यकारो को यह शिकायत हो कि क्या लोग उनकी रचनाओं को मात्र मनोविनोद की सामग्री समझने की भूल करते हैं और उनको गम्भीरता से नही लेते तो उन्हें आत्मलोचन भी करना चाहिए कि क्या अपने आलस्य या असावधानी मे इस तरह का प्रभाव उत्पन्न करने मे उन्होंने स्वयं भी तो योग नही दिया है। मैं नही समझता कि परसाई की उन रचनाओ के विषय मे भी पाठकों की आम धारणा वही रही होगी जो छोटी पत्रिकाओ म प्रकाशित हुई थी और जिनमे वह एक तंत्र भंजक व्यंग्यकार की सच्ची भूमिका मे प्रकट होते है।

परसाई एक बहुत सशक्त व्यंग्यकार है। शायद प्रतिबद्धता, लेखकीय साहस और दृष्टि के खुलेपन के खयाल से स्वातंत्र्योत्तर भारत के सबसे सशक्त व्यंग्यकार। उनकी अधिकांश रचनाओ मे एक खुला प्रहार है, यथास्थिति पर, व्यवस्था पर प्राचीन रूढियो और संस्कारो पर और प्राय सभी रचनाओ मे बदलते मूल्यों और क्रान्तिकारी शक्तियो और सम्भावनाओं के प्रति गहरा सम्मान भाव है, अपेक्षित और शोषित वर्गों के प्रति सहानुभूति है और ढोंग का उद्घाटन है। वह विचारत मार्क्सवादी हैं। गांधीवादी हृदय परिवर्तन के नही अपितु भौतिक क्रान्ति के समर्थक है। उनकी दृष्टि मे हृदय परिवर्तन और इसलिए सुधारवाद भी अपने उत्कृष्ट रूप मे एक सदिच्छापूर्ण आत्मवंचना है और अपने घटिया रूप मे एक कुत्सित और स्वार्थप्रेरित षड्यन्त्र। सदाचार की तावीज, दस दिन का अनशन, जैसे उनके दिन फिरे, वेताल की सत्ताईसवी कथा आदि मे वे इस तरह के हृदय परिवर्तन की विद्रूपता को सफलता के साथ उद्घाटित करते हैं। हृदय तभी तक शुद्ध रह सकता है जब तक अल्पतम आर्थिक निर्भरता बनी रहे। महीने-भर कारगर रहने वाला सदाचार का तावीज 31वी तारीख को अपना प्रभाव खो देता है। शाब्दिक सुधारवाद कितना बडा छल है इसका उदाहरण 'जैसे उनके दिन फिरे' मे देखा जा सकता है। मोटे और सादे कपडे पहिने पवित्रता की मूर्ति प्रतीत होने वाला सबसे छोटा राजकुमार अपने मेहनती, मिलावट करने वाले, डाका डालने वाले

तीनो भाइयो से अधिक भ्रष्ट, अधिक मालदार, और अधिक खतरनाक है, पर राज्य का उत्तराधिकारी भी है वह अपनी इस कपट चातुरी के कारण। 'वेताल की सत्ताईसवी कथा' मे प्रसिद्ध नेता भैया साब के पास हृदय की रक्षा के लिए तरह-तरह के मत्र है, दर्शन है, नीति है, अच्छे-अच्छे प्रस्ताव हैं, अच्छे-अच्छे नारे हैं और इसलिए हृदय बदलने वाले सत के जादू से अप्रभावित भैया साब जालिमसिंह डाकू का हृदय जीत लेते हैं और डाकू अन्ततोगत्वा एक सेठ के बच्चे खिलाने लगता है। सर्वोदय दर्शन के स्वामी जी की आचार सहिता मे बालो का रूखा रहना, धोती का घुटनो से ऊपर रहना अधिक महत्त्वपूर्ण है। आपन्न स्थिति स अधिक महत्त्व पैदल चलने का है, पर जहाँ तक आन्तरिक लालसाओ का प्रश्न है, श्रेय की कामना वहाँ भी उतनी ही बलवती है। अत डाकुओं का हृदय परिवर्तन करने के उपलक्ष्य म मेडिल उन्हे भी चाहिए। यदि राष्ट्रपति ने मेडिल नही दिया तो डाकुओ से दिलवायेंगे।

वर्तमान व्यवस्था की सडाँध और भ्रष्टाचार—नीचे से ऊपर तक—भ्रष्टता और उसके गोपन का प्रयत्न। 'सुदामा के चावल' मे सुदामा को जो श्रीसमृद्धि मिलती है वह पुरातन मैत्री के कारण नही, राज के उच्च पदस्थ से निम्नतम कर्मचारियो की घूसखोरी का रहस्य जान लेने के बाद मुँह बद करने के लिए दिया जाता है। 'लका विजय के बाद' म वानर सीता के परित्याग के बाद 'सीता सहायता कोप' खोलकर अयोध्या की उदार और श्रद्धालु जनता से चन्दा लेकर खा गये हैं। महान तपोव्रती और समाजसेवी भैया साब का तपोभग मेनका क्या करेगी वह तो तपोभग के लिए स्वय उद्योगरत है। 'आमरण अनशन' मे गाधी जी की प्रतिभा के नाम पर मत्री, नगरपालिका के अध्यक्ष तथा सेठ सभी अमर होने के लिए प्रयत्नरत है। 'न्याय का दरवाजा' असल म अन्याय का दरवाजा बन गया है जहाँ ईसा को अपने पाँवो पर अपने हाथ से कील ठोकने को मजबूर किया जा रहा है। और वह कह रहा है, "पिता इन्हे हरगिज माफ न करना क्योकि ये साले जानते है कि ये क्या कर रहे है।" उखडे खम्भे मे मुनाफाखोरो को फाँसी देने के खम्भे बडे लम्बे खर्च और समय से बन पाते हैं पर फाँसी से पहले की रात को सारे खम्भे उखाड दिये जाते हैं, क्योकि ठीक उस रात को एक विशेषज्ञ के मत से बहुत तेज विद्युत धारा धरती के नीचे से होकर बहने वाली थी और उससे पूरे नगर का जीवन सकट म पड जाता। लोग खुश है कि उनकी जान बच गयी। और उसी सप्ताह सेक्रेटरी की पत्नी के नाम, श्रीमती बिजली इजीनियर, श्रीमती विशेषज्ञ और ओवरसियर के नाम क्रमश दो लाख, एक लाख, एक लाख पचीस हजार, और पाँच हजार जमा हो जाते है और मुनाफाखोर सघ के हिसाब से ठीक इतनी ही रकम धर्मादाखाता के विविध मदो मे डाल दी जाती है। सरकारी पक्ष की दृष्टि में झूठ जो प्रत्यक्ष दिखाई दे वह झूठ नही अपितु वह जिसे एक लम्बी और थका देने वाली जाँच पद्धति से स्थापित किया जाये, जिसके दौरान झूठ और भ्रष्टता का शेष चिह्न भी न रहने पाये। इसकी बहुत

फल अभिव्यक्ति मुडन मे देखने मे आती है। दलीलें कितने रूपों मे दी जा सकती
', औचित्य कितने विचित्र तर्कों से सिद्ध किया जा सकता है, इसका एक नमूना
है 'असहमत'। 'भेड और भेडियें' मे राजनेताओ के चरित्र और उनके विज्ञापित
रूप को 'देशभक्ति का पालिश' मे विविध कोषो मे मुक्त या अमुक्त दान करने
वालो के लुटेरे चरित्र को 'नगर पालक' मे स्वार्थपरक शक्तियो के स्वहित और
लूट को आधार बनाकर निर्धारित होने वाली नीतिया का लक्ष्य बनाया गया है,
तो देश ने बहुत विकास किया है, हम गरीबी को दूर करने के दिशा में क्रान्तिकारी
कदम उठा रहे हैं जैसे दावों पर 'विकास कथा' अच्छा प्रकाश डालती है।
गरीब आदमी की नियति यहाँ क्या है। दलबन्दी ने सामाजिक सस्थाओं को
किस सीमा तक दूषित कर डाला है यह 'रामभरोसे का इलाज' मे स्पष्ट है।'
'रामसिह की ट्रेनिंग' का दर्शन-सार यह है कि इस भ्रष्ट तत्र मे कोई व्यक्ति
भ्रष्ट हुए बिना जीवित नही रह सकता।

'शिवशकर का केस' मे साहब का दिल अपने ही बाग मे फूल तोडते हुए
धडकता है। ऐसा अभ्यास पड गया है कि जैसे पौधे से घूस ले रह हों। राष्ट्र
का नया बोध तब होता है जब लेखक विज्ञापित जमाखोरी विरोधी अभियान की
रपट अधिकारी को देता है और रपट करने वालो को अन्तत पता चलता है कि
जमाखोरी को तो अधिकारियो ने सूचना देकर और कार्यवाही मे शिथिलता
बरत कर बचा लिया, पर रपटदाता बाद मे राष्ट्रविरोधी के रूप मे गिरफ्तार
कर लिया जाता है। पूरी स्थिति बिगडते-बिगडते यह हो गयी है कि पगडडियो
ने सडकों का स्थान ले लिया है। लोग बेधडक चोर दरवाजों से घुस रहे हैं और
सकोच तक नहीं रह गया है। जो सही रास्ते भीतर जाना चाहे उसे पता चलता
है कि रास्ता बद है।

ऐसी स्थिति में क्या प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया का भरोसा किया जा सकता है? "वाक
आउट, स्लीप आउट, ईट आउट मे लगे हैं विधायक, 'चाचा नेहरू जिन्दाबाद'
जवाहर चाचा जिन्दाबाद मे समाप्त हो जाता है काग्रेस का समाजवाद आग जी
को प्रजावादी समाजवादी समाजवाद पुराना शब्द लगता है। पार्टी का कोई
नाम चाहिए, इसलिए उन्होंने समाजवादी नाम रख लिया। सैद्धान्तिक विरोध
का अर्थ है, टिकिट मुझे न देकर मेरे प्रतिस्पर्धी मोहन लाल को दे दिया गया।
बस मेरा सैद्धान्तिक मतभेद हो गया और मैंने काग्रेस छोड दी। स्वस्थ
विरोध का अर्थ है—जिस पार्टी के नेता कमजोर और बीमार रहते हैं उनका
विरोध स्वस्थ विरोध है। लोहियावादी समाजवादी क्रान्तिनाद जी नेहरू की
फोटो को उल्टा टाँगकर शीर्षासन करके उसे सही दृष्टि से देखते हैं। हम बिहार
मे चुनाव लड रहे हैं। उन सिद्धान्तहीन गुटबदियों और प्रचार-साधनों का अच्छा
मजाक है जिनका प्रयोग सभी दलों के लोग करते हैं। न तो चुनाव सिद्धान्तों पर
लडे जाते हैं और न ही सरकारें सिद्धान्त पर बनती हैं। सत्ता को हाथ मे लेने
के लिए सभी विरोधी दल और विरोधी सिद्धान्त वाले दल सयुक्त सरकार

बना डालते है। आग जी का समाधान बहुत सुन्दर है, वे भी विरोधी है हम भी विरोधी है, विरोधी सब एक होते हैं और साथ काम करना क्या मुश्किल है, देखो साथ काम करने के लिए कुछ छोडना पडता है। दक्षिण भारत हम डी०एम०के० को दे देंगे कि लो भाई तुम अपना हिस्सा सम्भालो। स्वतत्र पार्टी के सतोप के लिए हम राजा-रानियो को उनके रजवाडे वापिस कर देंगे और भिलाई जैसे सार्वजनिक उद्योग प्राइवेट कम्पनियों के दे देंगे, जनसघ के सतोप के लिए कहेग कि भाई तुम दक्षिण अफ्रीका जैसे कानून बना लो और हिन्दू को वही दर्जा दे दो जो दक्षिण अफ्रीका मे गोरो को दिया गया है। पजाब हम मा० तारासिह को सौप देंगे। अब जितना हिस्सा देश का बचेगा उसमे सब ठीक चलेगा।

जब स्थिति इतनी बिगड चुकी हो और सभी दलो का यह पतन हो तब क्या तटस्थ द्रष्टा बनकर ही सब्र करना होगा? तटस्थ रहने का मतलब है आजादी का घास खाते हुए किनारे बैठे रहना, उस मानसिकता मे पहुँच जाना जिसमे कुछ भी करने या न करने से कुछ फायदा नहीं। यह एक दीवार की तरह जड हो जाने का ही पर्याय है।

परसाई के इस तरह के व्यग्या म एक तीखापन सर्वत्र मिलगा, बीच-बीच म कुछ ऐसी चिनगारियाँ जिनकी उपेक्षा नही कर सकता पाठक। इस देश म जो जिनके लिए प्रतिबद्ध है वही उसे नष्ट कर रहा है। लेखकीय स्वतन्त्रता के लिए प्रतिबद्ध लोग ही लेखक की स्वतत्रता छीन रहे है। सहकारिता के लिए प्रतिबद्ध इस आन्दोलन के लोग ही सहकारिता को नष्ट कर रहे है। सहकारिता तो एक स्प्रिट है। सब मिलकर सहकारितापूर्वक खाने लगत है और आन्दोलन को नष्ट कर देत है।

समाजवाद को समाजवादी ही रोके हुए है। ठिठुरता हुआ गणतत्र म समाजवाद को देश के कोने-कोने मे पहुँचाने की बात कुछ इस अदा से की जाती है मानो देश के दौरे पर वी० आई० पी० को भेजा जा रहा हो और नौकरशाही के हाथो पडकर उसका क्या अन्जाम होता है, हम समाजवाद की सुरक्षा का इन्तजाम करने मे असमर्थ है उसका आना अभी मुल्तवी किया जाए। और इस पर लेखक की टिप्पणी जनता के द्वारा न आकर अगर समाजवाद दफ्तरो के द्वारा आ गया तो ऐतिहासिक घटना हो जायेगी। कितनी काँवडे है, राजनीति मे, साहित्य मे, कला, मे, धर्म मे, शिक्षा म। अधे बैठे हैं और आँख वाले ढो रहे है। पर परसाई की सभी रचनाओ मे यह तल्खी नही देखने मे आती। अपनी सशक्त रचनाओं मे जहाँ वह यथार्थ पर सीधे चोट करते प्रतीत होते हैं वहाँ कमजोर रचनाओ मे मात्र गुदगुदी उत्पन्न करके रह जाते है। 'फोन टालने की कला', 'स्नान', 'आँगन मे बैगन', प्रेमी के साथ एक सफर', 'विज्ञापन म बिकती नारी', 'एक तृप्त आदमी की कहानी', 'फिर ताज देखा', 'एक सुपर मेन', 'बारात की वापसी' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। कुछ स्थलो पर तो परसाई का स्वर उस तटस्थता की सृष्टि करता है जिस पर वह स्वय प्रहार कर चुके हैं' एक साहित्यिक बन्धु जब मुझे मिल

जाते हैं, पाँच-दस मिनट साहित्यिक चर्चा करते है। वह इस तरह होती है।

वे—माचवे हिन्दी परामर्शदाता हो गये।

मैं—हा।

अज्ञेय दिनमान के सपादक हो गये।

हाँ, भारती तो पहले ही भरती हो गये।

हाँ, कमलेश्वर भी बम्बई जा रहे है।

हाँ, सुना है। बच्चन राज्य सभा के सदस्य हो गये है।

हाँ—राकेश के बारे मे अभी कुछ सुना! (चुप) और क्या चल रहा है? सब ठीक है। अच्छा चलू। अच्छा!" ठीक वही स्वर ठीक वही तटस्थता। एक साथ इतने दिग्गजो को सलाम मारने का यह तटस्थ अन्दाज!

इन रचनाओ के पढने पर लगता है कि परसाई की आरभिक रचनाओ मे जो एक आग थी वह 'तत्र पोपी' पत्रो के द्रव से प्रभावित हुए बिना नही रह सकती है। यदि क्रान्ति सरकारी दफ्तरो से नही आ सकती तो क्रान्ति उस लेखन से भी नही आने की जो क्रान्ति को एक बिकाऊ सौदा बना देता है। ऐसे ही क्षणो मे लेखक को अपने आप मे कुछ सवाल पूछने चाहिए और अपनी ईमानदारी की भी परीक्षा करने की कोशिश करनी चाहिए।

परसाई अपनी रचनाओ मे ललित निबध, कहानी, चुटकुलेबाजी आदि का प्राय मिला-जुला प्रयोग करते है। वह प्राय स्थितियो को अतिरजित करके उनको नगी करने का प्रयत्न करते है। क्षेपको के माध्यम से वह प्राय व्यग्य गढने की कोशिश म लगे दिखाई देते हैं। और वहाँ व्यग्य बहुत कमजोर पड जाता है। अनेक रचनाओ मे व्यग्य इकहरा और सपाट हो जाता है और यथार्थ और उसके प्रस्तुतिकरण के बीच का अतराल इतना बढ जाता है कि व्यग्य विनाद मे बदलने लगता है, अमरजैसी आचरण को ऐसी ही रचनाआ मे रखा जा सकता है।

पर परसाई के व्यग्य की शक्ति उन वाक्यो मे उभरकर आती है जिनमे वह कलम की नोक से नही बिच्छू के डक से लिखने प्रतीत होते है। इन रचनाओ मे वह कथाकार से अधिक एक व्याख्याकार का रूप ले लेते है और सदर्भो को यथार्थ घटनाओ पर टिकाये रहते है। इस तरह के व्यग्यो मे भाषा बडी सादी, सहज बडा भोला बना रहता है पर लक्ष्य अचूक रहता है और जब-तब वह सूक्तियाँ गढते प्रतीत होते हैं। सद्गुरु का कहना है, 'बेटा, जो भी करना है 'लार्ज स्केल' पर कर, चाहे उद्योग हो, चाहे बेईमानी। और हमेशा किसी की छाया मे कर। बेटा, तत्र कोई भी हो, अपनी पीठ पर हमेशा वेसलीन चुपडे रहो। घूंसा तुम्हारी पीठ से फिसलकर किसी सूखी पीठ पर चढ जाएगा। जल्दी ही इस देश मे हिन्दू ठुमरी, मुस्लिम ठुमरी और सिख ठुमरी होगा, अकाली दादरा और द्रमुक दादरा भी हो सकता है।···बेइज्जती मे यदि दूसरे को शामिल कर लो तो अपनी आधी इज्जत बच जाती है।" ऐसे स्थलो पर न केवल उनकी शैली मुक्ति-

बोध की डायरी के अशो का स्मरण दिलाती है बल्कि जब-तब वह मुक्तिबोध की जबान भी बोलते नजर नहीं आते। मुक्तिबोध कहते थे, "पार्टनर, रिस्पेक्टेबिलिटी की ऐसी-तैसी" वे और भी कहते थे, "पार्टनर, चारो ओर देखो, सफलता की चाँदनी रात मे उल्लू बोल रहे है।"

परसाई पौराणिक प्रसगो को समकालीन यथार्थ पर व्यग्य करने के लिए जितनी सफलता से प्रयोग मे लाते है वह अन्य व्यग्यकारो मे देखने मे नही आता। 'एकलव्य ने गुरु को अँगूठा दिखाया', 'पहला पुल', 'सुदामा के चावल', 'निशकु बेचारा', 'लका विजय' के बाद 'श्रवण कुमार' आदि रचनाओ मे उन्होने इस शैली का प्रयोग किया है।

परसाई का फलक जितना बडा है उतना ही वैविध्य है उनकी शैली मे। उनकी रचनाओ मे एक स्वस्थ और प्रतिबद्ध व्यग्यकार का स्वर सर्वत्र फूटता है और उनकी यह विशेषता ही न कि कोरी वाग्विदग्धता उन्हे अपने समकालीन व्यग्यकारो से अधिक महत्त्वपूर्ण बनाती है।

—भगवान सिंह

परिप्रेक्ष्य की परतों के भीतर

परसाई की रचनाधर्मिता पर बात करने से पूर्व कुछ मुद्दों को स्पष्ट कर लेना जरूरी हो जाता है, पहली बात परसाई की रचनाओं के स्वरूप को समझने की है, दूसरे यह कि अन्तत व्यग्य क्या है? यह विधा है, शैली है, या कि जैसा परसाई न स्वय कहा है, यह 'स्प्रिट' है जो अब साहित्य की सभी 'विधाओ' मे प्रखरता से विद्यमान है। तीसरे, हिन्दी म व्यग्य का स्वरूप और प्रकार क्या रहा है तथा व्यग्य-लखन की परम्परा म आज के व्यग्यकारो का योग किस सीमा तक विशिष्ट है। और अन्त मे यह भी कि व्यग्य को लेकर स्वय परसाई की दृष्टि क्या रही है? इन सब बातों को स्पष्ट रूप से समझ लेने के बाद ही परसाई के व्यग्य की सार्थकता और सामयिकता के सदर्भ मे उसका महत्त्व सही भूमिका पर समझा जा सकता है।

□

साहित्य के अध्येताओं और समीक्षकों ने अभी तक व्यग्य को शैली के रूप म ही ग्रहण किया है, विधा के रूप म नही। विधा के रूप मे जिस प्रकार का विभाजन अभी तक साहित्य मे हुआ है, उसके अन्तर्गत व्यग्य को विधा का रूप देना सम्भव नहीं हो सकता, ठीक है, लेकिन प्रश्न उठता है कि साहित्य के प्रकारो के विभाजन की इस युग-प्रचलित प्रणाली को ही हम कब तक अपने निरतर विकासमान साहित्य का मापक मानते रहेंगे। आज के साहित्य मे व्यग्य का परिमाण और प्रदेय इतना अधिक है कि उसको मात्र शैली मानकर सतोष नही कर लिया जा सकता। जैसा कि परसाई ने कहा है कि व्यग्य मूलत एक स्प्रिट है, लेकिन हम मानते हैं कि उसमे एक विधा कहलाने की काफी सम्भावनाएँ हैं। अभी तक विधाओं के विभाजन का जो शास्त्रीय आधार रहा है, उसमे भी व्यग्य का उस प्रकार की विधा मानने का अवकाश नहीं है जैसे कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक और निबन्ध आदि हैं। किन्तु व्यग्य की स्थिति सब विधाओं मे विद्यमान है। प्रश्न उठना है कि व्यग्य का यह विस्तार क्या इसे एक स्वतन्त्र विधा के रूप म प्रतिष्ठा देने मे सहायक हो सकता है? सुधी चिन्तकों के लिए यह एक अच्छा विषय है। फिलहाल, परसाई की भाँति हम व्यग्य का व्यग्यकार की 'स्प्रिट' ही मानकर चलते हैं।

□

अब तक परसाई के 9-10 व्यग्य-सकलन प्रकाशित हो चुके है। इन रचनाओ मे परसाई की परिस्थितियो को देखने-परखने की गहरी अन्तर्दृष्टि, अपने परिवेश की विसगतियो और व्यवस्था के बीच आम आदमी के प्रति षड्यत्र को पाठको तक सही रूप मे पहुँचाने तथा समाज की निरतर पतनोन्मुख स्थितियों मे सुधार लाने का सकल्प बहुत स्पष्टता से परिलक्षित होता है। इस सब के लिए जिस राजनैतिक-सामाजिक चेतना की अपेक्षा होती है, परसाई के पास वह ठोस रूप से विद्यमान है। इस चेतना से कथ्य का स्वरूप निश्चित होता है और इस स्वरूप को व्यक्त करने के लिए मात्र प्रतिभा की ही आवश्यकता नही होती, साधना की भी होती है, और हम पाते है कि परसाई ने इसकी साधना की है। व्यग्य परसाई की अभिव्यक्ति का सर्वाधिक विशिष्ट माध्यम है, और व्यग्य करने की अपनी प्रतिभा को उन्होंने साधना की सान देकर तीव्र किया है। इसके लिए उन्होंने विदेशी व्यग्यकारो की शैली, उनकी प्रस्तुति के ढग तथा शब्द-चयन की कुशलता का बहुत गहरे जाकर अध्ययन किया है। इसका प्रमाण 'मेरी श्रेष्ठ व्यग्य रचनाए' की भूमिका 'लेखक की बात' है। इस भूमिका मे उन्होंने व्यग्य लिखने की अपनी प्रेरणा और व्यग्य के स्वरूप को तो स्पष्ट किया ही है, साथ ही स्पष्टीकरण की इस प्रक्रिया मे व्यग्य की निकटवर्ती देशी-विदेशी अनेको शब्दावलियो की प्रस्तुति द्वारा व्यग्य की निश्चित विशेषता को भी रेखाकित करने की कोशिश की है। इसी सन्दर्भ मे उन्होने जॉनसन, मार्क ट्वेन, ए० जी० गार्डनर, ओ' हेनरी मूर, ऑस्कर वाइल्ड, समरसेट मॉम, वर्नार्ड शा, दास्तोवस्की, सर्वेटीज, डिकेन्स, गोगोल और चेखव के अनेक व्यग्य-उद्धरण दे डाले है जो उनके द्वारा व्यग्य को गम्भीरता और जागरूकता से लेने और उसको समर्थ-शक्तिवान् बनाने के लिए उनके द्वारा किये गये परिश्रम और साधना का प्रमाण प्रस्तुत करते है।

□

परसाई ने भी अन्य प्रतिबद्ध और चेतना-सम्पन्न रचनाकारो की भाँति अपने स्वतन्त्र देश मे निरन्तर बढते हुए भ्रष्टाचार, पाखड, अन्याय, असामजस्य और विसगतियों को खुली आँखो से देखा और अनुभव किया है। उनके अपने शब्दो मे—'मैंने देखा कि दुखी और भी है। इससे मेरी सवेदना का विकास हुआ··· मैंने देखा कि जीवन मे बेहद विसगतियाँ है। अन्याय, पाखड, छल, दोमुँहापन, अवसरवाद, असामजस्य आदि हैं। मैंने इनके विश्लेषण के लिए साहित्य, दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र का अध्ययन किया। मैंने जाना कि जीवन की सबसे सही व्याख्या कार्ल मार्क्स ने की है। मनुष्य की नियति को बदलने वाला सबसे श्रेष्ठ और अतिम दर्शन मार्क्सवाद है। पर लेखक का सम्बन्ध उस दर्शन से, जिसमे उसका बुनियादी विश्वास है, प्रश्न और उत्तर का है। लेखक दर्शन से प्रश्न करता है, समाधान चाहता है। समाधान नही मिलता, तो चिंतन आगे बढता है।

इसलिए दर्शन को अनुभव से जोड़ना जरूरी है। अनुभव ही लेखक का ईश्वर होता है। 'अनुभव बेकार होता है, यदि उसका अर्थ न खोजा जाय, उसका विश्लेषण न किया जाय और तार्किक निष्कर्ष न निकाला जाय। यह कठिन कर्म है, पर इसके बिना अनुभव केवल घटना रह जाता है। (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, पृष्ठ 6) और हम कहे कि परसाई ने अपने अनुभवों का अध्ययन, अनुशीलन और विश्लेषण किया है, वस्तुपरकता के साथ व उनकी तह म गये है, अपने निष्कर्ष निकाले है और तब अपनी रचनाओं म एक साद्देश्य, स्वस्थ दृष्टि के साथ उनकी अभिव्यक्ति और प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार से परसाई का लेखक अपनी रचनाधर्मिता के प्रसग में उस सम्पूर्ण प्रक्रिया से गुजरा है जो एक प्रतिबद्ध और ईमानदार लेखक के लिए बुनियादी रूप से आवश्यक है।

□

परसाई की रचनाओं के अध्ययन से एक सुखद अनुभूति यह होती है कि उसकी दृष्टि जीवन, समाज और आज की राजनीति में व्याप्त लगभग उन समस्त विसगतियों की ओर गयी है जिससे आज का सामान्य जन पीडित और त्रस्त है। इन रचनाओं म विविध आयामी भ्रष्टाचार को उन्होंने बार-बार उघाड़ा है। वह इसलिए कि वे मानते है कि राजनीति ही मनुष्य की नियति तय करती है। और इसीलिए उनका विश्वास है कि कोई लेखक अराजनीतिक नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में उनकी यह भी स्थापना है कि राजनीति—सिद्धान्त और व्यवहार की —हमारे जीवन का एक अग है। उससे नफरत करना बेवकूफी है। राजनीति से लेखक को दूर रखने की बात वही करते हैं जिनके निहित स्वार्थ हैं, जो डरते है कि कहीं लोग हमे समझ न जायें। जो यह कहते हैं कि लेखक को राजनीति से क्या लेना देना, वे खुद बडी गदी राजनीति के शिकार हैं (सदाचार का तावीज, पृष्ठ 10 और मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ, पृष्ठ 14)।

अत हम सबसे पहले उनके राजनैतिक व्यंग्यों से ही अपनी बात शुरू करें।

राजनैतिक विसगतियों से प्रेरित रचनाओं म राजनेताओं और नौकरशाहों के भ्रष्टाचार, उनकी स्वार्थलोलुपता और महत्त्वाकाक्षा, चरित्रहीनता और अनैतिकता, भाई भतीजावाद, पॉवर पॉलिटिक्स, लाल फीताशाही, अवसरवाद, पाखड और मुखौटे तथा जनहित के सन्दर्भ मे उनकी सतत निष्क्रियता पर तीखे और सीधे व्यंग्य किये गये हैं। इस सन्दर्भ म 'सज्जन, दुर्जन और कांग्रेसजन', 'प्रजावादी समाजवादी', 'लोहियावादी समाजवादी', 'फिर ताज देखा', 'चावल से हीरे तक', 'अन्न की मौत', 'पेट का दर्द और देश का' (पगडडियों का जमाना), 'जैसे उनके दिन फिरे', 'इति श्री रिसचायं', 'भेडें और भेडिए', 'सुदामा के चावल', 'लका विजय के बाद', 'मेनका का तपोभग', 'त्रिशकु बेचारा', 'वैताल की सत्ताईसवीं कथा' (जैसे उनके दिन फिरे), 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे', 'जिनको छोड भागी हैं', 'इतिहास का सबसे बडा जुआ' (अपनी अपनी बीमारी), 'शिकायत मुझे भी

है', 'वह जो आदमी है न', 'राम की लुगाई और गरीब की लुगाई', 'एक दीक्षांत भाषण', 'कर कमल हो गये' (शिकायत मुझे भी है) 'सदाचार का तावीज', 'उखडे खम्भे', 'एयरकंडीशड आत्मा', 'होनहार' (सदाचार का तावीज), तथा 'ठिठुरता हुआ गणतन्त्र,' 'हम बिहार से चुनाव लड रहे हैं' और 'छोटी-सी बात' (ठिठुरता हुआ गणतन्त्र) आदि अनकानेक रचनाओं की सूची दी जा सकती है। 'सज्जन, दुर्जन, और काग्रेसजन' में लेखक ने सत्ताधारी नेताओं की ऐय्याशी, उनके व्यवहार के पाखड और उनके उन षड्यन्त्रों की पोल उघाडी है जिनकी सहायता से वे अपनी कुर्सी से चिपके रहना चाहते है। समाजवाद से प्रतिबद्ध ये पाखडी नेता जातिवाद को सप्रदायवाद का उतार मानते है। गाधी द्वारा खादी अपनाये जाने के आदर्श को ये, कोने के सिंहासन पर खादी का थान सजाकर उसकी पूजा के लिए सामने आरती की थाली रख देकर निभाते है—यही इनका खादी-प्रेम है। अपने स्वार्थ के लिए ये देश के महान नेताओं के वक्तव्यों और नीति-नियमो को तोड-मरोडकर अपने हक मे बना लेते है। इनकी यही स्वार्थपरता देश की दुर्गति का कारण बनी हुई है। 'प्रजावादी समाजवादी' तथा 'लोहियावादी समाजवादी' मे लेखक ने इन पार्टियों के छुटभैये नेताओं की फूहड मानसिकता और कृतकंता को सम्मुख रखा है। लोहियावादी समाजवादियों को तो लेखक ने इतना घसीटा है कि लगता है कि जो स्थान राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ मे गुरु गोलवलकर का उनके अनुयायियों के लिए था, वही स्थान डॉक्टर लोहिया का उनके कार्यकर्त्ताओ के लिए है। अर्थात् उनमे स्वतन्त्र चिन्तन का कहीं कोई प्रयास नही है। इनके द्वारा हर बात पर लोहिया के उद्धरण प्रस्तुत किय जाते है। दूसरी ओर राजनैतिक क्षेत्रो का भ्रष्टाचार और स्वार्थ निजी क्षेत्रो मे भी प्रवश कर गया है। लेखक ने देखा है कि इस प्रजातन्त्र मे भी हजारों छोट-बडे शाहजहाँ है, उन्हे जब भी मौका मिलता है, अपनी प्रिया के लिए जनता के पैसे से कुछ कर देत है (फिर ताज देखा)। इस प्रजातन्त्र मे मन्त्रियों की जबान का कोई भरोसा नही है। वे समय और परिस्थितियों के अनुसार अपने वचन और व्यवहार को बडी सुविधा से बदल लेते हैं। जो मत्री कल तक कहते थे कि आत्म सम्मान खोकर हम एक दाना भी किसी से नही लेंगे, व आज कहते है कि चाहे हमे झुकना पडे, अनाज तो लेना ही होगा। यही स्थिति नौकरशाहों की है। अपनी खेती का गेहूँ अपने शहर तक लाने के लिए परमिट लेना पडता है और परमिट इन भ्रष्ट नौकरशाहो के कारण सामान्य तरीके से मिल नही सकता। इन्होंने अपना पेट भरने के लिए कुछ असाधारण तरीके निकाल रखे है, जिनसे जल्दी काम हो जाता है। (अन्न की मौत)। वास्तव मे इस पूरी व्यवस्था मे नेताओ और नौकरशाहों की मिली भगत है और इसलिए जनता के शोषण की प्रक्रिया पूरे जोर पर चल रही है। और मजा यह है कि शोषण का यह षड्यन्त्र जनता की सेवा के नाम पर हो रहा है। ये नेता जनता के 'आग्रह के कारण' चुनाव लडते है और मित्रो के दबाव के कारण 'अनिच्छा' से मत्री बन जाते है, अनिच्छा से, प्रशसको पर अहसान करन क

लिए सम्मान करा लेते हैं···कहते हैं, उन्हे पद का बिलकुल मोह नही है, पर जनता नही छोडने देती। वस्तुतः अपनी प्रवृत्तियों को झुठलाने और निस्पृहता का अभिनय करने की इनकी आदत वन गयी है। जिसे ये देश के दर्द के रूप मे प्रस्तुत कर उसे भुनाते रहते हैं। ये नेता अपनी स्वार्थ-साधना मे अत्यन्त परिश्रमी, दुस्साहसी और लुटेरी प्रवृत्ति के हैं, साथ ही वेईमान और धूर्त भी है (जैसे उनके दिन फिरे)। नेतृत्व मे घुस आए ये भेडिए कवि, लेखक, विचारक, पत्रकार और धर्मगुरुओ की सहायता से देश की निरीह जनता पर अपना कुशासन जमाए हुए है (भेड और भेडिए) और अपने भाई-भतीजो के भविष्य को सुरक्षित रखने के लिए निरन्तर अनेक हथकडे अपनाते रहते हैं (इति श्री रिसर्चाय)।

परसाई ने एक पौराणिक कथा को लेकर पौराणिक कथाओ की शैली मे ही अत्यन्त कुशलता के साथ आजादी के बाद देश मे व्याप्त राजनैतिक भ्रष्टाचार को 'लंका विजय के बाद' मे अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति दी है। लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि आज की शासन-व्यवस्था उच्छृंखल बन्दरो के हाथ मे आ गयी है। साथ ही, यह भी कि आज के नेतृत्व की मानसिकता पूजित होना तथा नारी का अपनी कुंठाओ की तृप्ति के लिए उपयोग करना वन गयी है (मेनका का तपोभंग) और इसके साथ जुडे हुए अफसरशाहो के भ्रष्टाचार ने समाज-व्यवस्था मे और भी अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न कर दी है (त्रिशंकु बेचारा)। लेकिन ऊपर से जनता को बहलाने के लिए इन नेताओ, मत्रियो और अफसरो के पास दर्शन, धर्म और नीति की सैद्धातिकता है, अच्छे-अच्छे प्रस्ताव और नारे है (वैताल की सत्ताइसवी कथा)।

हमारे देश की राजनीति को अवसरवाद और दल-बदल ने बहुत भ्रष्ट बना रखा है। मात्र अपने स्वार्थ के प्रति प्रतिबद्ध नेतृत्व ने सब नीति-नियमो और आदर्शों को ताक पर रख दिया है। 'राजनीति के इन मर्दो पर परसाई ने बहुत करारा व्यग्य किया है। उनके शब्दो मे—'ये मर्द उसी के घर मे बैठ जाते है, जो मन्त्रिमण्डल बनाने मे समर्थ हो। शादी इस पार्टी से हुई थी, मगर मन्त्रिमण्डल दूसरा पार्टी वाला बनाने लगा तो उसी की बहू बन गये। राजनीति के मर्दो ने वेश्याओ को मात कर दिया। किसी-किसी ने तो घटे भर मे तीन खसम बदल डाले' (जिसकी छोड भागी है)। सर्वत्र इसी प्रकार का पॉवर-पॉलिटिक्स चल रहा है। आज नेता के जीवन का सत्य मत्री बनना है। वह इस सत्य को कभी नही छोडता और क्योकि सत्य के लिए बडे से बडा त्याग करना पडता है, इसलिए उसने ईमान और धर्म सबका परित्याग कर दिया है (एक दीक्षान्त भाषण)। ये नेता नवयुवको को राजनीति मे भाग न लेने का उपदेश देते हैं, क्योकि उन्हे भय है कि नवयुवक वर्ग के राजनीति मे प्रवेश से उनकी पोल खुलनी शुरू हो जायगी और उनके षड्यन्त्र अधिक समय तक न चल सकेंगे। इन राजनेताओं ने ही अग्रेजो की दाढो से बचे भारत को खा लिया है (वह जो आदमी है न)। इस प्रकार अपने इस स्वतन्त्र देश मे शोपण की प्रक्रिया निरन्तर चल रही है।

अंग्रेज देश को पश्चिमी सभ्यता के सलाद के साथ खाते थे, ये (देशी नेता) *जनतन्त्र के आचार के साथ खाते हैं* (वही)। *इन नेताओं के मुखौटे सदाचारियों* के से हैं। सदाचार का तावीज पहन कर ये भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं और स्वयं भ्रष्टाचार करते हैं (सदाचार का तावीज)। दिन-भर ये अपने स्वार्थ का धन्धा चलाते हैं जिससे शाम होते होते स्नायुओं में तनाव आ जाता है। इस तनाव को शमित करने के लिए इन्हें शराब और छोकरी चाहिए (एयर कण्डीशण्ड आत्मा)। इन सब बातों के लिए इनके पास समय है लेकिन जनता के दुख-दर्दों को सुनने के लिए ये नितान्त निष्क्रिय हैं। वे स्वयं कुछ नहीं करते, बस दूसरों को निर्देश देना ही उनके कर्तव्य की इतिश्री है (होनहार)।

और तब लेखक को लगता है कि हमारा गणतन्त्र ठिठुरते हुए हाथों की हथेली पर टिका है। गणतंत्र को उन्ही हाथों की ताली मिलती है जिनके मालिक के पास हाथ छिपाने के लिए गर्म कपड़ा नहीं है (ठिठुरता हुआ गणतंत्र) और इस गण कहलाने वाले आदमी की अहमियत बस इतनी-सी है कि उसके वोट से मंत्रि-मण्डल बनते हैं (हम बिहार में चुनाव लड़ रहे हैं)। इसके विपरीत 'राष्ट्रीय' बना हुआ व्यक्ति 'सोर्स' ढूंढता और चिक उठाता हुआ घूम रहा है (राम की लुगाई और गरीब की लुगाई)।

परसाई ने *सत्ता में व्याप्त इन असंगतियों के साथ-साथ उन समाजवादियों* को भी आड़े हाथों लिया है जिन्होंने आपस में धौलधप्पा करके समाजवाद की प्रतिष्ठा के अवकाश को धुंधला कर दिया है—'समाजवाद परेशान है'' समाज-वाद आने को तैयार खड़ा है, मगर समाजवादियों में आपस में धौल-धप्पा हो रहा है। *समाजवाद एक तरफ उठना चाहता है कि उस पर पत्थर पड़ने लगते हैं*—खबरदार! उधर से मत जाना' लहूलुहान समाजवाद टीले पर खड़ा है (ठिठुरता हुआ गणतंत्र)।

लेखकीय अनुभूति और अध्ययन के समन्वय से उद्भूत ये रचनाएँ आज के *राजनीतिक भ्रष्टाचार को उखाड़ने में पूर्णत समर्थ हैं। इन रचनाओं में कहीं* भी मात्र हास्य का हल्कापन नहीं है। लेकिन साथ ही, दर्शन और सिद्धांतों की कृत्रिम गम्भीरता से भी ये मुक्त हैं। किन्तु इनमें लेखक का गम्भीर दायित्व-बोध और लेखन की सोद्देश्यता सर्वत्र व्याप्त है।

☐

राजनैतिक और प्रकाशकीय मिथ्याचार के साथ साथ परसाई ने कितने ही चित्र सामाजिक जीवन की असंगतियों के भी प्रस्तुत किये हैं और इनमें भी वे समान रूप से प्रभावी रहे हैं, इस संदर्भ में 'वैष्णव की फिसलन', 'साहब महत्वा-कांक्षी', 'बेईमानी की परत', 'चूहा और मैं', 'सुजला सुफला', 'अकाल उत्सव', 'पहला सफेद बाल', 'जमाखोर की क्रांति' (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य-रचनाएं), 'हम, वे और भीड़', 'प्राइवेट कॉलेज का घोषणा पत्र', 'समय पर मिलने वाले', 'वो जरा

चाइफ है न', 'चावल से हीरे तक', 'बेचारा भला आदमी', 'पगडडिया का जमाना' (पगडडियों का जमाना), 'इतिश्री रिसर्चाय', 'अपने-अपने इष्टदेव', 'मौलाना का लडका, पादरी की लडकी', 'वैताल की छब्बीसवी कथा', 'राग-विराग', 'दो कथाएँ', 'आमरण अनशन' (जैसे उनके दिन फिरे), अपनी-अपनी बीमारी', 'समय काटने वाले', 'बुद्धिवादी', 'प्रेम की बिरादरी', 'जिसकी छोड भागी है', 'इस्पेक्टर भगवानदीन चाँद पर', 'असुविधा भोगी' (अपनी-अपनी बीमारी), 'सस्कारो और शास्त्रो की पढाई', 'न्याय का दरवाजा', 'एक और जन्मदिन', 'अभिनदन', 'परमात्मा का कोटा', गुड की चाय', 'वर कमल हो गए', 'छुट्टी वाला शोक', 'शहादत जो टल गयी', दूसरे के ईमान के रखवाले' (शिकायत मुझे भी है), 'उखडे खभे', 'भगत की गत', टार्च बेचने वाले', 'मन्नू भैया की बारात', 'भोलाराम का जीव', 'एक फिल्म कथा,' 'आत्मज्ञान क्लब', 'गाधी जी का शाल', 'अमरता', 'उपदेश', 'दवा', देव-भक्ति', 'दण्ड', 'मित्रता', 'जाति (सदाचार का तावीज), 'फिल्मी रोमाच' तथा 'ग्राट अभी तक नही आई,' (ठिठुरता हुआ गणतत्र) आदि कितनी ही रचनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं। इन रचनाओ म प्रस्तुत सामाजिक असगतियाँ पाठकीय स्तर पर व्यक्ति का बुरी तरह बेचैन कर देती हैं। यह नही कि पाठक इन असगतियो स बेखबर है, लेकिन इनकी जडें कितनी गहरी जमी हैं और एक वर्ग विशेष के हितों की रक्षा क लिए योजनाबद्ध तरीके स बुरी तरह दोहन का कितना गहरा षडयत्र चल रहा है—इसकी अप्रतिम जानकारी उस इन्ही रचनाओ से मिलती है। ये रचनाएँ हमे उस ससार म ले जाती हैं जहाँ अपने व्यवसाय की प्रगति के लिए व्यक्ति अपने धधे को धर्म से जोडता चलता है और उसकी आत्मा उसकी मानसिकता के अनुरूप उसे निर्देश देती रहती है। परिणाम यह होता है कि वैष्णव के होटल म शराब, गोश्त, कैबरे और औरत—सब कुछ प्राप्य होने लगता है और इससे उसक धर्म के निभाने म कोई कमी नही आती (वैष्णव की फिसलन)। ये रचनाएँ हम स्वार्थ-केन्द्रित उन सामाजिको से साक्षात्कार कराती है जिनके लिए देश का अर्थ घर और क्लब है (साहब महत्त्वाकाक्षी), जहाँ सामान्य मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी निष्क्रियता मे ही जीवन की तृप्ति मान लेने के लिए विवश हो गया है (एक तृप्त आदमी)। ये रचनाएँ उस परिवेश को उजागर करती हैं जहाँ एक ओर बिना चाकू के दूसरो का पेट काट कर अपना पेट बडा कर लिया जाता है (बेईमानी की परत) और दूसरी तरफ अपनी निष्क्रियता मे आदमी की स्थिति चूहे से भी बदतर हो गयी है। और लेखक सोचता रह जाता है कि क्या आदमी चूहे से भी बदतर हो गया है। चूहा तो अपनी रोटी के हक के लिए मेरे सर पर चढ जाता है (चूहा और मैं)।

'बडे' आदमियो के चारित्रिक पतन की कहानियाँ पीढियो से चली आ रही हैं। इस पर लिखा भी कम नही गया है। किन्तु परसाई ने ही सम्भवत पहली बार इसे अत्यत स्पष्टता से अभिव्यक्ति दी है। उनके अनुसार 'बडे आदमियो

के दो तरह के पुत्र होते है। वे जो वास्तव मे है, पर कहलाते नही है। और वे, जो कहलाते है पर है नही। जो कहलाते है वे धन-सम्पत्ति के मालिक बनते है और जो वास्तव मे है, वे कही पखा खीचते है या बर्तन मांजते है। होने से कहलाना ज्यादा लाभदायक है।' अपने समाज की चारित्रिक विसगति का इससे बडा उदाहरण और क्या हो सकता है।

□

चारित्रिक स्तर पर ही नही, मानसिक स्तर पर भी यह विसगति और षड्यन्त्र सर्वत्र व्याप्त है, चाहे वह क्रान्तिकारी छात्रों की मानसिकता हो अथवा जमाखोर पूँजीपति की। छात्र पोस्ट ऑफिसो, बसो, सिनेमाघरो और होटलो को नष्ट करके, आपस मे मारपीट और छुरबाजी करके क्रातिधर्मी बनते है। उनकी वह क्रातिधर्मिता जमाखोर के गोदामो की ओर मुडती है तो जमाखोर उनके बीच अपने किराये के गुण्डे सम्मिलित कराकर पुलिस पर पत्थर फिकवा देता है। बस, पुलिस और विद्यार्थियो मे ठन जाती है और गोदाम सुरक्षित रह जाता है (जमाखोर की क्राति)। पूँजीवादी सभ्यता मे प्रचलित ऐसे कितने ही षड्यन्त्रो पर परसाई की नजर गयी है जिनसे जीवन की स्वस्थ परपराएँ धूमिल हो जाती है। परसाई ने लक्ष्य किया है कि इस देश मे लेखक को पुरस्कार और आर्थिक सहायता उसकी प्रतिभा की दृष्टि से नही, आयु की दृष्टि से मिलती है। इस व्यवस्था मे गरीब को अपनी गरीबी प्रमाणित करने के लिए प्रतिष्ठित लोगो का प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करना होता है। यहाँ अवसरवादी 'प्रगतिशील' आलोचक प्रतिक्रियावादी लेखको से हाथ मिलाते हैं (हम, वे और भीड)। प्राइवेट कॉलेज को दान देने वाला कॉलेज पर अपना प्राइवेट घोषणा-पत्र लादता है ताकि कॉलेज की व्यवस्था समिति पर हमेशा के लिए उसका अकुश बना रहे (प्राइवेट कॉलेज का घोषणा पत्र)। कॉलेजो के अध्यापक सुदर काव्य-पक्तियो को क्लास मे तो अश्लील घोषित करते है किन्तु छात्राओ को वे अश अलग से समझाने के लिए तत्पर रहते है। और अपनी गलित मानसिकता मे हर व्यक्ति दूसरे की बीबी की खोज करता है कि वह स्टेज पर आय, अपनी न आये। दूसरे की नही आती तो कहता है कि बडे पिछडे हुए लोग हैं। और अपने को पिछडा हुआ नही मानना जिसने पत्नी का बुरका बनाकर घर मे रख छोडा है (वो जरा वाइफ है न)।

'पगडडियो का जमाना' परसाई की एक और सशक्त रचना है जिसमे लेखक ने पूरे जीवन और व्यवस्था मे व्याप्त भ्रष्टाचार पर अँगुली रखी है। सरकारी तत्र का भ्रष्टाचार सामाजिक जीवन मे भी व्याप्त हो गया है। आम आदमी को मजबूरन गलत और भ्रष्ट तरीके अपनाने पडते हैं। छोटे दूकानदार को अपने सच्चे हिसाब को सच्चा मनवाने के लिए घूस देनी पडती है। एक नौकरी के सिलसिले मे किसी बडे आदमी से प्रमाण-पत्र चाहने वाली महिला को बडा आदमी सच्चरित्रता का प्रमाण पत्र देने से पहले अपने शयन-कक्ष मे ले जाना चाहता है।

परीक्षक से अक बढवाने के लिए आये हुए अभिभावक वेझिझक, नि सकोची और निर्लज्ज हो गये हैं। जीवन-यापन और सफलता की आम सडकें बद हो गयी है, लोग पगडडियो से चलने के आदी होते जा रहे हैं—पगडडियाँ ही आम रास्ता बन गयी हैं। लेखक ने देखा है कि शिक्षा-जगत भ्रष्टाचार का अड्डा बन गया है। वह देखता है कि पुस्तक को पाठ्यक्रम मे लगाने के लिए किस प्रकार अपने इष्ट-देव की पूजा होती है (अपने-अपने इष्टदेव)। व्यक्ति अपनी उन्नति के लिए अपने दाँत भी उखडवाने के लिए तैयार है (वैताल की छब्बीसवीं कथा)। धर्माचार्यों के मानस मे निरतर शैतान घुमा रहता है। सहायता काय के नाम पर किस प्रकार चदा बटोरुओं की एक जमात ही बन गयी है जो नागरिको से चदा लेकर अपना पेट भरते रहे हैं (लका विजय के बाद)। इस व्यवस्था मे धर्म के नाम पर पाखड खूब पनप रहा है। इस सदर्भ मे लेखक ने गीता पाठियो और साधु-सन्तो पर करारी चोट की है (राग-विराग)।

☐

और वस्तुत परसाई की रचनाओ मे इस प्रकार के व्यग्य की भरमार है जो हमारे जीवन और अनुभव-क्षेत्र मे व्याप्त अनेकानेक विसगतियो को प्रखरता के साथ उभारते है। इनसे सम्भवत कोई भी पक्ष नही बचा है। नेताओं की चरित्रहीनता, मोर्चेबाजी, सिद्धांतहीनता, निष्क्रियता, नौकरशाही, साम्प्रदायिकता, धार्मिक पाखड, अनेकमुखी राजनीतिक षड्यन्त्र और इन सबके साथ दोमुँहापन, अवसरवाद, असामजस्य, अन्याय, शोषण, स्वार्थपरता, सकीर्णमानसिकता, विज्ञापनबाजी, सस्ती लोकप्रियता, पॉवर-पॉलिटिक्स, सुविधाभोगी प्रवृत्ति, पुलिस अत्याचार, न्याय के क्षेत्र मे व्याप्त अराजकता, शिक्षा-सस्थाओं, विश्वविद्यालयों तथा अध्यापक वर्ग मे निरतर तिरोहित होती आदर्शवादिता, रईसों की अनैतिकता, सस्कृति का खोखलापन, प्रणय का बाजारूपन और व्यावसायिकता, फिल्म-कलाकारो और रचनाकारो की कुठित मानसिकता और बुद्धिजीवियो की अनैतिकता और यहाँ तक कि वामपथी पार्टियो मे चल रही परस्पर सर-फुटौवल को भी परसाई ने नजरअदाज नही किया है। अनेक व्यक्ति-चरित्रो को टाइप के रूप मे प्रस्तुत करके उन्होने उस पूरी व्यवस्था म भीतर तक फैले भ्रष्टाचार को साकार करन का भी अत्यत सफल प्रयत्न किया है। और हम जानते है कि इस तरह का प्रयत्न और साहस वही कर सकता है जो अपन भीतर की ईमानदारी के साथ अपने समय की सामाजिक-राजनैतिक विद्रूपताओं, असगतियो और असामजस्य स चिंतित हो और जिसकी दृष्टि अपन हितो पर न लगी होकर आवश्यक रूप से समाजोन्मुखी हो और जिसे स्वय इन व्याप्त क्रूरताओं का शिकार होना पडा हो।

परसाई के व्यग्य मे बाह्य निरपेक्षता और तटस्थता के साथ ही जो आतरिक सलग्नता और सश्लिष्टता दिखलाई देती है उसका कारण यह है कि उन्होन

विपपायी वनकर अपनी लेखनी उठायी है और लिखने से पहले लेखन की उद्देश्य-परकता को भली भाँति समझ लिया है। उनमें एक ओर जीवन-बोध की सही पहचान है तो दूसरी ओर व्यंग्यकार की सफल दृष्टि भी है। वे व्यंग्यकार की आस्था और विश्वास से विज्ञ है इसीलिए एक निश्चित दिशा और सोच को दृष्टिपथ पर रखकर उन्होंने रचनाधर्मिता का निर्वाह किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि परसाई की इसी जनवादी रचनाधर्मिता ने हिन्दी लेखकों की नयी पीढ़ी को एक स्वस्थ और रचनात्मक दिशा और प्रेरणा दी है।

—देवेश ठाकुर

व्यंग्य का प्रजातंत्रीकरण

समय के बदलते हुए तेवरों में रचना यदि अपनी सार्थकता बनाए रखना चाहती है तो उसे उस सामाजिकता की सही पहचान करनी होगी जिसे हम समय-विशेष का प्रतिनिधित्व करते देख सकते हैं। पर यह कोई ऊपर-ऊपर तैरती हुई चीज नहीं है कि इतनी आसानी से उसे पा लिया जाय। हम उन सारे अन्तस्सम्बन्धों और जटिलताओं की भी जानकारी होनी चाहिए जो समय के यथार्थ को बनाती है। कई बार कमजोर रचना विवरण, वृत्तान्त तो ढेर सारे दे जाती है, पर उसमें वह समग्रता हमें देखने को नहीं मिलती, जिससे हम कह सकें कि "समय की जटिलता" का पूरा प्रतिनिधित्व वहाँ हो सका है। आखिर हम अपने समय को पहचानते कैसे हैं? इस सवाल को लेकर बहस-मुबाहिसे हुए हैं, अब भी हो रहे हैं। पर यह बात सच है कि आगे आने वाले कल में भी यदि पिछले समय का सही अन्दाज लेना हो तो हमें सार्थक रचनाओं की ओर मुड़कर देखने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। किसी जीवन्त रचना की एक बड़ी पहिचान मेरी समझ से यह भी है कि उसमें उसके समय का वर्तमान पूरी समग्रता में उजागर होता है, रास्ते अलग-अलग हो सकते हैं, जैसा हिन्दी गद्य के संदर्भ में प्रेमचन्द, यशपाल और हरिशंकर परसाई में देखा जा सकता है।

हरिशंकर परसाई मेरी समझ में उन लेखकों में हैं जो अपने वर्तमान को सही परिप्रेक्ष्य में देखने-समझने की कोशिश करते हैं। वे समय के हर मोड़ पर मौजूद मिलते हैं, संदर्भों पर सही निगाह रखे हुए, सामयिक जिन्दगी के हर बदलते रूप को अपनी लेखनी में बाँधते हैं। परसाई के लिए यह इसलिए संभव हो सका क्योंकि वे हिन्दी के सबसे सजग लेखकों में हैं—समय, समाज की नब्ज पर हाथ रखे हुए। लोग शिकायत जरूर करते पाये जाते हैं, जरा दबी जबान से ही सही कि उन्होंने अपने को दुहराना शुरू कर दिया है। पर जो लेखक बराबर स्वयं को समय के यथार्थ से जोड़े रहते हैं और खुद की परिक्रमा करके नहीं रह जाना चाहते, उनके लिए इस प्रकार का खतरा प्राय कम होता है। परसाई के लिए उनका वर्तमान केवल एक तिथि या घटना नहीं है। इसीलिए जबकि दूसरे कई व्यंग्यकार पत्र-पत्रिकाओं के लेखक बनकर रह जाने के खतरे में हैं, परसाई से असहमत होने वाले लोग भी उन्हें नकार नहीं पाते।

परसाई की सजग सामाजिक चेतना, स्थिति के आर-पार देख सकने की उनकी क्षमता और तेज, पैनी, गैर-रोमानी निगाह उन्हें सामयिकता से

उठाती है। मतलब यह कि वे सारे अन्तस्सम्बन्धो की पडताल करना चाहते हैं, केवल फोटोग्राफी करके नही रह जाते। उनकी प्रतिबद्धताएँ यहाँ उनकी सहायता करती है, यद्यपि जहाँ तक उनके राजनीतिक लेखन का सवाल है (जैसे सारिका या नई दुनिया आदि का) उसे काफी विवादो का शिकार होना पडा है।

हास्य, व्यग्य के बीच बहुत पतली रेखा है और कई बार उन्हे अलगा पाने मे कठिनाई होती है। सामती दौर मे वह दरबार की चीज थी और 'तर्जेबयाँ' या कहन की कला पर आग्रह था। पर चेखव जैसे लेखको ने उसे सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया, जबकि फेबियन समाजवादी शॉ के आग्रह बौद्धिक अधिक थे। *हमारे सामने जो विसगतियाँ है उन पर प्रहार करके* बदलाव के लिए रास्ता खोलने का काम आधुनिक युग मे व्यग्य के द्वारा लिया गया। हास्य बतौर मनोरजन गुदगुदाना चाहता है, पर व्यग्य एक कदम आगे बढकर हमलावर होता है। हिन्दी मे व्यग्य को सामाजिक सदर्भो से जोडने मे जिन लोगो ने पहल की, उनमे परसाई सबसे प्रमुख हैं। रचना को गैर-रोमानी दिशा मे मोडने का श्रेय मेरे विचार से नये काव्य के आरभिक हस्ताक्षरो को एक अश तक ही है, खास तौर पर लिजलिजी भावुकता से मुक्ति दिलाकर उसे अधिक बौद्धिक, तार्किक दिशाओ मे मोडने के लिए। पर वहाँ रोमास पूर्णतया अनुपस्थित नही है और बीच-बीच मे आदर्शवादी रेखाएँ भी झलक जाती है, जिससे छुटकारा पा सकने के लिए हमे समकालीन कविता की प्रतीक्षा करनी पडी। गैर रोमानी परिवेश बनाने मे और उसे सामाजिक यथार्थ की ऊबड-खाबड दुनिया से जोडने मे नये कथा-साहित्य ने ज्यादा कारगर काम किया है और परसाई के व्यग्य लेखन को इसी सदर्भ मे देखना चाहिए।

व्यग्य की कई सीमा-रेखाएँ बन जाती है, जैसे वह इतना हमलावर हो जाता है कि प्राय उसका रुख नकारात्मक बन जाता है। पर यही परसाई व्यग्य को उसकी सीमाओ से ऊपर उठाकर एक बहुत जिम्मेवार लेखन का रूप देते है। चीजें तब तक साफ नही दिखाई देती जब हम उन्हे निरपेक्ष मान लेते हैं, पर यदि इतिहास की समझ हो और सही सदर्भों की जानकारी हो तो घटना, स्थितियाँ, पात्र सभी कुछ ठीक ठीक जगह पर रक्खे जा सकते हैं *और उनकी वैयक्तिकता* टूट जाती है। परसाई के लेखन की शक्ति सामाजिक सदर्भो की इसी सही पहचान मे निहित है और इसीलिए सुनने मे विरोधाभास जैसा लगते हुए भी यह सच है कि व्यग्य मे भी वे अपने सवेदन के साथ उपस्थित हैं। वे रचना मे गैर-रोमानी ढग से अनुपस्थित होकर भी सब जगह हाजिर हैं। बिना गहरी मानवीय सलग्नता और सामाजिक शिरकत के ऐसा सभव नही होता। बुढापे का अहसास कराने वाला "पहिला सफेद बाल" परसाई को डरा-धमकाकर भी उनके जीवट को तोड नही पाता और व व्यग्य को नया मानवीय मोड देते हैं, नयी पीढी को सम्बोधित करते हुए वे कहते है—मेरी-पीढी के समस्त पुत्रो—मैं तुम्हे वह भविष्य ही देता हूँ—। हम नीव मे धँस रहे हैं कि तुम्हारे लिए एक भव्य भविष्य रचा

जा सकें—। हमें तुममें कुछ नहीं चाहिए। हम नींव में धँस रहे है, लो हम तुम्हें कलश देते हैं।

परसाई हिन्दी के सबसे सचेत लेखकों में है, हर मौके पर मौजूद, जैसे घटनाएँ जानती हैं कि वे आने ही वाले हैं, और उनका लेखन पूर्वापर सम्बन्धों की तलाश करता हुआ आगे बढ जाता है। जहाँ सामयिकता उन्हें दबोच लेती है, वहीं उनके रचनाकार में कमजोरी आती है क्योंकि कई बार राजनीति के सम्बन्ध साप्ताहिक मैत्री की तरह होते हैं, यहाँ तक कि शाम को शादी, सुबह तलाक। परसाई ने ढेर सारा राजनीतिक लेखन किया है और लगभग हर मुद्दे पर अपनी राय देनी चाही है, पर ऐसा करने में वे उस दल को भी नहीं बख्शते, जिससे उन्हें जोड़ा जाता है। मसलन 'ठिठुरता हुआ गणतन्त्र' में वे सभी राजनीतिक दलों से पूछते हैं, "सूर्य बाहर क्यों नहीं आ रहा है? बादलों में क्यों छिप गया है" उनकी टिप्पणी है 'साम्यवादी ने मुझसे साफ कहा यह सब सी० आई० ए० का षड्यन्त्र है? सातवें बेड़े से बादल दिल्ली भेजे जाते हैं।' यह बात दीगर है कि हर बार ऐसी तटस्थता वे न बरत पाये हों। या फिर स्थितियों का जायजा लिए बिना उन्होंने घटनाओं को ऊपर-ऊपर छूकर कोई बात कह दी हो जैसे 'और अन्त में' के कुछ हिस्सा में। पर ऐसे प्रसंग अपेक्षाकृत कम है।

सामाजिक सदाशयता से परिचालित परसाई के लेखन ने अपने लिए सही मुहावरा तलाश किया, इसलिए उन्हें अपनी बात साफ ढंग से कह सकने में कठिनाई नहीं हुई। यहाँ रहस्यवाद जैसा कुछ भी नहीं है, खुलासा है, दो टूक, बेलाग। इसीलिए उनके सबसे मनचाहे दोस्त हैं—कबीर—फक्कड़, मनमौजी, घर फूँक तमाशा देखने वाले और दुनिया के सामने निडर होकर जीने की हिम्मत रखने वाले।

परसाई के लिए व्यंग्य विद्रूपता मुखौटेबाजी को सामने लाने का, उस पर चोट करने का एक कारगर हथियार है और इसकी सामाजिक जिम्मेवारी का उन्हें अहसास है। बिना सही सामाजिक बोध के हम चीजों को ठीक संदर्भ में नहीं देख पाते और वे या तो अलग-अलग पडी दिखाई देती है या निजी प्रतिक्रियाएँ बनकर रह जाती हैं। 'ठंडा शरीफ' आदमी है, परसाई टिप्पणी करते हैं 'यों वह बोलता बहुत कम है—। ऐसे सब प्रसंग टालता है जिनमें आहट हो। आहट नहीं होती, पर सफलता उसे मिलती जाती है—।' और वे कहते हैं "सोचता हूँ किस साधना से आदमी ऐसा ठंडा हो जाता है? जिन्दगी में इतनी तरह की आगें हैं। कहीं कोई गर्मी इसे महसूस क्यों नहीं होती? जिन्दगी की जटिलता को सुलझाकर इसने किस तरह सीधा और सपाट कर लिया है?" जाहिर है कि यहाँ समाज से बिलकुल कटे हुए, अपने लिए जीने वालों का खाका है। पात्रों की स्थितियों को समाज के प्रवाह से जोड़ने के हुनर के बिना प्रेषणीयता जैसे अकादमिक सवाल उठते-गिरते रहेंगे।

लेखन में जीवनानुभव को संयोजित कर पाने की कला तभी आ सकती है जब रचना में असमंजस, अनिर्णय खत्म हो चुके हों। तो लेखन में ताक-झाँक,

दल-बदल, लुका-छिपी, दाँव-पेच और गोलमाल की बहुतायत हो जाती है। परसाई के सामने भी ऐसे अवसर आए होंगे, आवेंगे भी जब सामाजिक, राजनीतिक उतार-चढ़ाव के बीच उनके सामने निर्णय का प्रश्न उठा होगा, उठेगा भी, पर उन्होंने बगलें नहीं झाँकी और अपनी बात कही···चाहे आप उनसे बिल्कुल असहमत ही क्यों न हों। बदलते माहौल में कई बार उनकी बातें एक-दूसरे को काटती भी दिखाई देती है। पर राजनीतिक लेखन की तो यह स्वाभाविक स्थिति है।

परसाई का मुहावरा उनका अपना है, उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता हुआ, बिना आडम्बर के रहते हुए सहज, निरायास शब्द, पर निडरता से बोलते हुए, और आपको सावधान करते हुए। उनका लेखन हमें न चौंकाना है, न डराता है, वह मुखौटे उघाडता है और अपने पाठक की उँगली पकडकर उसे साथ लेकर चलता है। कम शब्दो मे बात कह सकने की क्षमता उनके जीवनानुभव के विस्तार से ही सम्भव हो सकी है, वह कलावादी की चौखट मे फिट नही होती, ध्यान देने पर ही व्यग्य पकड मे आ सकेगा 'इस देश के बुद्धिजीवी सब शेर है पर वे सियारो की बारात मे बैंड बजाते (कर कमल हो गये), निन्दा कुछ लोगो की पूँजी होती है (निन्दा रस), सुलझे विचारो ने बार-बार मारा है (गली तो चारो बन्द हुई), गणतन्त्र ठिठुरते हाथो की तालियो पर टिका है (ठिठुरता हुआ गणतन्त्र), चाँद मे जाओ चाहे शान्ति मे, दुनियादारी नही छोडती (चाँद पर नही जा सका), ज्यादा खुश हो जाता गँवारूपन है (साहब महत्त्वाकाक्षी), चिकनी बात पर आदमी का पाँव फिसला कि वह गया रसातल को (आइसक्रिम), सारी नैतिकता पिछवाडे के दरवाजे से आती जाती है (फिर ताज देखा), बसन्त अपने आप नही आता, उसे लाया जाता है (वसन्त), डबरे के कीचड मे नहाने वाला गगा-स्नान करने वाले को उपदेश देता है (बने है दोस्त वासेह) आगजी राखजी हो जाते है, बाहर वीर रस होता है, भीतर करुणा रस आदि स लेखक के गहरे अहसास की पुष्टि होती है।

परसाई ने व्यग्य को उसमे सामन्ती, मनोरजक परिवेश से ऊपर उठाकर उसका प्रजातन्त्रीकरण किया और उसे गहरे सामाजिक आशयो से जोडा। बेहद जल्दी मे लिखी हुई उनकी राजनीतिक टिप्पणियो को छोड दिया जाय, तो बहुत कुछ है जो अपनी सामाजिक जिम्मेवारी निभाता है और जो आगे आने वाले पाठक को भी अपने साथ ले चल सकेगा। सामाजिक विसगतियो पर हमला करते हुए भी परसाई गहरी मानवीय सवेदना से परिचालित है, इसे जाने बिना उनकी रचना के साथ इन्साफ नही किया जा सकता क्योकि यह इन्सानी सलग्नता ही उनके लेखन को सार्थकता देती है।

—प्रेमशकर

निर्गुण जनतंत्र के खिलाफ

चार सौ वर्ष पहले तुलसीदास के 'रामचरितमानस' की मन्थरा ने कैकेयी से आजिजी मे कहा—"कोऊ नृप होहि हमहि का हानी। चेरि छाँडि अब होब कि रानी॥" उसने यह इसलिए नही कहा था कि राजनीति मे उसकी कोई रुचि नही थी, वह तो राजनीति मे सक्रिय रुचि ले रही थी, क्योकि वह चाह रही थी कि राजगद्दी पर राम नही, भरत बैठें और राजमाता कैकेयी बनें, कौशल्या नही। अपनी इस इच्छा को मूर्त करने के लिए उसने प्रयत्न भी किया। फिर भी यदि उसने एक अवस्था मे कैकेयी से उपर्युक्त बात कही, तो वह उस समय की सामाजिक बनावट, राजनीतिक प्रणाली और उसमे मन्थरा की स्थिति से उत्पन्न राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति थी। सामाजिक बनावट सामन्तवादी अर्थ-व्यवस्था पर आधारित थी और राजतत्र की राजनीतिक प्रणाली का आधार भी वही था। राजतत्र मे राजा का बेटा राजा होगा, यह तो तय रहता था। राजा राम हो या भरत, मन्थरा जैसी चेरी की स्थिति मे कोई फर्क नही आने को था। अत मन्थरा की उक्ति मे सामन्तवाद और राजतत्र की आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था से विकसित राजनीतिक चेतना सुनायी पडती है।

आज के भारत मे सामन्ती व्यवस्था के कुछ अवशेष अवश्य मौजूद है, लेकिन अर्थतत्र पूँजीवादी है और राजनीतिक व्यवस्था भी उसी के शिकजे मे है। पूँजीवाद ने आम तौर से सामन्तवाद को हर जगह समाप्त कर दिया है, इग्लैड, फ्रास, इटली, अमेरिका, जापान आदि देशो मे ऐसा हुआ। लेकिन भारत मे अग्रेजी साम्राज्य ने सामतवाद को सरक्षण दिया और आजादी मिलने के बाद भारतीय पूँजीवाद ने भी उसे पूरी तरह समाप्त नही किया। खैर, यह मामला दूसरा है। यहाँ हमे यह कहना है कि यद्यपि पूँजीवाद भी जनता का शोषण करता है, फिर भी वह जनता को सामतवाद के चगुल से मुक्त कर देता है, जिससे जनता को जन कार्रवाई का, राजनीति मे प्रत्यक्ष रुचि लेने का मौका मिल जाता है। भारत म तो गौर करने की बात यह है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग ने अग्रेजी साम्राज्य-वाद के खिलाफ लडाई मे हिस्सा लिया और अपने स्वार्थ की सीमा मे उसने जनता को कार्रवाई मे उतारने की भी कोशिश की। भारतीय जनता ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति के सघर्ष के दरम्यान राजनीति मे रुचि लेने का अभ्यास किया और यह अभ्यास बहुत लम्बी अवधि तक उसे करना पडा। आजादी मिलने के बाद उसने अपनी आकाक्षाओ एव आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जो सघर्ष

किये है, वे राजनीतिक सघर्ष की ओर उन्मुख होते रहे हैं, क्योंकि जनता के हर हिस्से को अपनी मांगो की पूर्ति के लिए या समस्याओं के समाधान के लिए सरकार से टकराना पडा है। जनता का सरकार से या सरकारी नीतियों से टकराना राजनीतिक सघर्ष का रूप ले लेता है। इसके अलावा आजाद भारत मे बालिग मताधिकार पर आधारित आम चुनावो मे तो जनता को प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रक्रिया से गुजरने का मौका मिला है। अत राजनीति आज की जनता के जीवन का अग है। इस युग मे साहित्य को राजनीति से अलग करने की कोशिश जनता और साहित्य के सम्बन्ध को तोडने की कोशिश है। यह वास्तव मे साहित्य को उसके उद्गम स्रोत से काट देने की कोशिश है। राजनीति आज के साहित्य का एक गुण है।

इस प्रसग मे कुछ पक्तियो मे इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना चाहिए कि राजनीति है क्या ? यह जरूरी इसलिए है कि हमारे देश मे लोग राजनीति मे भाग लेते हुए कहते है कि राजनीति गदी चीज है। लेखक को ही नही, हर भले आदमी को राजनीति से अलग रहना चाहिए। असल मे ऐसा कहने वाले यह नही देख पाते कि भारत के समाज मे कई वर्ग है। यह समाज शोषक और शोषित मे बँटा हुआ है। दोनो के आर्थिक स्वार्थ एक नही हो सकते, इसलिए दोनो की राजनीति भी एक नही हो सकती। इस दृष्टि से देखने पर कम से कम दो तरह की राजनीति तो दिखाई पडेगी ही एक शोषको की राजनीति, दूसरी शोषितो की राजनीति। तब आपको कहना पडेगा कि कौनसी राजनीति अच्छी है और कौनसी गदी ? इस ढग से सोचने पर यह भी समझ मे आता है कि राजनीति समाज के विभिन्न वर्गों के बुनियादी हितो एव वर्गीय सम्बन्धो की अभिव्यक्ति है। वर्ग-विभाजित समाज मे विभिन्न वर्गों के स्वार्थ आपस मे टकराते है, इसलिए दो तरह की राजनीति आपस मे टकराती है। शासक वर्ग की राजनीति शोषण, छल और फरेब से चलती है, गुडा-गर्दी से चलती है। शोषित वर्ग यानी मेहनतकश वर्ग की राजनीति उसके खिलाफ सघर्ष मे चलती है। दोनो तरह की राजनीति गदी नही हो सकती। मेहनतकश वर्ग की राजनीति जनता के जीवन को बदलने वाली राजनीति है, इसलिए आवश्यक एव क्रातिकारी राजनीति है। इस राजनीति से जुडना मानव-जीवन को बेहतर बनाने की लडाई से जुडना है। जहाँ तक साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध का सवाल है, मैं समझता हूँ कि साहित्य और राजनीति दोनो एक ही सामाजिक प्रक्रिया के अग है। जब समस्याओ को राजसत्ता के प्रश्न से जोडकर सुलझाने की कोशिश होती है, तो उसे राजनीति कहते है और जब उन्हे सवेदना के स्तर पर सुलझाने की कोशिश होती है, तो वह साहित्य का रूप लेती है।

हरिशकर परसाई जैसे लेखक जनता के बीच से आते है, जनता के बीच रहते हैं, जनता की समस्याएँ उनकी समस्याएँ है, जनता के प्रश्न उनके प्रश्न है, इसलिए आम जनता की तरह वे भी मानव-जीवन को बेहतर बनाने की कोशिश मे सामाजिक प्रक्रिया से गुजरते हुए राजनीति से जुडते है। अत परसाई जी के

लेखन की राजनीति मानवीय सवेदना को सामाजिक आधार देने की राजनीति है, मानव-मूल्य को प्रतिष्ठित करने वाली राजनीति है। अत उनके बारे मे यह कहना सही होगा कि राजनीति उनके लेखन का सस्कार है। यह सस्कार जनता के लगाव, जनसघर्षो से जुडाव और मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित करने की प्रतिबद्धता से विकसित हुआ है। यह सस्कार मध्यकालीन चेतना से मुक्ति और आधुनिक वैज्ञानिक एव समाजवादी चेतना की स्वीकृति से विकसित हुई है। अत यह स्वाभाविक है कि परसाई ने साहित्य मे राजनीति के गुण का साफ-सुथरे ढग से विनियोग किया है। इस ढग की राजनीति से लेखन कैसे श्रेष्ठ बनता है, यह परसाई जी क लेखन मे देखना चाहिए।

परसाई जी स्वतन भारत के लेखक है, उनके लेखक रूप का विकास स्वतत्र भारत के वातावरण मे हुआ है। अत पिछले बत्तीस वर्षो के सामाजिक, राजनीतिक सघर्षो के दौर मे विकसित सामाजिक चेतना परसाई जी के लेखन की अन्तर्धारा है। इन बत्तीस वर्षो की अवधि मे हिन्दी-साहित्य मे लेखन और राजनीति के सम्बन्ध कई स्तरो से गुजरे है। आजादी मिलने के तुरत बाद लेखन और राजनीति का सम्बन्ध ढीला पड गया, इसका वस्तुगत आधार यह था कि लम्बे सघर्ष के बाद जनता ने ब्रिटिश साम्राज्य की दासता से मुक्ति पायी थी। मुनाफाखोरो और चोरबाजारियो को फाँसी पर लटका देने की घोषणा करने वाले नेता जवाहरलाल नेहरू प्रधान मत्री बने थे, इसलिए लोगो ने उम्मीद लगायी थी कि अब जनता की हालत बदलेगी, उसका दुःख-दर्द दूर होगा। इसलिए बुनियादी सामाजिक परिवर्तन की राजनीति को वह जन-समर्थन नही मिला, जिसकी आशा उसके नताओं ने की थी। इस दौर के लेखन मे यथास्थितिवादी राजनीति का प्रभाव बढा। लेकिन परसाई जैसे लेखक स्वतनता को वर्गीय दृष्टिकोण से देख रहे थे, इसलिए समझ रहे थे कि देश की आजादी का लाभ सम्पत्तिशाली लोग ही उठा रहे है, मेहनतकश जनता इसके जरिये शोषण मे मुक्त नही हो सकती। इसलिए उन्होंने आजादी मिलने के बाद की राजनीति और समाज-व्यवस्था को अपने लेखन का निशाना बनाया है। यह यथास्थितिवादी लेखकों की राजनीति से गुणात्मक रूप मे भिन्न राजनीति है। इस राजनीति का प्रभाव लेखन म बढता गया, जैसे जैसे जनता का मोह-भग काग्रेसी शासन से होता गया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर द्वितीय विश्व युद्ध मे फासीवादी तत्त्वो के पराजित होने साम्राज्यवाद के सकटग्रस्त एव पतनोन्मुख हो जाने तथा विश्व समाजवादी व्यवस्था के उदय से परिस्थिति मे नया मोड आ गया था, शक्तियो के सतुलन मे परिवर्तनकारी शक्तियो का पक्ष भारी हो गया था। देश के भीतर यथास्थितिवादियो के लिए नयी बात यह हुई कि देश के राजनीतिक मच पर कम्युनिस्ट पार्टी काग्रेस के बाद दूसरी बडी पार्टी बनकर उभर गयी और कई राज्यो मे सरकार बनाने का स्वप्न देखने वाली सोशलिस्ट पार्टी नगण्य बनकर रह गयी। इस घटना

से राजनीति ही नहीं साहित्य क्षेत्र के यथास्थितिवादी भी चौंके और घबड़ाये। यह आकस्मिक नहीं था कि 1953 में कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम का जो सम्मेलन बम्बई में हुआ था, उसके संयोजक अज्ञेय थे और जयप्रकाश नारायण ने उसकी अध्यक्षता की थी तथा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, मीनू मसानी, अशोक मेहता आदि ने उसमें सक्रिय हिस्सा लिया था, उक्त संस्था के अन्तर्राष्ट्रीय नेता आर्थर कोएस्लर भी उसमें मौजूद थे। हमारे लिए उल्लेखनीय बात यह है कि उस सम्मेलन के मंच से उपर्युक्त महानुभावों ने लेखकों को निर्देश दिया कि साहित्य को राजनीति और मार्क्सवाद के असर से दूर रखना चाहिए। चूंकि आम जनता, *खास कर मध्यवर्गीयों का मोहभंग अभी शुरू ही हुआ था, उनकी आशा अभी बनी* हुई थी। इसलिए सन् 1950 ई० के बाद के लेखन को कुछ दिनों तक राजनीति से दूर रखने और प्रयोग, बिम्ब आदि को लेखकीय धर्म के रूप में स्वीकार कराने में उन्हें सफलता मिली। वैसे यह बात कविता के क्षेत्र में ज्यादा हुई। कथा-साहित्य इस अवधि में भी सामाजिक संघर्ष से जुड़ा रहा। उन्हीं दिनों 'नदी के द्वीप' कथा-साहित्य में वह जगह नहीं पा सका जो 'बलचनमा' ने ग्रहण कर लिया।

परसाई जी उन लेखकों में हैं जो कभी मोह में नहीं पड़े, लेकिन जनता के मोह-भंग की प्रक्रिया को पकड़कर उन्होंने किस तरह व्यक्त किया, यह देखिए—"नया साल आ गया। पहले मैं 15 अगस्त से नया साल गिनता था। मन में दर्द उठता है कि हाय, इतने साल हो गये फिर भी जवाब मिलता है—कोई जादू थोड़े ही है। पर तरह-तरह के जादू तो हो रहे हैं। यहीं क्यों नहीं होता? अफसर के इतने बड़े मकान बन जाते हैं कि वह राष्ट्रपति को किराये पर देने का हौसला रखता है। किस जादू से गोदाम में रखे गेहूँ का हर दाना सोने का हो गया?" (हम, वे और भीड़—पगडंडियों का जमाना, पृ०-7-8) इसी क्रम में वे और कहते हैं—"जनवरी से साल बदलने में न दर्द उठना, न हाय होती और न फिर भी का सवाल उठता। आखिरी हफ्ते में कुछ यादें जरूर होती हैं। 23 जनवरी याद दिलाती है कि सुभाष बाबू ने कहा था—'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा।' खून तो हमने दिया, मगर आजादी किन्हें दे दी गयी?" (वही)

आजादी जनता को नहीं, उसके शोषकों को मिली। आजादी की लड़ाई के नेताओं की लड़ाई के समय की कथनी और गद्दी मिलने के बाद की करनी में जो भयंकर फर्क आया, उसकी दर्द-भरी संवेदना परसाई जी के शब्दों में सुनिए—'हमारे बापों से कहा जाता था कि आजादी की घास गुलामी के घी से अच्छी होती है। ···*आजाद हो गये तो हमने कहा, अच्छा अब घास भी खा लेंगे।* ··· मगर हमने देखा कि कुछ लोगों ने अपनी काली-काली भैंसें आजादी की घास पर छोड़ दीं और घास उनके पेट में जाने लगी। तब भैंस वालों ने उन्हें दुह लिया और दूध का घी बनाकर हमारे सामने ही पीने लगे।" (वही)

इस तरह के लेखन को यदि कोई राजनीति कहता है, तो एतराज करने की जरूरत नहीं, राजनीति तो यह है ही। सवाल यह है कि किसकी राजनीति है,

किमके हित की राजनीति है ? परसाई स्वय और उनके विरोधी भी इसे समझते हैं। इसलिए परसाई स्वय उसी रचना मे यह बात छेड देते है—'मेरा एक मित्र सही कहता है—परसाई, तुम पर भीड हावी है। • देखते नही, लेखकों की सबसे बडी चिन्ता यह है कि भीड के दबाव से कैसे बचा जाये।" (वही) परसाई अपने ऐसे मित्रो से कहते हैं—"यारो, तुम भी आजादी की घास खाओ न।" परसाई ने इतना ही किया है कि भैंसो की मारफत आजादी को घी बनाकर खाने वालो की श्रेणी मे वे नही गये। घास खाने वाले मेहनतकशो की भीड मे वे शामिल हैं इसलिए भीड उन पर हावी है। लेकिन गौर करना चाहिए कि अब वह भीड नही रह गयी है, सघर्षशील कतार बनती जा रही है।

आजादी मिलने के बाद गाधीजी का सपना कैसे हवा म उड गया, यह आज भी बहुत से लोग सोचते रहते हैं और जवाब नही मिलने पर मायूस हो जाते हैं। परसाई का लेखक एक गाधीवादी से मिलता है। वह अपने को नियम का पक्का कहता है इसलिए—'नियमपूर्वक दोपहर को लेटे-लेटे बीस पान" खाता है। इस पान प्रक्रिया मे दो घटे लगते है, इस बीच वह आँख उतनी ही खोलता है, जितने से पान दिख जाये और हाथ उतना ही हिलाता है, जितने मे पान पकड मे आ जाये। उसके नियमित कार्यक्रम' मे यह भी शामिल है कि 'रोज एक घट शाम को छज्जे पर बैठकर जन-सम्पर्क करता है। नीचे जनता गुजरती रहती है।' वह 'नियमपूर्वक' खादी जी की पूजा करता है। वह कहता है—"पुराना गाधीवादी हूँ न। धर्म नही छोडा मैंने, औरो की तरह। अभी भी खादी जी की पूजा करता हूँ। मेरे घर मे तकली जी और चर्खा जी भी है।" यह गांधीवादी असल मे काग्रेसी है और वह खादी की पूजा करके गाधी जी के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है और शेरवानी-अचकन पहनकर तथा सीने पर गुलाबो का गुच्छा खोसकर नेहरू के सिद्धान्तो मे आस्था रखने का सबूत पेश करता है। सत्ताधारी राजनीति के दिवालियेपन का इससे अच्छा वर्णन और क्या होगा ?

देश की राजनीति मे आजादी के बाद साशलिस्टो का क्या हाल हुआ, यह परसाई जी ने 'प्रजा समाजवादी' मे दिखाया है। साथी तेजराम 'आग' अपन कमरे मे बाबू जयप्रकाश नारायण के एक बडे चित्र के सामने खडे हो रहे थे और कहते जाते थ—"साथी, अब लौट आओ। बहुत साल हो गये। सन्यास तो तुमने लिया, पर बनवास हमे हो गया।" लेखक जब आग जी से कहता है—"कल शाम तो आम सभा म सरकार से इस्तीफा माँग रहे थे, सघर्ष की धमकी दे रहे थे। और इधर आप • "तो वे कहते हैं—"वह सार्वजनिक मामला था, यह प्राइवेट है।" यह रोन का कार्यक्रम आधार बदलकर चलता रहता है। आग जी कहते हैं—"कभी-कभी मैं राजा जी के सामने और गुरु गोलवलकर के सामने भी रो लेता हूँ कि तुम्ही कुछ करो हमारे लिए।" जब लेखक उनसे सत्ता की योजना मे समाजवाद की बात पूछता है, तो वे कहते हैं—"समाजवाद को गोली मारो। वे शब्द पुराने पड गये हैं। पार्टी का कोई नाम तो होना चाहिए, इसलिए हमने 'समाजवादी' नाम रख

लिया।" जब कम्युनिस्टों का साथ लेने के बारे मे पूछा जाता है तो वे कहते हैं —"कम्युनिस्ट हमारे साथ क्यों होंगे ?...... वह भिलाई किसी प्राइवेट कम्पनी को देगा ?" (पगडंडियों का जमाना)

इन साहित्यिक बातों मे जो राजनीतिक प्रक्रिया व्यक्त हुई है, उसकी एक परिणति तब देखने को मिली, जब जनता पार्टी के शासन मे सोशलिस्टों की सहभागिता के बावजूद (बल्कि उनकी पहल पर) बोकारो मे अमरीकी कम्पनी को प्रवेश दे दिया गया।

'लोहियावादी समाजवादी' के बारे मे उन्होंने जो लिखा है, वह इस बात से शुरू होता है कि सात वर्षों मे सत्ता पर कब्जा करने की घोषणा उन्होंने की थी और फिर लग गये वर्ष का हिसाब जोडने। वे 'हिमाब की क्रान्ति' चाहते है, जनसघर्ष की नही। वे पडित नेहरू की तस्वीर को शीर्षासन करके देखते है। कहने का मतलब यह कि एक जनवादी सघर्ष के सकारात्मक कार्यक्रम के बदले वे नकारात्मक राजनीति करते हैं। इसका सजीव वर्णन परसाई ने किया है। यह राजनीति किस तरह दक्षिणपथियों के खेमे मे जाकर यथास्थिति का पोषण करती है, इसका अनुभव भारत के लोगो को अब हो चुका है। ऐसा क्यो होता है ? लोहियावादी समाजवादी क्रान्तिवादी जी के मुँह से सुनिए—"एक बात समझ लीजिए कि मजबूत सगठन बनाना और आन्दोलन करना क्रान्ति को टालना है।" यहाँ आन्दोलन से परसाई जी का मतलब है समाजवाद के लिए वर्गीय दृष्टि से सघर्ष ।

मोरारजी भाई वित्तमत्री थे, तभी उन्होने भारत के आर्थिक सकट को दूर करने के नाम पर देश मे छिपा सोना निकालने की बात की। पर निकला कहाँ ? परसाई जी इस घटना का वर्णन 'सोने का साँप' मे करते है। बूढी दादी मुन्ने से कहती है—"मुना, तुम्हारी जेब मे चाकलेट है, हम ले लेगे।" मुन्ना कुछ लजाकर, कुछ घबडा कर, झट जेब से चाकलेट निकालकर खा लेता है, फिर ताली बजाकर, अँगूठा दिखाते हुए कहता है—"ले, ले ले चाकलेट।" दोनों खिलखिला पडते है। सरकार भी उसी बूढी दादी की तरह व्यवहार करती है। वह जमींदारो, भूस्वामियो, मुनाफाखोरो, डाकुओ आदि को वात्सल्यपूर्ण चेतावनी देती है और वे चले जाते हैं, फिर उनका कुछ नही बिगडता। इस स्थिति को साफ करने के लिए परसाई जी दूसरी उपमा देते है सँपेरे और साँप की। सँपेरा साँप को पेटारी मे रखता है। दूध पिलाता है और सगीत सुनाता है। सरकार है सँपेरा और जमींदार, पूँजीपति आदि हैं साँप। इसी तरह सरकार के चरित्र और रवैये को वे और एक जगह चूहे और चूहेदानी के जरिये व्यक्त करते है—"सरकार कहती है कि हमने चूहे पकडने के लिए चूहेदानियाँ रखी है। एकाध चूहेदानी की हमने भी जाँच की है। उसमे घुसने के छेद से बडा छेद पीछे मे निकलने के लिए है। चूहा इधर से फँसता है और उधर से निकल जाता है।" (पगडंडियों का जमाना, पृ० 89)

राजनीति हमारी समाज-व्यवस्था का ऊपरी ढांचा है। इसलिए राजनीति की सही पकड के लिए समाज-व्यवस्था का, उसकी विभिन्न शक्तियों का अध्ययन करना भी आवश्यक है। परसाई जी ने इस दृष्टि से भी समाज का अध्ययन किया है। वे कहते हैं—"बचपन से देख रहा हूँ, यह सडक का रोलर वैसा ही भयकर और बेडौल है। इस बीच दुनिया के सारे कुचलने वाले सुडौल हो गये। साम्राज्यवाद ने पहल की कुरूपता त्यागकर सुन्दर रूप ले लिया है। कुचलने वाले को निरन्तर सुडौल होते जाना चाहिए। तभी कुचले जाने वाले उसे अपने ऊपर चलने देते है।" (सडक बन रही है—वही, पृ० 113) इस तरह की पक्तियाँ समाज की वर्गीय बनावट को समझने वाला ही लिख सकता है। इन पक्तियों मे समाज म शोपकों और शोपितो के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति हुई है। शोपकों का रूप बदल रहा है, चरित्र नही। रूप बदलने की जरूरत उन्हें इसलिए पडती है कि शोपित लोग शोषण के खिलाफ उठकर लगातार और अधिकाधिक खडे हो रहे हैं। शोपक सुडौल बनकर यह भ्रम पैदा करना चाहते है कि वे शोपण करना छोड चुके है। इस हालत मे घुटन इतनी बढ रही है कि परसाई जी के शब्दो मे, "खूबसूरत डीजल इजन चलन से आत्महत्याओं की सख्या बढी है।" (वही)

हमारे देश की पूँजीवादी व्यवस्था की राजनीति मे कल्याण और निर्माण, सहानुभूति और सवेदना भी चुनाव केन्द्रित हो गयी है। इस तरह की मनोवृत्ति ने वातावरण इतना दूपित कर दिया है कि "पहले कोयल का स्वर मीठा लगता था। अब वह कूकती है तो शक होता है कि इसने किसी सगीत विद्यालय मे नौकरी के लिए दरखास्त दी है और सिफारिश कराना चाहती है। कोई आदमी मुहल्ले म 'मौत मट्टी' म ज्यादा शामिल होता है, तो सोचता हूँ, यह अगली बार वार्ड-मेम्बरी का चुनाव लडेगा। जिसे वोट नही चाहिए, वह क्या किसी के दुख मे शामिल होगा?" यह है इस व्यवस्था म मानव मूल्य और मानवीय सवेदना की दशा। परसाई जी इस ढग से बात को रखकर मानव मूल्य और मानवीय सवेदना के प्रति आकर्षण जगाते हैं और पूँजीवाद की अमानुपिकता के प्रति नफरत पैदा करते है। यही है लेखक की वह सार्थक सामाजिक भूमिका जो मानव-जीवन को बेहतर बनाने की लडाई के लिए मददगार होती है।

परसाई जी की रचनाओ मे व्यग्य जब चलता है तो सहज भाव से, इसलिए यह ठीक नही रहता कि अचानक कहाँ किस पर चोट पड जायेगी। 'सडक बन रही है' मे एक ही पारा मे कितनी बातें व्यग्य मे गूँथ गयी हैं यह देखिए। वे कहते है—'मैं बैठा-बैठा सोच रहा हूँ कि इस सडक से मे किसका बँगला बन जाएगा?...बडी इमारतो के पेट से बँगले पैदा होते मैंने देखे हैं।...' बडा चमत्कारी प्रसग है। आल्हा-ऊदल की कथा मे ऐसा प्रसग है कि भैंस गढ महावे ब्यायी तो बच्चा फर्रुखाबाद मे जाकर गिरा। इमारत से बँगला प्रकट होना तो स्वाभाविक है, पर सडक के पेट से बँगला पैदा होना चमत्कार है—भैंस के पेट से कुत्ता पैदा होन की तरह। सडक बनवाने के पुण्य प्रताप से ऐसा

होना होगा। दशरथ की रानियों को यज्ञ की खीर खाने से पुत्र हो गये थे। पुण्य का प्रताप अपार है। अनाथालय से हवेली पैदा हो जाती है।" (वही), पृ० 114) इन पंक्तियों में पहले तो पूंजीवादी व्यवस्था के निर्लज्ज भ्रष्टाचार को अत्यंत वेधक ढंग से बेपर्द किया गया है। मेंढक के पेट से बँगला पैदा होना इसी का इजहार है। फिर इसी प्रसंग में यज्ञ की खीर खाने से दशरथ की रानियों को पुत्र होने की बात कहकर उन्होंने अंधविश्वास पर चोट की है और चोट का हथियार है विज्ञान। इसी तरह स्त्रियों के जनतांत्रिक अधिकार की मान्यता से प्रेरित होकर ही परसाई जी अपने लहजे में कहते हैं—"भय कातर सुन्दरी पुरुष को हमेशा अच्छी लगती है। बेवकूफ हो, तब तो और अच्छी लगती है।" इस पंक्ति में नारी संबंधी शोषणमूलक मान्यता पर चोट की गयी है। ये सारे सवाल आज के राजनीतिक संघर्ष से जुड़े हुए हैं।

देश की राजनीति का अन्तर्राष्ट्रीय रिश्ता भी होता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक संघर्ष का अत्यंत प्रमुख मुद्दा है शान्ति का। लेकिन शोषक वर्ग के शासक शांति को नापसन्द करते हैं। शान्ति में प्रेम करना मनुष्य से, मनुष्य की प्रगति से, संक्षेप में मानवता के विकास से प्रेम करना है। युद्ध मनुष्य की जिंदगी को चूसता है, उसका आहार लूट लेता है। इसलिए शान्ति को पसन्द करने का अर्थ है युद्ध और युद्ध भड़काने वालों से नफरत करना। परसाई जी को शान्ति से अगाध प्रेम है, युद्धोन्माद से नफरत है और अपने पाठकों में भी यह नफरत उतार देने में समर्थ हैं। – "मेरे सामने एक कैलेण्डर टँगा है। तस्वीर में एक बच्चा फौजी पोशाक पहने बर्फ पर बैठा है। सामने शिवलिंग है और बगल में राइफल संगीन के जरिये बर्फ में गड़ी है। बच्चा हाथ जोड़े बैठा है।" यह कैलेण्डर तो बहुतों के घर में होगा, लेकिन परसाई ने जो देखा वह सबसे सम्भव नहीं, क्योंकि उन्हें देखने के लिए मानवता में प्रेम के साथ ही देखने की वैज्ञानिक दृष्टि भी चाहिए। बच्चे के हिस्से का दूध बन्दूक पी रही है—यह कहकर परसाई जी युद्ध की अमानुषिकता को पाठकों की संवेदना में उतार देते हैं।

परसाई जी के लेखन की राजनीति का आधार है पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ, पूंजीवादी मूल्यों के खिलाफ संघर्ष और यह संघर्ष-चेतना ठोस एवं यथार्थ अनुभूति से प्रेरित है। इस अनुभूति का गूंज 'ग्रीटिंग कार्ड, और राशन कार्ड' में सुनिए। लेखक को किसी मित्र ने ग्रीटिंग कार्ड भेजा, लेकिन उससे टकरा रहा है राशन कार्ड। लेखक के शब्दों में—"शुरू से ही राशन कार्ड इस ग्रीटिंग कार्ड को गुर्रा कर देख रहा था। जैसे ही मैं ग्रीटिंग कार्ड पढ़कर खुश हुआ, राशन कार्ड ने उसकी गर्दन दबाकर कहा—क्यों बे साले, ग्रीटिंग कार्ड के बच्चे, तू इस आदमी को सुखी करना चाहता है? जा, इसका गेहूँ आधा कर दिया गया। बाकी काला-बाजार में खरीदे या भूखा रहे।" (पगडंडियों का जमाना, पृ० 122) ग्रीटिंग कार्ड सामान्य लोगों के जीवन का सपना है। और राशनकार्ड यथार्थ। "बीस सालों से इस देश को ग्रीटिंग कार्डों के भरोसे चलाया गया है। अखबार लग

गये है।" (वही, पृ० 125) ग्रीटिंग कार्ड और राशन कार्ड का यह द्वन्द्व जीवन का द्वन्द्व है, जो पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध का व्यक्त रूप है और इस अन्तर्विरोध की रक्षा करने वाली राजनीति पूँजीवादी राजनीति कहलाती है। इस तरह देखने से यह समझ मे आता है कि राजनीति है ऊपरी ढाँचा और अर्थतन्त्र या अर्थनीति है आधार। हर अर्थतन्त्र या अर्थनीति की अपनी अलग-अलग राजनीति होती है, अपनी-अपनी सभ्यता-संस्कृति होती है। जो आधार और ऊपरी ढाँचे के यानी अर्थनीति और राजनीति के इस संबध को नही समझते, वे जब राजनीति को अपने व्यग्य का विषय बनाते है, तो ऊपरी ढाँचे को ही पीटते रह जाते है। ऐसे लेखक राजनीति पर व्यग्य करने के कारण लोगो को परिवर्तनवादी या कभी-कभी क्रान्तिकारी भी लगते हैं, लेकिन अलग-अलग अर्थनीति यानी अलग-अलग वर्गहित की राजनीति मे भेद नही कर पाने के कारण वे पूँजीवादी राजनीति के साथ ही वास्तविक क्रांतिकारी राजनीति या मेहनतकश जनता के सगठित वर्ग की राजनीति पर भी चोट करते रहते हैं। इस तरह वे अपने को 'तटस्थ', 'स्वतन्त्र' और 'ईमानदार' भी समझते रहते है, लेकिन वास्तव मे दोनो तरफ कलम मारने के कारण ऐसे लेखक अपनी 'ईमानदारी' के बावजूद यथास्थिति के यानी वर्तमान शोषणमूलक व्यवस्था के समर्थक बनकर रह जाते है। परसाई जी ऐसी निर्गुण ईमानदारी के लेखक नही हैं। वे आधार और ऊपरी ढाँचे के सबध को जानते है, इसलिए राजनीति के साथ उसके आधार अर्थतन्त्र के मूल्यो को भी अपने लेखन मे लपेट लेते है और उनकी कुरूपता लोगो के सामने खोल कर रख देते है।

प्रतिभा-पलायन यानी भारतीय प्रतिभाओ के इग्लैंड, अमरिका, कनाडा आदि देशो मे जा बसने की समस्या पर आर्थिक राजनीतिक क्षेत्रो मे लोग विचार करते रहे है। देश से पलायन करने वाली प्रतिभाओं की निन्दा देशभक्तिपूर्ण भावना की पृष्ठभूमि मे बहुत लोग करते रहे हैं। लेकिन परसाई जी इस समस्या को उस भावना से अलग हटकर देखते है—"डॉ० खुराना के मामले को लेकर ये शिकायतें कुछ लोग सोच रहे है। मगर मुझे शिकायत नही। विदेशो से हम गेहूँ, चावल, वगैरह मँगाकर खाते है, मगर उसका दाम चुकाने की हैसियत है नही। उसके चुकाने मे अगर प्रतिभाएँ दे देते है तो क्या बुरा है? तुमने गेहूँ दिया—लो, चार वैज्ञानिक ले जाओ। मुझमें कोई खास प्रतिभा नही है। मगर मेरे बदले मे अगर एक किलो गेहूँ मिलता है तो मैं बिकने को तैयार हूँ। प्रतिभा को यहीं रखकर क्या करेंगे? वह खान के काम भी तो नही आती।" (शिकायत मुझे भी है, पृ० 9) परसाई जी ने इस समस्या को भावना से नही व्यवस्था के ठोस धरातल पर रखकर वस्तुगत दृष्टि से देखा है। इसीलिए प्रतिभा-पलायन के पीछे एक तरफ रोजगार दे सकने तथा प्रतिभाओ का उपयोग कर सकने मे अपने देश की पूँजीवादी व्यवस्था की अक्षमता और दूसरी तरफ नव-उपनिवेशवादी आर्थिक शोषण की समझ भी उपर्युक्त पंक्तियों मे है।

भी पूँजीवाद का ही अन्तर्राष्ट्रीय और आधुनिक रूप है। परसाई ने वडे ठिकाने से बताया है कि पूँजीवाद ने किस तरह प्रतिभाओं को भी खरीद-बिक्री का विषय बना दिया है। परसाई उन लेखकों से गुणात्मक रूप से भिन्न हैं, जो पूँजीवाद को जनतन्त्र और स्वतन्त्रता का आदर्श रूप मानते है। लेकिन समझने की बात यह है कि जो व्यवस्था प्रतिभा तक को बिकाऊ बना देती है, जैसे गेहूँ, वह जनतत्र और स्वतन्त्रता कैसे दे सकती है ? इसमे जनतत्र और स्वतन्त्रता खरीदने वाले के लिए रहती है, बिकने वाले को नही इसके लिए गुलामी है, लेकिन इस तरह कि वह गुलामी को देख नही सके।

परसाई का राजनीतिक लेखन अपने पाठकों की चेतना को माँजता है। उनके लेखन को खुले दिमाग से पढने वाला अवश्य जीवन और इससे सम्बद्ध सवालों को समझने की बेहतर दृष्टि पा सकता है। एक जगह वे लिखते है—"अगर किसी सामाजिक क्रान्ति मे बौद्धिक विश्वास के साथ लगा हो और तभी चाची कह दे कि बेटा, तुम्हारे चाचा की आत्मा को दु:ख होगा, और परलोक में उनकी दुर्गति हो जाएगी, तब क्रान्तिकारी क्या करेगा ? परिवार की भावना की रक्षा भी तो करनी पडती है। तब क्या वह यह कहेगा कि चाची, अगर तुम्हारी यह भावना है तो मैं क्रान्ति को छोड देता हूँ।" (वही पृ० 15) यह है 'संस्कारों और शास्त्रों की पढाई' का असर जो मनुष्य के बौद्धिक विकास और सामाजिक परिवर्तन को अवरुद्ध करने की भूमिका अदा करती है। लेकिन परसाई का लेखन इस अवरोध को काटने का काम करता है, इस तरह सामाजिक विकास मे, मनुष्य की चेतना के विकास मे सहायक बनता है। यही है उनके लेखन की राजनीतिक दिशा। इस राजनीति से जिनको ऐतराज है वे विकास को अवरुद्ध करने वाली रूढियों के पक्षधर बन जाते है।

पूँजीवादी राजनीति के कुरूप और जनविरोधी चरित्र को बेपर्द करने के अनेक रूप परसाई जी जानते है। 'जीते हुए उम्मीदवार के नाम' पत्र का एक अंश यो है—"इस क्षेत्र की जनता आपसे बहुत कुछ कराना चाहती है, पर आप सिर्फ महत्त्वपूर्ण काम ही किया करें। महँगाई, पानी की कमी, सडकों की खराबी, शिक्षा आदि ऐसी बातें है, जो साधारण हैं। आपको बडे काम करने चाहिए। उदाहरण के लिए, यहाँ जुए के काफी अड्डे है। जुआ एक महत्त्वपूर्ण गृह-उद्योग है। मगर इन लोगो को पुलिस भी कभी तंग करती है। इनकी रक्षा करना पहला कर्त्तव्य है। आप इनके और पुलिस के बीच एक समझौता करवा दीजिए। फिर बहुत लोगों की जमानत होने मे कठिनाई आती है। यह काम भी आपके सुपुर्द है। इस क्षेत्र म ठाकुरों मे काफी एकता है। यह अच्छी बात नही। आप कृपा करके ठाकुरों के दो दल बनवा दीजिए। कभी-कभी लाठी चल जाए तो सीट सुरक्षित रहेगी। इधर गाँजा, अफीम स्मगल करने वालों को भी तकलीफ होने लगी है। आप इनकी रक्षा कीजिए। जिससे आपके क्षेत्र के निवासी नशा करके देख भूल सकें।" (शिकायत मुझे भी है, पृ० 92) पूँजीवादी राजनीति के

ठेकेदार असामाजिक और अपराधित कार्यों की रक्षा करने में जो रुचि लेते है, यह आम लोगों से छिपा नहीं है। परसाई जी ने आम लोगों के इस कटु अनुभव को ही अपने लहजे में सजा दिया है।

बर्नार्ड शॉ ने एक जगह कहा है कि व्यंग्य लिखने का सर्वोत्तम तरीका है सत्य कहना। हिन्दी-व्यंग्य साहित्य के इतिहास में इस तरीके का सर्वोत्तम इस्तेमाल परसाई जी ने किया है। इस तरीके का इस्तेमाल करके परसाई जी ने अपने पाठकों को अनुभव करा दिया है कि राजनीति के सम्पर्क से लेखन किस तरह श्रेष्ठ बनता है, साथ ही जनता का प्रिय भी। हमारे देश की राजनीति पिछले दो दशकों में अत्यंत पेचीदे और जटिल रास्ते से गुजरती रही है। ऐसे दौर में राजनीतिक लेखन अत्यंत कठिन काम है, लेखन-कार्य की दृष्टि से और जीवन की व्यावहारिकता की दृष्टि से भी। लेकिन परसाई जी की कलम कभी अवरुद्ध नहीं हुई है। उन्हें व्यावहारिक कठिनाई का अनुभव हुआ भी। जनसंघियों ने उनकी किसी रचना से चिढ़कर उनको घर में घुसकर पीटा। यह अवश्य जनसंघ की प्रतिक्रियावादी राजनीति के अधिनायकत्व का इजहार था, जो लेखकीय स्वतंत्रता पर चोट करता है। लेकिन यह घटना परसाई जी के लेखन की बेधकता और प्रभावोत्पादकता का प्रमाण है। इस पूरे दौर में भी परसाई जी की कलम बेधड़क उसी बेधकता से चलती रही है। इसका श्रेय मार्क्सवाद से उनकी प्रतिबद्धता को है। मार्क्सवाद से उन्होंने राजनीति की वैज्ञानिक समझ के साथ ही जीवन में अडिग आस्था भी प्राप्त की है। इस आस्था का स्रोत है इतिहास और समाज की विकास-धारा की द्वन्द्वात्मक यथार्थवादी समझ।

—खगेन्द्र ठाकुर

लेखक का आत्मव्यंग्य

"कोई आदमी किसी मरते हुए आदमी के पास नहीं जाता, इस डर से कि वह कत्ल के मामले में फँसा दिया जाएगा। बेटा बीमार बाप की सेवा नहीं करता। वह डरता है, बाप मर गया तो उस पर कहीं हत्या का आरोप न लगा दिया जाये। घर जलते रहते है और कोई बुझाने नही जाता—डरता है कि कहीं उस पर आग लगाने का जुर्म कायम न कर दिया जाये। बच्चे नदी में डूबते रहते है और कोई उन्हें नहीं बचाता। इस डर से कि उस पर बच्चे को डुबाने का आरोप न लग जाये। सारे मानवीय सम्बन्ध समाप्त हो रहे है।" (इंस्पेक्टर मातादीन चाँद पर)

इन मानवीय सम्बन्धों को बचाने की लडाई ही परसाई का सरोकार है। मरता हुआ आदमी, भटकते हुए बेटे, बीमार बाप, जलते हुए घर, डूबते हुए बच्चे परसाई को आतंकित करने वाले दृश्य है जो उन्हे मजबूर करते है कि वे इस हाहाकार की पृष्ठभूमि में षड्यंत्र करते हुए कारणों की गरदन पकड सबके सामने पेश कर दें। इस प्रक्रिया में तीन चीजें सामने आती हैं। एक दुर्घटनाओं में शिकार होते हुए चेहरे। दो दुर्घटनाओं को पैदा करने वाली व्यवस्था, उसके घृणित रूप। तीन स्वयं परसाई की पिटाई करते हुए परसाई। जो दुनिया के व्यापार में हिस्सा लेते हुए अपने अंतर्विरोधों पर हमला कर 'डी-क्लास' होने की तरफ तो बढते ही है, साथ ही अपने बहाने अपने वर्ग (मध्य) की पोल खोलते हुए उसकी औकात से साक्षात्कार करा देते है। परसाई को पढते हुए मैंने बार-बार दो भावों को प्रमुख पाया है—करुणा और क्रोध। पाखंड पर, नीचता पर, अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था पर क्रोध है जिसके मूल में करुणा है। जिबह होते हुए भोले-भाले जन के लिए गहरा लगाव है। दिल्ली में गणतंत्र दिवस पर राज्यों की झाँकी देखते हुए लेखक की चुनौती, दुखी जन के लिए गहरी करुणा से पैदा हुआ पाखंड के विरुद्ध गुस्सा है—'गुजरात की झाँकी में इस साल दंगे का दृश्य होना चाहिए, जलता हुआ घर और आग में झोंके जाते बच्चे। पिछले साल मैंने उम्मीद की थी कि आंध्र की झाँकी में हरिजन जलाते हुए दिखाए जायेंगे। मगर ऐसा नहीं दिखा। यह कितना बड़ा झूठ है कि कोई राज्य दंगे के कारण अंतर्राष्ट्रीय ख्याति पाए, लेकिन झाँकी सजाये लघु उद्योगों की। दंगे से अच्छा गृह उद्योग तो इस देश में दूसरा है नहीं। मेरे मध्यप्रदेश ने दो साल पहले सत्य के नजदीक पहुँचने की कोशिश की थी। झाँकी में अकाल

राहत कार्य बतलाए गए थे। पर सत्य अधूरा रह गया था। मध्यप्रदेश उस साल राहत कार्यों के कारण नहीं, राहत कार्यों में घपले के कारण मशहूर हुआ था।"
(ठिठुरता हुआ गणतंत्र)

इसी झूठ और अर्धसत्य की परतें उघेडने का संघर्ष, परसाई का लेखकीय संघर्ष है। सर दिखायी जो दे रहा है उसके भीतर की भी सचाइयों को खरोचकर बाहर निकालना आसान काम नहीं है। इसमे खुद को भी खरोंचना पडता है। रचनाकार, यथार्थ का उद्घाटन करते समय वर्गीय सम्बन्धों और वर्गीय हरकतों को भी उद्घाटित करता है जिसमें उसे बहुत सतर्क हो, खोज-खोजकर जटिल तालो पर वार करना है तथा सचाई खुल ही नहीं सकती जब तक वह खुद के तालो पर भी हथौडे न बरसाए। अन्यायपूर्ण समाज मे पिसते हुए आदमी को देखकर परसाई का लेखन जहाँ अन्यायी जमात के दुष्कर्मों का भडाफोड करता है वही अपनी मध्यवर्गीय छाती की ग्रंथियों पर भी वार करता है। यह वार इतने सटीक होते हैं कि रचना के भीतर वर्गीय समाज के एक-एक मायावी कपडे, शरीर छोडकर जमीन पर आ जाते हैं।

इस प्रक्रिया मे लेखक भी हमेशा अपनी सचाइयो के साथ खड़ा है। कोई मुगालता नही। मेरे ख्याल से स्वय के प्रति बेरहमी ही परसाई को निरतर निखारती तथा बेकसूर लोगो के नजदीक और पक्ष मे करती चली गयी है। समूची मानवीय विडम्बनाओ के बीच से गुजरते हुए परसाई खुद को भी उघाडते हैं, भीतर पल रहे भ्रम को वर्गीय समाज मे अपनी औकात दिखाकर तोड देते हैं और उसी क्षण एक नई आस्था और मजबूती के साथ अपने लोगो की ओर बढ़ते हुए झूठ पर वार करते चलते है। परसाई का आत्मव्यग्य सिर्फ एक आदमी नहीं बल्कि आत्मवर्ग पर व्यग्य होता है। यह उनके लेखन को और भी ज्यादा मानवीय तथा विश्वसनीय बनाता है। लेखक अपनी पोल खोलता है तो उसके समय की पोल भी खुल जाती है, क्योंकि हर हरकत का सामाजिक इतिहास है। यही समझ परसाई को जिम्मेदार और गभीर निर्णयो की ओर मोडती है—"मेरा जूता भी कोई अच्छा नहीं है। यो ऊपर से अच्छा दिखता है। अँगुली बाहर नही निकलती पर अँगूठे के नीचे तला फट गया है। अँगूठा जमीन से घिसता है और पैनी मिट्टी पर कभी रगड खाकर लहूलुहान भी हो जाता है। पूरा तला गिर जाएगा, पूरा पजा छिल जाएगा, मगर अँगुली बाहर नही दिखेगी। तुम्हारी अँगुली दिखती है पर पाँव सुरक्षित हैं। मेरी अँगुली ढँकी है पर पजा नीचे घिस रहा है। तुम पर्दे का महत्व ही नही जानते हम पर्दे पर कुर्बान हो रहे है।" (प्रेमचद के फटे जूते)

प्रेमचद के फटे जूते और बाहर झाँकती अँगुलियाँ केवल जूते और अँगुलियाँ नहीं हैं। वे जिन्दगी के तरीके है जिनका रिश्ता सघर्ष से है। जूते परसाई या अन्य समकालीनो के भी फटे हैं, जिन्दगियाँ उनकी भी मुश्किलो मे है, लेकिन एक के पास दुर्गम टीलो को ठोकर मारते रहने का इतिहास है तो दूसरे के पास

/

व्यवस्था के अगल-बगल से पजो को बचा-बचाकर तलुवे घिसते-फिरने की दिनचर्या। खूनाखून बेमतलब हो रहे है और ठोकर मारने का साहस नहीं हो पा रहा है।

'तुम मुझ पर या हम सभी पर हँस रहे हो, उन पर जो अँगुली छिपाए और तलुवा घिसाए चल रहे है, उन पर जो टीले बरकाकर बाजू से निकल रहे हैं। तुम कह रहे हो, मैंने तो ठोकर मार-मारकर जूता फाड लिया, अँगुली बाहर निकल आयी पर पाँव बचा रहा और मैं चलता रहा, मगर तुम अँगुली ढाँकने की चिंता मे तलुवे का नाश कर रहे हो। तुम चलोगे कैसे ?"

(प्रेमचद के फटे जूते)

प्रेमचद के चित्र के सामने खडे होकर किया गया यह आत्मालोचन आगे परसाई की दिशा तय करता है। लेखक एक ऐसी हास्यास्पद (जिसमे हास्य नहीं है) स्थिति म मुक्त होन की प्रक्रिया मे है जिसमे तलुवे लहूलुहान तो हो जाते है लेकिन लहू, नाली मे निरर्थक बह जाता है। तलुवे को नाश से बचा, अँगुली के दिखने की चिंता छोडकर चलने की बात ठोस धरातल पर चलते हुए अन्याय को ठोकर मारते रहने की चुनौती है। अँगुलियाँ तो दिखेंगी ही, बस 'अपनी' जमीन और तलुवो मे स्वस्थ रिश्ता बना रहना चाहिए। अँगुली छिपाने की चेष्टा सचाई से आँख बचाकर थिगडे छिपाने की चेष्टा है। परसाई की खासियत यह है कि वे थिगडो को ढाँकते नहीं, खोल देते हैं।

लेकिन थिगडो के खुलने की कथा सरल-आसान नहीं है। यहाँ कोई अपना मजाक बनाने का 'क्रेज' नही है। उसके पीछे ऐसी सामाजिक विडम्बनाएँ हैं जो धीसू-माधो का भी कारण होती है, जिन्हे आलसी और अकर्मण्य कह देने मात्र से नही बचा जा सकता। जो हो रहा है, जो हरकत घट रही है उसके पीछे रोजमर्रे के विकट अनुभव है, अनुभवो का इतिहास है।

बसत दरवाजे खटखटा रहा है और लेखक उधारी वसूलने वाले बसतलाल के डर से मुँह ढाँपे पडा है। दरवाज़े पर आने वाला ऋतुराज बसत और उधारी वसूलने वाले बसतलाल मे कोई फर्क नही रह गया है। आत्मव्यग्य तो है लेकिन कितनी बडी सामाजिक विडम्बना है—'बसतलाल ने मेरा मुहूर्त बिगाड दिया। इधर स कहीं ऋतुराज बसत निकलता होगा, तो वह सोचेगा कि ऐसे के पास क्या जाना जिसके दरवाजे पर सवेरे से उधारी वाले खडे रहते है। (घायल बसत) यानी ऋतुराज बसत उन दरवाजो पर क्या आएगा जिनके किवाडे उधारी वाले खटखटा रहे है। और आ भी जाएगा तो उनके जीवन की सीढियाँ नहीं सुधारेगा। इसलिए अपना बसत हम खुद छीन कर लाना होगा वरना मुहल्ले से लेकर अतर्राष्ट्रीय स्थितियों तक बसतलाल हमारे बसत हडपते रहेंगे।"

परसाई का आत्मव्यग्य जब अर्थशास्त्र खोलने लगता है तब आग की तरह फैलता हुआ करोडो हिन्दुस्तानियो के पिचके हुए पेट और आखो स बोलती हुई भूख डराने लग जाती है। ऐसा अभिनय हमारे सामने सम्पन्न हो जाता है

जिससे यहाँ से वहाँ उचकना हुआ एक असामान्य आदमी सच्चाई को तड़ाक से मुँह पर दे मारता है और हाथ-पाँव ठंडे हो जाते हैं—"बड़ी झेंप लगी इन बोरों के सामने । मैंने बोरों में हाथ डालकर मुट्ठी-भर निकाला और देखकर कहा—'अच्छा है।' कुछ ऐसी अदा से राय जाहिर की गोया जिंदगी-भर गेहूँ की दलाली करता रहा हूँ। मेरे एक प्रौढ़ मित्र, जो गेहूँ से लेकर राजनीति तक की दलाली करते हैं, मुझे निहायत बेवकूफ आदमी समझते हैं, क्योंकि मैं दलाली नहीं करता और जो करता हूँ वह बहुत बेमतलब है"। पर मैं इस मौके पर बिलकुल दलाल का अभिनय कर उठा। बहुत से गेहूँ में हाथ डालने को मिले, इस लोभ से कोई भी दलाल हो सकता है।" (गेहूँ का सुख)

यह केवल तीन बोरा गेहूँ देखकर असामान्य अभिनय का विवरण नहीं। कामेडी की एक झलक जिसने आसपास का वातावरण बहुत भारी और साँय-साँय। य उन आर्थिक हालातों का आईना है जिसमें तीन बोरे गेहूँ एक साथ अपने घर में देखकर इस प्रजातंत्र का नागरिक झेंप जाता है। वह गेहूँ को जल्दी से छू लेना चाहता है, उसके बारे में गलत ही सही, पर जल्दी से भाष्य करना चाहता है और अभिनय करते-करते एक मुँहतोड़ बात कह देता है—"बहुत-से गेहूँ में हाथ डालने को मिले, इस लोभ में कोई भी दलाल हो सकता है।" यह चुनौती है। यह परसाई के उन वाक्यों में से है जहाँ दाँत निपोरता एक तरफ घूम जाता है। बहुत से गेहूँ के लाभ से क्यों, थोड़े से गेहूँ के लोभ में ही बच्चे बहनों की दलाली करते पाये जाते हैं और गेहूँ के लोभ में देश के उद्धारक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कटोरा लेकर दलाली करते हुए फोटो खिंचवाते हैं।

'लेकिन अब कुछ लोग गेहूँ से गुलाब की ओर इस तरह ले जाते हैं, जैसे गेहूँ जरूरत से ज्यादा हो गया, इसलिए गुलाब की खेती करनी चाहिए।" (गेहूँ का सुख) लेकिन गुलाब की खुशबू गेहूँ के अभाव में दम घुटकर मरने का कारण हो सकती है।

परसाई के लेखन में आत्म व्यंग्य तुरन्त सामाजिक व्यंग्य का बाना धारण कर बैठता है और एक वाक्य ही न जाने कितनी चीजों का प्रतीक बन जाता है। जैसे एक बहाना है—'यह ग्रीटिंग कार्ड मेरे सुख की कामना कर रहा है।" (ग्रीटिंग कार्ड और राशन कार्ड) इस सम्पूर्ण रचना को पढ़ने के बाद उपरोक्त वाक्य निम्न वाक्यों का प्रतीक भी बन सकता है—

1 ये बहुत बड़े अधिकारी, मंत्री या सेठ हैं जो मेरे सुख की कामना कर रहे हैं।
2 प्रधानमंत्री का यह पत्र मुझसे कह रहा है कि आप अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र हैं।
3 मुझे अपनी महानता के लिए जगह-जगह से शुभकामना संदेश प्राप्त हो रहे हैं।

लेकिन इन सारी बातो के बीच मे लेखक की टेबल पर एक ठोस चीज पडी हुई है राशन कार्ड—"ये ग्रीटिंग कार्ड मेरे सुख की कामना कर रहा है। मगर राशन कार्ड बताता है कि इस हफ्ते स गेहूँ की मात्रा आधी हो गयी है। राशन कार्ड न ग्रीटिंग कार्ड को काट दिया। जैस ही मैं ग्रीटिंग कार्ड को पढकर खुश हुआ, राशन कार्ड ने उसकी गर्दन दबाकर कहा, क्या बे साले, ग्रीटिंग कार्ड के बच्चे, तू इस आदमी को सुखी करना चाहता है ? जा इसका गेहूँ आधा कर दिया गया। बाकी काला बाजार से खरीदे या भूखा मरे।" (ग्रीटिंग कार्ड और राशन कार्ड) अब ऊपर जो तीन वाक्य है जिनके आगे वहाँ से जोडकर देखें 'मगर राशन कार्ड बताता है ।"

परसाई के आत्मव्यग्य स सामाजिक चिगारी तब उठती है जब वायवी शब्दो और अर्थशास्त्र का सामना होता है। असलियत यह है कि सेठो की तिजोरियो पर आश्रित इम तथाकथित प्रजातत्र मे ग्रीटिंग गुलाब, प्रतिष्ठा और स्वतत्रता राशन से अलग खडे है। गुलाब सूँघिय, ग्रीटिंग झेलिये, प्रतिष्ठित होकर स्वतत्रतापूर्वक घूमिये मगर पेट का गडढा दूसरे की मर्जी से भरा जायेगा।

वर्तमान सामाजिक ढाँचे म उत्पादन के लिए जिम्मेदार वर्ग मुनाफे का अधिकारी नही है। वह उतना ही पा सकता है जिसे खाकर उसका शरीर, खटने की हैसियत मे आ सके। सितार बनाने और बजाने वाले की हैसियत सितार का धधा करने और सितार बजवाने का धधा करने वाली एजेंसियो से कम है—"मारा, बिलकुल मारा। पुस्तक लिखने वाले से पुस्तक बेचने वाला बडा होता है। कथा लिखने वाले स कथा बाँचने वाला बडा होता है। सृष्टि निर्माता स सृष्टि को लूटने वाला बडा होता है।" (लिटरेचर ने मारा तुम्हें)

यह पूँजीवादी तत्र की सचाई है। ये केवल परसाई की असलियत नही उन सभी की है जो निर्माण करते है और पूँजी के तत्र से अलग रखे जाते है। लेकिन परसाई उस तत्र म खेल आते हैं जिसमे कुछ खुशफहमियाँ हो तो दुरुस्त हो जायें। पूँजी के इस खेल मे लेखक जब पडना चाहता है तब घटे-भर बीच बाजार मे उदास विदूषक की तरह समय गँवाकर मुँह लटकाये घर लौटता है।

परसाई ने अपने लेखन म जिन बातो पर स्वय की पिटाई और हँसाई की है वह सिर्फ वर्गीय सच्चाई बताने के लिए प्रथम पुरुष के इस्तेमाल की शैली नही है। वे प्रामाणिक रूप से व्यक्तिगत सचाइयाँ भी है, जिन्हें परसाई बारीकी के साथ पकडकर दिखा देते है। यह बहुत विकट सघर्ष है। परसाई का आत्मस्वीकार उन्हें प्राफेट होने से बचाता है। यदि कभी प्राफेट की छाया भी इर्द-गिर्द मिलती है तो उसे वे लत्ती मारकर पटक देते है। स्वय की कमजोरियो को जिस तरह वे 'एक्सपोज' करते है उसका तरीका दूसरो के यहाँ कम ही देखने को मिलता है। दूसरो के यहाँ प्राय कमजोरियाँ इतने रोमाटिक अदाज मे प्रस्तुत की जाती हैं कि उनके ऐतिहासिक कारण गायब हो जाते हैं।

लेखक की प्रतिष्ठा, सामाजिक गरिमा, राजनैतिक महत्त्व आदि बडी-बडी

बातो की इस वर्ग बँटैया समाज मे क्या असलियत है इसे परसाई ने बार-बार अपने ही माध्यम से नगा किया है। जिंदगी म हैसियत, प्रतिष्ठा, स्थिति, ये ऐसे अमूर्त शब्द हैं जिनकी मूर्त प्रक्रियाओ पर बिना ध्यान दिये हम इस्तेमाल करते और भ्रमो मे जीते रहते हैं। सतही नजर से देखा जाये तो अपनी 'महत्त्वपूर्ण स्थिति' के बारे मे बडे गलत अदाज लगाकर खुश हुआ जा सकता है।

लेकिन ये तथाकथित महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ हमारे तात्कालिक बिकाऊपन माने सत्ताधारी वर्ग की जरूरतो के क्षणो तक ही साथ रहती है और जरूरत समाप्त होते ही हम छिलको की तरह सडक पर आ जाते हैं। यदि इस्तेमाल होने वाले क्षणों का झूठ अपने ऊपर लपेटकर जिया जाये तो दूसरी बात है, पर परसाई के लिए यह असम्भव है। जैसे 'ग्राट अभी तक नही आई' म तीन कोण हैं। एक मत्री, दूसरे विश्वविद्यालयीन अधिकारी, तीसरे कवि विपिन। सभी के अपने वर्ग और हैसियतें हैं। मत्री के सामने विश्वविद्यालयीन अधिकारियो की हैसियत नगण्य है। उनकी हर हरकत का सचालन-सूत्र मत्री के हाथो मे है। इन दोनों के बीच मे कवि विपिन है जो मत्री की उपस्थिति तक अधिकारियो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। बल्कि कही-कही ऐसा लगता है जैसे वह मत्री के बराबर है। लेकिन क्या ऐसा है?

यह ऐसी हालत मे है जब मत्री का अनुगमन अधिकारियो की मजबूरी है। दरअसल कवि विपिन इन दोनो के बीच मे मात्र 'माल' है जिसका इस्तेमाल दोनो वर्गों के स्वार्थ के हिसाब से होता है। मत्री के लिए विपिन को आदरपूर्वक बुलवाना, उसके सास्कृतिक ढोग की आवश्यकता है और अधिकारियो द्वारा विपिन को मान्यता देना मत्री के अनिवार्य अनुगमन का एक हिस्सा मात्र। इस तरह विपिन का दो व्यापारियो के बीच धधा होता है। लेकिन यह परसाई द्वारा ही सभव है कि इस धधे पर वह इशारा करते चलते है और घटनाएँ इस बात का पूर्वाभास कराने लगती है कि मत्री द्वारा पुछार किये जाने के पूर्व जो विपिन को पहचानने स इनकार कर रहे थे वे मत्री के जाने के बाद भी उसे पहचानने से इन्कार कर देंगे।

अतत होता वही है—'मत्री चला गया। मुझे अनाथ कर गया। कार फाटक से बाहर हुई और मैं चेहरो के लिए एकदम अजनबी हो गया। बुझे हुए चेहरे इधर उधर चल दिये। मैं बरामदे म ऐसे खडा हूँ जैसे वियाबान हो। कुछ देर पहले के विपिन जी मत्री की कार स्टार्ट होते ही मर गये'''वह मेरा सारा तेज लेकर फरार हो गया। पर वह उसी का दिया हुआ तो था।" (ग्राट अभी तक नही आयी)

दरअसल पिछले क्षणो म विपिन जी का कुछ था ही नही। वह मत्री की जरूरत से महत्त्वपूर्ण हुए और बाजार से फेंके जाने के बाद, जैसे खत्म।

वर्गीय समाज मे वर्गों के अतर्सम्बन्धो के परिणामस्वरूप कई बातें जैसी लगती हैं वे वैसी होती नही है। परसाई जब इन सम्बन्धो की प्रयोगशाला मे

स्वय को डालते हैं तब ये बातें साफ-साफ खुलती दिखाई देती हैं।

परसाई का व्यग्य जैसे ही उन पर घटता है वैसे ही वह बिजली की तेजी के साथ सामाजिक सम्बन्धों को भी प्रस्तुत कर देता है। इसके साथ ही अमूर्त चीजों का, सामाजिक सम्बन्धों का, घटनाओ और हरकतो (मनोवैज्ञानिक और शारीरिक) के माध्यम से जो मूर्तिकरण होता है वह भारतीय साहित्य मे अन्यतम है। यह मूर्तिकरण इतना सच और सारी जटिलताओं की गाँठ को सफाई से खोलने वाला है कि उसे चुनौती देने का सवाल, दुस्साहस ही हो सकता है। यह तो होता ही है कि अमूर्त चीजों का ठोस मूर्तिकरण हो जाए, दूसरी ओर कोई ठोस दिखने वाली चीजें भी इतने कोण लिये हुए होती हैं कि एक बात जीवन की कई दिशाओ और दशाओ पर लागू होने लगती है। परसाई की नजर इतनी तेज और सतर्क है कि एक जेब कटने की घटना भी बहुत से सवालो को खडा कर देती है।

तूने मेरा जेब काटा तो मैंने महावीर स्वामी का जेब काट लिया। महावीर जयन्ती पर भाषण करके मैंने कुछ ज्यादा ही रुपये कमा लिये। तू अपने मन से ग्लानि को निकाल दे · तू 175 रु० ले गया था न। मैंने 500 रु० कमा लिये। 200 रु० तो महावीर स्वामी का जेब काटने से मिले। 300 रु० दो दोस्तो ने मिलकर दे दिये। अब तू हिसाब कर। तेरे हाथ कुल 175 रु० लगे। मेरे 175 रु० गये, पर 500 रु० मिले। यानी इस पूरे मामले मे मैं 325 रु० के फायदे मे रहा। अब बता—तू बडा जेबकट है या मैं हूँ।" (मेरे जेबकट के नाम)

तो जेबकटी सिर्फ परिभाषित जेबकटी नही है। इससे भी ऊँची जेबकटी समाज मे चल रही है। बाज़ार मे लेकर ससद तक चलने वाली जेबकटी के सामने ये छोटे जेबकट हैं—"दोस्त, वर्तमान सभ्यता जेबकटी की सभ्यता है। हर आदमी दूसरे की जेब काट रहा है। इस सभ्यता मे अपना जेब बचाने का तरीका यह है कि दूसरे का जेब काटो।" (मेरे जेबकट के नाम)

वर्तमान की आपाधापी मे परसाई के वर्ग की हालत हास्यास्पद कवायद करते विदूषक के समान है जो अपनी निम्न पूँजीवादी महत्वाकाक्षाओ को पोसकर लम्बी कूद लगाने और उचककर ऊँचाई पर बैठ जाने के लिए लार टपका रहा है। लेकिन आर्थिक स्थितियाँ उसे बार-बार जमीन पर ले आती है। इस प्रक्रिया मे वह ऊपर नीचे, दाहिने बायें होता रहता है। इस कवायद को परसाई ने अपने ऊपर जमकर घटाया है। *कभी वे थर्ड क्लास मे सफर करते हैं और* स्वागतकर्त्ताओ से नजर बचाकर उतरते हुए पकडे जाते हैं, कभी अधिकाश सफर थर्ड क्लास मे होता है और गतव्य के कुछ पहले, पहल दर्जे का टिकट कटाकर तब तक दरवाजे पर खडे रहते हैं जब तक बुद्धिजीवी को भाषण के लिए बुलाने वाले आयोजक उन्हें पहले दर्जे के दरवाजे पर देख न लें। यह एक अजीब लुका-छुपौवल है। बुद्धिजीवी की आर्थिक हैसियत यही है कि वह पहले दर्जे का पैसा लेकर तीसर दर्जे म सफर करे। सारा मेल 'कुछ बच जाये' के लिए चल रहा है।

एक तरफ देने वाला की आकांक्षा है, दूसरी तरफ पेट और जिंदगी की जरूरतें—
'ऐसा हो चुका है कि स्वागतकर्ता मुझे पहले दर्जे मे तलाश कर रहे हैं और मैं चुपचाप तीसरे दर्जे से उतरकर उनका इतजार कर रहा हूँ। जब वे मिलते हैं तो दोनो पार्टियो को शर्म महसूस होती है। वे सोचते हैं कि किस थर्ड क्लासिये को बुला लिया। और मैं सोचता हूँ—इन्होने मुझे पकड लिया। कभी मौका मिला तो नजर बचाकर प्लेटफार्म पर तीसरे दर्जे के सामने से सरककर पहले के सामने आ जाता हूँ और फिर बाबू को टिकट इस तरह देता हूँ कि मेजबान जान न सके कि वह तीसरे दर्जे का है।" (तीसरे दर्जे के श्रद्धेय)

लेकिन इस तथाकथित प्रतिष्ठा और ललक को अर्थशास्त्र से नही बचाया जा सकता। यही बुद्धिजीवी 'फाल्स' किस तरह गढता है इसको परसाई अपने ऊपर घटाकर सिर्फ बुद्धिजीवी को 'फाल्स' नही रहने देते, बल्कि पूरे राष्ट्रीय दृश्य की विसगति पर फोकस मार देते हैं—"लौटने मे तीसरे दर्जे मे यह कहकर बैठ जाता हूँ कि पहला दर्जा रात को असुरक्षित रहता है। यही बुद्धिजीवी की मिश्रित अर्थ व्यवस्था है, जो देश की मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ही है। देश के प्रति बुद्धिजीवी बहुत जागरूक है। वह पहले दर्जे स उतरता और तीसरे दर्जे मे चढता है।" (तीसरे दर्जे के श्रद्धेय)

इस मिश्रित और दोगली व्यवस्था म मूल्यो की जो गत हुई है, अपने अस्तित्व की शर्त के लिए आदमी को जितना गिरने के लिए मजबूर किया जाता है, वह बहुत क्रूर है। इसके परिणामस्वरूप घटने वाली घटनाएँ, ऊपर-नीचे होता हुआ मनोविज्ञान बहुत जटिल। अलग-अलग धधे, आदमी के खिलाफ सक्रिय हैं। एक ओर लूट मे बचता है, दूसरी ओर न चाहते हुए भी जिंदा रहने के लिए जाने-अनजाने उसका हिस्सा बनना है या उन्हें बर्दाश्त करता है। परसाई के आत्मव्यग्य की पृष्ठभूमि मे यही सब है। घटनाएँ, स्थितियाँ, चार्ली चेप्लिन की तरह। जो एक हल्के मूड म जन्म लेती दिखायी देती हैं और धीरे-धीरे एक भयानकता के सामने लाकर खडा कर देती हैं। माना कि रहेगे दिल्ली' को लिया जाये तो यह बात मालूम पडती है। इस रचना का अत थर्रा-कर रख देता है, एक झटके मे। पूरी रचना म लेखक अपनी हरकतो को 'एक्सपोज' कर रहा है। वह बेरहम है खुद के प्रति, लेकिन उसम भी बेरहम जो है उसका आभास साफ-साफ होता रहता है। चारो ओर पूंजीवाद के मारे आकर्षण हैं जिनम फँसता बचता लेखक है जिसका गतव्य कुछ और है। परसाई के साथ मुश्किल यही है कि उनका गतव्य सर्वहारा है, वरना गिरन म तो दूसरे लोग मजा मार ही रहे है। लकिन उनक पास पहुँचन का सीधा सरल रास्ता नही है, रचना के अदर। यहाँ तो सारे दृश्य की जिम्मेदारी है। फिर लखक की अपनी वर्गीय दुनिया है, वर्गगत लालच है जिनमे जूझकर, जीतकर वह बढ रहा है। वह दुनिया देख रहा है। जितनी सतर्कता म वह दुनिया को छान रहा है उतनी ही तेज नजर उसकी श्री हरिशकर परसाई पर भी है, जिन्हे वह सबके

साथ छीलता चलता है। एकदम बेरहमी से। लेकिन इस बेरहमी के पीछे अचेतन में ट्रैजिक स्मृति भी है। और इसी स्मृति और ऐसी कई स्मृतियों से गहरा लगाव फुदकते-पिटते हुए लेखक को सही जगह पर लाकर खड़ा कर देता है।

यहाँ एक तरफ है दिल्ली। जहाँ शोषकों के केन्द्र हैं। एक तरफ है गुमटी और खोमचों तक उतरा हुआ लेखक। पाँच पैसे के पान और चार आने की स्कूटर की हैसियत का। उसके पास भ्रम हैं। यद्यपि उसके पास गँवार सभ्यता नहीं है, लेकिन उसकी सभ्यता चकाचौंध के आगे एक झटके में हार मानने पर उतारू होने लगती है और जैसे ही कनाट प्लेस का सिर कुचलने के खयाल में डूबता है कि उसकी शेखीखोरी को उसकी चवन्नी और पाँच पैसे का अर्थशास्त्र चुनौती देने लगता है। तीसरे दिन सस्ते होटल में पहुँच जाता है, पाँचवें दिन गुमटी में और खोमचे पर पहुँचने के पहले दिल्ली छोड़कर भागता है या दिल्ली उसे खदेड़ देती है। पर चैन वहाँ नहीं है। दिल्ली के पास भीमकाय तंत्र और हर बात में डिप्लोमेसी की घुटन है तो अपने शहर में दगा है। आसानी कहीं नहीं है इस तंत्र में। देखना यह है कि दिल्ली के आकर्षक और अपने शहर में हजार नमस्कार की लालच के बाद भी लेखक का असली कसर्न उसे कहाँ ले जाता है जो उसकी प्रतिबद्धता को तय करे।

बार-बार दिल्ली पटक रही है पर छूट नहीं रही है, भले न खाने का ठिकाना है न रहने का। आखिर भ्रम टूटता ही है—"पर सबसे बड़ी चोट मुझे एक होटल मालिक ने दी थी। इधर सड़कों पर मैं लोकप्रिय लेखक के गर्व में फूला-फूला फिरता था। एक दिन मित्रों ने कहा, चलो इस नये होटल में चाय पियें। होटल में घुसे तो मालिक ने मुस्कराहट से स्वागत किया। मैं उसके पहले वाले छोटे होटल में 2-3 महीने खाना खा चुका था।

मित्र ने उससे पूछा—आप इन्हें जानते हैं ?

उसने कहा—हाँ साहब, जानता हूँ।

मैं फूल उठा—कौन ऐसा है जो मुझे न जाने ? उसे शहर से निकलवा दूँ।

मित्र ने कहा—अच्छा बताइये, कौन हैं ये ?

मैं खुशी से फूटा पड़ता था कि यह कहता ही है कि वाह साहब, इन्हें न जानूं, तो धिक्कार है। ये इतने बड़े लेखक—

तभी होटल मालिक ने कहा—ये तो हमारे ग्राहक रहे हैं।

मेरा पानी उतर गया। मैंने उसी रात शहर छोड़ने का फैसला किया था, पर छोड़ नहीं सका।"

(माना कि रहेंगे दिल्ली)

धन पर चलने वाले समाज में परसाई ने अपनी हैसियतबाजी के भ्रमों को खूब तोड़ा है। दिल्ली के तंत्र में त्रिशंकु की तरह लटकता हुआ लेखक केवल हरिशंकर परसाई नहीं उनका समूचा वर्ग है। वह रोज भ्रम तोड़ता है और रोज नये भ्रम पाल लेता है। लेकिन परसाई भ्रमों के टूटने के सिलसिले में लगातार

उस वर्ग के पास पहुँचते जा रहे हैं जो निर्माणकर्त्ताओं का अवमूल्यन करने वाले धनतांत्रिक समाज के ठेकेदारों की हैसियत मिट्टी मे मिलाकर ध्वस्त करने के लिए गोलबद हो रहा है। इसी रचना मे परसाई ऐसी स्मृति लाकर खडी कर देते है जो एक तरफ तो थर्राती है दूसरी तरफ उनकी मजबूती और प्रतिबद्धता को जाहिर कर देती है।

'मैं दोस्तो से कहता हूँ—अच्छा यारो, कुछ दिन दिल्ली मे रहकर देखूंगा। नही जमा तो लौट जाऊँगा।

मित्र ने कहा—अरे, दिल्ली मे आकर कोई नही लौटता।

मैं सोचने लगता हूँ—'जैसे मुक्तिबोध!'

(माना कि रहेंगे दिल्ली)

और मुक्तिबोध का नाम आते ही हत्यारी सभ्यता से साक्षात्कार हो जाता है। लेखक के सारे भ्रम मुक्तिबोध की स्मृतियां तोडकर रख देती हैं। शायद इसके बाद रचना मे जो नही कहा गया वह यह है—"मैं सोचने लगता हूँ—जैसे मुक्तिबोध! और मैंने दिल्ली छोड दी। मुक्तिबोध की स्मृति लेखक को मुक्तिबोध के लोगों की ओर बढने का निर्णय है। मुक्तिबोध का नाम एक व्यक्ति का नाम नही बल्कि उस जीवन की पहचान है, उन हजारो दलितो की पहचान है जिनकी हत्या के पीछे कनाट प्लेस की दमक के मालिक भी हैं।

परसाई के यहाँ जैसे एक सर्कस होता रहता है जो कभी भी ट्रैजिक मोड ले सकता है, कभी भी बेरहमी से नाक काट सकता है या खुद को उघाड कर रख सकता है। इसमे बार-बार एक 'मैं' हिस्सा लेता रहता है जो कभी बहुत काइयां है, कभी सतर्क, कभी बेलाग हमलावर, कभी पिटा हुआ चेहरा। यह 'मैं' इस सर्कस मे खेलता, पिटता और खुद को पीटता हुआ अतत मजलूमो के पक्ष मे पहुँच जाता है, सारी सुविधाओ को लात मारकर। लेकिन यह 'मैं' रास्तो को सरलीकृत ढग से तय नही करता। द्वद्व करता हुआ जूझता हुआ आगे बढता है। पिटते-पीटते, लुढकते और फिर-फिर खडे होकर हिस्सा लेता हुआ अशुद्ध बेवकूफ —"मगर यह जानते हुए कि मैं बेवकूफ बनाया जा रहा हूँ और जो कहा जा रहा है, वह सब झूठ है—बेवकूफ बनते जाने का अपना एक मजा है "पर यह महँगा मजा है—मानसिक रूप से भी, और तरह से भी···इसमें मजा ही मजा नही है—करुणा है, मनुष्य की मजबूरियो पर सहानुभूति है, आदमी की पीडा की दारुण व्यथा है। यह सस्ता मजा नही है। जो हैसियत नही रखते, उनके लिए दो रास्ते हैं—चिढ जायें या शुद्ध बेवकूफ बन जायें···।···मैं शुद्ध नही अशुद्ध बेवकूफ हूँ।"

(एक अशुद्ध बेवकूफ)

यह अशुद्ध बेवकूफी अपने प्रति कठोरता है। इस अशुद्ध बेवकूफी मे दुनिया की बदमाशियो को समझने की बारीक और तेज समझ है। इस समझ को अकादमी का तमगा देकर नही फुसलाया जा सकता। गहरी उठी हुई आवाज को बेशर्म और सेठिया चालाकी के तहत

सकता। जिनको बहुत गुदगुदी लगती है, उन्हे हमेशा याद रखना चाहिए—
"एक और बडे लोगो के क्लब मे भाषण दे रहा था। मैं देश की गिरती हालत, महँगाई, गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचार पर बोल रहा था और खब बोल रहा था।

मैं पूरी पीडा से, गहरे आक्रोश से बोल रहा था। पर जब मैं ज्यादा मार्मिक हो जाता, वे लोग तालियाँ पीटते थे। मैंने कहा, हम लोग बहुत पतित है, तो वे लोग तालियाँ पीटने लगे।

और मैं समारोहो के बाद रात को घर लौटता हूँ तो सोचता रहता हूँ कि जिस समाज के लोग शर्म की बात पर हँसें, उसमे क्या कभी कोई क्रान्तिकारी हो सकता है ?

होगा शायद। पर तभी होगा, जब शर्म की बात पर ताली पीटने वाले हाथ कटेंगे और हँसने वाले जबडे टूटेंगे।"

(शर्म की बात पर ताली पीटना)

—श्रलखनन्दन

मध्यमवर्गीय दोगलेपन के खिलाफ

भारतीय क्षितिज पर अंग्रेज सत्ता के लुप्त होने के बाद राजनीति मे, और ब्रिटिश पूंजीवाद के बाद राष्ट्रीय पूंजीवाद के प्रतिष्ठापन से आर्थिक क्षेत्र मे असल हिन्दुस्तान गायब रहा और इसके सहारे एक ऐसी मध्यवर्गीय सभ्यता का विकास हुआ जो शहरों म अमरबेल की तरह पनपी, फैली और बढ़ी। इस सभ्यता मे कानून का व्यवसाय अदालतो म वकील, रोग का व्यवसाय डाक्टर, शिक्षा का व्यवसाय विश्वविद्यालय के बुद्धिजीवी, और समाचारो का व्यवसाय पत्रकार, और सम्पादक और सत्ता के व्यवसाय मे मदान्ध हाथी की तरह राजनीतिज्ञ व्यस्त रहा, और जरूरी चीजो मे जहर मिलाकर पूंजीपति और व्यापारी की बन आयी, परायी चिंता, उधार विचार और बाझ रचनाएँ लेकर रचनाकार सामने आ गये, जिनके रचना ससार मे फ्रायड और मार्क्स एक साथ दिखे, सार्त्र और टालस्टाय जोडी बनाकर आये उसमे वह सब कुछ रहा जो हमारा नही था, केवल वह नही था जिसे जिंदा, हरकत करता जीवन्त और यथार्थ हिन्दुस्तान कहते है।

पूरी तरह यह परोपजीवी-मध्यवर्गीय मन उपभोग की बाजारू सस्कृति पर टिका था जिसका वास्तविक यथार्थ और कर्म की ठोस उत्पादन-सस्कृति से कोई रिश्ता नही था।

यही वजह है कि यह बद कमरो मे अस्तित्व के सकट झेलता था, इसे पीडा, दुःख, सत्रास और मृत्यु भय सताता था। इसे अकेलेपन का त्रास भोगना होता था। यह रहस्यवादी दुख से, गले तक भर आयी लबालब उदासी से, और सदर्भच्युत होने की नियति से अभिशप्त था।

अकारण नही है कि इसने नपुसक नायको, और सती या बाजारू होने की अति मे पीडित असामान्य नायिकाएँ दी, अजब तरह के दुष्ट खलनायक दिये।

जो अपनी हजारो वर्षो पुरानी सस्कृति के होने पर अभिमान से फूला फिरता था, लेकिन अपनी खुराक अस्तित्ववाद से बटोरता था।

जो बिना कर्म किये जीवित था, एक दलाल की तरह, लेकिन हिन्दुस्तान रूपी गोवर्धन को अपनी अंगुली पर उठाये रखने का दभ करता था। जिसका जमीन मे कोई रिश्ता न था, इसीलिए जो हिन्दुस्तान की आत्मा का सवेदन सुन ही नही सकता या लेकिन शिकायत यह करता था कि देश मर चुका है और इसमे कोई धडकन नही होती।

क्या इसे हिन्दी रचना का दुर्भाग्य माना जाना चाहिए कि हमारा [illegible]

रचनाकार मध्यवर्गीय है, और उसके सस्कार, उसकी रुचि, उसका वर्ग चरित्र, तथा जीवन के अनुभव का दायरा विशुद्ध मध्यवर्गीय चिंता तक भयानक रूप से सीमित है ?

यदि यह बात सही नही है तो इसकी क्या वजह हो सकती है कि हमारा कथा साहित्य होरी' के जैसा दूसरा 'टाइप' पात्र फिर नही सिरज सका ? यथार्थ का शोर तो बहुत है लेकिन प्रेमचद की-सी सूक्ष्म दृष्टि जो जीवन की सश्लिष्टता को आरपार भेदती थी, कही गायब हो गयी, कहानी मे ही हम माधव और घीसू जैसे पात्र एव इन पात्रो की तकलीफ और गहरे दुख को मूर्त्त क्यो नही कर पाये ?

आजादी के बाद हिन्दी गद्य के क्षेत्र मे विशेष रूप से कहानी वगैरह म कई-कई तरह के आदोलन पैदा हुए और अकाल मौत मर गये, उनमे भाषा की कीमियागरी और शिल्प मे विचित्र लटके-झटके तो बहुत हैं लेकिन 'भोगे हुए यथार्थ' और 'अनुभव की प्रामाणिकता' मे तमाम नारो के बावजूद जिंदगी का 'अमल अनुभव' कितना कम है ?

रचना भी बुरी तरह इस तग मध्यवर्गीयता से मुक्त नही हो पा रही है अन्यथा समय तो इतना क्रूर और परिस्थितिया इतनी जटिल है कि वे हमे 'क्लर्क की मौत' गुसेव, और 'वार्ड न० 6' के जैसी रचनाओ के अतिरिक्त कुछ लिखने की इजाजत नही देती।

नयी कहानी का आदोलन कितनी बडी सम्भावनाओं को सामने लेकर आया था, लेकिन 'स्त्री पुरुष' सबधो के औसत शहरी अनुभव मे उसकी कितनी दुखद परिणति हुई। यह एक बिल्कुल अलग बात है कि इस दौर ने हमे कुछ रचनाकार ऐसे दिये हैं जो अपनी लेखकीय मशा मे पूरी तरह प्रतिबद्ध और ईमानदार रहे और भले ही उन्होंने प्रेमचद सा विराट् लेखकीय व्यक्तित्व न पाया किन्तु नयी जमीन तोडने का कार्य उन्होंने निश्चित ही किया।

इन्होने जैनेन्द्र के रहस्यवादी दार्शनिक ताने-बाने को मरोडकर फेंका, जो जैन सशयवाद के धागे पर बुना गया था और जो नीलम देश की राज-कन्याओ का सृजन करता था, इनने अज्ञेय का वह 'आभिजात्यीय अहं' से पूर्ण 'मिथ' कुचला जिसकी मूल चिंता 'वैशिष्ट्य की सुरक्षा मात्र थी। कम से कम इस दौर ने आजादी के बाद देश मे उभरे कुछ ऐसे सवाल तो उठाये जो साम्प्रदायिक दगो की भीषण घृणा और देश के शर्मनाक बँटवारे के कारण पैदा हुए थे, इन सवालो मे एक दूसरे देश की सीमाओं मे आते शरणार्थियो के काफिलो, झूठे राजनैतिक झीतल्यो और बदलते रिश्तो के दबाव शामिल थे, जो अपने समय की सामाजिक चेतना को किसी हद तक रचना मे पेश करते थे।

हरिशकर परसाई इसी सामाजिक चेतना के सवाहक के रूप मे सामने आये। जबकि हम मार्क-ट्वेन दातेक और चैखोव के जैसा व्यग्य चाहिए था। हमारे रचनाकार समय की इस विद्रूपता को नकारकर, जरूरी सवालो को टालकर

बेशर्मी और फूहडता के साथ साली-जीजा, पत्नी और भाभी जैसे रिश्तो को केन्द्र मे रखकर उद्देश्यहीन हास्य लिख रहे थे।

परसाई ने अपनी ईमानदार प्रतिबद्धता और दृष्टि तथा सोच के बिलकुल साफ और बेलाग होने के कारण इस परपरा को बिलकुल सिरे से उलट दिया, उन्होने अकेली दम से व्यग्य को साहित्य मे प्रतिष्ठित किया और एक नया ही चरित्र हिन्दी व्यग्य को प्रदान किया।

परसाई ने सर्वप्रथम अपने व्यग्यो मे यह साबित किया कि दैनंदिन जीवन और परिवेश के प्रति एक निर्मम व्यग्यदृष्टि कितनी बडी सभावनाएँ पैदा कर सकती है, कि कितनी विद्रूपता, कितनी जटिलता, कितना महान् शोषण और कितना चालाक पाखड इस देश मे फैला है कि कोई चेहरा असली नही लगता, कितने-कितने मुखौटे हैं जो आदमी की बदसूरती और बदनीयती पर शानदार मेकअप किये है। जिन्हे नगा किया जाना जरूरी है वरना शक्लें गुम होने लगेंगी और यह छद्म ही असली हो जायेगा। आश्चर्यजनक है कि परसाई ने जहाँ एक ओर मामूली आदमी के दर्द को अपनी सहानुभूति दी है वही उन्होने, दोगलेपन से भरे उस मध्यवर्गीय पाखड को उजागर किया है जिसे अन्य रचनाकार ठीक इसी समय महिमामडित कर रहे थे।

दोहरे चरित्र की विडबना मे जीने वाले भारतीय मध्यवर्ग के विचार और कर्म, चिन्तन और जीवन तथा रचना और यथार्थ के बीच भयानक फर्क को उन्होने अपनी व्यग्य-दृष्टि मे पकडा है, मुझे कई बार उन्हे पढते हुए लगा है कि एक मध्यवित्तीय ढोगी चरित्र के वे कपडे उतारना शुरू कर देते हैं और वह अपनी नगई छिपाने आखिरी चिथडा बचाने बेतहाशा भाग रहा है। यह ध्यान रखा जाना जरूरी है कि परसाई समूचे मध्यवर्ग को एक इकाई या समवाय के रूप मे नही देखते। वजह बिलकुल साफ है, क्योकि यह एक गलत सामाजिक वर्गीकरण है और रचनाकार के द्वारा इस स्थिति मे उन लोगो के साथ न्याय नही हो सकता जो कहलाते तो मध्यवर्गीय है किन्तु 'एक तृप्त आदमी' की भाँति जीते हैं उनकी आलोचनात्मक व्यग्य-दृष्टि तो लूटमार करने वाले उन तथाकथित सुसस्कृतो के प्रति है जिनकी बनावट और चरित्र निहायत ही दकियानूसी और सस्कारी है, जो समाज मे कही भी उत्पादन के साथ जुडे नही हैं, जो परिवर्तन के लिए आगे आने वाली शक्तियो की कोई सहायता नही करते, जिनकी चिंता मात्र एक खोखली सामाजिक प्रतिष्ठा और सुविधायें अर्जित करने तक सीमित हैं, जो भाषा भ्रष्ट करते हैं और पूरी तरह अपने कर्म और विचार मे शोषको के साथ हैं, जिनकी महत्त्वाकाक्षा के दायरे बेहद बढे-चढे हैं लेकिन इतने समझौतावादी और वैयक्तिक दायरे हैं जिन्हे किसी भी कीमत पर मजूर नही किया जा सकता।

आश्चर्य की बात है कि यही तथाकथित सभ्य मध्यवर्गीय दिन-रात 'मूल्यों' की बात करते नही थकते, लेकिन कभी यह स्पष्ट करने का कष्ट नही करते कि इनके मूल्य क्या हैं ? ये बार-बार सामाजिक जीवन की जडता पर अफसोस जाहिर

करते है लेकिन इतिहास की लम्बी यात्रा मे आदमी की तरह जी सकने के लायक माहौल बनाने मे जो संघर्षरत जनता है उसे नाममात्र को भी साथ नहीं चाहते, यही नही सामाजिक चेतना के हर निर्णायक बदलाव मे जो उन लोगों के साथ होते हैं जो जनता की यथास्थिति, अज्ञान और जडता म ही फलते-फूलते हैं। यदि धोखे से ऐसा मध्यवर्गीय मन रचनाकार हुआ, बुद्धिजीवी हुआ तो वे घुमा-फिराकर बेहद छद्म के साथ ये बात दोहराते हैं कि 'समय से सीधा साक्षात्कार किये बिना आज की रचना नहीं समझी जा सकती लेकिन मुश्किल ये है कि इन्हे समय के साक्षात्कार का आशय कुल इतना मालूम है कि हमारे पास डिग्रियाँ कितनी हैं, हमारी पदोन्नति कब होगी ? हम किस 'महान' से सम्पर्क करें ? कुल-पति प्रसन्न हैं या नही ? कोई मंत्री एकाध बार बँगले पर खाना खाने आ जायें! समय से सीधा साक्षात्कार करने उच्चाधिकारी के पास एक बार नित्य सलाम बजाने और वफादारी की कसम खाने जाना लाजिमी होना है लेकिन इसका मतलब यह बिल्कुल नही होना कि कितने करोड लोग पशुओं की तरह जी रहे हैं, इन्हे आदमी की जिंदगी मयस्सर क्यो नहीं होती ? कब तक चलेगा यह छद्म जिसम आदमी को इतनी बेइज्जती के साथ जीना पड रहा है ? भाषा और शब्द की दुनिया मे ये ऐसी शक्ल पैदा करने क्यों मजबूर हैं, जिनकी चिंता यह है कि 'वह भीड मे अकेला है' उसके वैशिष्ट्य को खतरा है, उसके लिए अपनी स्वतंत्रता का सवाल दुनिया का सबसे अहम् सवाल है! और जो राजनीति से घबराता है! परसाई के संवेदन की दुनिया मे इसका सीधा और कडा विरोध है एक सचेत रचनाकार के नाते वे अच्छी तरह जानते हैं कि आपके चरित्र के द्वैत का संकट पैदा कहाँ से होता है ? और इन्हें इस पाखड की जरूरत किसलिए है। यह मध्यवर्गीय चाहे भारतीय राजनीति मे 'सज्जन दुर्जन और कांग्रेसजन' के रूप म 'भैया साहब' हों अथवा 'लोहियावादी समाजवादी' की अजीब और हास्यास्पद दशा मे साथी तेजराम 'आग' हो। ये 'प्रजा समाजवादी' के रूप मे विलाप करने वाले 'शांतिनाद बम' हों अथवा अखड भारत का नारा देने वाले हिन्दूवादी जिनके मूर्खतापूर्ण अनुशासन और कुद जेहन की चाबी 'नागपुर मे गुरुजी' के पास है। सारे दक्षिण पथ की मुश्किल यह है कि इतिहास के भयानक दबाव उन्हे 'छद्म समाजवादी' का मुखौटा ओढने बाध्य कर रहे हैं और अपनी सत्तावादी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने ये भारतीय राजनीति के रगमच पर कभी आपस मे सुर मिलाकर, गले मे बाहें डाले सरगम गाते नजर आते हैं और डाकुओं की तरह सत्ता मे लूट के माल का असमान बँटवारा होने पर एक-दूसरे का चेहरा नोचने लगते है, इन्हें 'सत' की मुद्रा अख्तियार करते और थोडी ही देर मे शर्मनाक तरीके से नगे हो जाने मे कोई फर्क नजर नही आता। जिनसे पूरी तरह जनता आजिज आ चुकी है लेकिन उसका दुख ये है कि उसके पास कोई विकल्प नही है। वामपंथी शक्तियों के बिखराव से कितना बडा शून्य भारतीय राजनीति के रगमच पर पैदा हुआ है जिसकी परसाई वामपंथी होकर भी तल्ख आलोचना करते है, "मैं एक सपना देखता हूँ,

समाजवाद आ गया है और बस्ती के बाहर टीले पर खडा है, बस्ती के लोग आरती सजाकर उसका स्वागत करने बाहर खडे है पर टीले को घेरे खडे है कई तरह के समाजवादी, उनमे से हरएक लोगो से कहकर आया है कि समाजवाद को हाथ पकडकर मैं ही लाऊँगा।" कैसा अद्भुत बना दिया है इस मध्यवर्गीय पेशेवर राजनीतिज्ञ ने समाजवाद के जैसे ताकतवर और असीम सभावनाओं से भरे जीवन दर्शन को। इनके पास समाजवाद जैसा जीवन-दर्शन अवसर-अवसर पर इस्तेमाल हो सकने वाला नारा मात्र है।

यह पाखड मात्र राजनीति मे नही है, सामाजिक जीवन की विडबना इससे कही अधिक खतरनाक और दोगलेपन से भरी है। यही समझौतावादी मध्यवर्गीय चरित्र शिक्षा, न्याय, और सास्कृतिक जीवन के दूसरे सभी पक्षो को अपने खूनी जबडो म फँसाये है। ये ही वे लोग है जो धर्म-निरपेक्षता और राष्ट्रीय एकता की बातें करते है लेकिन गाय की पूँछ कट जाने पर हजारो आदमियो को दगो की भयानक आग मे झोक देते है और उसे एक धार्मिक मामला सिद्ध करते है, जो कायस्थ लडके के साथ विवाह कर लेने पर लडकी को जिंदा जला सकते है क्योकि इससे बिरादरी मे इनकी नाक कट जाने का खतरा है, जो चुनावो मे वोट के लिए और सरकारी, गैर-सरकारी नौकरियो म जाति का विशेष ख्याल रखते है, जो बढ-चढकर प्रगतिशील होने का दभ भरते हैं लेकिन 'यज्ञोपवीत' को पवित्र गायत्री मत्र के साथ श्रद्धापूर्वक धारण करते है। जो स्त्री की स्वतत्रता और बराबरी के दर्जे देने के सवाल पर गोष्ठियाँ आयोजित करते है, लेख लिखते है, लेकिन घर की स्त्री के प्रति शकालु और ईर्ष्याग्रस्त इतने हैं कि बात बात पर उसे 'वो जरा बाइफ है म!' वे मूर्खतापूर्ण तर्क से उसका शील सुरक्षित रखना चाहते है। तभी तो व्यग्यकार कहता है, "स्त्री को आगे बढाने वाले कुछ अति उत्साही व्यक्तियो से मेरा परिचय है, इन सबकी परेशानी मैं समझता हूँ और सहानुभूति भी रखता हूँ। आगे बढी हुई स्त्री के पति कहलाने का गौरव बहुत स्वस्थ और जायज है। मगर वह बढे कैसे ? कुछ लोग उसकी आखो पर पट्टी बाँधकर उसे पीठ पर लादकर आगे ले जाकर रख देना चाहते है, जब पट्टी खुले तो वह कहे 'अहा! हम तो इतने आगे बढ गये!"

इसके आडम्बर की हद है जब वह रहना तो पवित्र 'वैष्णव' की तरह चाहता है लेकिन भगवान के नाम पर मरे और जिंदा मांस, शराब और कबाब के पूरे भोग से लाभ जरूर लेना चाहता है, वह शिक्षा तक का व्यापार करने मे नही चूकता और उसे भी कपडे या किराने की दूकान की तरह नफे-नुकसान के साथ जोड लेता है तभी तो परसाई चोट करते हैं, "हमारी फर्म बाबूलाल छोटेलाल के वर्तमान मालिक अपनी प्रसिद्ध फर्म की एक नयी शाखा खोल रहे हैं। इस शाखा का नाम 'गोवरधनदास कालेज' होगा।" हम जानते हैं शिक्षा के धधे मे उतना फायदा नही है जितना सीमेंट या चीनी के धधे मे, इसलिए व्यापारी भाई शिक्षा की नई दूकान हमारी बेवकूफी ही समझेंगे।"

क्या यह वही वर्ग नहीं था जिसके बारे मे परसाई दुख के साथ कहते हैं, "मगर हमने देखा कि कुछ लोगो ने अपनी काली-काली भैंसें आजादी की घास पर छोड दी और घास उनके पेट मे जाने लगी तब भैंस वालो ने उसे दुह लिया और दूध का घी बनाकर हमारे ही सामने पीने लगे।" लेकिन साथ ही उस पीढी से वे साधिकार क्षोभ के साथ इसका जवाब भी माँगते हैं—"और हम अपने बाप को कोसते है कि तभी तुमने इस बारे मे साफ बातें क्यो न कर ली। वह काली भैंसो वाली शर्तें क्यो मान ली? क्या हक था तुम्हे हमारी तरफ से घाटे का सौदा करने का?" और वह पीढी जिसने काली भैंसो को आजादी की हरी-हरी घास चरने की खुली छूट दी, इसका कोई जवाब नही देती।

शर्मनाक तो यह है कि देश की राजनैतिक आजादी और सास्कृतिक आदोलन का सूत्रधार यह मध्यवर्ग ही कभी-कभी बेशर्मी के साथ आजादी की पूरी घास चरता हुआ भी अग्रेज जाति के रौबदाब, शासन करने की सख्ती और सस्कारो के आभिजात्य की गुलामी भी गौरव से ढोता नजर आता है। 'प्रेम प्रसग' मे पुलिस अफसर 'फादर' अपनी वफादारी इन शब्दो मे अर्ज करते हैं— 'शासन तो अग्रेज करते थे, ये जो धोतीवाले राज कर रहे है इन्हे तो कुछ आता-जाता नहीं। अगर अग्रेज होते तो ऐसी धाँधली चल नही सकती थी। मैं कहता हूँ अग्रेज ठीक कहते थे कि हम लोग स्वराज के लायक नही हैं।" यह है इनका वर्ग चरित्र और यही इनकी नैतिकता है दूसरी ओर दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक और पुलिस अफसर फादर की बेटी के बुद्धिजीवी प्रेमी सोचते है। मेरे मन मे विद्रोह उठता। जो होता है कि फादर को उठाकर जमीन पर दमच दूँ, यह सोचकर कि वे बुरा न मान जायें मैं हाँ मे हाँ करता जाता, अपनी तरफ से मैं यह भी कह देता था कि अग्रेज अच्छे थे और स्वराज्य आना अच्छा नही हुआ।" लडकी हासिल करना है तो अग्रेज भक्त फादर को पटाना जरूरी है, और ज्ञान मीमासा के बजाय 'इडियन पेनल कोड' की धाराएँ कठस्थ करना मजबूरी! ये हालत है हमारे मध्यवर्गीय आत्मघात की तरफ बढते स्वार्थी बुद्धिजीवी ी। इस पर दायित्व है उच्च शिक्षा का, शोध का, साहित्य का और भाषा का। एक पूरी पीढी इन्हे अपने हाथो से गढनी है, ये हमारी पीढी के रचनाकार हैं। कैसी अजीव हो जायेंगी रचनाएँ? और क्या करेंगे हम ऐसी पीढी रचकर?

और इन हालातो के चलते, ऐसी बेहूदी और बदरग दुनिया मे जीते वे मध्यवर्गीय लेखक कैसे हैं जिन्हें इन विद्रूपताओं को नगा करने के प्रयास मे राजनीति की बू आती है! एक निहायत व्यक्तिगत दुनिया के ऐकातिक ससार म जीने की इच्छा लेकर यह अपना वैशिष्ट्य सुरक्षित रखना चाहता है। इस अपनी पीडा, अपने दुख, अपना अकेलापन और अपने अहम् को ग्लोरिफाई करने एक चमकदार छद्म भाषा और उधार का दर्शन मिल गया है जिसे पचाने के प्रयास मे उसे भीड से डर लगने लगा है। बडा डर है कि भीड हमे, यानी स्वतत्र चिन्तकों और लेखको को दबोच रही है।" इन्हें जनता भीड नजर आती

है मूर्ख और असभ्य, भाषाहीन और फूहड़ !

किन्तु इसके बावजूद पूरे राजनैतिक फायदे हासिल करते हुए लेखन मे राजनैतिक तैवर इन्हे 'औसत अनुभव' और 'नारेबाजी' नजर आती है, ये राजनीति की मूल्यहीनता से साहित्य की 'पवित्र दुनिया' को बचाना चाहते हैं जैसे साहित्य मे रामराज्य का चित्रण करना हो। परसाई ने कहा भी है लेखक दभ मे कहता है, 'पहली बार हमने जीवन को उसके पूर्ण और यथार्थ रूप मे स्वीकारा है।'

तूने भाई, किसका जीवन स्वीकारा है? जीवन तो अर्थमत्री के बदलने से भी प्रभावित हो रहा है और अमरीकी चुनाव से भी !

कल अगर फासिस्ट तानाशाही आ गयी तो हे स्वतत्र चिन्तक, हे भीड द्वेषी तेरे स्वतत्र चिन्तन और लेखन का क्या होगा? फिर तो तेरा गला दबाया जायेगा और तूने अपनी इच्छा से आवाज निकालने की कोशिश की तो गला ही कट जायेगा।" रचना को राजनीति के खतरे से बचाने की धूर्ततापूर्ण राजनीति करना हमारे इसी मध्यवर्गीय लेखक चिन्तक तबके की चाल है जो स्वतत्रता के सवाल को अस्तित्व का सवाल और प्रेम की समस्या को महानतम मानवीय समस्या घोषित करता है। इनका आचरण वास्तविक अर्थो मे उस रडी की तरह हो गया है जो अपनी 'आत्मा को सुरक्षित' रखकर 'जिस्म का धधा' करती है और ग्राहक से निपट जाने के बाद जोर-जोर से सबको सुनाकर आरती गाने लगती है। रचना के इस अनुभववादी, क्षणवादी, और अस्तित्वादियो के लिए सबसे बडा सकट 'भाषा का सकट है' और इस सकट से निपटने अक्सर वे बडी नफीस कोमल, सवेदनात्मक और बिबो की झडी लगा देने वाली भाषा पेश करके इस सकट को हल करने मे अपना कीमती योगदान देते है, वे राजनैतिक मक्कारी धार्मिक पाखड, सामाजिक आडबर और भोगवादी व्यक्तिगत दोगलेपन के निहायत मामूली और औसत सवालो से भरमक अपने को बचाकर एक महान और उदात्त दुनिया की तस्वीर पेश करना चाहते है जिसमे ऐसे गैरजरूरी और हाशिये के सवालो को कोई जगह नही हो सकती, वे अस्तित्व के गहन और गू सार्वभौमिक मानव प्रश्न उठाना चाहते है, उनके सामने विश्वजनीन मानववादी चिता है, इसे वे उधार कविता के शब्दो मे 'सवेदनात्मक लापरवाही के दौर मे सजग चिता, का नाम देते है। इस विराट् मानव चिता मे डूबे लोगो से भूख रोग, अकाल, शोषण और कुचले जाने की दर्दनाक मौत के छोटे-छोटे सवा करने की हिम्मत ही नही पडती। लेकिन परसाई इनसे कुछ कहना चाहते है फरमाते हैं—"अच्छा भोजन करने के बाद मैं अक्सर मानवतावादी हो जाता हूँ अपना पेट भरकर मानवतावादी होने मे सुभीता है। दूसरे के घर भोजन कर के बाद तो बडे ऊँचे और पवित्र विचार मेरे मन मे आते है, कुछ लोग भूखे हो हैं तब ऊँचा चिन्तन होता है।"

'आभिजात्य' को भोग लेने का पूरा गगा अपने भीतर छिपाये ये मध्यवर्गी

लाखों-करोड़ों होकर बिखर गये हैं—अलग-अलग जगह, अलग-अलग क्षेत्रों में, जुदा-जुदा नामों के साथ, लेकिन जिनकी इच्छा एक है, आत्मा एक है, मन एक है, छद्म एक है, महत्वाकांक्षा एक है और वर्ग चरित्र एक-सा है। मगर सवाल है—जन की कीमत पर आप कितने दिन अमरबेल की तरह जिंदा रहना चाहते हैं? क्या निरन्तर जन के सवाल अरवामनों की भाषा में स्थगित किये जा सकते हैं? यदि जन अपने हकों के लिए संघर्ष की चेतना से स्वतः स्फूर्त होकर निर्णायक लड़ाई का फैसला लेता है, तो आप कहां होंगे?

क्या आप सोचते हैं कि इस निर्णायक दौर में आप अपने को *तटस्थ* रख सकेंगे? और क्या तटस्थता का सचमुच कोई अर्थ होता है?

यदि आप उसकी अगुआई करने, उसमें शामिल होने में कतराते हैं तो इतिहास में आपकी जगह क्या होगी?

इतिहास ही समय और सन्दर्भ को नहीं बदलता, आदमी भी उसके साथ इतिहास पर अपना प्रभाव छोड़ता है। अपने सन्दर्भ में कटे हुए, आत्म पराये मध्यवर्गीय की नियति इन विश्वासों और विचारों को साथ लेकर क्या हो सकती है, इसका अनुमान बहुत जटिल नहीं है।

परसाई की पक्षधरता का सवाल यहीं सबसे वजनदार और सार्थक है क्योंकि वे 'मैं' की नहीं 'हम' की भाषा में बोलने पर विश्वास करते हैं।

कहीं मेरी इन लम्बी आलोचनाओं और लेखक के रवैये के प्रति उत्साहपूर्ण तर्कों से यह तो नहीं समझ लिया जायेगा कि 'हिन्दी व्यंग्य का मतलब केवल परसाई है?' या कि परसाई ने अखबारों के कालमों में भी जो कुछ लिखा है उसे महान् और उद्देश्यपूर्ण, कलात्मक और संवेदनात्मक जागरूकता से पूर्ण मान लिया जाये?

एक उबाने वाली लम्बी और थकी दोपहर में मेरा दोस्त मेरे घर आया। उसके आने-जाने का कोई वक्त नहीं है, और जो अजीबोगरीब सवाल लेकर कभी भी मुझे सवालों से घेर देने में माहिर है। उसने साहित्यिक बातचीत शुरू करने के लिहाज से परसाई के बारे में ही पूछना शुरू कर दिया, उसकी मुश्किल यह थी कि क्योंकर हम हिन्दी में ऐसा व्यंग्य नहीं लिख पा रहे हैं जैसा कि मार्क ट्वेन, शॉ और चेखव ने लिखा?

क्या उन्नीसवीं सदी के रूसी सामाजिक जीवन की जारशाही से भरी विद्रूप जिंदगी हमारी आज की जिंदगी से बहुत भिन्न थी?

क्या वजह हो सकती है कि 'क्लर्क की मौत' का व्यंग्य एक क्लासिक बन गया? और वार्ड नं० 6 का भीषण होटर अपनी पूरी शताब्दी की सबसे तरख आलोचना बन गयी?

इतना गंभीर, करुण और मानव अस्तित्व, तथा मानव नियति के सवालों को सामने रखने चेखव ने जिस प्रतिभा, संवेदना और सर्जनात्मकता का परिचय दिया है वैसा परसाई, जो हमारे एक मात्र स्थापित व्यंग्यकार हैं, कर सके हैं?

यदि नही तो इसकी क्या वजह हो सकती है ?

वह जालिम हमेशा की तरह सवालो के जगल की असुरक्षा, और दिमाग को थका डालने वाली चिता मे अकेला छोडकर सीटी बजाता, मुस्कुराता चला गया। अब मैं अकेला था और मेरे सामने उन्नीसवी शताब्दी और चेखव तथा बीसवी शताब्दी के ये बीतते आखिरी साल, हिन्दुस्तान और परसाई थे। मैंने सोचा जिस ट्रेजिक करुणा मे चेखव की सवेदना रूपायित होती है उसमे मुझे कभी भी परसाई तेज तल्ख और हमलावर कबीरपथी अदाज मे तुलना के लिए जायज नही लगते। जिस खतरनाक समय और विगलित यथार्थ मे परसाई ने देखना, सोचना, लिखना शुरु किया उसमे उन्हे व्यग्य की कोई मोद्देश्य और गभीर परपरा नही मिली, वे तो हमारे व्यग्य की सही शुरुआत हैं, लेकिन चेखव उस परम्परा की लगभग आखिरी कडी थे, वहाँ तारमतोय, तुर्गनेव, गोगोल और दोस्तोएवस्की भी थे। चेखव आदमी की आत्मा के दैन्य और नियति की हताशा पर ही लिख सकते थे, उन्हें परम्परा ने इस बात की कोई गुजाइश ही नही छोडी थी कि वे जारशाही की मरती, दम तोडती व्यवस्था से तल्खी के अदाज मे वैसे ही खेल सकें जैसे खुराक करने के पहिले बिल्ली चूहे से खेलती है। फिर समय की गतिशीलता, और समकालीन प्रश्नो के चरित्र मे भी बडा फर्क है, बीसवी शताब्दी के इन अतिम वर्षों मे हिन्दुस्तान जैसे टिपिकल' देश की समस्याएँ अपने चरित्र मे ही इतनी बुनियादी और आदिम है कि वे आदमी की नियति पर उस ढग से सोचने की गुजाइश ही नही छोडती कि परसाई डाक्टर अलेक्सेई, या वान्का या गुसेव जैसे पात्रो की सर्जना कर सकें। उन्होने मानव आत्मा की उस बुनियादी चिता जिसमे जिदगी केवल अर्थहीन और निस्सार बीतती है के सवाल दोहरा-दोहराकर अपने व्यग्यो मे सामने रखे एक अवसाद से भरे दुखी और भारी मन के साथ। चेखव थकी हुई आत्मा के उदास लेखक है, उनकी पूरी सोच मोन्जार्ट के ऐसे सोनाटा की तरह है जिसकी करुण, दुखपूर्ण और धीरे-धीरे अवसाद घोलती धुन सगीत के जादू भरे प्रभाव मे यह भ्रम पैदा कर देती है कि 'क्या हम सचमुच जिदा है ?' हम किसलिए जिदा है ? 'हमारे होने का क्या अर्थ है ?' हम आखिर इस माहौल मे एक आदमी की हैसियत से करने क्या लगें ? यही वजह है, चेखव कहते है—"महत्त्व की बात नक्शे नही है बल्कि मनुष्य की जिन्दगी है, जिन्दगी दुबारा नही मिलती, इसलिए इसके प्रति दयापूर्ण व्यवहार होना ही चाहिए।" (गुसेव / चेखव) एक मध्यवर्गीय कलाकार से चेखव की कहानी का नायक कहता है, "मेरे विचार मे वर्तमान परिस्थितियों म ये स्कूल, अस्पताल, पुस्तकालय, डाक्टरी सहायता केन्द्र आदि जनता की गुलामी की जजीरो को और अधिक मजबूत बनाते है। किसान एक लम्बी जजीर मे जकडे हुए हैं और आप लोग उन जजीरो को नही तोडते बल्कि उसम और नयी कडियाँ जोडते रहते है, इस बारे मे मेरे यही विचार है।"

(एक कलाकार की कहानी/चेखव)

लेकिन परसाई के पास इस उदासी, इस ऊब और करुणा के लिए कोई स्थान नहीं हैं, वे इसके बिल्कुल विपरीत हमलावर अदाज मे निर्मम चोट करते हैं, उनके पास वही पलीता है जो वे कबीर के पास देखते थे, जिनसे कबीर अपने समय की कुरीतियो को आग लगाते फिरते थे।

उनका पूरा व्यक्तित्व तेज तर्रार है और एक कबीरपथी मानस लेकर उस समय मे जब सारा जमाना पगडडियो के जमाने से गुजरने पर विश्वास करता है, पूरे साहस से जोखिम के राजमार्ग पर चलते हैं।

—कपिल कुमार तिवारी

लेखन एक शक्तिशाली अस्त्र

सामाजिक जीवन मे तरह-तरह के दौर आते रहते है और हर दौर का अपना साहित्य होता है जिस पर उस दौर की छाप होती है। एक ऐसा दौर भी होता है जब व्यापक स्तर पर समाज के लाखो-लाख सदस्य किसी महान ध्येय से अनुप्राणित होने लगते है, जब एक नयी उमग दिलो मे हिलोरें लेने लगती है। तब वायुमण्डल मे वह ध्येय व्याप-सा रहा होता है और उसकी अनुगूंज हर दिल मे सुनायी देती है। वे बडी-बडी कुर्बानियो के दिन होते है, विकट सघर्ष मे भी हँस-हँसकर आत्म-बलिदान करने के दिन, कुछ कर गुजरने के दिन, जब दृष्टि-क्षेत्र के सामने जीवन के प्रसार खुलते चले जाते है और लगता है, कुछ भी असम्भव नहीं। हमारे देश मे आजादी के पहले का काल कुछ ऐसा ही काल था। कुरीतियाँ, भ्रष्टाचार, विसगतियाँ उस काल मे भी, लेकिन उस ध्येय के सामने सब गौण जान पडता था, ध्येय सर्वोपरि था। और लगता था, ध्येय की प्राप्ति पर समाज की सब विसगतियाँ दूर हो जायेंगी। यह ऐसी ही स्थिति होती है जब युद्ध मे जूझता हुआ कोई देश आत्म-विश्वास ग्रहण कर ले। ऐसे काल मे साहित्य को जन्म देने वाली भावना तथा दृष्टि व्यग्यात्मक नही होती।

पर जब समाज मे सघर्ष थम जाये, जब सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन एक जगह पर ठहर जाये, व्यवस्था अपनी जगह पर स्थिर और निश्चेष्ट हो जाये, जब समाज के कर्णधार सत्ता की बागडोर सँभाल कर सतुष्ट हो जायें और अपनी जगह पर जमकर बैठ जायें, जब विकास के स्थान पर गतिरोध आने लगे, और ठहरे हुए जल की सतह पर काई जमने लगे और उसमे से सडांध उठने लगे, और लोगो के दिलो मे वलवले मरने लगें, जहाँ दृष्टि की विशालता थी, वहाँ तगनजरी आ जाये और स्वार्थ और धनलोलुपता और कुर्सी के मोह के इर्द-गिर्द सभी ध्येय लोट-पोट जायें, उस वक्त सवेदनशील लेखक व्यग्य का नश्तर लेकर सामने आता है और समाज के जीवन मे पाये जाने वाले नासूरो की चीर-फाड करने लगता है।

परसाई जी हमारे साहित्य मे इसी काल मे उभरे है। उन्होने पहला दौर भी देखा है, और उसके स्थान पर दूसरे दौर को भी जड जमाते देखा है। उन्होने ध्येय पर मर-मिटने वाले दिन भी देखे है, और मोहभग की यातना-भरे दिन भी देखे हैं। वे दिन भी जब देश के लाखो-लाख लोग साझे ध्येय से अनुप्राणित विदेशी शासन से जूझ रहे थे, फिर वे दिन भी जब आजादी मिलने के बाद,

कलम के एक झटके में, इन लाखों-लाख लोगों को मात्र दर्शक बना दिया गया था, और राष्ट्रीय जीवन के निर्माण की सभी भूमिकाओं में से अलग कर दिया गया था। प्रशासन और संचालन की बागडोर सरकार के हाथ में आ गयी थी, वही योजनाएँ बनाती थी वही उनकी क्रियान्विति को भी सँभाले हुए थी। अफसरशाही फिर नमूदार हो गयी थी, जन साधारण को, मक्खन में से निकाले गये बाल की तरह, राष्ट्रीय जीवन में से अलग कर दिया गया था। उसके लिए धीरे-धीरे, राष्ट्र-निर्माण दूर-पार की चीज बन गया, वह पहले हैरान हुआ, फिर उदासीन और उसके बाद उसके सभी मोहभंग होने लगे। इतना ही नहीं, राजनीतिक जीवन में से धीरे-धीरे सभी निःस्वार्थ सेवी, जैसे बुहार कर बाहर निकाल दिये जाने लगे, और उनकी जगह पर निकम्मी, स्वार्थी, चालाक सयासतदानों ने अड्डा जमा लिया। तब राष्ट्रनिर्माण के स्थान पर लाइसेंसों, कोटों, बड़े-बड़े ठेकों की चर्चा होने लगी, और स्वयं सयासतदान उनके लिए हाथ फैलाने लगे। पाखण्ड का नंगा नाच चारों ओर दिखायी पड़ने लगा। काला बाजार गर्म हुआ, भ्रष्टाचार फैला और गरीबों की बस्तियों में से खद्दरधारी मंत्रियों की विलायती मोटरें फर्राटे में भागने लगी।

यह मोहभंग का काल था जब कथनी और करनी के बीच का अन्तर उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। अतीत के सपने वर्तमान के यथार्थ पर चूर-चूर होने लगे थे। सयासतदानों और सत्ताधारियों की बातों पर से विश्वास उठने लगा था।

इस तरह के माहौल में कौन-सा परसाई चुप रहेगा? व्यंग्य सीधा पाखण्ड पर प्रहार करता है। व्यंग्य का मूल विषय ही पाखण्ड होता है। ऐसे समय में जब सामान्य लेखक किसी हद तक अपने भावना-लोक में बसता है, वहाँ व्यंग्य-लेखक सीधा समाज के अखाड़े में उतर आता है। उसे इस बात की परवाह नहीं रहती कि वह निबन्ध लिख रहा है या कहानी या डायरी, उसे केवल इस बात की परवाह रहती है कि उसकी रचना वार करती है या नहीं, और उसका वार निशाने पर बैठता है या नहीं। सामाजिक जीवन की विसंगतियाँ और अन्तर्विरोध उसकी कलम के विषय बनते हैं। व्यंग्यकार सुखद भावनाओं के धुँधलके में नहीं बसता, वह यथार्थ के कठोर धरातल पर खड़ा रहता है, पाखण्ड, दोमुँहापन, भ्रष्टाचार का भण्डाफोड़ करता है। कुछ व्यंग्यकार मात्र मनुष्य स्वभाव की सनकों, अटपटे व्यवहार और रहन-सहन के तौर-तरीकों का मजाक उड़ाते हैं, पर *ऐसे व्यंग्य सतही में बने रहते हैं, जबकि परसाई जी के व्यंग्य समाज के मर्म को* छूते हैं, सामाजिक जीवन की मूल विसंगतियों को सामने लाते हैं।

परसाईजी के एक निबन्ध में भगवत् भजन करने वाला एक वैष्णव, सेठिया बन जाता है। पहले पैसा सूद पर कर्ज देता है, फिर, ढेरों पैसे जमा कर लेने पर होटल चलाता है। होटल में पहले सभी निवासियों को वैष्णव भोजन मिलता है, फिर धीरे-धीरे वहाँ मांस, मछली पकने लगती है, फिर शराब आती है, कैबरे

होने लगता है और फिर 'गर्म माल' भी मिलने लगता है, हर कदम पर वैष्णव अपने इष्टदेव से पूछने जाता है कि अब क्या करूँ, और हर बार ही उसकी अन्तरात्मा प्रस्तावित सुझाव को शास्त्रसम्मत बताती है, और इस तरह वह सच्चा वैष्णव भी बना रहता है और सच्चा व्यापारी भी। जब 'गर्म माल' की माँग आती है तो वैष्णव की शुद्ध आन्तरिक आवाज यह कहकर उसे सतुष्ट कर देती है 'मूर्ख, यह तो प्रकृति और पुरुष का सयोग है, इसमे पाप क्या और पुण्य क्या।' इस तरह वह धर्म को धन्धे के साथ सफलतापूर्वक जोड देता है।

एक अन्य निबन्ध मे बुद्धिजीवियो की एक सभा देश की दुर्दशा पर विचार करती है। सयोजको का विचार है कि देश की जितनी अधिक दुर्दशा होगी, उतनी ही बढ़िया मच पर से तकरीरें झाडी जा सकेंगी। जलसा बडा सफल रहता है, सयोजक सन्तुष्ट हैं, सचमुच बहुत बढिया भाषण दिये गये।

एक अन्य निबन्ध मे एक चोरबाजारिया पकड लिया जाता है। फैसला होता है कि दूसरे दिन प्रात उसे एक खम्भे पर से लटका कर फाँसी दे दी जायेगी। पर दूसरे दिन जब फाँसी का वक्त आता है तो खम्भा ही गायब है, पता चलता है कि रातोरात खम्भा चोरबाजार म पहुँच गया है।

कही घटना द्वारा तो कही अपने अनूठे तर्ज-ए-बयान से सामाजिक जीवन की विसगतियाँ उखाड दी जाती है। एक निबन्ध इस तरह शुरू होता है

"हे सखि, नल के मैले पानी म केंचुए और मेढक आने लगे। लगता है सुहावनी, मन भावनी वर्षा ऋतु आ गयी।"

एक और निबन्ध में एक आदमी इस बात पर लज्जित है कि वह थोडा मुटिया गया है और उसकी शेरवानी उसे तग पडने लगी है। सभी से माफी माँगता फिरता है।

"मेरे देशवासियो, मुझ बेशर्म को माफ करना। भारत माता, क्षमा करना। तेरा यह कपूत मोटा हो गया। मैं तीसरी पचवर्षीय योजना का एक झूठा आँकडा हूँ, जो तुम्हे धोखा दे रहा हूँ। मत्री महोदय, माफ करना, तुम्हारी खाद्य व्यवस्था के बावजूद मैं मोटा हो गया।...वर्तमान और भूतपूर्व अर्थमत्रियो, मैं तुम्हे मुँह दिखाने के काबिल नही रहा। मैं पिछले पन्द्रह वर्षों की उलझी अर्थनीति और खाद्यनीति के प्रति अपराधी हूँ।..."

यथार्थ की कसौटी पर खरा उतरकर ही व्यग्य प्रभावशाली बनता है, और परसाई जी के निबन्धो-कहानियो म वही खरापन झलकता है।

मोह-भग की एक स्थिति वह होती है जब टूटती सामाजिक मर्यादाओं के साथ व्यग्यकार का विश्वास मनुष्य मात्र पर से ही टूटने लगता है, जिदगी बेमानी नजर आने लगती है। पर जहाँ टूटती मर्यादाओ को देखनेवाला व्यग्यकार उनके पीछे काम करनेवाली कारक-शक्तियो के प्रति सचेत हो, और वाछित विकल्प को भी जानता-समझता हो, कि समाज को किस ओर जाना चाहिए, वहाँ उसके व्यग्य मे कटुता नही बल्कि मानवीय सद्भावना अधिक देखने को **मिलती है,**

बल्कि मानवीय सद्भावना से ही उसे अपनी व्यंग्य-रचनाओं के लिए प्रेरणा मिलती है। परसाई जी की रचनाओं को पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि हमारा देश ही गिरा हुआ देश है, हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही गिरा हुआ है, इसका उद्धार हो ही नहीं सकता, या कि सभी सत्तासनदान स्वार्थी और भ्रष्ट हैं, किसी पर विश्वास नहीं किया जा सकता। परसाई जी के व्यंग्य की श्रेष्ठता इसी बात में है कि जीवन पर उनका विश्वास अडिग और गहरा है, सामान्य जन की क्षमताओं, उनकी ईमानदारी और मानवीय मूल्यों पर उनका विश्वास उनकी चेतना में समाया हुआ है। पाखण्ड पर वही आदमी चोट कर सकता है जिसे पाखण्ड परेशान करता हो। कहीं पर भी, उनकी रचनाओं में ऐसी ध्वनि सुनायी नहीं पड़ती कि ऐसा तो चलता ही रहता है, आगे भी चलता रहेगा। जीवन में गहरी आस्था रखने वाले लोग ही सार्थक व्यंग्य लिख सकते हैं, नहीं तो उनके व्यंग्य में कटुता आ जाती, उच्छृंखलता और सस्तापन आ जाता। परसाई जी के व्यंग्य विनोदपूर्ण है, वह भी इसलिए कि जिन विसंगतियों पर वह चोट करते हैं, उन्हें वह असाध्य नहीं मानते। स्वार्थी, भ्रष्ट लोगों की भौंडी हरकतों पर, लगता है, वह हँस रहे हैं, क्योंकि उन्हें विश्वास है कि इन लोगों की भूमिका समाज में स्थायी नहीं है ये उत्तरोत्तर असंगत होते जा रहे हैं, ये मानवीय मूल्यों की जमीन पर से उखड़े हुए लोग हैं, जिन्हें समाज की स्वस्थ मान्यताएँ स्वीकार नहीं करेंगी। इसी कारण उनकी रचनाओं पर एक प्रकार की लौ-सी छिटकी रहती है, और एक तरह की सादगी और खरापन भी। इसी कारण कहीं-कहीं पर हम द्रवित भी हो उठते हैं, उन लोगों की स्थिति को देखते हुए जो सत्ताधारियों और अवसरवादियों के पाखण्ड *का शिकार बनते हैं, जिन विडम्बनाओं पर परसाई जी चोट करते हैं, उन्हें उनका* मस्तिष्क जितने पैने ढंग से देखता-परखता है, उतनी ही गहराई से उनका दिल भी उन्हें महसूस करता है। उनकी हँसी शुद्ध हँसी नहीं है, उसकी लय में करुणा की अन्तर्धारा बहती रहती है।

कहने को तो परसाई जी की रचनाओं को हम व्यंग्यात्मक निबन्धों का नाम देते हैं लेकिन वास्तव में वह कहानी के घेरे में भी आसानी से आ जाती है, उनकी अनेक रचनाओं का गठन कहानी जैसा ही है, और उन्हें पढ़ते समय कहानी का ही रस भी हमें मिलता है।

सामान्यतः यथार्थ की जमीन पर चलते हुए, परसाई जी सहसा एक उड़ान-सी भर जाते हैं, कल्पना की खूबसूरत उड़ान जो एक ओर उनके व्यंग्य को पैना और महत्त्वपूर्ण बना देती है, दूसरी ओर उनकी रचना को अधिक कलात्मक बना देती है। एक रचना में, किसी वयोवृद्ध क्लर्क की मौत हो जाती है, लेकिन पता चलता है कि उसकी आत्मा न तो स्वर्ग में पहुँची है न नरक में, आखिर गयी तो कहाँ गयी ? पता चलता है कि वह क्लर्क के दफ्तर में उसके प्राविडेण्ट फण्डवाली फाइल में अटकी रह गयी है। इस तरह, मूलतः तर्क के क्षेत्र में विचरते हुए भी, परसाई जी के व्यंग्य को, भावना और कल्पना दोनों ही

अपनी-अपनी तरह से सोचते रहते है। क्लर्क की आत्मा का फाईल मे अटके रह जाना जहाँ व्यग्यपूर्ण है, वहाँ गहरे मे दिल को छूता भी है, क्लर्क की बेबसी की ओर बडा हृदयविदारक सकेत भी करता है।

एक जगह पर परसाई जी ने लिखा है

"दर्शन को चिंतन से जोडना जरूरी होना है।" अनुभव बेकार होता है यदि उसका अर्थ न खोजा जाये, उसका विश्लेषण न किया जाये " और तार्किक निष्कर्ष न निकाला जाये" "इसके बिना अनुभव केवल घटना बनकर रह जाता है, वह रचनात्मक चेतना का अग नही बन पाता।"

बेशक व्यग्य-लेखक का ध्यान समाज के नकारात्मक पक्ष की ओर ज्यादा रहना है, भौडे, पाखण्डी, उचक्के, स्वार्थी लोगो पर व्यग्यकार की नजर ज्यादा रहती है, सघर्षरत लोगो का सकारात्मक जीवन उनकी रचनाओं का विषय नही बनता। लेकिन जीवन का सकारात्मक पक्ष जिसके बल पर देश आगे बढते है और राष्ट्रीय जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन मे सार्थकता आती है, इस नकारात्मक पक्ष से अलग भी नही होता। वास्तव मे उस सकारात्मक पक्ष के बोध से ही परसाई जी के व्यग्य तीखे बन पाते है, और उनमे सार्थकता आती है, उसी की प्रेरणा से वह समाज के रुग्ण और जीर्ण तत्त्वो का सफलता से भण्डाफोड करते हैं।

फिलस्तीन की एक कवयित्री को इजराइली अधिकारियो ने जेल मे बन्द करते समय कहा कि उस कवयित्री की एक एक कविता एक फौजी ब्रिगेड के बराबर वार करती है। आज के हमारे विसगतियो भरे जीवन मे परसाई जी की लेखनी भी पाखण्ड, अन्याय, अमानुषिकता पर वैसे ही सशक्त और पैने वार कर रही है। अपने देशवासियो को सामाजिक जीवन की विसगतियो और अन्तर्विरोधो के प्रति सचेत करना बडे महत्त्व का काम है और इसे परसाई जी बडी खूबी से निभा रहे हैं। उनका व्यग्य मनोविनोद का तथा पाठक को सचेत करने का ही अस्त्र नही, समाज की सही तस्वीर पेश करनेवाला, सघर्ष की प्रेरणा देनेवाला शक्तिशाली अस्त्र भी है।

---भीष्म साहनी

दायित्व की सतर्कता

व्यग्य-लेखक परसाई की मूल दिलचस्पी जन-साहित्य की रचना मे है। इसलिए वे कोरे अर्थो मे कितने साहित्यिक हैं, यह सवाल उनके सन्दर्भ म हमेशा बना रहेगा। पर यह भी उतना ही सच है कि इतिहास की विकासमान धारा के साथ-साथ साहित्य के विषय मे जनता की धारणा बदलेगी और परसाई जैसे लेखक ही तब सच्चे अर्थों मे जनता के लेखक कहे जायेंगे।

आज तो स्थिति बिल्कुल विचित्र है। जो खुद को जनता का लेखक कहते हैं, वे उसके पास आने से घबराते हैं। नकली बुद्धिजीविता और आरोपित आधुनिकता के दबाव मे उनकी हिम्मत की ईमानदारी मन मारकर उस ओर मुड जाती है जिधर बद कमरो मे साहित्यिक गोष्ठियाँ हो रही है। अहो रूप! अहो ध्वनिम्! का सहकारी नाटक चल रहा है।

परसाई को जनता तक पहुँचना भी है और अपने लेखक को जिन्दा भी रखना है। इसलिए उन्होने अभिव्यक्ति की नयी पद्धतियो और प्रकाशन के जनप्रिय साधनो का इस्तेमाल एक साथ किया। देखने मे यह काफी बडा अन्तर्विरोध है। वह, जो अपने समाज के प्रति प्रतिबद्ध है, उन मचों का इस्तेमाल कर रहा है जहाँ साहित्य और सस्कृति जैसी वस्तुयें भी उपभोग्य-पदार्थ के रूप मे परोस दी जाती है। पूँजीवादी प्रेस और उसकी विक्रय-क्षमता के अधीन ही परसाई का अधिकाश लेखन प्रचारित हुआ है। किन्तु इसस परसाई का उतना नुक्सान नही हुआ है, जितना कि पूँजीवाद का।

लेखक और व्यवस्था की यह कुश्ती अपने सारे दाँव पेंचो के साथ सक्राति-कालीन समाज म चल रही है। व्यवस्था इस मुगालते मे रहती है कि वह धीरे-धीरे एक और प्रतिभा को पचा रही है और लेखक इस फिक्र मे रहता है कि वह धीरे-धीरे ही सही-सेंध तो लगा रहा है। परसाई और समकालीन सामाजिकता के बीच यह द्वन्द्व मैत्रीपूर्ण शैली म बरसो स चल रहा है और आज जबकि हमारा यह लेखक अपने जीवन के प्रौढ काल मे पहुँच गया है, हम यह कह सकने की सुविधा म है कि परसाई के बारे म यह धारणा दृढतर हुई है कि वे जनता का साहित्य लिख रहे हैं।

जनता के साहित्य के बारे म हमारे पास परिभाषाओं की कोई कमी नही है। बल्कि इस समय हम उनकी प्रचुरता मे हैं। जन साहित्य के नाम पर पत्र-पत्रिकाओ के अलावा रचनात्मक प्रयासो और कृतियों की भी कोई कमी आज के

वातावरण में नहीं है। किंतु सूक्ष्म सर्वेक्षण में पता लग सकता है कि इनमें से अधिकांश ऐसा है जो कभी जनता का साहित्य नहीं बन पायेगा, न ही धरोहर के रूप में आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रह पायेगा। परसाई के कृतित्व पर विचार करते हुए हम इस संदर्भ में निम्नलिखित तथ्यों तक पहुँचते हैं—

परसाई का लेखन समाज प्रतिबद्ध साहित्य के अन्तर्गत आता है जिसका मुख्य ध्येय मानसिक परिवर्तन के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की पूर्व भूमिका तैयार करना है। दूसरी बात यह कि वही लेखन जनमानस में अधिक समय तक जिन्दा रहता है जो उसे भावात्मक सुख या आनंद की ओर ले जा सकने में समर्थ होता है। तीसरी यह कि भाव-तन्मयता लेखन का एक अनिवार्य प्रसंग तो है किन्तु उसका लक्ष्य अपने पाठकों में वैचारिक ऊहापोह के माध्यम से सामाजिक मूल्यों और कला-मूल्यों पर नये सिरे से बहस की तैयारी करना है।

परसाई को पढ़ते हुए यह बात बार-बार दिमाग में उठती है कि हम व्यंग्य के माध्यम से कुछ निहायत जरूरी सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों की दमदार बहस में शामिल हो रहे हैं। जिनकी ओर ध्यान देने तक की फुर्सत हमें नहीं थी, वे समस्याएँ ही हमारे लिए फिलहाल मौजूँ हो उठी हैं। प्रश्न चाहे बेरोजगारी का हो चाहे अभिनंदन का, भारतीय पुलिस के चरित्र और व्यवहार का हो, चाहे साधु-महात्माओं द्वारा चलाये जाने वाले गोहत्या विरोधी किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक आन्दोलन का—सर्वत्र एक-सी जागरूकता इस लेखक में मिलती है। ऐसा नहीं कि यह लेखक बड़ी-बड़ी राजनीतिक और धार्मिक समस्याओं को ही अपने विषय के रूप में स्वीकार करे। प्रेमचंद की तरह परसाई भी जन-सामान्य को अपना विषय बनाते हैं। इस दृष्टि से परसाई की संवेदनात्मक ऊर्जा असाधारण है। गंभीर और शाश्वत विषयों पर लिखने वाले तो खैर छोटी-मोटी बातों पर ध्यान ही क्यों देंगे—हास्य-व्यंग्य और हल्का फुल्का साहित्य लिखने वाले भी हमारे सामाजिक जीवन के उन विषयों को पकड़ नहीं पाते, जिन्हें परसाई जैसे लेखक पकड़ लेते हैं। बहुत पहले उनके कुछ व्यंग्य-लेख 'नयी कहानियाँ' में प्रकाशित हुए थे—कभी निठल्ले की डायरी कालम के अन्तर्गत कभी उलझी-सुलझी शीर्षक से। उनमें से एक का शीर्षक था—'एक सुलझा आदमी'। इसमें उन लोगों को निशाना बनाया गया है जो विकास की आधुनिक गति को इस युग की देन मानने को तैयार नहीं हैं और पश्चिमी विज्ञान से जिन्हें घनघोर वितृष्णा है। लेख पढ़ने पर हमें ऐसे लोगों की सांस्कृतिक बेईमानी, हठधर्मी और ईर्ष्या का पता लगता है, साथ ही उनकी प्रचण्ड मूर्खता का सबूत भी मिलता है। अपने देश में ऐसे जड़-विचारकों (?) की एक भरी-पूरी दुनिया है। वस्तुत. परसाई की संवेदना चयन या बँटवारे में विश्वास नहीं करती। पंत की तरह वह कोमल सौन्दर्य की सीमाओं में कैद नहीं है न ही अज्ञेय की तरह अभिजात शिल्प की ही मुँहताज है। सौन्दर्य के बाजार में अगर इसे खड़ा किया गया तो ग्राहकों के लाले पड़ जायेंगे। पर यही संयोग से आपको अपनी रोजमर्रा की जिंदगी की याद आ

जाय और आप वन के फूलो, तितलियो के पखो, घाटी मे दुरते और प्रकट होते खिलाडी मेघो अथवा शिखर-शैलानियो के करतब से ऊब उठें तो उल्टे पाँव भाग-कर परसाई के यहाँ आना होगा—अपने राष्ट्र और स्वय के चेहरे को पहचानने के लिए, धर्म, नीति, सस्कृति और कला की दुहाई देने वाली सामाजिकता के ठीक बीचोबीच बेइतिहा गरीबी, बदमाशी, कट्टर जातिवाद, कठमुल्ली साम्प्रदायिकता, राष्ट्र-विरोधी प्रादेशिकता, भाषावाद, मानसिक गुलामी, राजनीतिक भ्रष्टाचार, अधविश्वासप्रियता, स्वार्थपरता और गहरी किस्म की चालाकी और धूर्तता की खतरनाक साजिशो स आँखें चार करने के लिए और मानना पडेगा झख मार कर कि यह एक व्यग्यकार का कल्पना-जगत नही, हमारी ही अपनी असली दुनिया है, जिसके निर्माता भी हमी है और शिकार भी। परसाई निर्मल वर्मा किस्म के मार्क्सवादी नही है जिनका लेखन 'रोजमर्रा की जिन्दगी से अलग और दूर' तथा 'परिष्कृत भावुकता मे आक्रात' है। वे निर्मल वकौल कृष्णा सोबती 'यथार्थ से अलग एक और दूसरी दुनिया बना डालने की सामर्थ्य रखते है' किन्तु अपनी ही गली मे थुथनी उठाये घूमते सूअरो को नही देख पाते। विपरीत इसके कृष्णा सोबती की आकाक्षा पूरी करते है। परसाई जिनका लेखन हमारी यथार्थपूर्ण जिन्दगी का नगा दस्तावेज है।

सवाल फिर खडा होता है कि इस दस्तावेज की कलात्मक हकीकत क्या है? क्या सचमुच इसमें कोई कला है या यह एक नगी कपडाफाड शैली है जिसकी एक तात्कालिक उपयोगिता और माँग तो जरूर है किन्तु कालान्तर मे हश्र बुरा होने वाला है। कविता मे नागार्जुन और गद्य मे परसाई जैसे लेखको के शब्द-कर्म पर यह शका सहज ही मन म उठती है। नागार्जुन तो खुलेआम यह मानते हैं कि अखबारी रचनाओ की उम्र बहुत लम्बी नही है और यह लेखक इस रहस्य से अपरिचित हो—सो बात भी नही। परसाई का भी एक बडा हिस्सा तात्कालिक जरूरतो के तहत पैदा हुआ है और ज्यो-ज्यो उसका मकसद पूरा होगा—उसकी उम्र खतम होती जायगी। किन्तु जो यथार्थ के तात्कालिक सन्दर्भो को पार करता हुआ ऐतिहासिक विकास-क्रम का अग बन चुका है, उसके बचे रहने मे किसे सन्देह होगा!

परसाई की रचनाओ पर गौर करने पर पता लगता है कि कुछ कहानियाँनुमा व्यग्य-कृतियाँ हैं और कुछ निबधनुमा व्यग्य जिनमे दो व्यक्ति परस्पर वार्तालाप मे सलग्न हैं। वार्तालाप की यह शैली पूर्व और पश्चिम दोनो ही परम्पराओ मे अति प्राचीन है। 'खट्टर काका' म हरिमोहन झा ने इस शैली को लोक प्रचलित कर दिया है। किन्तु खट्टर काका मे तर्क और विचार-प्रौढता ही सब कुछ है। परसाई फब्ती कसते और चुटकी लेते हुए चलते हैं। वे व्यक्ति को सिरे से नगा करते हैं पर उसके कपडे कही उतरते दिखाई नही देते। अश्लील हास्य मे उनकी कोई रुचि नही। काका हाथरसी और निर्भय हाथरसी के हास्य की मूल जमीन हमारी सहज मूर्खता है। ये लोग मूर्खता को हास्य का विषय बनाते हैं। परसाई

के हास्य का कारण समकालीन आदमी की बेढब चतुराइयाँ है। वे मूर्खता की खोज मे निकले हुए कवि जन है और यहाँ चालाक बदमाशियो की टोह मे चिन्ता-ग्रस्त एक लेखक है। मूर्खता हँसकर टाल देने की बात हो सकती है पर बदमाशी भी अगर हँसकर टाली गयी तो हद है। परसाई को पढते हुए हमे खतरे की यह घण्टी लगातार बजती हुई सुनायी देती है। यही वह क्षण होता है जब लेखक *अपने मकसद के साथ हमारे सामने उपस्थित हो जाता है—*

उनकी एक रचना है 'बिना टिकिट का मुसाफिर'—बीच का एक प्रसग इस प्रकार है—"हर धधा हर वक्त नही चलता। धन्धे जमाने के साथ बदलते जाते हैं। जो पहले खादी बेचते थे, अब खादी का परमिट बेचते है। तब भी गाधीवादी थे, अब भी गाधीवादी। काला बाजार करेंगे, तो खादी भडार के कबलो का – मिल के कबलो का नही। गबन करना होगा, तो किसी राष्ट्रीय सस्था मे करेंगे। सिद्धान्त नही छोडते, पर सिद्धान्त वही रहते हुए भी धधे बदल जाते है।" (नयी कहानियाँ, जुलाई 66) यही है जनता को आगाह करने वाली भाषा। सवाल यह है कि लेखक किसके प्रति समर्पित रहे ? निर्गुण आदर्शो के प्रति या भोली जनता के प्रति ? परसाई दूसरे के प्रति समर्पित है। इसी समर्पण भाव से पहले के प्रति भी दायित्व सपन्न हो सकता है—अन्यथा दोनो मे से किसी के प्रति कुछ न किया जा सकेगा। सच्चा लेखक वह नहीं है जो उच्च मानवीय मूल्यो को अपने शब्दो की पिटारी मे भरता है, बल्कि वह है जो उन शब्दो के माध्यम से चालाक और खूँखार व्यवस्था से निपटने म कमजोर किन्तु साहसिक लोगों की मदद करता है। परसाई का रचना-कर्म इस दृष्टि से काफी उपयोगी और दमदार है। वह हम ऊँचे आदर्शों और अतीन्द्रिय सुन्दरताओ के *लोक मे बहकाकर ले जाने के बजाय हमारा सामना इसी दुनिया से कराता है,* जिसमे हम रह रहे हैं। यह उनके यथार्थवादी लेखन की पहली विशेषता है। किन्तु वे हमे यहाँ लाकर अकेला नही छोडते। उन मूल्यों के प्रति हमारी रुचियो को उभारते हैं जिनसे नयी सामाजिकता की रचना होनी है। तीसरे बिन्दु पर वे हमम अधिकार-बोध जगाते हैं जिसे हम युयुत्सु भाव भी चाहें तो कह सकते हैं। 'चूहा और मैं' शीर्षक कहानी मे उन्होने हिंसक युद्ध को भी वर्तमान परिस्थितियो मे स्वीकार लिया है क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि—अपने जमाने मे सत्याग्रह, हृदय परिवर्तन, सर्वोदय, अहिंसक मार्ग की बडी-बडी बातें सुनी जाती हैं। एक लगभग सन राजनीतिज्ञ वर्ग सघर्ष की बात भी करते हैं--मगर अहिंसक वर्ग-सघर्ष। इस अहिंसक वर्ग-सघर्ष का एक ही छोटा नमूना वे पेश कर देते। इस सारे वितडावाद मे मुझे चूहे का ऐक्शन प्रभावित कर गया—हिंसा, अहिंसा, हृदय-परिवर्तन, ट्रस्टीशिप, सर्वोदय सब फालतू हैं। सिर पर चढकर, सिर को ठोककर रोटी ले सको तो ले लो, वरना भजन करते मर जाओ। गलत होऊँ या सही पर इस स्पष्ट सघर्ष के बिन्दु पर मैं आदमी को देखना चाहता हूँ।"

परसाई के लेखन की यही वैचारिक जमीन है। मोटे तौर पर उनकी पहचान

एक कम्युनिस्ट लेखक के रूप में की जायगी, पर उनकी चिंता और गांधीवादियों की चिंता में कोई फर्क नहीं है। फर्क अगर है तो परिवर्तन लाने वाली शैलियों में है। एक का रास्ता हिंसा से होकर गया है तो दूसरे का अहिंसा और सत्याग्रह से। पद्धतियों की इस भिन्नता से एक को राष्ट्रीय और दूसरे को अराष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता। यों तो लोकमंगलवादी तुलसीदास भी क्षात्रधर्म का अनुसरण करते हैं, इस आधार पर उन्हें हिंसावादी ही कहा जायेगा और धर्मराज युधिष्ठिर भी इसी धारणा के शिकार होकर निष्कर्ष रूप में अराष्ट्रीय कहे जायेंगे। प्रश्न यह नहीं है कि एक लेखक सामाजिक बदलाव के लिए किस पद्धति-विशेष की सिफारिश करता है। यह बहुत कुछ उसकी अपनी व्यक्तिगत रुचि और धारणा की भी देन होती है। किन्तु सर्वोपरि प्रश्न यह रहता है कि उक्त लेखक की चिन्ता का संबंध राष्ट्र के किस समुदाय या वर्ग से है? क्या वह अपने लेखन के माध्यम से एक खास प्रकार के सुविधाजीवी अवसर परस्त सत्तावादी वर्ग का समर्थन कर रहा है या उनकी रक्षा के उपाय जुटा रहा है? क्या उसकी रुचि विगत समाज की मृतप्राय रीतियों को संजीवनी पिलाने में है या वह निरंतर चौकस होकर चीजों, लोगों और घटनाओं के पीछे छिपे हुए असली मकसद को नंगा कर रहा है? और इस करने के पीछे उसकी सांस्कृतिक जिम्मेदारियों का कितना हाथ है? परसाई इस रूप में एक सामाजिक-समीक्षक सिद्ध होते हैं। कबीर की तरह वे सामाजिक रूढ़ियों और रीतियों की कठोर आलोचना करते हैं। समीक्षक का काम केवल बुराइयों को देखना या उभारना भर नहीं है, उन पर विचार करना भी है। इस विचार करने से ही हम समझ पाते हैं कि लेखक चाहता क्या है? उसकी रुचि के मुद्दे कौन-कौन से हैं और उन मुद्दों पर वह कितना जोर दे पा रहा है? स्पष्टतः परसाई की रुचि सामाजिक वास्तविकताओं की विभिन्न परतों को खोलना भर नहीं है बल्कि उनके विषय में आम सामाजिक राय का निर्माण करना भी है। यही उनके व्यंग्य-लेखन की सफलता है।

इसी वैचारिक पीठिका पर परसाई का लेखक अपना संस्कार-ग्रहण करता है। यही सामाजिक वास्तविकता उनके लिए कच्चे माल का काम करती है। उदात्त और भव्य सुन्दर और कोमल, नफीस और लजीज के बदले वे सामान्य और ठोस वास्तविकताओं से टकराते हैं। उनका सौन्दर्यबोध उस क्षोभ और व्यंग्य में निहित है, जो किसी सामाजिक बेडौलपन के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। चरितनायकों वाले महाकाव्यों अथवा उपन्यासों के नायकों पर परसाई आश्रित नहीं हैं। वे आम आदमी के गुस्से पर अपने सौन्दर्य का महल तैयार करते हैं। उसकी परेशानियों की बगल में खड़े होकर वे पड़ोसी की तरह बतियाते हैं। आत्मविश्वास और प्रेषणीयता की हदों को छूते हुए उनका रचना-कर्म यह सवाल पूछने को विवश करता है कि जीवन और साहित्य की दूरी कितनी है? पर दूरी तो है, जिसे तय कर पाने के लिए ही लेखक निरंतर प्रयत्नशील है।

यह कम मजेदार रहस्य नहीं है कि जहां से उच्चकोटि का संवेदनात्मक

साहित्य पैदा होता है, वही व्यग्य-लेखन का भी उत्स है। प्रेम और करुणा दो ऐसी ही भावभूमियाँ है। आदर्शो की ओर बढ जाने वाली भावाकुलता भी इसी गगात्री से फूटती है और सूक्ष्म विश्लेषण और प्रहार-मुद्रा का जन्म भी यही होता है। बिना प्रेम के व्यग्य-लेखन सभव ही नही। किंतु इसमे इतना ही और जोडना बाकी रह जाता है कि यह प्रेम शहीद हो जाने वाले देशभक्तो या दीवानो का न होकर उनका है जिन्होने इसे मात्र सस्कारत प्राप्त नही किया है, बल्कि अनेक तर्क-वितर्को के बाद अर्जित किया है। अत इसको आसानी से न तो पचाया जा सकता है, न ही अस्वीकार किया जा सकता है। इसमे शामिल होने के खतरे है और वे जगह-जगह पर है। क्योकि इसम सिर्फ भावना का अर्घ्य देकर छुट्टी नही पायी जा सकती। खतरे मोल लेकर ही इसे चरितार्थ किया जा सकता है। ठीक यही स्थिति करुणा की भी है। शुक्ल जी ने बहुत साफ शब्दो मे कहा है— करुणा सेंत का सौदा नही है, और इसे परसाई के लेखन को पढते वक्त अनुभव किया जा सकता है। जिन लेखको को व्यवस्था से ऊँचे पुरस्कार अर्जित करने है, उन्हें व्यवस्था की त्योरियो का भी खयाल रखना पडता है। कैरियर और ईमानदार साहसपूर्ण लेखन मे फर्क करना पडता है। अपने और देश के बारीक रिश्तो को हर खतरनाक क्षण मे प्राथमिकता देनी पडती है। अन्यथा ऐसे अवसरो की कमी कभी नही रहती जब सत्ता लेखक को अपने पक्ष म फुसलाने की कोशिश करती है और लेखक यह कहने पर विवश हो उठता है कि "हमारा कोई ठिकाना नहीं कि हम कब क्या कह बैठें ?" इसलिए कोई भी राजनीतिक दल हो या सत्ताधारी पुरुष हो, 'प्रतिबद्ध लेखक' की राजनीति जन-आकाक्षाओ से जुडी रहती है और वही से निर्देश प्राप्त करती है। खतरे उठाने का साहस भी वही से चलकर आता है। परसाई खतरे उठाकर मौज लेते चलते हैं। अपने प्रतिद्वन्द्वी को पटकनी पर पटकनी देते चलते है, और उनकी यही दृश्य-योजना सारे विवरण को रोचक और सम्प्रेष्य बनाती चलती है। मूलत गुस्सैल होने पर भी वे आग-बबूला कही नही होते। सामने वाला भले ही खूँटा-पगहा तुडाकर डकरने लग जाय, पर लेखक विचलित नहीं होता। मौका पाते ही वह 'इलेक्ट्रिक शॉक' मारता है और आगे बढ जाता है। यही परसाई का सृजन-धर्म है। उसकी रीढ गहरी बौद्धिक है। लिजलिजे भावुक अदाज मे प्रेम की सतही कविता तो लिखी जा सकती है, पर व्यग्य-रचना सर्वथा असभव है। उसके लिए जरूरी है पैनी निगाह, सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण और सामाजिक जीवन शैलियों की व्यापक पहचान। परसाई इन बातो के धनी हैं, अन्यथा यह सब किसी के भी बूते के बाहर हो सकता है।

इस सम्पन्नता के सहयोग से परसाई हमारे आस्वाद-सस्कार को भी बदलते दिखाई देते हैं। वे हमे नये सिरे से हँसना और गुस्सा करना सिखाते है। रावण और कस या नारदमोह जैसे प्रसग अब हमारे सामने नहीं हैं। हमी अपने लिए रावण-कस और नारदवत हैं। इसलिए परसाई हमारे चेहरे को ही प्रतिबिम्बित

करते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या कोई लेखक हमारी सौन्दर्य-रुचियों और संस्कारों को बदल सकता है ? क्या यह भी उसकी सृजनगत जिम्मेदारी है ? दोनों ही प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में है। समाज-व्यवस्था के साथ-साथ मनुष्य का भीतरी जगत भी बदलता है और उसे अपने संस्कारों में हेर-फेर करनी पड़ती है। इतिहास के इस दौर में लेखक की यह जिम्मेदारी है कि वह इस भीतरी परिवर्तन को पकड़े और नयी रुचियों और मर्यादाओं के सन्दर्भ में नयी मंजिलें तय करें। परसाई जैसे लेखक इसी ओर बढ़ रहे हैं।

—विजय बहादुर सिंह

कलम का प्रतिबद्ध सिपाही

परसाई जी को मैंने उनके व्यंग्य साहित्य के माध्यम से जाना है। उनको पहले कम पढने की तरह पढता था, लेकिन जब आर०एस०एस० वाला ने इनकी घातक पिटाई की थी, तब इन्हें गम्भीरता से 'आदम', 'कबिरा खडा बजार में', 'मैं कहता आँखिन देखी' और 'माटी कहे कुम्हार से' स्तम्भों के अन्तर्गत विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पढने लगा। मट्सूसा – यह आदमी आदमी के साथ जीता है। और, भोगे हुए समय के सत्य तथा जनाकाक्षाओं के तेवर को जीवन के द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोधों की वैज्ञानिक प्रक्रिया में एक साहित्यकार के रूप में मोर्चा मानकर लिखता है। वर्तमान जीवन की त्रासक विसंगतियों के प्रति इनके मन में इस हद की घृणा का विकास हो गया कि वर्तमान व्यवस्था, जो इसके लिए पूरी तरह जवाबदेह है, के प्रति अस्वीकार में इनके स्वर प्रतिबद्ध, परिवर्तन कामी हो गये हैं। इस हद तक, कि इनके एक एक शब्द आक्रमण बन गये। इसीलिए इनके लेखन का मुख्य आधार साहित्यिक विधाओं में व्यंग्य बन गया, जिसमें अपने मन की ज्वालामुखी को जन चेतना तक जोडने का इनको पूरा-पूरा रास्ता मिला। इनके आलेखों में भारतीय समाज का ऐसा परिवेश मिलता है, जो सामाजिक रूप में इतना सत्य, इतना जीवंत लगता है कि जैसे इनके आलेख आलेख न होकर, भारतीय स्वतन्त्र समाजवादी गणराज्य के व्यंग्य चित्र हों। भारतीय राष्ट्रीय व्यवस्था, नव उत्थानवादी कला-संस्कृति, ह्रासशील शिक्षा, इस्तेमाल की पतनशील राजनीति, जैसे सबके सबको इन्होंने जनता की अदालत के कटघरे पर लाकर खडा कर दिया हो।

ऐसा इसलिए कि जहाँ उन्होंने सामाजिक सत्य को अपने आलेखों में परिवेश की मौलिकता की हद तक अभिव्यक्त किया है, वहीं इस सत्य के रूपातरण की प्रक्रिया में व्यावहारिक तौर पर शोषित-पीडित परिवर्तन का भी लोगों के संघर्षों में कदम से कदम मिलाकर बढने के लिए अपने को प्रतिबद्ध समर्पित भी कर दिया है। इसीलिए इनके स्वर इनके तेवर मात्र इनके नहीं परिवर्तन कामी सम्पूर्ण शोषित-पीडित भारतीय जनता के हैं, क्योंकि सामाजिक पृष्ठभूमि में इनकी प्रतिबद्धता जनाधार पाती है और इनकी, इच्छाएँ केवल इनकी नहीं, जनता की होती है और सम्मिलित व्यावहारिक आयाम तय करती हुई परिवर्तन की बुनियाद-सी देती दिखाई पडती है। क्योंकि इनकी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता और इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान की व्यावहारिक पृष्ठभूमि है इसीलिए कि "किसी ज्ञान या सिद्धान्त की सच्चाई का

निर्णय हमारी मनोगत भावनाएँ नहीं करती बल्कि सामाजिक व्यवहार के वस्तुगत परिणाम करते है।" (माओ, व्यवहार के बारे मे)। अगर व्यवहार मे इन्होने अपने आपको परिवर्तन कामी जनता के प्रति प्रतिवद्ध समर्पित नही किया होता। तब लाख सैद्धान्तिक बुनियाद के बावजूद इनकी रचनायें सूपर स्ट्रक्चर की होती जीवन की सच्चाई और जनाकाक्षाओ के मौलिक तेवर की इनकी रचनाओ मे जमीन ही नही होती। क्योंकि "इन्द्रिय ग्राह्य ज्ञान और बुद्धि-मगत ज्ञान के बीच गुणात्मक अतर होता है व्यवहार के आधार पर उनके बीच एकता कायम होती है।" (माओ, व्यवहार के बारे म)। जिनका सम्बन्ध समाज से व्यवहार मे जुडकर नहीं होगा, उनकी रचनाओ मे सारत्व की जगह निराला, कुठा, अपरिपक्वता और सैद्धान्तिक लफ्फाजियाँ ही हो सकती है। कदम दर कदम चलकर परिपक्व होने सकल्पो क तेवर नही। कमरे मे वद होकर अखबारो के समाचार पर चेतना को रडार बनाकर उत्पन्न सवेदनाओ के आधार पर कल्पित परिवेश को अभिव्यक्त करने वाल ड्राइग रूपी लेखक सामाजिक सच्चाई की जमीन तक पहुँच ही नही सकते। इसलिए वस्तु के मूल अतर्विरोधो से कटा हुआ उनका लेखन जनता की चीज हो ही नही सकता। इसलिए कि व्यवहार म वे जनता के नही हो सकते। लेनिन और स्तालिन भी अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन अपनी प्रतिभा के अलावा मुख्यत अपन समय के वर्ग-सघर्ष और वैज्ञानिक प्रयोगो के अमल मे व्यक्तिगत रूप से भाग लेने के कारण ही कर सके। भारतीय सामाजिक जीवन से जुडकर परसाई जी ने व्यावहारिक आयाम तय किये है। इसीलिए इनकी रचनाओ मे हम वस्तु के द्वन्द्व का क्रमिक विकास दखते हैं। व्यक्तिगत तौर पर इनकी व्यावहारिक भागीदारी का ही प्रमाण है कि इन्हे इसके परिणाम भी भुगतने पडे कि आक्रमण के शिकार भी इन्ह होना पडा। किसन इन पर आक्रमण किये? उत्तर की सार्थकता ही इनकी जातीय बुनियाद और प्रतिवद्धता, व्यावहारिक सामाजिक मूल्य और उनके सस्कारो की कसौटी है। क्योंकि मनुष्य का सामाजिक व्यवहार ही बाह्य जगत के बारे में मानव ज्ञान की सच्चाई की कसौटी है। 'जैसे जैसे सामाजिक व्यवहार की प्रक्रिया चलती रहती है, वैसे वैसे उन वस्तुओ की अनेक बार पुनरावृत्ति होती है जो व्यवहार की प्रक्रिया मे मनुष्य की इन्द्रिय सवदनाओ और सस्कारो का उत्पन्न करती है।' (माओ, व्यवहार के बारे मे)। भारतीय जनता से जुडकर उनके सघर्षो म परसाई जी की भागीदारी का वस्तुपरक इजहार इनका लेखन ही करता है। इनका एक-एक आलेख भारतीय जन जीवन का ऐतिहासिक दस्तावज है। मेरा उनके प्रति फर्जी उद्गार नही, उनके लेखन की सच्चाई है। प्रमाणस्वरूप हम उनके केवल एक आलेख पर भी विचार करके उनकी प्रतिवद्धता और उनके वस्तुपरक चिंतन की जाँच-पडताल कर सकते हैं।

भारतीय जन-जीवन पर विचार करन के क्रम म सबसे पहले बिचारणीय वस्तु होगी—भारतीय जनता की राजनीतिक उपलब्धि। तब हम सबसे पहले आलोच्य वस्तु अपनी 'स्वतन्त्रता' पर विचार करेंगे। हमारा यह देश राजनीतिक

शब्दावलियो मे 'स्वतन्त्र समाजवादी गणराज्य' घोषित है। इस स्वतन्त्रता के बारे मे परसाई जी की क्या मान्यता है, व्यक्तिगत, या जनता का प्रतिमूर्त ? हमे इस उपलब्धि का क्रमिक विकास और जनेच्छाओं की पृष्ठभूमि मे परसाई को देखना होगा। भारत के औसत आदमियों की तरह वे भी इस स्वतन्त्रता के मूल्यों मे प्रभावित रहे है और एक सचेत प्राणी की तरह इसके बारे मे सोचते रहे हैं। उनके इसी सोच का लेखा-जोखा है उनका—'ठिठुरता हुआ गणतन्त्र'। वे इस ऐतिहासिक उपलब्धि 'गणतन्त्र' के बारे मे दो टूक शब्दों मे कहते है कि इसकी सालगिरह के उपलक्ष्य में मनाये जाने वाले जलसे को पाँचवी बार देखने की उनकी हिम्मत नही हुई। क्यो ?

आजादी के पूर्व अंग्रेजी साम्राज्यवादी शोषण के विरुद्ध उठी आवाज को मुक्ति संघर्षो मे च्युत कर दलाल भारतीय पूँजीपति वर्ग के हक मे राजनीति करने वाले राजनीतिज्ञो ने अहिंसक रास्ते पर मोड दिया। उनके पास मोहक नारे थे। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के चगुल मे फंसे 'सूरज' को मुक्त कर, पिंजडे मे बन्द तोते की तरह भारतीय जनता को आजाद करने का। सशस्त्र संघर्ष के जरिये जालिम साम्राज्यवाद से मुक्ति चाहने वाले जनता के पक्षधर नेताओ के बीच राजनीतिक अंतर्विरोध उत्पन्न हो गया। इन्हे इन आदर्शवादी नेताओ की आदर्श मुखबिरी के चलते साम्राज्यवादी दलन का शिकार होना पडा। इनका एक हिस्सा इसकी प्रतिक्रिया मे टूट कर इतना प्रतिगामी हुआ कि हिटलर से जा मिला। अन्ततः भारतीय राजनीति इनके इशारो पर अपना रास्ता तय करने लगी।

द्वितीय विश्व-युद्ध मे अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जन और धन की इतनी क्षति हुई कि इसकी कमर ही टूट गयी। औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध उठी आवाजो को दबाने की उसकी ताकत द्वितीय विश्व-युद्ध मे इस हद तक चूर-चूर हो गयी थी कि वह दिवालिया हो गया था। उसके साम्राज्यवाद से मुक्त होने के लिए इसके तमाम उपनिवेशो से एक जुट आवाजें उठने लगी थी। मजबूरन इसे इनको स्वतन्त्र करने के लिए रजामद होना पडा था। इसने इन उपनिवेशो को हाथ से निकलता देख समझौते के रास्ते को चुना। भारतीय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता भी सामाजिक क्रांति के जरिये नही बल्कि साम्राज्यवाद विरोधी दलाल भारतीय पूँजीपति वर्ग से साम्राज्यवादी शर्तों पर हुए समझौते का परिणाम है। इसीलिए भारत मे स्वतन्त्रता के बाद भी साम्राज्यवाद के नियत्रण मे उसकी शर्तों मे बँधी मदद से जिस पूँजीवाद का जन्म हुआ वह दलाल पूँजीवाद है। हमारी यह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता जनता के लिए नहीं, भारतीय पूँजीवाद के विकास के लिए मिली। भारतीय स्वतन्त्रता का तीस वर्षों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा विध्वस भारतीय सामाजिक-व्यवस्था को सुव्यवस्थित करने के लिए कुछ भी नही किया गया। भारतीय जनता के शोषण का आधार अब तक वही साम्राज्यवाद द्वारा निर्मित सामतवाद है।

भारत को निर्यातक से आयात करने वाला बाजार बनाने के लिए अंग्रेजों ने जिस हृदय-हीनता से यहाँ की सामाजिक व्यवस्था को चकनाचूर कर दिया वह विश्व-इतिहास में साम्राज्यवादी दानवीयता का काला अध्याय है। पुरानी सामाजिक व्यवस्था को तोड़कर देश की सम्पूर्ण कृषि पर अपना स्थायी पंजा जमाने और देशी उद्योगों को पूरी तरह चौपट कर भारत में भविष्य में भी मशीनी उद्योग के विकास की सम्भावना को रोकने के लिए अंग्रेजों ने 1793 में भारत की देशी रियासतों के घनघोर प्रतिक्रियावादी निरंकुश शासकों के साथ गाँठ जोड़कर स्थायी बन्दोबस्त को चालू कर जमीन को खरीद फरोख्त की वस्तु बना दिया। कि निरन्तर बढ़ती लगान के बोझ से त्रस्त अलाभकर खेती करने वाले लोग कालांतर में भूमिहीन बनते चले गये। यह प्रक्रिया स्वतन्त्रता के बाद भी पूर्ववत् ही है। हाँ, सामंतवाद का वह रूप थोड़ा बदला जरूर, लेकिन उनके चरित्र में कोई फर्क नहीं आया है। जहाँ देश के मुट्ठी-भर पूंजीपतियों ने सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को अपने हाथ की कठपुतली बना लिया है, वहीं देश की सम्पूर्ण खेती होने *लायक जमीन का 53% हिस्सा 10% मुट्ठी भर सामंत बड़े* किसानों की मिल्कीयत है।

इस स्वतन्त्रता के बाद भी जीवन निर्वाह-स्तर से नीचे जी रहे सम्पूर्ण *आबादी के 72% लोगों, 2 करोड़ मजदूरों, 60 लाख बाल मजदूरों, 4 करोड़* के आस-पास शिक्षित-अशिक्षित बेकारों और ग्रामीण आबादी के 45 करोड़ लोगों में से 18 करोड़ भूमिहीनों की बेहतरी के लिए कुछ भी नहीं होता देख, परसाई जी को इस गणतन्त्रता दिवस के जलसे निहायत ही औपचारिक क्षद्म-से लगते हैं। और, इसमें शामिल होने की उनकी हिम्मत नहीं पड़ती। इसके सम्बन्ध में उनकी राय भारतीय सचेत जनता से रंच भी अलग नहीं। वे कहते हैं—"जैसे दिल्ली की अपनी अर्थ-नीति नहीं है, वैसे ही अपना मौसम भी नहीं है।" वैसे इस मौसम को बदलने के लिए हर गणतन्त्रता दिवस पर सत्ता नेताओं के लम्बे-चौड़े भाषण होते हैं लेकिन यह अब तक नहीं बदला। जनता को सूरज देने का अर्थात् समाजवाद लाने का उनका वादा अब तक भाषणों तक ही रहा है। इसके लिए पहली सरकारें मोरार जी ग्रुप के सिर पर सारा दोष थोपती हुई *'गरीबी हटाओ' का नारा देती थी। अब मोरार जी भाई का ग्रुप इसका पूरा दोष* इन्दिरा जी ग्रुप के सिर पर मढ़ते हुए 'अन्त्योदय' और 'समग्र क्रान्ति' का नारा दे रहे हैं। लेकिन जनता की खुशहाली अर्थात् इस समाजवाद की स्थापना में सामाजिक रूपान्तरण की बुनियाद के लिए कुछ भी नहीं कर रहे। केवल जनता की हजामत के लिए इस समाजवाद के नाम पर कुछ देने की जगह सत्ता के और सौ वर्ष में बढ़कर 10 वर्ष और माँगने लगते हैं। इस पृष्ठभूमि में परसाई जी को इस स्वतन्त्रता पर ही संदेह होने लगता है। उनकी नजर में स्वतन्त्रता का पूरा इतिहास साफ जाता है और वे समझौते के जरिये मिली इस स्वतन्त्रता की जड़ में *अंग्रेजों की कपट का भंडाफोड़ करने लगते हैं—"अंग्रेज बहुत चालाक हैं। भरी*

बरसात में स्वतंत्र करके चले गये। उस कपटी प्रेमी की तरह भागे, जो प्रेमिका का छाता भी ले जाय। ......" कितनी अर्थपूर्ण, कितनी वस्तुपरक बातें हैं परसाई जी की य ! हमें आजादी के नाम पर निराश्रय के सिवा क्या मिला ? उस छाता-चोर अंग्रेजों ने हमें ऐसी स्वतन्त्रता दी कि उसके दलालों का इस देश म आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास उत्तरोत्तर होता गया, लेकिन हमारी देह पर की लँगोटी भी पतली ही होती चली गयी। क्योंकि आजादी के बावजूद वह साम्राज्यवादी शोषण का आधार नहीं बदला, रूप जरूर बदले। इसमें भारतीय जनता को क्या मिला ? भारतीय पूँजीवाद का भी तो बुनियादी चरित्र वही है। इस विरासत को बदले बगैर आखिर जनता को मिल ही क्या सकता ! अंग्रेजों से विरासत में मिला भारतीय पूँजीवाद का भी उत्पादन-सम्बन्ध उतना ही दानवीय है। इस पृष्ठभूमि में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल की छठी कांग्रेस में स्वीकृत दस्तावेज की वह बात कि साम्राज्यवाद "सब से पहले बहु-सख्यक जनता के खिलाफ पुरानी समाज-व्यवस्था के शासक वर्गों—सामंती जमींदारों और व्यापारी व सूदखोर पूँजीपतियों के साथ गँठजोर कायम कर लेता है। साम्राज्यवाद हर जगह (विशेष कर देहातों में) पूँजीवाद से पहले के शोषण के उन तमाम रूपों को सुरक्षित रखने और स्थायी बनाये रखने का प्रयत्न करता है, जो उसके प्रतिक्रियावादी सश्रयकारियों के अस्तित्व के लिए आधार का काम देते हैं।" भारतीय वर्तमान सामाजिक सदर्भों में यह अक्षरश: सही दीखता है। हम स्वतंत्र तो हुए, लेकिन शोषण के वे तमाम साम्राज्यवादी आधार अब तक प्रकारांतर में ज्यों के त्यों ही हैं, और साम्राज्यवाद के सश्रयकारी भारतीय दलाल पूँजीवाद के अस्तित्व के आधार बने हुए हैं। क्योंकि 'फूट डालो और राज्य करो !' अंग्रेजों के सिद्धान्त को इस दश के दलाल पूँजीवाद ने तथाकथित गणतंत्र राजसत्ता के साये में अब तक जिन्दा रखा है। इस स्वतंत्र नाम के भारतीय उपमहाद्वीप में आदमी आज भी आदमी नहीं, हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, बैकवर्ड, फारवर्ड और हरिजन है। इनके बीच कौमी उन्माद फैलाकर दंगे अब भी हो रहे हैं कि जनता की नजर अपने शोषण की ओर नहीं जाये। और इनका शोषण—मुनाफाखोरी, महँगाई, मंदी, विकास-कार्यक्रम के अन्तर्गत झूठे मस्टर रोल पर झूठे अँगूठे के निशान बनाकर बिल निकाल लेने के क्रम में चालू ही रहे। सच पूछा जाय तो अब तक चालू ही है। लेकिन हर गणतंत्रता दिवस समारोह में राजसत्ता की ओर से, विकास कार्यों, उन्नत जन-जीवन, गौरवशाली इतिहास और कला-संस्कृतियों की फर्जी रंगीन झाँकियाँ दिखायी जाती हैं। इस पृष्ठभूमि में परसाई जी की त्रिकाल दृष्टि से कुछ भी नहीं छिप पाता। राज-सत्ता के पूरे क्षय, उसके पूरे दोगले चरित्र को उधेड़कर इन शब्दों में रख देते हैं—'गणतंत्र समारोह में हर राज्य की झाँकी निकलती है। ये अपने राज्य का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। 'सत्यमेव जयते' हमारा मोटो है मगर झाँकियाँ झूठ बोलती हैं।......यह कितना बड़ा झूठ है कि कोई राज्य दंगे के कारण

अतर्राष्ट्रीय ख्याति पाये, लेकिन झांकी सजाये लघु-उद्योगों की। दगे से अच्छा तो गृह-उद्योग इस देश में दूसरा है नहीं।" इस झूठ के विरुद्ध जनता का अन्तर्विरोध बढ़ने लगा। इस अन्तर्विरोध को आधार मानकर इस देश की राजनीतिक पार्टियाँ अपने जन-संघर्षों का कार्यक्रम तय कर जनवादी हकों के लिए संघर्ष की दिशा में प्रयत्नशील हुईं। इस तथाकथित प्रजातन्त्र की आड़ में विकास कर रहे पूँजीवाद के कान खड़े हो गये और राजनीति में छद्म नारे, छद्म घोषणाओं का क्रम शुरू हुआ। सत्ता दल भी एक से एक नारे देने लगा। एक से एक घोषणायें करने लगा। लेकिन शोषित पीड़ित जनता पर इस चकमे का कोई खास असर नहीं हुआ। बिहार में रेवड़ा का ऐतिहासिक भू-संघर्ष, जिसमें इस देश के महान इतिहासकार, साहित्यकार, महापंडित राहुल सांकृत्यायन भी शरीक थे, बढ़कर टाल, लुटौन, छठियारा में फैलता हुआ आंध्र प्रदेश के तेलगाना तक में विकसित हो गया। तब इनकी इस लड़ाई को खंडित करने के लिए सत्ता और सेठाश्रयी संत विनोबा भावे का शिखंडी बनाकर मैदान में उतार दिया गया। 'एक काली गाय और दो बीघा जमीन' इस महात्मा के द्वारा दान-पत्र पर हरिजनों और भूमिहीन गरीब किसानों के बीच वरदान के रूप में बाँटी जाने लगी। ग्राम दान से लेकर जिला और राज्यदान का एक ऐतिहासिक दौर शुरू हुआ। सत्ता दल एक से एक बड़ी बड़ी घोषणाएँ करने लगा। गरीबी हटाओ से लेकर 20 सूत्री कार्यक्रम तक शुरू हुए। इस बीच राजनीतिक कशमकश इस रूप में बढ़ी कि कार्यक्रम के सवाल पर कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट पार्टियों में विभाजन हुआ। कुछ सतही कार्यक्रमों को लेकर सत्ता दल का भी विभाजन हुआ। जनता की बढ़ती राजनीतिक चेतना को देखते हुए, हर दल एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर समाजवाद की बातें करने लगा। कोई भारतीय समाजवाद तो कोई लोहिया समाजवाद, कोई हिन्दू समाजवाद तो कोई वैज्ञानिक समाजवाद, कांग्रेस की लफ्फाजियों के अन्दर उसकी फासी क्रूरता के चलते सत्ता हस्तांतरण के बाद इस जनता राज में एक और आडंबर—'अन्त्योदय, समग्र क्रान्ति' का व्यापक प्रचार। लेकिन समाजवाद की स्थापना में सामाजिक रूपान्तरण की बुनियादी शर्तों से जैसे किसी को कोई सरोकार ही नहीं रहा। सबके सब समाजवाद लाने की घोषणाओं में लिपटकर जनता के मूल अन्तर्विरोधों से इस हद तक अलग-थलग पड़ गये कि जनता के सामने एक समस्या आ खड़ी हुई कि कौन उनको समाजवाद लाकर देने में विश्वस्त है। क्योंकि कोई भी उनसे समाजवादी रूपान्तरण के बुनियादी संघर्षों में एकजुट भागीदारी की अपील करता ही नहीं। समाजवाद के लिए उनकी आँखें प्रश्न बनी तमाम राजनीतिक पार्टियों की जाँच-पड़ताल कर रही है। देश की इन स्थितियों को परसाई जी का एक कल्पित सपना जैसे चन्द पंक्तियों में अक्षरश: मूर्त-सा कर देता है, 'मैं एक सपना देखता हूँ। समाजवाद आ गया है और बस्ती के बाहर टीले पर खड़ा है। ·· ' समाजवाद टीले से चिल्लाता है, 'मुझे बस्ती में ले चलो।' मगर टीले को घेरे समाज-

वादी कहते हैं—'पहले यह तय होगा कि कौन तेरा हाथ पकडकर ले जायगा !'······समाजवाद परेशान है। उधर जनता भी परेशान है। समाजवाद आने को तैयार खडा है, मगर समाजवादियों में आपस में धौल-धप्पा हो रहा है।····· इस देश में जो जिसके लिए प्रतिबद्ध है, वही उसे नष्ट कर रहा है।" क्या यह सच नहीं है ? इस देश की वैधानिक राजनीति के कालक्रम में विकसित चरित्र को परसाई जी ने इन चन्द शब्दों में ही पूरी तरह अभिव्यक्त कर दिया है। आज देश की जनता और राजसत्ता के बीच का अन्तर्विरोध चरम बिन्दु पर है। सत्ता दल में निहित स्वार्थों की टकराहट चरम बिन्दु पर है। लेकिन क्रांतिकारी दिशा में इस असन्तोष का परिचालित करने वाले नेतृत्व का अभाव है। इस असन्तोष को नेतृत्व देने वाली शक्तियाँ क्या आपसी मतभेद में उलझी नहीं हैं ? कार्यक्रम के सवाल पर कम्युनिस्ट पार्टियों का विभाजन हुआ। विभाजन के जो मुद्दे थे, वही छूट गये। आपसी विवाद में उलझकर ये ससदीय भटकावों के रास्ते पर बढने लगे। आज ये इस मुकाम पर पहुँच गये हैं कि देश की स्थिति समाजवाद के लिए पूरी तरह परिपक्व है लेकिन ये क्रांतिकारी नेतृत्व दे ही नहीं सकते। वर्ग सघर्ष पर से इनकी आस्था उठकर ससद के रास्ते पर जम गयी है। किसी तरह भी ससद इनके हाथों में तो आ जाये ! समाजवाद की स्थापना के फर्मान सचिवालय के मार्फत पूरे देश में जारी कर देंगे। समाजवाद की स्थापना की इस प्रक्रिया पर विश्वास रखने वालों का परसाई जी ने अपनी एक कल्पना के माध्यम से पूरी तरह दिवालिया घोषित कर दिया है—"मैं एक कल्पना कर रहा हूँ। दिल्ली में फरमान जारी हो जायेगा। समाजवाद दौरे पर निकल रहा है। उसे सब जगह पहुँचाया जाये। · दफ्तरों में बडे बाबू छोटे बाबू से कहेंगे—काहे को तिवारी बाबू, एक कोई समाजवाद वाला कागज आया था ना ! जरा निकालो ! ··· 'अरे ! यह समाजवाद तो परसों ही निकल गया। कोई लेने नहीं गया स्टेशन। तिवारी बाबू, तुम कागज दबाकर रख लेते हो। बडी खराब आदत है तुम्हारी। तमाम अफसर चीफ सेक्रेटरी से कहेंगे · हम उसकी सुरक्षा का इन्तजाम नहीं कर सकेंगे पूरा फोर्स दंगे से निबटने में लगा है। मुख्य सचिव दिल्ली लिख देगा, "हम समाजवाद की सुरक्षा का इन्तजाम करने में असमर्थ हैं। उसका आना अभी मुलतवी किया जाये !" किसी भी देश की नौकरशाही के सम्पूर्ण चरित्र का इतने कम शब्दों में पूरा का पूरा उतार देना मेरी समझ से एक ऐतिहासिक बात है। और यह गौरव हम परसाई जी को देते हैं। अभिव्यक्ति का यह कला पक्ष किसी भी देश के साहित्य के लिए गौरव का विषय है। उनकी इस छोटी-सी कल्पना में जहाँ भारत की नौकरशाही का पूरा स्वेच्छाचारी गिरोह बेनकाब होता है, वहीं इस प्रक्रिया के मार्फत समाजवाद के स्वप्न देखने वाले राजनीतिक दलों का वैचारिक दिवालियापन भी हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। परसाई जी का स्पष्ट मत है कि समाजवाद वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त पर अपनी वैज्ञानिक प्रक्रिया से ही स्थापित हो सकता है, इन कागजी घोडों से

नही। बकौल परसाई—"जिस शासन व्यवस्था मे समाजवाद के आगमन के कागज दब जायें और जो उसकी सुरक्षा की व्यवस्था न करे, उसके भरोसे समाजवाद लाना है तो ले आओ। मुझे खास एतराज भी नहीं है। जनता के द्वारा न आकर, अगर समाजवाद दफ्तरो के द्वारा आ गया तो एक ऐतिहासिक घटना हो जायेगी।"

इस तरह परसाई जी के लेखकीय आधार पर मुझे मजबूरन यह कबूल करना पडता है कि सुविधाभोगी पेट्टी बुर्जुआजी सस्कार के बावजूद यह आदमी भारतीय जनता के लिए समर्पित कलम का एक प्रतिबद्ध सिपाही है, जो जनता की खातिर किसी को भी नही, यहाँ तक कि खुद को भी नही क्षमा करता।

—शेखर

लिखने का मतलब ?

परसाई का लेखन समीक्षकों के लिए एक चुनौती है। पाठकों के लिए, वह अपने भीतर और बाहर को पहचानने-जानने की एक ऐसी भाषा है, जिसका सीधा रिश्ता हिन्दुस्तानी आदमी की बेहतरी की लड़ाई से है। सम्भवत यही कारण है कि हिन्दी के बुद्धिजीवी लेखकों समीक्षकों ने परसाई पर कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं लिखा, जबकि पाठकों ने परसाई के साथ सीधा सवाद स्थापित किया। पिछले तीसेक बरसों से परसाई निरन्तर लिख रहे हैं और इस बीच साहित्य को समझने समझाने की कोशिश मे जाने कितनी सारी 'आलोचना' लिखी गयी है लेकिन बहुत कोशिश करके याद करो तो भी याद नही आता कि अपने समय के इतने महत्त्वपूर्ण लेखक पर, सार्थक, ईमानदार और परिश्रम के साथ लिखी गयी समीक्षा कहाँ है। परसाई पर लिखते हुए सबसे पहले इसी दुख से सामना होता है और फिर इस तथ्य से भी कि सूक्ष्म सुन्दर और कलात्मक की ओर तेजी से दौड़ने वाले बुद्धिजीवी, दरअसल उस तकलीफ और सघर्ष का सामना ही करने मे अक्षम हैं, जो परसाई की रचना मे प्राणधारा की तरह प्रवाहित है। जो इस सघर्ष को नही जानते, वे कला-रचना के जीवन्त मानवीय सौन्दर्य को, म्यूजियम की चीज बनाना चाहते है, बेशक उस पर अपनी कम्पनी की शाश्वतता का लेबल भी चिपकाना उनका मकसद है। परसाई का लेखन, सबसे पहले मध्य-वर्गीय बुद्धिजीवी की आत्मा मे बैठे इसी सुविधाखोर शाश्वतवादी को, हमारे निजी अनुभव के स्तर पर नगा करता है। तब हम पाते हैं कि परसाई, हमारे भीतर छिपे इतिहास और सस्कार के उस हिस्से को उघार रहे हैं, जिसे ढापकर एक खास बौद्धिक समुदाय मे, हम अपनी कम्पनी का माल चलाते है।

परसाई की एक रचना है 'टॉर्च बेचने वाले'— इसे आप किस्से की तरह भी याद करें, तो आप पाते है कि यह सिर्फ किस्सा नही है। सूक्ष्मता और अध्यात्म का टॉर्च बेचने वाली कम्पनी के ऊपर वार करने की सहज साहसिक और मानवीय इच्छा है इस रचना मे, लेकिन सिर्फ यही नही कि परसाई के मन मे सूक्ष्मतावादी महतो के खिलाफ कोई आत्मपरक गुस्सा है, बल्कि यह भी कि इसमे करुणा है। दो टॉर्च बेचने वालो मे से एक, अपने को बचाने की लडाई लडता हुआ एक साधारण इन्सान है और दूसरा है जो बडी कम्पनी का सूक्ष्म टॉर्च बेच रहा है। उजाले का व्यापार कर रहा है। एक के बरक्स दूसरे को खडा करने का कोरा कौशल (दरअसल परसाई के यहाँ कोरा कुछ भी नही है,

उसकी अधिकांश रचना में आदमी के जिन्दगी की रगारगता को मूर्त करने वाले असली अनुभव है) परसाई की रचना-प्रक्रिया के मूल मे नही है। भाषा के साथ खेलना परसाई के लिए 'इंटेलेक्चुअल पास-टाइम' मात्र नही है। वह अपने मन मे जानते है कि मेहनत करने के बावजूद पेट नही भर सकने वाले आदमी के दुख की शक्ल क्या होती है। वे इस दुख को, निरे यथार्थवादी की तरह नही जानते—एक छोटी-सी घटना को असरदार पैरेबल मे बदल सकने का जोखम उठाते हुए वे अपनी भाषा के पास जाते है। तब उनकी करुणा अपनी सुरक्षित हैमियन की गुडी-गुडी करुणा नहीं होती, बल्कि उसमे मानो मुक्तिबोध की कविता के जीवित जागृत शब्द होते है, जो पुकार कर कहते है कि अपनी मुक्ति के रास्ते अकेले मे नही मिलते।

मुक्तिबोध का जिक्र अकारण नही किया गया है। रचना की ओर उन्मुख करने वाले दुख के मामले मे दोनों जैसे एक ही परिवार के सदस्य है। मुक्तिबोध की तरह परसाई ने भी यह बात हमेशा याद रखी है कि उसे 'खूंखार सिनिक और संशयवादी' नहीं बनना है और मुक्तिबोध की रचना की तरह ही परसाई की रचना मे, भीतर से बाहर और बाहर से भीतर की एक जटिल यात्रा के साक्ष्य मिलते है। हिन्दी समीक्षा ने रचनात्मक जटिलता और सौन्दर्य की जो सँकरी परिभाषा गढ रखी है, उसमे बँधकर परसाई की रचना को समझ पाना मुश्किल है। मुश्किल यह है कि परसाई जिस भाषा मे लिखते हैं—वह आसान है, और पुरअसर भी। इन दोनों ही बातों को नयी समीक्षा शक की नजर से देखती है—लेकिन परसाई की भाषा मे जो ठेठपन है, उसी से यह बात स्पष्ट होती है कि परसाई को इस या उस समीक्षा की फिक्र नही है।

साहित्य की दुनिया मे परसाई एक बेचैन और लड़ते हुए आदमी की तरह है। वे अपने लेखन के लिए ब्राह्मणत्व का प्रमाण-पत्र नहीं चाहते। वे शब्द को सचमुच 'कर्म' की गरिमा देने का अनथक प्रयास कर रहे हैं। उनकी भाषा कुशल आदमी की चिकनी और टिकाऊ भाषा नहीं है। वे जानते है कि भाषा मे अपनी रचना खोजना, उस पूरी परम्परा के साथ जुड़ना है, जिसे हमारे पुरखों ने अपनी दुर्दम जिजीविषा से रचा था और जिसे आज की प्रगतिशील शक्तियाँ निरन्तर सुदृढ़ कर रही हैं। आत्मा के द्वैत की यातना की पहचान परसाई के यहाँ भी कम प्रखर नहो है, लेकिन उनकी भाषा आत्मेतर वास्तव को, जबर्दस्ती धुँधला करने की हिम्मत मात्र नहीं है। यथातथ्य वर्णन या निरे बिम्बों की अपर्याप्तता को, वे कलाबाजी की किसी अदा की तरह ही नहीं जानते—और इसलिए भाषा मे उनकी तकलीफ, अपनी साधारण सार्वजनिक स्तर पर भोगी जाने वाली तकलीफ है। वे अपनी वैचारिक दृष्टि से, अपनी निजी तकलीफ के चरित्र को पहचानने की कोशिश करते हैं। अनुभवों को भाषा मे सोचने की इस प्रक्रिया मे वे इस बात के लिए ही सतर्क नहीं होते कि उनकी रचना पडितों के हिसाब से क्या बन रही है? यानी वे इस अर्थ मे फॉर्म की चिन्ता नहीं करते

कि अपने शब्दों स उन्ह निर्ध कहानी या कविता जैसी दीखने वाली कोई चीज तयार करनी है बल्कि व अपन मन की असलियत का उन अनुभवो म जानन की काशिश करते है कि जो अनुभव दूसरा के साथ रहने की अनिवाय मनुष्यता स जुडी तकलीफ और सघप के वास्तविक गवाह हैं। व हर तरह की अद्वितीयतावादी अदा म परे अपन मन म घुसे समय को लिखत है ता वह समय सिफ वतमान की अखबारी शक्ल नही रह जाता क्योकि यह भी सच है कि भाषा की कलात्मक जटिलता को एक खास चश्म स दखने वाले क लिए परसाई की रचना महज अखबारी टिप्पणी की तरह लग सकती है।

परसाई पर सोचत हुए हम अपन उस जातीय मन स परिचित होते है जा सवक मन की तरह है और बाहरी परिस्थितियो की मार सह सहकर अब इस कदर औसत हो गया है कि लगभग अदृश्य है। मज की बात यह है इस अदृश्य मन स ही हमार बुद्धिजीवी और सस्कृति चितक समुदाय के असल चरित्र का निमाण हुआ है—यानि उस चरित्र का जा इस गरीब देश की वास्तविक तकलीफ क लिए क द्रीय रूप स जिम्मदार है। परसाइ तकलीफ बढान वाल इस कर्त्ता मन क नगपन का अपनी भाषा म मूत्त करने का जोखम उठाने क लिए करुणा और क्रोध की एसी भाषा के पास जाना चाहत है—जिसकी कलात्मकता अनुभवो की ममश ऐंद्रिकता म ही कद नही है। उदाहरण के लिए उनकी रचना अकाल उत्सव ही ली जा सकती है—

इन्द्र का काप अब भीषण वर्षा म नही अवर्षा म प्रकट होता है। गावधन का तस्करी यूराप म बेच आयगे।

हर आदमी का अपना अकाल होता है इन्ह सिफ ग्यारह विकल्प विधायक मिल जाय ता अकाल समस्या हल हो जाय।

यह जीवित रहने की इच्छा ही गाद है। यह हड्डी जाड देती है आँत जाड देती है।

आप जानत है प्रियजन की मान क बाद हम श्राद्ध करते ह और तब हाथ पर मलकर शुद्ध घी की परीक्षा करत है और उसका लड्डू खाते है।

वे कितन सुखी ह जि ह सपने नही आत। मरा पहले खयाल था सूअर और कुत्ता ऐसे प्राणी है जि ह सपने नहा आत।

त्रिजटा मुझस अधिक दखती और समझती थी। उस बहुत आगे दिखता था। वह कहती है—

यह सपना मैं कहौ विचारी
हुइ है सत्य गय दिन चारी।

गिरिगोवधन से लका काड तक को अपन म समेटने वाली इस भाषा के चरित्र की जटिलता स्वत सिद्ध है। यहा अपने भीतर क औसत दुख को बाहर क वास्तविक भयानक दुख से समग्र बौद्धिक ऊर्जा के साथ जाडने की कोशिश है। परसाई इसीलिए इसमे फैटसी रचते हैं लेकिन उस अतियथार्थवादी शिल्प के

का आदमी कब चूहे की तरह आचरण करेगा ?" किसी भी सत्ता या व्यवस्था को परसाई जी की इस रचना से खतरा हो सकता है। यही किसी भी सार्थक रचना की उपलब्धि भी होनी चाहिए।

लेखक मात्र पत्रकार या कैमरामैन नहीं है, उसे समाज के सजग प्रहरी व पथ-प्रदर्शक की भूमिका अदा करनी पड़ती है, इस बात को परसाई जी स्वयं समझाते है " अनुभव ही लेखक का ईश्वर होता है। अनुभव बेकार होता है यदि उसका अर्थ न खोजा जाये उसका विश्लेषण न किया जाये और तात्त्विक निष्कर्ष न निकाला जाए इसके बिना अनुभव केवल घटना रह जाता है—वह रचनात्मक चेतना का अंग नहीं बन पाता एक ही अनुभव के विभिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ होते है। किसी कारखाने के फाटक पर प्रदर्शनकारी मजदूरों पर गोली चली और पाँच मजदूर मारे गये। खबर अखबार मे छपी। इस घटना का एक अर्थ कारखाने के मालिक के लिए है—मजदूर बहुत सिर पर चढ गये है' · दूसरा अर्थ मजदूरों के लिए है बोनस भी नही देता और गोली भी ''तीसरा अर्थ श्रमिक नेता के लिए है—लाठी, गोली से मजदूर आंदोलन दब नहीं सकता ·· चौथा अर्थ कवि के लिए है—

सितम-ए-राह पर रखते चलो सरो के चिराग,
जब तलक कि सितम की सियाह रात चले।

और पाँचवाँ अर्थ, बड़ा दिलचस्प अर्थ एक संवेदनहीन तटस्थ आदमी के लिए है, वह कहता है—देखा भय्या, मौत कहाँ ले आती है (इस श्रेणी म वे लेखक भी शामिल है जो प्रतिबद्ध लेखन स घृणा करते है तथा तटस्थ (?) होकर चीजो को देखने के आदी है जिसमे कभी भी व किसी भी व्यवस्था मे टकरान की नौबत नहीं आती)। छठा अर्थ लेखक क लिए होगा। वह भावुक नहीं होगा। तह म जाएगा। वर्ग संघर्ष देखेगा। अनुभव का विश्लेषित करके उसे रचना का रूप देगा ।" यहीं पर परसाई जी सार्थक लेखन को परिभाषित करते हुए लिखते है कि, 'व्यापक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिवेश की विसंगति, मिथ्याचार, असामंजस्य, अन्याय आदि की तह म जाना, कारणो का विश्लेषण करना, उन्हे सही परिप्रेक्ष्य मे देखना, इससे सही व्यंग्य बनता है। जरूरी नहीं है कि व्यंग्य मे हँसी आए यदि व्यंग्य चेतना को झकझोर देता है, विद्रूप को सामने खड़ा कर देता है, आत्म-साक्षात्कार कराता है सोचने को बाध्य करता है, व्यवस्था की सडाँध को इंगित करता है और परिवर्तन की ओर प्रेरित करता है, तो वह सफल रचना है। जितना व्यापक परिवेश होगा, जितनी गहरी विसंगति होगी और जितनी तिलमिला देने वाली अभिव्यक्ति होगी, रचना उतनी ही सार्थक होगी।"

एक सजग लेखक को राजनीति से कतराना नही चाहिए बल्कि उसे सही राजनीति की समझ पैदा करना चाहिए। 'राजनीति से दूर रहो' अपने आप मे बडी घिनौनी व ओछी राजनीति है जिसे व्यवस्था छात्रो से लेकर लेखकों मे प्रचारित करती रहती है। परसाई जी पर कम्यूनिस्ट होन का आरोप (या

सम्मान) है और वे सहर्ष स्वीकार करते है कि, "मनुष्य की नियति को बदलने वाला सबसे श्रेष्ठ और अंतिम दर्शन मार्क्सवाद ही है।" लेखक को 'फेंस के इधर व उधर' होना ही पडेगा—शोषको या शोषितो का पक्षधर बनना पडेगा। परसाई जी फेंस के किस तरफ हैं यह पाठकों को जाहिर ही है। इसीलिए पिछले दस पद्रह वर्षों से उन्होंने राजनीति—देश व विदेश की, पर बहुत लिखा है। और फिर राजनीति मे भी तो काफी उथल-पुथल हुई है व हो रही है। विभिन्न पत्रिकाओ व अखबारो मे परसाई जी के कालम, 'आदम की बात', 'सुनो भई साधो', 'कबिरा खडा बाजार मे, 'माटी कहे कुम्हार से' आदि बहुत चर्चित हुए हैं। इन कालमो मे परसाई जी हर महत्त्वपूर्ण घटना पर अपना तीखा विश्लेषण देकर हमे सच्चाई से अवगत कराते रहे हैं। मार्च 77 का चुनाव हर मायने मे चौकाने वाला रहा है और जनता पार्टी तथा सरकार का उदय एक अहम घटना रही है। सेठाश्रयी पत्रिकाओं-अखबारो के पत्रकारो, सम्पादको तथा लेखको ने इसे 'दूसरी आजादी' की सज्ञा दी थी। गोया की संसदीय जनतत्र के लिए यह कोई नई एव चौकाने वाली बात हो। दुम हिलाने वाले, रीढहीन व मौकापरस्त लेखको ने जनता पार्टी नेताओ की आरती उतारना शुरु कर दी तथा उनकी बहादुरी को बखानते-बखानते ढेरो कूडा श्रेणी की रचनायें रगीन पत्रिकाओ मे छपवा दी। परसाई जी की अडिग व पैनी कलम ने अपनी तीखी व चुभने वाली व्यग्य-रचनाओं द्वारा जनता पार्टी की विसगतियो, प्रतिक्रान्तिकारी, साम्प्रदायिक व दिशाहीन विचारधारा की भली-भाँति बखिया उधेडी।

हमारे देश मे जहाँ मूर्ति-पूजा आदि काल से होती रही है, और जहाँ 'इन्दिरा इज इण्डिया' का नारा दिया गया हो वहाँ भला जनता पार्टी क्या पीछे रहने वाली थी। सेठाश्रयी रगीन पत्रिकाओं के पालतू व किराये पर लिखने वाले लेखको पत्रकारो को जयप्रकाश नारायण, चन्द्रशेखर, जगजीवन राम, मोरारजी देसाई, अटल बिहारी वाजपेयी आदि मे एकाएक महान युग-प्रवर्तका के दर्शन होने लगे और लगा कि अब देश मे घी-दूध की नदियाँ बहने लगेंगी। इसी सन्निपात की हालत मे स्व० जयप्रकाश नारायण को दूसरा गाधी व क्राति का मसीहा सिद्ध करने के हास्यास्पद करतब भी दिखाये जाने लगे। ऐसे समय परसाई जी ने सच्चे मूर्ति-भजक के रूप मे जयप्रकाश की दिशाहीन राजनीति, अपरिभाषित 'सम्पूर्ण क्रान्ति' तथा उनका साथ देने वाले दलो को अपनी तेज तर्रार लेखनी से बेनकाब किया। हालाकि यह एक बेहद जोखिम का काम था। परसाई जी ने 'तीसरी आजादी का जाँच कमीशन' लिखकर उस आडे समय मे बडे महत्त्व का काम किया। उसे यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है—

कमीशन जयप्रकाश जी आपने सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा दिया ?

जयप्रकाश सही है। पर रिकार्ड है कि पूरी जिन्दगी मैंने वही नारा दिया, जो हो नहीं सकता। यह मेरी आदत है और नियति भी। 1952 के पहले आम चुनाव मे मैंने नारा दिया था कि :—

समाजवादी दल सरकार बनायेगा'''हमारी पार्टी की खटिया खड़ी हो गयी'' मैं छिटककर विनोबा के पास चला गया। मैंने भू-दान का नारा दिया। पर भूमि मिली नही। ग्रामदान का नारा दिया। ग्राम नही मिले'''मैंने पार्टी विहीन लोकतन्त्र का नारा दिया। वह हुआ नही'''मैंने नारा दिया—जाति तोड़ो, तो ऊँची और नीची जाति में आपस मे सिर-फुटौवल होने लगी'' मेरे चालचलन का ऐसा बढ़िया रिकार्ड है। जीवन मे पहली बार न जाने क्या उलट-पुलट हुआ कि सरकार बदल गयी और इसका कलक मेरे माथे मढ दिया गया है'''

कमीशन 'सम्पूर्ण क्रान्ति' क्या है? इसकी व्याख्या कीजिए।

जयप्रकाश मैं नही जानता। जिंदगी मे जो भी मैंने किया, उसकी व्याख्या कभी नही कर सका ''मैं एक व्याख्याहीन जिन्दगी जीता रहा हूँ।

कमीशन क्या 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के लिए आपका कोई सगठन था?

जयप्रकाश नही'''मैंने तो सगठन तोड़ने का काम किया है। समाजवादियों का सगठन तोड़ने का क्रम मैंने ही शुरू किया था। फिर मैंने सर्वोदय को तोड़ा।

सरकारी वकील क्या समाजवादियों के सगठन ने आपका साथ दिया?

जयप्रकाश अरे साहब, समाजवादियों मे सगठन नही बनता, नेता बनता है। सब नेता होते है। सब लड़ाकू होते हैं, पर यह नही जानते कि किससे लड रहे है। इनके साथ भीड होती है, जो बदलती जाती है। उनके पास कार्यक्रम नही, मुहावरे होते है। समाज-वादी मेरे साथ नही थे, कांग्रेस के खिलाफ थे। वे जयप्रकाश-समर्थक नही, इन्दिरा-विरोधी थे। वे इसी एक्सीडेंट से मेरे साथ हो गए'''हाँ नानाजी ने कहा, 'देखिए, आपके पास सगठन नही है और हमारे पास लोकनायक नही है, तो हम मिल जायें। मैंने उनकी बात मान ली''

कमीशन तो क्या सघ ने 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के लिए सघर्ष किया?

जयप्रकाश नही, सघर्ष नही किया। 'डूब पड़े तो हर गंगा' बोलने लगे। सघ के लोगों को सघर्ष की ट्रेनिंग नही है। वे कष्ट नही उठा सकते ''वे जानते कि 16 महीने जेल मे रहना पडेगा तो वे पहले ही युवक कांग्रेस मे भरती हो जाते (बाद मे बाहर बचे सघी धड़ाधड़ कांग्रेस मे शामिल हो ही रहे थे। जेल मे बेचारे बड़े दुखी रहे हैं। बहुत ने माफी माँग ली।

परसाई जी ने कितनी बेबाकी से आम आदमी की बोलचाल की भाषा मे जे० पी०, सम्पूर्ण क्रान्ति, समोपाइयों व सघियों के परखचे उड़ा दिये। जनता

पार्टी के जनतंत्री स्वरूप को परसाई जी ने केवल दो वाक्यों मे नगा कर दिखाया। उसी साक्षात्कार से—

सरकारी वकील मगर कहा तो जाता है कि आपने जनता सरकार बनवायी ?

जयप्रकाश · नही, नसबदी और जगजीवन राम ने जनता सरकार बनवायी। मैंने व कृपलानी ने मिलकर तो धाँधली से मोरार जी को प्रधान मंत्री बनाया ?

गोकि हमारे देश मे मरने वाले के बारे मे केवल अच्छी बातें कहने की प्रथा है। पर यह एक बेहद खोखला व ढोंगी सोच का नमूना है। हमे वस्तुस्थिति को समझना व सच्चाई को उजागर करना सीखना चाहिए। हाँ नगा सत्य कडुवा अवश्य होता है। इसीलिए जयप्रकाश जी की महानता, ईमानदारी व देश-सेवा के बावजूद उनकी गलतियों, भटकावों, व दिशाहीन राजनीति को उजागर करना आवश्यक है और परसाई ने यह काम बखूबी कर दिखाया। कुछ लेखकों-पाठकों को अवश्य लगा होगा कि परसाई जी जयप्रकाश के प्रति अति कठोर एव आक्रामक रहे हैं। ध्यान रहे यह वैचारिक मतभेद की बात है और परसाई जी का जयप्रकाश जी से कोई पारिवारिक, पुश्तैनी या व्यक्तिगत झगडा नही रहा है (यह बात परसाई जी ने एक कहानी लेखक से कही थी जो श्रीकात वर्मा व कमलेश्वर के जनता पार्टी विरोधी रुख से क्षुब्ध थे, वे परसाई जी से बोले, "परसाई जी आप जयप्रकाश जी पर अनावश्यक ही अत्यधिक नाराज है।" मैं उस बातचीत के दौरान परसाई जी के पास ही बैठा था)। जनता पार्टी को अतत टूटना था, यह परसाई जी जैसे लेखक अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने बहुत पहले लिखा, "···टाइम बाऊड प्रोग्राम। जिस पार्टी और सरकार ने अपने नाश तक का समयबद्ध कार्यक्रम चला रखा है, वह दूसरे वायदे जरूर समय से पूरे करेगी···" जनता पार्टी वाले इदिरा गाधी से किस कदर भयग्रस्त थे इसका बयान परसाई जी ने बडे मजेदार ढग से किया, "···इदिरा गाधी वह लपट है जिससे जनता पार्टी मे वैल्डिंग होती है···"

जनता पार्टी पर साम्प्रदायिक तत्वों की पकड मजबूत होती जा रही थी। इस ओर मधु लिमए ने समय रहते राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ की दोहरी सदस्यता वाले सवाल को हल करने की नेक सलाह दी। पर दुर्भाग्य रहा कि एक समय के युवा तुर्क व समाजवादी नेता चन्द्रशेखर स्वय ही आर० एस० एस० की वकालत करने लग गये तथा उसे गैर-साम्प्रदायिक होने का सर्टिफिकेट भी देने लगे (आर० एस० एस० को ऐसे सर्टिफिकेट पुराने समाजवादी नेता आरिफ बेग तथा प्रख्यात लेखक राही मासूम रज़ा भी प्रदान कर रहे थे)। मजे की बात यह थी कि यह सब उस समय किया जा रहा था जिन दिनों सभल, अलीगढ, राँची, जमशेदपुर आदि मे भयानक हिन्दू-मुस्लिम दगे तथा सवर्णों (जिसमे आर० एस० एस० विचार-धारा के लोग अधिक होते हैं) द्वारा हरिजनों-आदिवासियो पर कातिलाना हमले हो रहे थे। परसाई जी ने इस विरोधाभास पर 'करट' मे चन्द्रशेखर के

नाम एक पत्र छापा जो पाठक को आर० एस० एम० की (कु) छवि एव चन्द्रशेखर की दयनीय तथा हास्यास्पद स्थिति से साक्षात्कार कराता है। वे लिखते है, "···मेरे युवा तुर्क! इन दिनों तुम्हे दो चिन्ताएँ हैं—पार्टी की छवि सुधारना और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ को बचाना। प्यारे, ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती। सघ बचता है, तो पार्टी की छवि बिगडती है। पार्टी की छवि सुधरने का मतलब है, सघ से तुम्हारा सबध टूटना। तुम दोनों असम्भवों को साधना चाहते हो। तुम दूध मे खटाई भी डालते हो और चाहते हो कि दूध फटे भी नहीं ···भायी! तुम्हे जनता पार्टी की छवि की क्यो पडी है। जब कोई जनता पार्टी की छवि बनाने की बात करता है, तब मुझे ऐसी बदचलन औरत की याद आती है, जो माँग मे जोरदार सिंदूर भरकर पतिव्रता दिखना चाहती है। वह चरित्र नही सुधारती। छवि सुधारना चाहती है। तुम्हारी पार्टी एक प्रकृति वैचित्र्य है—'फ्रीक आफ नेचर'···यह पार्टी तो कैंसर से पीडित है, बिस्तर पर पडी कराह रही है और तुम उसके चेहरे पर स्नो-पाउडर मलकर चाहते हो कि कोई उस पर मुग्ध होकर शादी कर ले। ना, जो पार्टी बूढी ही जन्मी है और जन्म से बीमार है, तुम चाहते हो कि वह जवान छोकरी की तरह नखरे करे···तुम्हारी पार्टी के कुछ लोग सोचते है कि अपनी छवि दूसरे की छवि बिगाडने से सुधरेगी। वे जवाहरलाल नेहरू की छवि बिगाडने मे लगे है। बदशक्ल औरत विश्व-सुदरी के मुँह पर कालिख पोत कर एलान करती है कि मैं विश्व-सुदरी हूँ···तुम्हारे चेहरे पर सघ की चेचक के जो दाग पड गये है, उन्हे तुम कैसे मिटाओगे? नाना जी ने तुम्हे राजनीति मे अनाथ बालक समझकर गोद ले लिया है। तुम्हे याद है पूतना राक्षसी ने कृष्ण को दूध पिलाकर मारना चाहा था? सब कह रहे है कि मुसलमानो पर हमले सघ आयोजित करता है। दो आदमी इस बात को नही मानते—बाला साहब देवरस और चन्द्रशेखर। तुम कहते हो कि अगर सघ दगे करवाता है तो उन राज्यो मे दगे क्यो नही होते जहाँ भूतपूर्व सघी मुख्यमत्री है? अरे, यह भी सघ की योजना से हो रहा है···जहाँ सघ का मुख्य मत्री नही है, वही व दगे करायेगे और इस तरह सिद्ध करेंगे कि सघी के सिवा बाकी मुख्य मत्री अक्षम, अयोग्य है? सब जगह सघ का मुख्य मत्री बनाओ।"

एक समय चरणसिंह ने भी आर० एस० एम० की वकालत की थी और फिर एकाएक वे भी उसे फासिस्ट मानने लगे। उनके इस अवसरवादी पैंतरे पर परसाई जी ने लिखा, "चरणसिंह की हालत उस चालू औरत जैसी हो गयी है, जो चौराहे पर खडी होकर कहती है—सब लोग उस आदमी को गुडा और बदमाश कहते है, कोई बात नही। उसने मेरी इज्जत लूटी कोई बात नही। पर उसे मेरे नाम दस एकड जमीन तो करना थी। उसने नही की। अभी भी मेरे नाम वह जमीन कर दे तो मैं उसकी रखैल बनने को तैयार हूँ···" सभी जानते हैं कि झगडा सिद्धात का नही चरणसिंह के प्रधान मत्रित्व का था। भारतीय राजनीति के इतिहास का यह एक ऐसा पडाव था, जहाँ समाजवादियों का एक

दल सामती शक्तियों का साथ दे रहा था तथा दूसरा समाजवादी खेमा धार्मिक व साम्प्रदायिक ताक्तों का पिछलग्गू बना हुआ था। इसी प्रकार बाबू जगजीवन राम की 'कुर्सीप्रियता' का जायजा लेते हुए परसाई जी ने लिखा, " "बाबूजी, राजनीति में जिंदा रहने की क्षमता आपमे मेढक से भी ज्यादा है ' आप बुद्धिमान है, संतुलित है, प्यारे कांइयां है ' पर आप प्रधान मन्त्री इसलिए नही बन पाते कि आप हिसाब लगाकर चलते है। आप 'रिस्क' नही लेते आप उस अपर डिवीजन क्लर्क की तरह करते है जो क्लर्की सुरक्षित रखकर तहसीलदारी की कोशिश करता है। वह खतरा उठाकर, छोडकर कोशिश नही करता। इसलिए वह हर बार तहसीलदारी का उम्मीदवार होकर भी यू० डी० सी० बना रहता है" बाबूजी, आपका हास्यास्पद उपयोग ये लोग कर रहे है। आपने भिखारियों की वह टोली देखी होगी, जिसमे एक आदमी को झूठमूठ घायल करके एक गाडी मे बिठा देते है, उसके सिर पर पट्टी बाँध देते है। कुहनी और घुटने पर लाल रग लगा देते है, खून सरीखा। गुड चिपका देते है जिससे मक्खियाँ ' पीछे तीन-चार आदमी होते है। वे इस गाडी को खीचते है और भीख माँगते है इस तरह आपको घायल, अपग बनाकर ये लोग वोट माँग रहे है। कहते है, देखो बाबू लोगो, इस जगजीवन राम को। राष्ट्रपति ने इस बेचारे को प्रधान मन्त्री नही बनने दिया' बाबूजी, ठीक यही हालत है आपकी। क्या आपको यह अच्छा लग रहा है ! यह कोई चुनाव प्रचार है जनता पार्टी के पास वोट लेने के कोई प्रोग्राम नही, कोई नारा नही ' सब आपको आगे करके, आपको मुद्दा बनाकर कितने खतरनाक जातियुद्ध को भडका रहा है जनता पार्टी वाले बाबू जी के फोटो का पोस्टर छापकर उन्हे बाँध लेना चाहते है। बाबूजी की हालत चचल बहू की तरह है। खिडकी से झाँकती हैं, आखें मिलाती है—इस उससे। इशारे करती है। उसका घरवाला, सास-ससुर सब परशान है। यह किसी के साथ भाग न जाए बाबूजी को इस प्रचार पोस्टर से हाथ पाँव बाँधकर जनता पार्टी मे डाल दिया गया है। मगर बाबूजी को कुछ रोक नही है। वह एक एसी बहू है जो अस्पताल मे बच्चा पैदा होने के बाद भी अपने चहेते के साथ भाग जाए यों पिछले 5-6 महीनो मे भारत के राजनीतिक लोग सूरजमुखी फूल हो गये है ' बाबूजी सूरजमुखी बनना पसद करते है।"

जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद हमारे तथाकथित बुद्धिजीवियों, लेखकों व पत्रकारो ने बेहद भौंडे, घटिया एव अश्लील ढंग स सत्ता की जी हुजूरी व दुम हिलाना शुरू कर दिया था। यह अपने आप म बेमिसाल घटना तो है ही, साथ ही शर्मनाक भी है। पूंजीवादी प्रेस मे अटलबिहारी बाजपेयी की कविताओ को थोक के भाव छापा जा रहा था, शाता कुमार, डा० प्रताप चदर चुन्दर को महान साहित्यकार घोषित किया जा रहा था और जनता नताओ की जेल-व्यथा को बढाचढाकर छापने की होड मची थी। ऐसे आडे समय मे परसाई जी पूरी मुस्तैदी से जनता महारथियो के चेहरे बेनकाब कर रहे थे। यह कम जोखिम का काम न

आगे सोचने लगे··· ··ये लोग साम्यवाद विरोध से सोचना शुरू करते हैं। ऐसा नहीं है कि सोचते-सोचते साम्यवाद विरोध के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इससे लगातार अवैज्ञानिक चिन्तन होता है ·····अटपटे मुहावरे वाला यह अवैज्ञानिक और अयथार्थ चिन्तन समाजवादी को पूंजीवाद का रक्षक बना देता है और वह कदम कुआँ के बाबा जी के आश्रम में तीसरा विकल्प खोजता है ।"

सेठाश्रयी पत्रिकाओं तथा पश्चिमी प्रचार तन्त्र ने हमारे देश के पढ़े-लिखे लोगों में साम्यवाद विरोध बड़े गहरे तक पैठाया है। साम्यवाद विरोध का ऐसा उन्माद व फैशन चला है कि कम्यूनिस्ट देशों (विशेषकर रूस) के विरुद्ध कितना फूहड़ व निम्न स्तर का प्रचार किया जाता है जिसे परसाई जी ने हूबहू प्रस्तुत किया है, " ···· रूस में तो पिस्तौल दिखाकर सम्भोग कराया जाता है, और पिस्तौल के डर से ही वैज्ञानिक शोध भी करायी जाती है ' मुस्कराते हुए लोग देखें तो कहेंगे—कैसा अत्याचार है! लोगों को जबरदस्ती मुस्कराने को मजबूर किया जाता है। आदमी को रोने तक की स्वतन्त्रता नहीं है' ' "साम्यवाद विरोधी प्रचार गोयबल्स को मात देने वाला है, और हम पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानी 'बोलने की आजादी' प्रेस की स्वतन्त्रता, स्वतन्त्र न्यायपालिका आदि का राग अलापते हैं तथा हमारे तथाकथित ड्राइंगरूम बुद्धिजीवी, सखारोव व सोल्झेनित्सीन को दी जाने वाली यातनाओं (?) पर अपना रोष जाहिर करते हैं। इसमें आगे हमारी साम्यवाद की समझ नहीं है।

परसाई जी का कैनवस बहुत विशाल है और वे विश्व के किसी भी कोने में होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटना का वस्तुपरक विश्लेषण कर देते हैं। ईरान में शाह के सामन्ती शासन को अपदस्थ किये जाने और वहाँ अयोतुल्लाह खुमैनी की सत्ता की स्थापना एक विशुद्ध अन्दरूनी घटना नहीं थी। यह पूरा का पूरा हादसा उस कुचक्र का एक अंग था जिसे अमरीकी साम्राज्यवादी व विस्तारवादी ताकतें अपने सी० आई० ए० तन्त्र द्वारा विश्व के हर कोने में फैलाने का प्रयत्न करती रही है। अमरीकी जगखोरों ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अरब देशों के सामन्ती शासकों को अपने चकाचौंध में फाँसकर वहाँ से सस्ते भावों में तेल ले जाकर अपनी अर्थव्यवस्था को लगातार सुदृढ़ बनाया है। इसके दोहरे फायदे थे। परसाई जी ने अमरीका की इस साम्राज्यवादी कूटनीति का जायजा लेते हुए लिखा, "····शाह की और ईरान की ट्रेजडी एक आजमाए हुए नुस्खे के मुताबिक हुई। यह नुस्खा दूसरे महायुद्ध के बाद का है। जिस शासक या शासक गुट को अपनी दुर्गति करानी है और जनता पर कहर ढाना है, वह साम्यवाद-विरोध के नाम पर अमरीका का दामन दे दे······एशिया, अफ्रीका के जिन शासकों ने 'बड़े भाई' को बुलाया, उन सबकी दुर्गति हुई है। वहीं बड़े भाई बिना बुलाये घुस गये और नाश किया ·····अमरीका की एक नीति है—'कन्टेनमेंट आफ कम्यूनिज्म' यानी साम्यवाद के प्रसार को रोकना। मगर जहाँ-जहाँ अमरीका साम्यवाद को 'कन्टेन' करने घुसा, वहाँ साम्यवाद पसरा आया, जैसे दक्षिण-पूर्व एशिया में।

था। सत्ता का डर व लालच बड़ो-बड़ो को झिगा देता है, पर परसाई किसी और ही मिट्टी के बने हुए हैं। ऐसे ही कठिन दौर मे संघर्षशील लेखक व रचना की पहचान बनती है। छोटी पत्रिकाओं ने भी अपनी सही भूमिका इस समय निभायी। किसी पोलिटिकल कमेंटेटर ने भी किसी राजनीतिक दल के बारे में इतना अधिक व लगातार, साथ ही 'विटर' भी, न लिखा होगा जितना परसाई जी ने जनता पार्टी पर लिखा। राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ की छवि सुधारने के लिए आन्ध्र के तूफान, दिल्ली व मारवी की बाढ का हवाला देते हुए सरकारी प्रचार तंत्र रेडियो व टेलीविज़न का भरपूर दुरुपयोग किया जा रहा था। परसाई जी ने आर० एस० एस० के सच्चे स्वरूप को उजागर करने का जोखिम-भरा काम किया। वे आर० एस० एस० को शुरू मे ही एक अर्द्धसैनिक, साम्प्रदायिक तथा फासिस्ट दल के रूप म लेते रहे है। इसका खामियाजा भी उन्हे भुगतना पडा है। आठ-नौ वर्ष पहले अपनी इसी बेबाक व निर्भीक बातों के कारण उन्हें अपने निवास-स्थान जबलपुर में आर० एस० एस० के वालंटियरो (?) के हाथों पिटना पडा था। दश के साहित्यकारो व स्वतन्त्र चिन्तन के लिए वह एक शर्मनाक घटना थी। महान प्रगतिशील साहित्यकार यशपाल न परसाई जी का उस घटना पर अपनी प्रतिक्रिया जाहिर करते हुए लिखा था—"तुम्हारी लेखनी महान है जिसे पढ़कर लोग तिलमिला जाते है और लाठी उठा लेत है ।" इस हमले के बावजूद परसाई जी की अलमस्ती बरकरार रही। और तो और उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने आने वाला की मानवमन की बडी मनोरंजक बातें अपने एक लेख 'पिटने-पिटने मे फर्क' मे लिखी हैं। मुलाहिज़ा फरमाइये—"जो लिखता है, वह साहित्य है क्या? अरे, प्रेम-कहानी लिख। उसमे कोई नहीं पिटता।" "पिट तो तबादला करवान, नियुक्ति कराने की ताकत आ गयी—ऐसा लोग मानने लगे हैं, मानें, मानने से कौन किस रोक सकता है। यह क्या कम साहित्य की उपलब्धि है कि पिटकर लेखक तबादले कराने लायक हो जाए। सन् 1973 की यह सबसे बडी साहित्यिक उपलब्धि है। पर अकादमी माने तो।" अपने आप पर भी हँसने का कितना बडा फलसफा है यह!

परसाई जी न लगभग सभी राजनीतिक पार्टियों की शल्य-चिकित्सा की है, तथा उनके वर्ग चरित्र तथा विसंगतियों का उजागर किया है। कांग्रेस क बारे में वे लिखते हैं, " यह जो कांग्रेसमैन है, बडा अद्भुत मैन है। ऐसा 'मैन' दुनिया मे कहीं नही · इसे सत्ता म रहना आता है। चुनाव जीतना इसने सिद्ध कर लिया है। यह बिल्कुल नही बदलने देता। खुद भी बिल्कुल नहीं बदलता। क्या यथास्थितिवाद की सुरक्षा की सबसे बडी गारंटी यही कांग्रेसमैन है······"

समाजवादियों का खाका खीचते हुए वे लिखते है "······इन समाजवादियों की चिन्तन-प्रक्रिया की विशेषता यह है कि ये निष्कर्ष पर पहुँचते नहीं, निष्कर्ष से शुरू करते है। पहले निष्कर्ष निकाल लिया कि गधे के सीग होते है और

आगे सोचने लगे......ये लोग साम्यवाद विरोध से सोचना शुरू करते हैं। ऐसा नही है कि सोचते-सोचते साम्यवाद विरोध के निष्कर्ष पर पहुँचते है। इससे लगातार अवैज्ञानिक चिन्तन होता है......अटपटे मुहावरे वाला यह अवैज्ञानिक और अयथार्थ चिन्तन समाजवादी को पूँजीवाद का रक्षक बना देता है और वह कदम कुआँ के बाबा जी के आश्रम मे तीसरा विकल्प खोजता है...... ।"

सेठाश्रयी पत्रिकाओ तथा पश्चिमी प्रचार तत्र ने हमारे देश के पढे-लिखे लोगो मे साम्यवाद विरोध बडे गहरे तक पैठाया है। साम्यवाद विरोध का ऐसा उन्माद व फैशन चला है कि कम्यूनिस्ट देशो (विशेषकर रूस) के विरुद्ध कितना फूहड व निम्न स्तर का प्रचार किया जाता है जिसे परसाई जी ने हूबहू प्रस्तुत किया है, "......रूस मे तो पिस्तौल दिखाकर सम्भोग कराया जाता है, और पिस्तौल के डर से ही वैज्ञानिक शोध भी करायी जाती है......मुस्कराते हुए लोग देखें तो कहेंगे—कैसा अत्याचार है! लोगो को जबरदस्ती मुस्कराने को मजबूर किया जाता है। आदमी को रोने तक की स्वतत्रता नही है......" साम्यवाद विरोधी प्रचार गोयबल्स को मात देने वाला है, और हम पढे-लिखे हिन्दुस्तानी 'बोलने की आजादी' प्रेस की स्वतत्रता, स्वतत्र न्यायपालिका आदि का राग अलापते हैं तथा हमारे तथाकथित ड्राइगरूम बुद्धिजीवी, सखारोव व सोल्झेनित्सीन को दी जाने वाली यातनाओ (?) पर अपना रोष जाहिर करते है। इससे आगे हमारी साम्यवाद की समझ नही है।

परसाई जी का कैनवस बहुत विशाल है और वे विश्व के किसी भी कोने मे होनेवाली महत्त्वपूर्ण घटना का वस्तुपरक विश्लेषण कर देते है। ईरान मे शाह के सामती शासन को अपदस्थ किये जाने और वहाँ अयोतुल्लाह खुमैनी की सत्ता की स्थापना एक विशुद्ध अन्दरूनी घटना नही थी। यह पूरा का पूरा हादसा उस कुचक्र का एक अग था जिसे अमरीकी साम्राज्यवादी व विस्तारवादी ताकतें अपने सी० आई० ए० तत्र द्वारा विश्व के हर कोने मे फैलाने का प्रयत्न करती रही है। अमरीकी जगखोरो ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अरब देशो के सामती शासकों को अपने चकाचौंध म फाँसकर वहाँ से सस्ते भावो मे तेल ले जाकर अपनी अर्थ-व्यवस्था को लगातार सुदृढ बनाया है। इसके दोहरे फायदे थे। परसाई जी ने अमरीका की इस साम्राज्यवादी कूटनीति का जायजा लेते हुए लिखा, "....शाह की और ईरान की ट्रेजडी एक आजमाए हुए नुस्खे के मुताबिक हुई। यह नुस्खा दूसरे महायुद्ध के बाद का है। जिस शासक या शासक गुट को अपनी दुर्गति करानी है और जनता पर कहर ढाना है, वह साम्ययाद-विरोध के नाम पर अमरीका को दावत दे दे......एशिया, अफ्रीका के जिन शासकों ने 'बडे भाई' को बुलाया, उन सबकी दुर्गति हुई है। कही बडे भाई बिना बुलाये घुस गये और नाश किया......अमरीका की एक नीति है—'कन्टेनमेंट आफ कम्यूनिज्म' यानी साम्यवाद के प्रसार को रोकना। मगर जहाँ-जहाँ अमरीका साम्यवाद को 'कन्टेन' करने घुसा, वहाँ साम्यवाद पक्का आया, जैसे दक्षिण-पूर्व एशिया मे।

दूसरे देशों मे साम्यवाद आतरिक द्वन्द्वों से आता है, मगर अमरीका 'वन्देन' करके उसे एक झटके मे ले आता है······"

अमरीकी विस्तारवादी नीति, फौजी तानाशाही को शासन करने को जो नुस्खे सिखाती है, उसे परसाई जीवयान करते है, "···हर आदमी पर एक सिपाही और एक खुफिया लगा दो। तुम्हारे पास तो तेल है, उसे अमरीका व यूरोप मे बेचो। उस पैसे से हथियार खरीदो। हर आदमी के सिर पर एक बमवर्षक विमान मँडरान दो। सामान हमसे खरीदो। यूरोप से खरीदो। कारखाने मत खोलना। कारखाने का सगठित मजदूर झझट पैदा करता है। पढ-लिखकर आदमी अधिकार मॉगने लगता है ··· एक शासक गुट बनाओ। एक फौजी अफसरो का गुट बनाओ · ·· " बी० बी० सी० (हमारे भद्रजनो का 'स्टेटस सिम्बल') तथा देशी अखबारो ने, जिनकी हमारे पढे-लिखो मे अपनी तथाकथित तटस्थ एव निष्पक्ष (?) रवैये की बडी धाक है, ईरान की घटनाओ को इस चतुराई से प्रस्तुत किया है कि वे शाह के खिलाफ वहाँ की विभिन्न कम्यूनिस्ट पार्टियों के निरन्तर सघर्ष को पूरी तरह नजरअन्दाज कर देते है। परसाई जी ने तथ्यो को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "······लोगों ने लडाई लडी ·· वियतनामियो की जय बोलकर लडाई लडी। मानव अधिकार, रोजी, रोटी, कपडा, मकान की लडाई। मगर मुल्ला मौलवी और उनके नेता अयातुल्लाह खुमैनी बार-बार कहते रहे—इस सघर्ष को कुछ और मत समझ लेना। यह तो सिर्फ इस्लाम के लिए सघर्ष है। कुछ लोग इस लडाई को दूसरा रग देने की कोशिश कर रहे है यह दूसरा रग क्या है? मुल्लाओ को यह पसद नही है कि इसे जनता की रोजी-रोटी की लडाई माना जाए·· आर्थिक न्याय! नही इस्लाम मे यह कहाँ आता है। रोजी-रोटी! नहीं इस्लाम को इससे क्या मतलब है! यह सब कम्यूनिस्टो का बहकावा है। खबरदार, इस्लाम खतरे मे है। जब तक हम छठवी शताब्दी मे न पहुँच जाएँ इस्लाम खतरे मे रहेगा। ईरान के लोगो की दूसरी लडाई इन कठमुल्लों के चगुल से छूटने की है। यह तय करने की है कि व बीसवी सदी मे हैं या छठवी मे···"

जनता सरकार ने जिस 'असली' गुटनिरपेक्षता—जेन्यूआइन, की नीति अपनानी चाही थी, वह इस बात का सकेत थी कि जनता पार्टी मे ऐसे तत्त्वों की पकड मजबूत हो रही थी जो अमरीका-परस्त हैं तथा जिन्हे रूस की ओर झुकाव पसन्द नहीं। हवाना सम्मेलन का जायजा लेते हुए परसाई जी लिखते है, "· मोरारजी भाई और अटलबिहारी वाजपेयी ने 'असली गुटनिरपेक्षता' की जो गधैया विदेश मत्रालय मे पाल रखी थी, उसकी लीद का बोरा लादकर श्यामनन्दन मिश्र हवाना ···हवाना मे यह सम्मेलन न हो, यह कोशिश अमरीका, चीन और उनके चमचे शुरू मे कर रहे थे······ फिदेल कास्त्रो ने अपने उद्घाटन भाषण मे कहा था कि ये 100 देशो के बडे-बडे नेता जो यहाँ बैठे है, क्या बच्चे है, जो मैं इन्हे बहका लेता······फिदेल चोर को

चोर कहता है, मगर हमारी यह सरकार चोर को 'श्रीमान वस्तु विनिमयकर्ता' कहना चाहती है ''....हम डरते हैं कि कहीं यह न मान लिया जाय कि गुट-निरपेक्ष या तार्किक समर्थक समाजवादी सेना है कोई यह तो इससे कह नहीं रहा है कि रूसी सेमे के पिछलग्गू हो जाओ मगर इनकी दुर्गति यह है कि कोई ऐसा कह न दे, इस डर से साम्राज्यवादी सेमे के आसपास रो घास छीलते है। इनकी हालत उस कमजोर औरत जैसी है जो इस डर से कि कोई उसे बदचलन न कह दे, दिन मे चार बार मांग भरती है।"

परसाई जी की भाषा आम आदमी के बोलचाल की भाषा है, वह निखालिस 'देसी' है। 'प्यूरिस्ट' व विशुद्ध साहित्यिक लोगों को उनकी भाषा गँवारू, व्याकरण-हीन व अश्लील तक लगती है, क्योंकि वह जन-मानस की भाषा है—'एलीट' की नही। मार्क्सवादी होने के बावजूद परसाई जी ने बहुतों की तरह आयातित साम्यवादी शब्दावली को इस्तेमाल करने की गलती नहीं की है और इसीलिए वह हर साधारण पाठक की समझ मे आसानी से आती है एव असरकारक भी होती है। परसाई जी की सीधी-सादी भाषा ही बहुत मारक है। उनके सदर्भ इतने गहरे और जिन्दगी मे जुड़े हुए होते है कि साधारण, स्पष्ट एव सरल भाषा स्वय ही अर्थमय हो जाती है।

परसाई जी ने मध्यवर्गीय (कु) सस्कारो, ढोंग, दोहरे मानदडो, झूठी शान-प्रतिष्ठा, कॉइयापन आदि को अपनी मारक भाषा द्वारा बुरी तरह लहूलुहान किया है। अपने एक लेख 'दो नाक वाले लोग' मे परसाई जी लिखते है, " मेरा ख्याल है, नाक की हिफाजत सबसे ज्यादा इसी देश मे होती है। और या तो नाक बहुत नर्म होती है या छुरा तेज जिससे छोटी-से छोटी बात से भी नाक कट जाती है। छोटे आदमी की नाक बहुत नाजुक होती है। यह छोटा आदमी नाक को छिपाकर क्यों नहीं रखता ?" समाज मे वर्चस्व हमेशा पैसे वालों का होता है, इस बात को अपने उसी लेख मे वे अपने खास अन्दाज मे बयान करते हैं " . . . कुछ बड़े आदमी जिनकी हैसियत है इस्पात की नाक लगवा लेते हैं', धाना बाजार मे जेल हो जाय ?, औरत खुलेआम दूसरे के साथ 'बाक्स' मे सिनमा देखती है, लड़की का सार्वजनिक गर्भपात हो चुका है। लोग उस्तरा लिये नाक काटने को घूम रहे हैं। मगर काटें कैसे ? नाक तो स्टील की है ... स्मग्लिंग मे पकड़े गये है। हथकड़ी पड़ी है। बाजार मे से ले जाये जा रहे हैं। लोग नाक काटने को उत्सुक है। पर व नाक को तिजोरी मे रखकर स्मगलिंग करने गये थे। पुलिस को खिला पिला देंगे, बरी हो जायेंगे और नाक फिर पहन लेंगे। जो बहुत होशियार है, वे नाक को तलवे मे रखते है नातिन की उम्र की दो लड़कियों से बलात्कार कर चुके हैं। जालसाजी और बैंक को धोखा देने मे पकड़े गये हैं। लोग नाक काटने को उत्सुक हैं पर नाक मिलती नहीं। वह तो तलवे मे है। कोई जीवशास्त्री अगर नाक की तलाश भी कर दे, तो तलवे की नाक काटने से क्या होता है ? नाक तो चेहरे पर की कटे, तो कुछ मतलब होता

है "कुछ नाकें गुलाब के पौधों की तरह होती है। कलम कर दो तो अच्छी शाखा बढती हैं" "जब खुशबू कम होने लगती है, ये फिर कलम करा लेते है, जैसे किसी औरत को छेड दिया और 'जूते खा गये'......जूते खा गये, अजब मुहावरा है। जूते तो मार जाते है। वे खाय कैसे जाते है ? मगर भारतवासी इतना भुख-मरा है कि जूते भी खा जाता है।" रोटी का सवाल जो जिन्दगी का अहम सवाल है उसे परसाई जी हर जगह ढूँढ लेते है।

पढे-लिखे लोग अपनी तमाम तथाकथित आधुनिकता, क्रान्तिकारिता के बावजूद आज भी पुरातनपंथी सस्कारो व ढकोसलो से न केवल जकडे हुए हैं बल्कि इस या उस तर्क के बहाने बचने की तरकीबें निकालने मे भी माहिर है। परसाई जी इसका उदाहरण देते हुए लिखते है, "" बहुत लोग एक परम्परा से छुटकारा पा लेते है, पर दूसरी से बँधे रहते है। रात को शराब की पार्टी मे किसी ईसाई दोस्त के घर से आ रहे हैं, मगर रास्ते मे हनुमान मन्दिर दिख जाये तो थोडा तिलक भी सिन्दूर का लगा लेंगे..... " "......मेरे एक दोस्त और है। मुझसे ज्यादा वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न, विचार और कर्म दोनो से क्रान्तिकारी। मैं ही उनसे ज्ञान और प्रेरणा लेता रहा हूँ। एक दिन मैंने उन्हे धोती पहने, पालथी मारे सत्यनारायण की कथा पर बैठे रगे हाथों पकड लिया। मुझे लगा, जैसे एम्बुलेंस की गाडी ने मुझे कुचल दिया हो.... " वास्तव मे हमारी नयी पीढी को ऐसी ही कितनी 'एम्बुलेंसें' कुचलकर उन्हे आधुनिक व प्रगतिशील नही होने दे रही हैं।"

"......बुद्धिजीवी बहुत थोडे मे सन्तुष्ट हो जाता है। उसे पहले दर्जे का किराया दे दो ताकि वह तीसरे मे सफर करके पैसा बचा ले। एकाध माला पहना दो, कुछ श्रोता दे दो और भाषण सुनने के बाद थोडी तारीफ—वह मान जाता है। इतने मे......" छपास रोग से पीडित लेखको व कवि-सम्मेलनो मे तुक-बन्दी व चुटकले सुनाकर वाहवाही लूटने वाले कवियो पर कैसा करारा तमाचा मारा है परसाई जी ने।

विश्वविद्यालयो मे प्रोफेसरी करने वाले लेखको की दयनीय स्थिति का जिक्र करते हुए परसाई जी लिखते है, "" ""कोर्स का लेखक हो गया हूँ। कोर्स का लेखक वह पक्षी है, जिसके पाँवो मे घुंघरू बाँध दिये गये है। उसे ठुमक्कर चलना पडता है। ये आभूषण भी हैं व बेडियाँ भी। रॉयल्टी मिलने लगती है, तो जी होता है कि 'सत्साहित्य' ही लिखो, जिससे लडके-लडकियो का चरित्र बने। उसे आचार्यगण तुरन्त गले लगा लेंगे। परेशानी यही है कि 'सत्साहित्य' कुल आठ-दस वाक्यो मे आ जाता है, जैसे—सत्य बोलो, किसी को कष्ट मत दो, ब्रह्मचर्य मे रहो, परायी स्त्री को माता समझो आदि" " परसाई जी साफ तौर से कहना चाहते हैं कि नैतिकता व आदर्श के भाषणो तथा गुडी गुडी बातो (या साहित्य) से सामाजिक चेतना नही जागती, उसके लिए प्रतिबद्ध साहित्य आवश्यक है।

परसाई जी ने सबसे गभीर एव समय का सबसे अहम सवाल भी उठाया

है, वह सवाल लेखक, समाज व सत्ता के पारस्परिक संबंध तय करने का है। वे सीधा सीदा सवाल दागते है, "सवाल यह है कि लेखक अपने को आम जनता से जोड़ता है या नही। जोड़ता है तो वह हर सही जन-आदोलन मे साथ देगा—वरना कमरे मे बैठकर कविता लिखेगा, कि हम तो मर रहे हैं, हम सूअर हैं, हमारी मरणनिधि यह है (हालांकि ठाठ से जी रहे है)।" सत्ता के साथ साहित्यकार के क्या संबंध हों, इस पर लगातार विचार होता रहा है और सत्ता से चिपकने, उसकी चाटुकारिता करने से लेकर टोटल आलोचना तक के स्टेटमट हमारे साहित्यकार देते रहे हैं। परसाई जी सीधा सवाल करते है, "क्या हम अन्धों की तरह यह मान लें कि लेखक और सरकार का शाश्वत शत्रु-संबंध या मित्र-संबंध है? क्या यह सही नहीं है कि सरकार के टोटल विरोध की बात वही लेखक करते हैं, जिनके मजे मे जिन्दगी गुजारने के लिए दूसरे जरिए हैं (देशी पूंजीपतियों के प्रेस, विदेशी दूतावासों तथा कम्यूनिज्म विरोध के लिए सी०आई० ए० आदि से जिन्हें पैसा मिलता है)? आलोचना टोटल होनी चाहिए या मुद्दों पर। यानी अगर, सरकार कोई ठीक योजना, योजना आयोग से बनवा रही है, तो भी क्या उसका विरोध ही करें—क्योंकि वह लेखक है और उसकी अलग दुनिया (यह गलतफहमी बहुत से छुटभय्ये लेखकों को) है? लूकाच ने कहा है कि कुछ भी प्रगतिशील कदम उठाने वाली सरकार की टोटल आलोचना करने वाला बुद्धि-जीवी अक्सर 'हीरो' बनने की कोशिश करता है, पर वह मूलत क्रान्ति-विरोधी शक्तियों का एजेन्ट है। वह जनता का आक्रोश सरकार की तरफ करके उन ताकतों को बचा ले जाता है जो यथास्थितिवादी और क्रान्ति-विरोधी होती है······" यहाँ गौर करना होगा कि जयप्रकाश की 'सम्पूर्ण क्रान्ति', जमाखोरों, मुनाफाखोरों, इजारेदारों तथा जमीदारों के खिलाफ कभी नही रही। चार अंकों की पगार पाने वाले लेखक-पत्रकार, वकील, स्वनाम बुद्धिजीवी जैसे कि कुलदीप, नय्यर, जनार्दन ठाकुर, पालखीवाला, छागला आदि भी हमेशा मात्र सरकार विरोधी रहे हैं पर उन्होंने कभी भी पूंजीवादी विकास के ढांचे, गाँवों मे सामन्ती आतंक, साम्प्रदायिक एव फासी ताकतों आदि के विरुद्ध कभी आवाज नहीं उठायी है। इस सबके तो वे पक्षधर है उनके हितों की रक्षा करना इस तरह के बुद्धिजीवियों की अपनी अलग क्रान्तिकारिता व लफ्फाजी होती है। परसाई जी बड़े मार्के की बात लिखते हैं, "सरकार का विरोध करना भी सरकार से लाभ लेने व उससे संरक्षण प्राप्त करने की एक तरकीब है · ··· सरकारें खुद चाहती है कि कुछ लेखक उनका विरोध करें। वे उन्हें पहचान लें और जो चाहिए दे-दिवा दें।" ऐसे लेखकों के बारें मे परसाई जी लिखते है, "बहुत आदमियों की रीढ़ की हड्डी नही होती। वे बहुत लचीले होते है। उन्हें चाहे तो आप बोरे मे डालकर ले जा सकते है। ले ही जाते हैं। मैं लगातार देख रहा हूँ कि राजनीति और साहित्य मे बहुत लोग आपरेशन करवा के रीढ़ की हड्डी निकलवा लेते है · " ऐसा भौंडा तमाशा इस देश मे खूब हो रहा है। मार्च 77 के बाद 'आपातकाल' साहित्य (?)

खूब लिखा व छापा गया—उन्ही लेखकों-संपादकों द्वारा जो आपातकाल के दौरान इंदिरा गांधी, संजय गांधी की रंगीन तस्वीरें अपनी पत्रिकाओं में छाप रहे थे। यही वेदेदी के लोग जनता सरकार से लाभ उठाकर रेडियो, टेलिविजन व विदेश यात्रा का भरपूर आनंद ले रहे थे। इस समय इनकी तैयारियाँ पुन वेश बदलने में लगी होंगी।

परसाई जी ने लेखक की सीमाओं तथा बेचारगियों का सवाल उठाते हुए लिखा है, "सवाल यह है कि क्या कोई साहित्यकार बिल्कुल स्वतंत्र रह सकता है? लेखन से जीविका कमा सकता है? क्या रेडियो, प्रकाशन विभाग और अकादमियों म जाने के लोभ को नकार सकता है? इन सवालों के जवाब का एक अंदाज यह भी हो सकता है—गुलशन नंदा जैसे बीसियों लेखक तथा 'श्री होल' पत्रकार लेखन से न केवल अपनी जीविका कमा रहे हैं बल्कि ऐशो-आराम की जिंदगी बसर कर रहे हैं। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर बलात्कार, लूट-पाट, हिंसा, कत्ल आदि की घटनाओं को कौतूहल व मनोरंजन से पूर्ण भाषा म लिखने की पूरी आजादी है। संभोग से समाधि, योग विद्या, नेताजी सुभाष की मृत्यु, शास्त्री जी की संदेहास्पद मौत, भारत में गुलाब की खेती, ताजमहल की हिन्दू उत्पत्ति सिद्ध करना आदि जैसे सैंकड़ो चौंकाने वाले व चटखारे लेकर पढ़ने वाले विषय जिन पर धड़ल्ले से लिखा जा रहा है और लेखकों की जेबें गर्म हो रही हैं प्रकाशकों की तो चाँदी है खैर। सत्ता भी तो यही चाहती है कि साहित्यकार इसी तरह की ऊलजलूल बातों में लगा रहे। मुझे दिल्ली दूरदर्शन पर आयोजित एक अहिंदीभाषी हिंदी की प्रख्यात लेखिका का वह साक्षात्कार याद आ रहा है जिसमें वह अपने शानदार बँगले, ड्राइंग रूम, भित्ति चित्रों, आधुनिक ढंग से सुसज्जित रसोई, गुलाब व कैक्टस से लदे हुए बगीचे आदि को बड़े इठलाते हुए दिखा रही थी तथा बता रही थी कि उनकी कई पुस्तकों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया जा चुका है। उन लेखिका से सवाल पूछा जा सकता है (हालांकि दूरदर्शन व रेडियो पर गम्भीर सवाल पूछना मना है) कि क्या उन्होंने दलितों, पीड़ितों तथा शोषितों की जिंदगी पर भी कुछ लिखा है या कम नजाकत दिलों की रूमानी एवं जज्बाती बातों का गुदगुदा एवं भीना-भीना इजहार किया है। यहाँ पर मुझे परसाई जी का जबलपुर स्थित किराए का वह मकान याद आता है जो बरसात में जगह-जगह से चूता रहता है और उनके भानजे उनके पलंग को बार-बार यहाँ से वहाँ सरकाते रहते हैं कि कहीं तो पानी न टपकने वाली जगह मिले, बुंदेलखण्ड की चिलचिलाती दोपहरी में वह घर आग की भट्ठी की तरह तपता रहता है क्योंकि छतें एस्बेस्टस की हैं। ऐसा क्यों है? यह इसलिए कि परसाई जी ने मसाज कराने वाला, पोला, व सोडा साहित्य नहीं लिखा है, रंगीन पत्रिकाओं के मालिकों को रखैल की नहीं माना और लेखन को अपना व्यवसाय नहीं बनाया है। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे पढ़कर लोग तिलमिलाए हैं और बदले में उन्हें डंडों की मार पड़ी है। परसाई स्वयं आश्चर्य करते हैं कि वे पिछले पच्चीस-तीस

वरसों से लगातार लिख रहे है, उनकी कई किताबें छप चुकी है तथा नियमित 'कालम' भी लिखते हैं, लेकिन उन लेखकों की तुलना में, (आर्थिक हालत के हिसाब से) कितने पीछे है जो बडे बँगलों में रह रहे हैं, जिनके पास कारें है तथा जो दूतावासों के पैसों के सहारे यूरोप व अमरीका की सैर भी करते रहते है। ऐसा कहकर हम परसाई जी की गरीबी का न तो ढोल पीट रहे हैं और न ही उनके प्रति लोगों की दया या महानुभूति बटोरना चाहते है। कहने का मतलब केवल यह है कि लेखन के जरिए सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक चेतना जगाने का काम नरम-नरम बिस्तरों पर लेटकर, ड्राइंग-रूम में कॉफी या स्कॉच की चुस्की के साथ लफ्फाजी करने ऋषियों-मुनियों वाली तटस्थ दृष्टि अपनाकर नही किया जा सकता है। सार्थक व प्रभावशाली लेखन के लिए प्रतिबद्ध दृष्टि के साथ-साथ दो टूक बात कहने का माद्दा पैदा करना होगा तथा व्यवस्था—सरकार व पूंजीपति दोनों, के प्रलोभनों से बचना होगा।

यथा यथास्थितिवादी शक्तियाँ—पूंजीवादी एव सामंती दोनों, जन-मानस को भटकाने के लिए समय-समय पर बाबा-बैरागियों, भगवानों (रजनीश, साईं बाबा आदि), आदि का सुनहरा जाल फैलाती रहती है। देश मे होने वाले अनेक 'यज्ञों' तथा हरिजनों पर सवर्णों के अत्याचार के बारे में परसाई जी ने असलियत को सामने रखते हुए लिखा है, "....घुडसवार हरिजन दूल्हे का पीटना तो अश्वमेध यज्ञ है। हरिजनों की बस्ती मे आग लगाना राजसूय यज्ञ है .. देश में जब करोडों आदमियों को अन्न खाने को नही मिलता तब ये धार्मिक पाखंडी उसे आग मे झोंकेंगे। मेरे ख्याल से यह यज्ञ करने-कराने वाले समय-समय पर परीक्षा करते रहते है कि देश का अविवेक और पुरुषहीनता अभी बरकरार है कि नही। लोग देखते रहे कि हमारा अन्न, घी, शक्कर आग के हवाले किया जा रहा है और वे जय बोलते है। यानी लोग अभी जड, अविवेकी और कायर हैं। इन लोगों से अभी डरने की कोई जरूरत नही है। इन्हें लम्बे समय तक शोषित रखा जा सकता है। यज्ञ में, वास्तव मे अन्न, घी, शक्कर नही जलते, विवेक स्वाहा! बुद्धि स्वाहा! तर्क स्वाहा! विज्ञान स्वाहा!

"इन दिनों जो यज्ञों की बाढ आई है, नए-नए भगवान और देवियाँ अवतार ले रहे हैं, चमत्कार का दावा करने वाले प्रगट हो रहे हैं, यह अनायास नही है इसके पीछे योजना है जिसका उद्देश्य है जनता को पिछडा हुआ रखना। उसकी समझ को वैज्ञानिक न होने देना, उसे अंधविश्वासी और दकियानूस रखना, उसे भाग्यवादी और संघर्षहीन बनाना। बुरा उद्देश्य है कि लोग परिवर्तन की माँग न करें। वे सडी-गली व्यवस्था से विद्रोह न करें। शोषकवर्ग सामान्य जन का बेखटके शोषण करता रहे। यह एक देशव्यापी षड्यंत्र है, जिसमें राजनीतिज्ञ, सरमाएदार, बुद्धिजीवी आदि शामिल हैं।" ये सारे सवाल विशेषकर उन बुद्धिजीवियों से पूछे जाने चाहिए जिनकी मानसिकता इन्दिरा गांधी को अधिनायकवादी कहने, मार्च '77 चुनाव को दूसरी आजादी की संज्ञा देने, मधुलिमए-राजनारायण को

दल-बदलू करार देने, गो-वध एवं शराब विरोधी-आन्दोलन चलाने, इस मे लेखकों की यातनाओं (?) के विरुद्ध प्रस्ताव पास करने तथा कम्यूनिस्टों को सन् बयालिस का हवाला देते हुए देशद्रोही करार देने तक मे ही सीमित है। ये लफ्फाज, कागजी शेर तथा जनतंत्र के हिमायती कभी भी सामंती आतंक, बड़े-बड़े मंदिरों की दौलत, पूँजीपतियों की बढ़ती हुई दौलत, आदि जैसी बातों के खिलाफ क्यों कोई अभियान नही चलाते हैं? मधु मेहता (हिन्दोस्तानी आन्दोलन वाले), न्यायाधीश तारकुण्डे, छागला, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित, पालखीवाला, कुलदीप नय्यर, धर्मवीर भारती राजेन्द्र अवस्थी, निर्मल वर्मा आदि से ये सवाल पूछे जाने चाहिए। वैसे इनकी फेहरिस्त काफी लम्बी है।

किसी भी देश की युवा पीढ़ी से उम्मीद की जाती है कि वह समाज म व्याप्त कुरीतियों पोंगापंथियों, अंधविश्वासों आदि के खिलाफ जिहाद छेड़े तथा प्रगतिशील एवं वैज्ञानिक चिंतन के बीज बोए। हमारे देश की युवा पीढ़ी को संबोधित करते हुए परसाई जी ने लिखा है, ' यह एक योजनाबद्ध षड्यन्त्र है, जिसे यथास्थितिवादी और पुरातनपंथी इस देश मे चला रह है पर मुझे यह समझ में नही आता कि मेरी बाद की पीढ़ी के लोग और कालेज के पढ़े तरुण इस चक्कर मे क्यों पड रहे है? ये तरुण जिन्हे मुझसे बहुत अधिक वैज्ञानिक और प्रगतिशील होना चाहिए, जिन्हे परिवर्तन के संघर्ष का नेतृत्व करना चाहिए, जिन्हे विद्रोह की भूमिका निभानी चाहिए व क्यों अपने बाप के बाप के बाप की पीढ़ी के हो रहे है। अपनी भ्रामकता और निराशा मे कोई और रास्ता न दिखने के कारण ही तो ये इस भाग्यवादिता के चक्कर मे नही पड रहे है।"

हम जानते है कि व्यवस्था न युवा पीढ़ी को ऊँची डिग्री लम्बी तनखा, आरामदायक नौकरी का प्रलोभन दिखाकर अपने भ्रमजाल मे ऐसा उलझा रखा है कि वह सही मायने मे सामाजिक क्रान्ति मे भागीदार नही हो पा रही हैं। मैकाले की प्रदत्त औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति भारतीय 'ब्राउन साहबो' की अफसरशाही की गोद म और भी फल फूल रही है और हम लगातार क्लर्कों की जमात पैदा करते जा रहे हैं।

भारतीय पुलिस उसकी (कु) छवि तथा उसकी मजबूरियों—नेताओं से मिली-भगत, को उजागर करते हुए परसाई जी न आम आदमी के मन की बात कही है, "... भारतीय पुलिस एक अद्‌भुत चीज है, दिलचस्प है। मैं नही जानता किसी और देश म माँ अपने बच्चे को पुलिस का डर दिखाकर चुप कराती है। भारत, पाकिस्तान और बंगला देश म ऐसा होता है, क्योंकि तीनों की पुलिस संस्कृति एक ही है आजकल यूनीवर्सिटी की सारी परीक्षाएँ पुलिस करा रही है भारतीय पुलिस की अकथ कथा है। न्यायमूर्ति मुल्ला का वह रिमार्क बिल्कुल बेमानी नही है कि पुलिस सबसे संगठित अपराधी गिरोह है। जिन अपराधों को रोकने और जिनके करने वालों को सजा दिलाने की जिम्मेदारी पुलिस की है, वे अपराध पुलिस पेशेवर अपराधी से अधिक खूबसूरती से

करती है। कुछ खुद करती है। कुछ राजनैतिक सत्ताधारी कराते हैं। जघन्य से जघन्य अपराध राजनैतिक लोग इनसे कराते है, न करें तो तबादले, 'लाइन-अटैच' और निलम्बन की धमकी सत्ता पार्टी के छुटभय्ये तक देते है। पहले अपराधी को छुड़ाने के लिए एक आता था (कांग्रेस राज में) अब पांच आते है, एक के बाद एक, क्योंकि सत्ता में पांच घटक हैं" (यह जनता सरकार के समय की बात थी)। ऐसा नहीं कि परसाई जी पुलिस के प्रति सहानुभूति न रखते हो। पुलिस की उचित मांगों का समर्थन करते हुए वे नेताओं के भ्रष्टाचार का भी बखूबी भण्डाफोड करते हैं। वे लिखते हैं, "पुलिस भ्रष्ट है, अत्याचारी है, तो उसे कोई सुभीते नहीं मिलना चाहिए—यह एक खतरनाक तर्क है। इस तर्क को मानने से भारत के आधे से ज्यादा मंत्री सस्पेंड हो जाएँगे। लाइन अटैच हो जाएँगे। पुलिस वाले जानते हैं कि बहुत बडी संख्या में नेता लोग पुलिस रिकार्ड में निगरानी बदमाश हैं। पुलिस वालों का वेतन और सुविधाएँ बढ़ानी पड़ेंगी।"

शोषण-विहीन और समतावादी समाज की स्थापना के लिए जो लेखक अपनी लेखनी चला रहे है, परसाई जी उनमें अग्रणी है। आनेवाली पीढ़ी के दिशा-निर्देश के लिए हरिशंकर परसाई एक आकाश दीप के समान है।

—मधुमास चन्द्र

संदर्भ

1 मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनायें हरिशंकर परसाई, ज्ञान भारती, दिल्ली
2 वैष्णव की फिसलन हरिशंकर परसाई, राजकमल प्रकाशन दिल्ली
3 बोलती रेखाएँ हरिशंकर परसाई, लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर
4 एक लड़की पांच दीवाने हरिशंकर परसाई लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर
5 तीसरी आजादी का जांच कमीशन हरिशंकर परसाई, कथायात्रा (सं० कमलेश्वर), बम्बई
6 'माटी कहे कुम्हार से' हरिशंकर परसाई नियमित कालम 'करंट', हिंदी साप्ताहिक, बम्बई

दन वदलू करार दने गो वध एव शराव विरोधी आदोलन चलाने इस म लेखको की यातनाओ (?) के विरुद्ध प्रस्ताव पास करन तथा कम्यूनिस्टो को सन वयानिस का हवाला देते हुए देशद्रोही करार देन तक म ही सीमित है। ये लफ्फाज कागजी शर तथा जनतत्र के हिमायती कभी भी सामती आतक बड बड मदिरो की दौलत पजीपतियो की बढती हुई दौलत आदि जमी बाना के खिलाफ क्या कोई अभियान नही चलाते है ? मधु मेहता (हिन्दोस्तानी आदोलन वाले) यायाधीश तारकुण्ड छागला श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित पालखीवाला कुलदीप नय्यर धमवीर भारती राजेन्द्र अवस्थी निमल वर्मा आदि से य सवाल पूछे जाने चाहिए। वैसे इनकी फहरिस्त काफी लम्बी है।

किसी भी दश की युवा पीढी से उम्मीद की जाती है कि वह समाज म व्याप्त कुरीतियो पोगापथियो अधविश्वासो आदि के खिलाफ जिहाद छड तथा प्रगति शील एव वज्ञानिक चितन के बीज वोए। हमारे देश की युवा पीढी को सबोधित करत हुए परसाई जी न लिखा है यह एक योजनाबद्ध षडय त्र है जिस यथास्थितिवादी और पुरातनपथी इस दश म चला रह है पर मुझ यह समझ म नही आता कि मरी बाद की पीढी के लाग और कालेज क पढ तरुण इस चक्कर म क्यो पड रहे है ? य तरुण जिन्ह मुझम बहुत अधिक वज्ञानिक और प्रगतिशील होना चाहिए जिन्हे परिवतन के सघष का नेतत्व करना चाहिए जिन्ह विद्रोह की भूमिका निभानी चाहिए व क्यो अपने बाप के बाप के बाप की पीढी के हो रहे हैं। अपनी भ्रामकता और निराशा म कोई और रास्ता न दिखने के कारण ही तो ये इस भाग्यवादिता क चक्कर म नही पड रहे है।

हम जानते है कि व्यवस्था न युवा पीढी को ऊँची डिग्री लम्बी तनखा आराम दायक नौकरी का प्रलोभन दिखाकर अपन भ्रमजाल म एसा उलझा रखा है कि वह सही मायने म सामाजिक क्रान्ति म भागीदार नही हो पा रही है। मैकाले की प्रदत्त औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति भारतीय ब्राउन साहबो की अफसरशाही की गोद म और भी फल फूल रही है और हम लगातार क्लर्कों की जमात पदा करत जा रहे है।

भारतीय पुलिस उसकी (कु) छवि तथा उसकी मजबूरियो—नताओ से मिली भगत को उजागर करते हुए परसाई जी न आम आदमी क मन की बात कही है भारतीय पुलिस एक अदभुत चीज है दिलचस्प है। मैं नही जानता किसी और दश म माँ अपन बच्चे को पुलिस का डर दिखाकर चुप कराती है। भारत पाकिस्तान और बगला दश म ऐसा होता है क्योकि तीनो की पुलिस सस्कृति एक ही है आजकल यूनीवर्सिटी की सारी परीक्षाएँ पुलिस करा रही है भारतीय पुलिस की अकथ कथा है। यायमूर्ति मुल्ला का वह रिमाक बिल्कुल बेमानी नहा है कि पुलिस सत्रस सगठित अपराधी गिरोह है। जिन अपराधो को रोकन और जिनके करन वालो को सजा दिलान की जिम्मेदारी पुलिस की है वे अपराध पुलिस पशेवर अपराधी से अधिक खबसूरती स

एक खबर खोजी

तुलसीदास ने रामचरितमानस में लिखा—"कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहा लिखि कागद कोरे।" यह उक्ति तुलसीदास के लिए जितनी ठीक बैठती है, उससे कहीं अधिक सटीक बैठती है दो आधुनिक लेखकों के लिए। उनमें एक हैं—प्रेमचन्द और दूसरे हैं हरिशंकर परसाई। तुलसीदास और प्रेमचन्द के विषय में लोग अधिक जानते हैं, परसाई के विषय में कम। पर कई बातें हैं जो इनमें समान हैं। पहली बात तो यह है कि ये अपनी रचनाओं में आद्योपान्त जीवन से जुड़े हैं। दूसरी बात यह है कि इनकी भाषा सरल लोक भाषा है और तीसरी बात यह है कि इन तीनों में जीवन की घटनाओं और चरित्रों के आरपार देखने की अद्भुत शक्ति है। तीनों ही यथार्थ जीवन के क्रान्त द्रष्टा हैं। फिर भी न प्रेमचन्द तुलसीदास हैं और न परसाई प्रेमचन्द। तुलसीदास ने पुराण के महत्त्व वाला महाकाव्य लिखा और व्यक्तित्व का अतिशय प्रचार किया। प्रेमचन्द ने यथार्थ जीवन के महाकाव्यीय महत्त्व वाले उपन्यास लिखे और प्राय गाधीवादी आदर्शों का प्रचार किया। परन्तु परसाई ने पुराण, महाकाव्य और उपन्यास कुछ भी नहीं लिखे और किसी भी आदर्श या दर्शन का प्रचार नहीं किया, फिर भी ये उसी राह से जुड़े हुए हैं जो तुलसी और प्रेमचन्द की है। वह राह है मानव-मानव के समत्व की। बिना किसी प्रकार के प्रचार और उपदेश की भावना के, परसाई के लेखन में मानव-मानव के बीच की असमानता का विरोध और समानता की स्थापना है। असमानता और आडम्बर परसाई जी को सह्य नहीं है। पर यह असमानता, बनावट और आडम्बर—समाज में अतिशय व्याप्त है, अतएव परसाई जी के लेखन का ये तीव्र प्रेरणा देते हैं और इनके प्रति तीव्र असहिष्णुता परसाई जी के लेखन को तीखा व्यंग्य और तुरशी प्रदान करते हैं। जब तक परसाई जी की परिकल्पना की समानता हमारे सामाजिक जीवन में न आयेगी तबतक उनकी लेखनी की छटपटाहट और चरपराहट कम नहीं होगी।

यद्यपि परसाई जी ने कहानियाँ भी लिखी हैं, पर उनका लेखा कहानीकार या उपन्यासकार या कवि के जैसा लेखन नहीं है। उनका लेखन हमारे आसपास के वर्तमानजीवन का वास्तविक इतिहास है। इसके चरित्र सुप्रसिद्ध व्यक्तित्व चाहे भले ही न हो, पर उन सब में कहीं-न-कहीं कोई चिनगारी है—कोई छिपा हुआ जीवन-मूल्य है जो उनके लेखन को केवल कथा कहानी के रूप में पढ़कर, मन बहलाव कर रख देने वाला नहीं, वरन् वर्तमान और भविष्य के जीवन-दर्शन का

सरोकार बना देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह फिल्मी या काल्पनिक नहीं, वरन् वह 'डाकूमेण्ट्री' लिए है। उसे पढ़कर हम अपने आसपास के जीवन को साक्षात् कर सकते हैं। 'डाकूमेण्ट्री' से मेरा तात्पर्य केवल यह है कि यह लेखन वास्तविक, यथार्थ और विश्वसनीय है और 'सत्य कहौं लिखि कागद कोरे' की भावना से ओतप्रोत है, पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह ऊपरी या बाहरी है। वह इतिहास के ऊपरी सत्य को ही प्रकट करने वाला नहीं वरन् वह सचाई की उन परतों, उन गहराइयों एवं भाव और चेतना की उन तरंगों का उद्घाटन करने वाला है जिसे परसाई जी ही देख सकते हैं। कभी-कभी लगता है कि परसाई जी का रहस्योद्घाटन, 'सी० बी० आई०' की रिपोर्ट जैसा है जिसे पढ़कर लगता है कि हां जो घटना हम देखते हैं, वह अधूरी है और उसके भीतर का वास्तविक सत्य यह है जो कितना रहस्यमय है। यही रहस्योद्घाटन उनके लेखन के रोचक होने का महत्त्वपूर्ण कारण है। पर यह रहस्य वे कैसे जानते हैं या प्राप्त करते हैं, इसका रहस्य तो वही बता सकते हैं। हम केवल यही कह सकते हैं कि जीवन के प्रत्येक स्तर प्रत्येक पक्ष से घनिष्ठता से जुड़े रहकर ही यह दृष्टि नहीं प्राप्त होती, जो परसाई जी के पास है। पुरानी शब्दावली में इसे लेखन-प्रतिभा कहा जा सकता है। पर प्रतिभा की जीवन से इतनी संपृक्तता दुर्लभ है।

परसाई जी का लेखन सच्चा है, पर सीधा नहीं है। वह सत्य का साक्षात्कार कराता है—उसको विविध रंगों और तरंगों में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। सचाई के रहस्य का उद्घाटन करने के कारण उस लेखन की वस्तु रोचक है और उसे तीखे अनुभव के रस या रंग से सराबोर करके व्यक्त करने के कारण उनकी शैली भी रोचक है। उनके गद्य लेखन के एक-एक शब्द में उसी प्रकार की रोचकता और चरफरापन है जैसी कि कविता के शब्दों में होती है जो प्राय कहानी या गद्य के लेखकों के लेखन में नहीं मिलती। उनके शब्द और मुहावरे सहज होते हुए भी बड़े सटीक और पैने होते हैं, क्योंकि उनमें व्यंग्य भरा रहता है। कोई संस्मरण लिखते-लिखते वे लिख देंगे : "मुझे पहली बार मालूम हुआ कि तली मछली और सलाद के साथ देश की दुर्दशा इतनी स्वादिष्ट लगती है।" कहीं दो भ्रष्टाचारियों का वर्णन करते हुए अन्त में कह देंगे कि "स्वाभाविक है कि दो सज्जनों में मित्रता होगी।" उनका व्यंग्य किस शब्द, किस मुहावरे या किस वाक्य में कब कहाँ उभर उठेगा, इसका अन्दाज लगाना संभव नहीं है। उनके व्यंग्य की धार बड़ी पैनी होती है, वह कब, कहाँ, और कितना काटेगी—इसका अनुभव धार के चल जाने पर ही होता है—पहले नहीं, चाहे कोई कितना ही सचेत क्यों न हो।

परसाई जी अपने लेखन में तीन रूपों में हमारे सामने आते हैं—एक कहानीकार, दूसरे संस्मरणात्मक शब्द चित्रकार और तीसरे समीक्षक या समीक्षापरक निबन्धकार के रूप में। तीनों में ही वे अलग हैं। उन्हें सभी जगह पहचाना जा सकता है। उनकी कहानियाँ पूर्ण यथार्थवादी और आधुनिक होती हुई भी अपने

भीतर कोई-न-कोई नीति या मूल्य छिपाये रहती हैं, जो उनमें व्यंग्य से प्रकट होते हैं। सस्मरणों में प्रायः चरित्रों की दुर्बलता का उद्घाटन होता है, जो शायद हमारे देखने में कभी न आती। कभी-कभी जिसे हम अच्छा समझते हैं, उसके भीतर अच्छाई के आवरण में छिपी हुई कुत्सा को वे इस तरह प्रकट करते चलते हैं कि हम पढ़कर अवाक् रह जाते हैं।

समीक्षक रूप में परसाई जी दलबन्दी और नारेबाजी का सदैव विरोध करते हैं। मूल्यों का विघटन, क्षणवाद और 'आधुनिकतावाद' जैसे नारों पर उन्होंने करारा व्यंग्य किया है। आंचलिकता की भी उन्होंने खिल्ली उड़ायी है। 'कल्पना' पत्रिका के लिए लिखे गये एक व्यंग्य-स्तम्भ के अन्तर्गत 'गोदान' के एक पात्र मेहता के साथ हुए स्वप्न-संवाद में परसाई जी ने आधुनिकता को लेकर काफी प्रहार किया। मेहता जी के मानसपुत्र के सम्बन्ध में बताते हुए उन्होंने लिखा''' "मैंने एक दिन उससे पूछा कि भाई, उदास क्यों रहते हो? उसने कहा कि मैं बुद्धिजीवी हूँ। प्रसन्न रहना गँवारी है, उदास रहना बौद्धिकता का लक्षण है।''' काम करना और खुश रहना पुरानापन है। काम नहीं करना और उदास रहना आधुनिकता है।" उसके पास पश्चिम में बुद्धिमानों की चिट्ठी आयी है कि इधर हम सब उदास हो गये हैं, तुम भी उदास हो जाना। तभी से वह उदास रहने लगा है। उसे आधुनिकता ग्रहण करनी है न।" उसे आधुनिक भाव-बोध हो गया है।"

परसाई जी स्वतन्त्र लेखक हैं। उनकी स्वतन्त्र लेखन-शैली उनके अनुभवों की उपज है। जीवन को देखने की उनकी अपनी दृष्टि है जिसे जहाँ कहीं भी अनुचित और बनावटी है, स्पष्ट दिखता है और वे उस अनौचित्य और बनावटीपन पर डटकर प्रहार करते हैं। अनुचित और कृत्रिम को देखने और उस पर व्यंग्य कसने के लिए निश्चित रूप से कोई जीवन-मूल्य और आदर्श चाहिए। यद्यपि वे जीवन-मूल्य और आदर्श उनके लेखन में ऊपर-ऊपर स्पष्टतया नहीं दीखते जैसे कि प्रेमचन्द या तुलसीदास की रचनाओं में दीखते हैं, पर वे उनकी दृष्टि में छिपे अवश्य हैं, तभी वे विकारों पर प्रहार करते हैं। उनका व्यंग्य कबीर के लुकाठे के समान है जो अनौचित्य पर सीधे लुकुचा लगाता है। यह लुकुचा लगाने की तरकीब परसाई जी की विलक्षण है। कहीं वे नेताओं या साहित्यकारों की नकल (पैरोडी) लिखकर उन पर करारा व्यंग्य करते हैं और कहीं वे किसी अन्य वर्णन के बहाने जिस पर चाहते हैं उस पर अपना व्यंग्य का चाबुक चलाते चलते हैं। परसाई जी ने संकल्प किया कि गोस्वामी तुलसीदास के वर्षा-वर्णन का सहारा लेकर वर्षा के सौन्दर्य का वर्णन किया जाय, पर उसका नमूना देखिए कि वह किसकी खबर लेता है—

'देखो, बादलों में कभी-कभी बिजली चमक जाती है, जैसे दो-चार महीनों में किसी पत्रिका में कोई अच्छी कविता दिख जाती है।

मेंढक भागे और टर्रा रहे हैं जैसे नये कवि रचना-प्रक्रिया पर चर्चा कर रहे हों।

पक्षी घोंसलों से सिर निकालकर बार-बार झांक रहे हैं जैसे बड़े लेखक लिखना छोड़ उत्सुकता से प्रतिनिधि-मंडलों में विदेश जाने का मौका ताक रहे हैं।

इस सूखे वृक्ष में एक फुनगी फूट आयी है, जैसे किसी चुके हुए सयाने लेखक को 'पद्मभूषण' की उपाधि मिल गयी हो।"

स्पष्ट है कि परसाई जी के मन में साहित्य और साहित्यकार के गौरव के सम्बन्ध में एक ऊँची धारणा विद्यमान है, इसीलिए, लेखक का व्यवहार या कार्य तथा रचनायें जब अपने महत्त्व से गिर जाती है, तब वे उनके लिए हँसी का पात्र बन जाती हैं। परसाई जी की दृष्टि में औचित्य और जीवन-मूल्यों की एक खरी कसौटी है जिस पर पड़ते ही खरे और खोटे का फैसला होते देर नहीं लगती। यह दृष्टि बड़ी तटस्थ है जिसके सामने अपने और पराये का भेद नहीं। उस पर सभी की रेखायें अपने मूल्यों के आधार पर हल्की और गहरी उतरती हैं।

परसाई जी की अभिव्यंजना-शैली बड़ी सहज है। उनकी भाषा में कहीं भी कृत्रिमता और बोझिलता नहीं। उनकी शब्दावली सरल और मुहावरेदार है, उसमें किसी प्रकार की जटिलता या उलझाव नहीं। पढ़ने वालों को ऐसा लगता है जैसे उनकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अनुभूति और विचार-तरंगों में इतनी स्वच्छता और स्पष्टता है कि वे उन्हें सहज बोलचाल की भाषा में इस तरह कहते चले जाते हैं कि अनुभूति की चुभन और विचार की अकुलाहट उसमें स्वतः उतरती चली जाती है। उनकी रचना, उनकी अनुभूति या संवेदना की अनायास किन्तु परिपूर्ण एवं प्रभावशाली अभिव्यक्ति लगती है। इतना ही नहीं दूसरों में भी संवेदना जगाने की उसमें अद्भुत शक्ति है। पर विशेषता यह है कि शब्द वही हैं जो हम सब नित्य-प्रति बोलते हैं, फिर भी अपने विशिष्ट संदर्भ और मुहावरे में जुड़कर वे गहरा घाव करते हैं। परसाई जी सरल भाषा शैली के समर्थ लेखक हैं और तुलसीदास की यह पंक्ति अपने तीन-चौथाई अंश में परसाई जी की रचनाओं के लिए ठीक बैठती है—

सरल कवित कीरति विमल, तेहिं आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥

—भगीरथ मिश्र

मैं हरि ....

निरन्तर बदनाव की बेचैनी लिए हुए एक व्यापक असन्तोष आज के साहित्य का प्रमुख स्वर है और व्यंग्य उसका सबसे विश्वसनीय, सबसे तेज धारदार हथियार। व्यंग्य-चित्र और व्यंग्य-लेख आज जैसी तीखी मार कर लेते हैं वैसी किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। समाज की मानसिकता बदलने में, व्यक्ति के भीतर उमड़ते-घुमड़ते विद्रोह को आकार देने में तथा जीवन की अनेक स्तरीय विसंगतियों को उजागर करने में व्यंग्यकार का अपना सुनिश्चित योग होता है। श्रीलाल शुक्ल, शरद् जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी और केशवचन्द्र वर्मा आदि अनेक व्यंग्यकारों के बीच हरिशंकर परसाई का स्थान किसी से घटकर नहीं है, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं। उनके व्यंग्य-लेखन में जितना पैनापन, जितनी सदर्भमयता, जितने पहलू और जितनी धारावाहिकता है, उतनी एकसाथ, हिन्दी में, कहीं अन्यत्र नहीं मिलती। वे एक ऐसे आगम्न व्यंग्य-लेखक हैं जिनकी प्रतिबद्धता ही शक्ति और सीमा दोनों बन जाती है।

बहुत से व्यंग्यकार औरों पर ही व्यंग्य करने के अभ्यासी होते हैं, कुछ अपने पर भी व्यंग्य करने की चतुराई दिखाते हैं पर व्यंग्य के माध्यम से अपनी वैचारिकता का परिष्कार करने की प्रवृत्ति किसी-किसी में ही होती है। किसी विशेष विचारधारा का प्रचार व्यंग्यकार का धर्म नहीं है। जीवन की मूलभूत प्रेरणा को, मानवीय स्तर पर लाकर, असंगत-विसंगत देश-परिवेश की घातक छायाओं से, एक सहज विनोदी स्वभाव के साथ मुक्त करते हुए वह किसी महत् उद्देश्य की ओर इंगित करना नहीं भूलता। पर व्यंग्यकार की अस्मिता होती ही ऐसी है कि वह किसी भी महानता को बिना प्रश्नचिह्न अंकित किए, बिना उसकी बखिया उधेड़े, बिना उसको ठोंके-बजाये स्वीकार नहीं कर पाता। हर चीज को अपने स्तर पर लाकर और बहुधा छोटा या साधारण बनाकर उसे असाधारण सुख मिलता है। यही उसका प्रतिफल है, यही प्रेरणा, यही कर्म। उसके सामने से कोई महान् बनकर निकल तो जाय! कोई धोखा दे तो भला! कोई मानवता को ठग तो ले!

मैं बिना उनसे पूछे उनके बारे में यह सब लिख रहा हूँ, मेरी भी खैरियत नहीं है। यों सूर-जयन्ती के विश्वविद्यालयीन समायोजन में जब मैं गतवर्ष जबलपुर गया था तो उनसे मिले बिना नहीं लौट सका। प्रमोद सिन्हा साक्षी हैं उस भेंट-प्रसंग के, साक्षी ही नहीं, साक्षात्कारक भी। इच्छा मेरी, सहायता उनकी।

रोड बानक बने । मैं हरि······।

भाई कमलाप्रसाद की पत्रावली (नाटिका) ने जब मेरे हृदय की कैशिकी वृत्ति को जागरित कर ही दिया तो मैं अपनी जानकारी को ताजा करने के लिए तत्पर हो उठा। 'हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2' उठाया, देखा उसकी शब्दावली मे और नाम तो मिले, जैसे 'हरिवशलाल शर्मा', 'हरिवश सहस्र नाम', पर इसके बाद होना चाहिए था 'हरिशकर परसाई' सो उसकी जगह 'हरिशकर शर्मा' विराजमान थे। कुछ ऐसी ही स्थिति मुझे द्वितीय सशोधित परिवर्धित सस्करण वाले 'हिन्दी सेवी ससार' की दिखाई दी। उसमे भी कई 'हरिशकर' थे, कुछ अल्ल-महित कुछ अल्ल-रहित। सहितों मे 'द्विवदी', 'शर्मा, 'उपाध्याय' और यहाँ तक कि 'वैदिक' भी थे पर 'परसाई' का दरस-परस (सम्पादक को) हुआ ही नही था। अब इस स्थिति मे कोई चाहे तो दो निष्कर्ष बडी आसानी से निकाल सकता है। पहला—प्रयाग वालो यानी परिमल वालों ने जान-बूझकर प्रगतिशील व्यग्यकार हरिशकर परसाई की उपेक्षा की, दूसरा—हिन्दी के सच्चे सेवको को हिन्दी सेवी ससार से बहिष्कृत किया गया है—यह सरासर अन्याय है। मैं ऐसे पक्षपात और अन्याय के विरुद्ध आपके साथ हूँ, इसका प्रमाण यही है कि मैं अपने लेख मे इस सवाल को स्वय उठा रहा हूँ। अगर इतने पर भी आपको विश्वास न हो तो मेरा दुर्भाग्य।

जो पुस्तक मेरे पास कमलाप्रसाद जी ने भेजी वह तो सुलभ हुई नही पर अपनी पुस्तकों को टटोलते हुए 'और अन्त मे', अपना नाम सार्थक करती हुई हाथ म आ गयी। उसके फ्लैप से पता चला कि तीन चौथाई दर्जन पुस्तकें परसाई जी की छप चुकी है और मेरे पास उनमे से एक भी नही ! पुन सकोच म पड गया। इतने बडे अभाव के रहते कुछ लिखने की हिम्मत कैसे करू ! और खोजबीन की तो 'सकेत' मे 'रागविराग' नामक एक व्यग्य-लेख और मिल गया जिसमे प्रगलभा-नारी के बगल मे बैठे वीतराग सन्यासी की गत बनायी गयी थी। आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यग्यनाम से ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित सग्रह मे 'बोर एक दर्शन' शीर्षक एव नायाब चीज अनायास ही हाथ आ गयी। मैंने सोचा जब सब का सार हासिल हो जाय तो बाह्य वस्तुओं की चिन्ता करना व्यर्थ है। अब इस अल्प पूँजी से कितना लेखन व्यापार समव हो सकेगा, मैं स्वय नही कह सकता। जैसे व्यग्यकार सारा दोष औरो के सर मढता रहता है वैसे मैं भी अपने को निर्दोष माने लेता हूँ।

परसाई जी न 'रानी नागफनी की कहानी' लगता है इशा अल्ला खाँ की मुद्रा मे लिखी। 'बेईमानी की परत' और 'सदाचार का तावीज' सामाजिक सदर्भ मे व्याप्त अनैतिकता और अधविश्वासो का तोडने की प्रवृत्ति का प्रमाण है। उनकी कई रचनाओ के नाम छायावादी हैं। परन्तु 'भूत के पाँव पीछे' काफी रोचक दृश्य प्रस्तुत करती है। 'अतिशय अतीतोन्मुखी वृत्ति के प्रति व्यग्य के हाथ। इस नाम से मुझे मिर्जापुर क्षेत्र मे भणवा महरानी मे मिले एक शिला चित्र

का स्मरण हो आता है जिसमे सचमुच ऐसा ही चित्रण मिलता है। शिलालेखो की परम्परा मध्य प्रदेश तक व्याप्त है। अत वहाँ का लेखक उसी तरह का साक्षात्कार करके व्यग्य करे तो उचित ही है।

अपने पर व्यग्य

बाइविल म सृष्टि-प्रक्रिया का जो वर्णन मिलता है उसकी प्रेरणा से 'बोर एक दर्शन' उन्होने स्वय अग्रेजी मे अपना उद्भव बयान किया है—

God Said, 'Let there be a pleasant Bore' and there was Hari Shanker Persai

यानी एक सुखद बोर के रूप मे ईश्वर ने ही उन्हे उत्पन्न किया है। सुखद तो वे है ही, इसम सदेह नही, पर बोर भी है यह सिद्ध करने के लिए किसी महा-बोर की आवश्यकता होगी। फिलहाल मैं इस कार्य के लिए तैयार नही हूँ क्योकि अभी मुझ पर उनका प्रभाव है और यह लेख मैं उन्हीं के सम्मान मे लिख रहा हूँ। हाँ इतना सुझाव अवश्य दे सकता हूँ कि जबलपुर विश्वविद्यालय ने किसी शोध छात्र को उनके ही निर्देशन मे यह विषय दे दिया तो समस्या हल हो सकती है। क्या मैं आशा करूँ कि डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय इसकी यथाशीघ्र व्यवस्था कर देंगे ?

परसाई जी ने एक बोर महाशय से त्रस्त होकर मन ही मन कहा था—'कछु मेरिचो पीर हिये परसो।' हो सकता है उन्हे फिर किसी कवि की याद आ जाय और वे घनानद की जगह उसकी पक्ति का अश उद्धृत कर वैठें। बोर के दस भेद, शोध कार्य को सरल बनाने के लिए उन्होने स्वयं बता दिए हैं, यथा—(1) बकवादी बोर (2) मौन बोर (3) जिज्ञासु बोर (4) साहित्यिक बोर (5) चापलूस बोर (6) मधुर बोर (7) आक्रमणी बोर (8) सार्वजनिक बोर (9) बोर डिलक्स (10) मिशनरी बोर।

यदि शोधकर्ता और उसके निर्देशक को हिन्दी समझने मे कठिनाई हो तो इन सभी भेदो के अग्रेजी पर्याय भी कोष्ठको मे दे दिये गये हैं। इससे प्रेरणा-स्रोत खोजने मे विशेष सहायता मिलेगी। एक अध्याय हास्य-व्यग्य लेखो मे आये हुए उनके गूढ वाक्यो के विषय मे रखा जा सकता है जैसे—'सफर मे बोर व्यापारी निमोनिया मे मुरब्बे की तरह ही है।' सकेत, पृ० 483। निष्कर्ष या उपसहार भी इसी सूत्र वाक्य के आधार पर लिखा ही जा सकता है—

> 'भूत भगाने के लिए तो हनुमान चालीसा भी है—
> बोर को भगाने के लिए न तत्र है न मन्त्र।'
>
> —'और अन्त मे', पृ०121

कवि बायरन का साक्ष्य देकर उन्होंने समाज को दो भागो मे विभाजित बताया है—'The bores and the bored'। यह विभाजन 'शोषित' और 'शोषक' के समानातर होते हुए उतना शुष्क सैद्धान्तिक और अतिपरिचित नही है। समाज

को सुधारने का उपाय भी परसाई जी ने बडे मजे मे समझा दिया है—"मैं बोर को दुनिया का सबसे हिंसक प्राणी मानता हूँ। अगर किसी जघन्य अपराधी को दण्ड देना है तो उसे चन्द घण्टे किसी बोर के हवाले कर दीजिए।" मेरा सुझाव माना जाय चाहे न माना जाय पर उनका यह सुझाव यदि प्रतिबद्ध साहित्यकारो को मान्य हो जाय तो साहित्य का बडा कल्याण हो।

हिन्दी शोध और शोधकर्ताओ की खबर

मैंने 'बोर दर्शन' पर शोध का सुझाव यो ही नही दिया है। हिन्दी शोध कार्य के विषय मे परसाई जी की जैसी धारणा है उससे मैं पूरी तरह अवगत एव सहमत हूँ। इसीलिए किसी दूसरे के निर्देशन की बात भी मेरे मन मे नही आयी। जब चक्की चलती है तो जो दाना कीली के पास रहता है, वही बच पाता है। अत मैं इस विषय मे, वैचारिक भूमि पर, उनके सन्निकट ही रहना चाहता हूँ। आप उनके अभिमत की बानगी देखना चाह तो लीजिए देखिए, जब वे स्वय शोधक बनने चले तो क्या हुआ—

"शोध का बडा हल्ला है। साहित्य के डाक्टरो, कम्पाउडरो, नर्सों और मलहम पट्टी करने वालों का क्रम लगा है" ऐसे मे जो शोध न करे वह अभागा। अभागा होने से बचने के लिए ही मैंने भी किसी विषय पर शोध करने का इरादा एक मित्र पर प्रकट किया तो उसने पूछा, "तुम्हारी दाढी है ?··· दाढी होती तो तुम आचलिक शोध कर सकते थे।" आचलिक कथा से तो मेरा परिचय था पर हिन्दी मे 'आचलिक शोध' भी होती है।"

इसके बाद उन्होने शोध की पूरी प्रक्रिया को सरलीकरण का, आचलिक गीतो के सकलन, चयन आदि के सदर्भ मे जो खाका खीचा है, वह पढने के योग्य ही है। (और अन्त मे·· पृ० 44-48)। 'छायावादी काव्य मे नारी' की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उन्होंने हिदायत दी— "विशेषज्ञ से दूर रहना क्योंकि वह कष्ट देता है।" आज के अनेक शोध छात्र इस नेक सलाह के लिए उनके कृतज्ञ होंगे। यदि वे इसे यू०जी०सी० मे स्वीकृत करा दें तो क्या कहने। प्रथम चरण—आचार्य की रुचियो पर शोध, द्वितीय चरण—आचार्यों तथा आचार्य सन्तति की रुचियो पर शोध, तृतीय चरण—आचार्य के साहित्यिक और गैर साहित्यिक शत्रुओ की तालिका बनाना और हर एक की व्यक्तिगत कमजोरियो पर शोध करना। अब मैं सारे चरण कहाँ तक गिनाऊँ अन्तिम यानी सप्तम चरण है—आचार्य की सेवाओं के प्रकारो की शोध। मजा यह है कि यह रूपरेखा पूरी करने पर डिग्री 'छायावादी काव्य मे नारी' पर ही मिलेगी ऐसा आश्वासन पाकर परसाई जी आचार्य के प्रति निष्ठा जाग्रत करने मे लग गये। शायद अब भी रोज पाठ करते हों—

'नाते सकल, राम तें मनियन सेवक-सेव्य जहाँ लौ।'

देखा आपने। अपने को शोधार्थी की नाटकीय भूमिका मे रखकर हिन्दी शोध शोधकों और शोध निर्देशक आचार्यों की कैसी गत बनायी है भाई परसाई जी

ने। कैसी गहरी चोट की है स्वार्थ पर, गुरुओं पर जिनके लिए शिष्य को 'बाजार से खरीदा आम बनारस से लाया' बताना पड़ता है और ऐसे ही न जाने कितने सेवा कार्य करने पड़ते हैं। डिकेन्स ने 'टू दि ब्वायज हाल' की कल्पना यों ही नहीं की थी। और अपना देश क्या इंग्लैंड से कम है?

'नयी कविता' और 'अर्थ-लय' के बहाने मेरा सफाया

इसी शोध-संदर्भ में आचार्य के श्री मुख से परसाई जी ने कहलाया है—'प्रेमचन्द प्रचारक हैं', 'यशपाल नारेबाज हैं', 'उग्र गंदा है', 'नया साहित्य कचरा है' और 'नयी कविता—हुश्ट!' यानी वे स्वयं नयी चेतना के वाहक इन सबको सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण मानते हुए उनकी अवमानना करने वाले आचार्य महोदय पर ललित व्यंग्य कर रहे हैं। मेरा बड़ा हौसला बढ़ा। जानबचने का सन्तोष भी हुआ पर ठहरा कहाँ। एक दूसरी जगह देखता हूँ मेरे बड़े भाई सीधे वर्षा-वर्णन की पैरोडी में लक्ष्मण को नयी उपमाओं का मर्म समझाते-समझाते राम की जगह परशुराम बन जाते हैं। दायें-बायें इधर-उधर तान-तानकर कुठाराघात करने लगते हैं। हिन्दी शोध तो उनकी नजर में थी ही, 'नयी कविता' और 'अर्थ लय' को भी उन्होंने चपेट दिया।

'बन्धु वर्षा-वर्णन यहीं समाप्त होता है। इसमें बिम्ब-प्रतीक सब नये हैं, शब्द चाहे न हों पर अर्थ की लय तो है ही, आधुनिक भाव-बोध भी है। कोशिश करके इसे 'नयी कविता' में शामिल करवा देना। यदि इस व्यंग्य खण्ड को स्वीकार किया गया, तो मैं प्रोत्साहित होकर चौथे सप्तक तक 25-30 कविताएँ लिख ही डालूँगा।'

अब आप मुलाहिजा फर्माइए कि कितना अन्याय है वात्स्यायन जी का कि 10-15 वर्ष पहले जिस व्यंग्यकार, साहित्यकार ने चौथे सप्तक के प्रकाशन की भविष्यवाणी कर दी हो उसको उन्होंने पूछा तक नहीं और न जाने कहाँ-कहाँ के कवि भर लिए। धर्मयुग में जो उसकी समीक्षा छपी है उससे तो यही लगता है कि अच्छा हुआ परसाई जी को वह संकट झेलना नहीं पड़ा। कविताएँ लिख भी डाली होंगी तो कहीं और काम आ जायेंगी। पर मैं जानता हूँ कि परसाई जी व्यंग्य में कही हुई अपनी हर बात को वस्तुतः चरितार्थ करने लगें तो कहीं न रहें। बात की बात के लिए कहना और बात और करना। चतुर आदमी हर कही हुई चीज को कर दिखाने की गलती कभी नहीं करते। अगर ऐसी गलती दूसरे करते हैं तो वह खुश होते हैं।

स० ही० वात्स्यायन को उन्होंने 'अज्ञेय जी का गद्य-नाम' बताते हुए सालेक पहले 'कल्पना' में छपी हिन्दी शोध विषयक उनकी टिप्पणी से प्रेरित होकर उनके जुमले पर जुमला लगाया—

'शोध अलग चीज है फिर हिन्दी शोध अलग जैसे कई लोगों की नजरों में कविता अलग चीज है और नयी कविता अलग। और अब जल्दी ही कहानी में नयी

कहानी अलग हो रही है।'

परसाई जी की यह बात भी ठीक निकली। नयी कविता के समानान्तर नयी कहानी, नयी समीक्षा आदि शब्द हिन्दी में अस्तित्ववान हुए। नामवर जी ने इस दिशा में अपने को होम दिया।[1] परसाई जी नयी कविता के बारे में कुछ भी कहें, मैं उन्हें भविष्यद्रष्टा मानने में कतई कोताही नहीं करूँगा। वे 'अर्थ की लय' की जगह 'अर्थ की प्रलय' करा दें तो भी।

मुक्तिबोध और प्रगतिशीलता की पैमाइश

परसाई जी की लेखनी की ताकत और व्यंग्य के मामले में उनका अपना बेलौसपन मुक्तिबोध की मृत्यु को लेकर जितना साफ सामने आया उतना अन्य प्रसंगों में शायद नहीं। उसमें उन्होंने किसी को नहीं बख्शा—

"मुक्तिबोध जब मृत्यु के पास पहुँच गये, तब बताने वालों ने बताया कि यह तो असाधारण है। और जब उनकी मृत्यु हो गयी तब बताया कि वह तो महान था। जो इतने सालों से कहते रहे थे कि मुक्तिबोध कविता नहीं लिखते, भाषण देते हैं, वे भी जय बोलते पकड़े गये। मार्क्सवादी विश्वासों के कारण जो उन्हें कवि नहीं मानते थे, वे भी कहने लगे कि उन विश्वासों के 'बावजूद' वह बड़ा कवि था। और जो प्रगतिशील कठमुल्ले, सिर्फ नारों की समझ के मालिक होने के कारण, उनके विकट बिम्बों और उन्हें गूँथते विचारों को नहीं समझते थे, वे भी मानने लगे कि वह बड़ा कवि था।"

वहीं फिर लिखते हैं—"मुझे मुक्तिबोध की आवाज सुनायी देती है—वाह पार्टनर जरा यह मजा भी देखो। वाह साहब यह भी खूब रही।"

उत्पीडित मन से सारे युग-बोध को एकत्र करते हुए निष्कर्ष वाक्य लिखते हैं—

"सही मूल्यांकन के लिए अभी भी लेखक को कितनी परिस्थितियाँ पैदा करनी पड़ती हैं—कठिन बीमारी मुख्यमंत्री, प्रधानमन्त्री, मौत। मुझे पता है कि जो 50-60 मील भोपाल देखने नहीं आये, वे विह्वल होकर 400 मील दिल्ली दौड़ते गये—लगभग मूर्च्छित से होकर। प्रधानमन्त्री ने मरने वालों को बुलाया था न?
—और अन्त में, पृ० 97-98

भारी विडम्बना देखकर मुक्तिबोध का अट्टहास उनके भीतर गूँजने लगा। किशनचन्दर की एक गधे की कहानी का स्मरण करते हुए उन्होंने प्रसंगान्तर करना चाहा। उस गधे ने पूछा—

'एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील लेखक के गधे होने के कारण तुम्हें प्रगतिवादी

1 लेकिन परसाई जी ने दिल्ली में हुई 'समीक्षा' की गोष्ठी की रपट पढ़ी जिसमें नामवर जी का वक्तव्य था "नयी कहानी मेरा दिया हुआ नाम नहीं है।" अब कोई क्या कह सकता है। दिल्ली वालों की माया समझ में नहीं आती।

आन्दोलन की बहुत-सी बातें मालूम होगी। जरा यह तो बताओ पहले कुछ प्रगतिवादी होते थे और कुछ प्रतिक्रियावादी होते थे और वे एक-दूसरे पर प्रहार करते थे और भिन्न भाषाएँ बोलत थे। मगर अब ऐसा क्यो होता है कि दोनो तरह के बुजुर्ग एक ही मोर्चे पर आ जाते है, एक ही भाषा बोलते है और पिछले 10-12 वर्षों के साहित्य को निकृष्ट कहते हैं ?......*क्या सब सयाने प्रगतिशील प्रतिक्रियावादी हो गये है, या सब पुराने प्रतिक्रियावादी प्रगतिशील हो गये हैं ?"*

प्रधानमन्त्री द्वारा की गयी राजकीय व्यवस्था मे इलाज के लिए मुक्तिबोध के दिल्ली जाने तथा उनके आस पास के लोगो के आकस्मिक मानसिक परिवर्तन और विचित्र *किन्तु सोद्देश्य क्रियाकलापो को लक्षित करके उन्होने लिखा—"अब* बहुत दिलचस्प नाटक शुरु हुए।" एक सूक्ष्म द्रष्टा की तरह उन नाटको का बयान करने के बाद, भीतरी रुख को उनकी लेखनी ने इस प्रकार शब्दबद्ध किया—

"बात किन्ही भी मूल्यो की करें, जिन मूल्यो से परिचालित होते है, वे साहित्य के बाहर के होते है, शायद बाजार के होत है।'

लेखकीय स्वातन्त्र्य तथा कुछ और मामले

परसाई जी इस बात को मानते है कि लेखकीय स्वतन्त्रता एक महत्त्वपूर्ण चीज है। लेखन को सरकार या राजनीतिक दल नियोजित नही कर सकते, इसम वे विवाद की गुंजाइश नही समझते। इसी तरह लेखक को आदेश दकर लिखवान की बात भी उन्हे अग्राह्य है। इसके आग अपने लहजे मे वे लिखते है—

"मगर लेखक गल्ले बाजार का साँड भी तो नही है। कही कोई दायित्व बाध तो उसे करना ही पडेगा। लेखक जिस स्वतन्त्रता की बात करता है उसका रूप कुछ ऐसा है—अगर मासिक वेतन सरकार स नही मिलता तो लेखक सरकार को गाली देगा, मगर जिस सेठ से वतन मिलता है, उसे और उसके वर्ग को गाली नही दगा। यही लेखकीय स्वतन्त्रता है। मगर यह स्वतन्त्रता है कि चतुरता है ?'

जो सवाल उन्होने उठाया है वह मार्मिक है और इसका उत्तर हर लेखक को खोजना और देना होगा कि वह स्वातन्त्र्य को ईमानदारी से एक मूल्य के रूप मे ग्रहण करता है या अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए चतुराई के रूप म इस्तेमाल करता है। मेरे विचार से मानव-स्वभाव की इस विसगति की ओर इगित कर देना भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। व्यग्यकार की नजर मौसमी मुर्गे की तरह हवा के रुख पर हर तरफ घूमती रहती है। एक दूसरा नमूना देखिए—

डॉ० लोहिया के प्रति अनन्य आस्था रखने वाले कल्पना सम्पादक बदरी विशाल पित्तीजी जब सत्याग्रह करने के अपराध मे जेल चले गये तो परसाई जी के उर्वरचित्त मे कई कल्पनाएँ जागी। यह कि कारागार मे कोई महाकाव्य लिख रहे होंगे—जैसा बुजुर्गों ने कहा है—

कारागार निवास स्वय ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

गुप्त जी की आत्मा परितृप्त हो गयी होगी अपनी पक्तियो का ललित रूपान्तर देखकर। एक मित्र ने 'भारत-भारती' शब्द का विशिष्ट प्रयोग किया तो परसाई जी चौके। मित्र ने उन्हे अर्थ समझाया—देशी शराब को 'भारत-भारती', विदेशी को आग्लभारती, गाँजे को शीघ्र बोध (जो 'तुरती' से सुसंस्कृत नाम है) कहा जाता है। परसाई जी ने उन्हे अफीम को 'लघु कौमुदी' कहने की सलाह दी और कहा कि तुम यह सब बदरी विशाल पित्ती को लिखना। वे हिन्दी के लिए लडने वाले है। अपने व्यक्तित्व को नये-नये रूपो मे ढालकर बात को नाटकीय बनाकर कहना कोई परसाई जी से सीखे। हाँ उनके कहने मे कभी-कभी मध्यप्रदेशी हिन्दी का मुहावरा भी सुनायी पड जाय तो किसी को एतराज नही होना चाहिए। मसलन वे कह जायेंगे—' गेहूँ अमरीका और केनडा से बुलवा लिया है। उत्तर-प्रदेशीय हिन्दी मे कोई निर्जीव वस्तुओ को 'बुलवाता' नही 'मँगवाता' ही है। सजीव व्यक्तियो को बुलवाने मे सुख माना जाता है। अगर कोई निर्जीव वस्तुओ को भी सजीवता प्रदान कर दे तो हमे उसके भाव विस्तार के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।

इधर गत मास के हिन्दी करट मे उनका लेख पढा 'हित मे हित अमरीकी हित। 'अयातुल्ला वाशिगटनी' की अच्छी मरम्मत की गयी है उसमे और उनकी राजनैतिक समझ का सही परिचय मिलता है उससे। 'फौजी तानाशाही ने पाकिस्तान को पेशेवर गुडा बना लिया गया है 'जैसे जुमले शायद ही कभी भूले क्योकि यह उनके साहसीपन का सबूत है। जनता सरकार की नीति पर व्यग्य करते हुए उन्होने लेख का अन्त ही किया है—"गनीमत है कि 'असली' गुट-निरपेक्षतावाली सरकार नही रही।" मुझे इतना आश्चर्य अवश्य हुआ कि परसाई जी की लेखनी ने रूस के सशस्त्र हस्तक्षेप के सम्बन्ध मे अपनी तेजस्विता का तनिक भी परिचय नही दिया। अगर एक-आध जुमला उधर भी लग गया होता तो उनका व्यग्यकार अधिक प्रौढ और सशक्त दिखायी देता। क्या इसमे रूस का कोई दायित्व नही है कि समाजवादी होकर भी आज चीन अन्तर्राष्ट्रीय सदर्भों मे अमरीका से चिपक गया है? वियतनाम मे अमरीकी किरकिरी हर बाहरी हस्तक्षेप के लिए सबक होनी चाहिए। तीसरे 'त्रिनाले' मे प्रदर्शित वियतनामी चित्रो की शक्ति देखकर मैं अभिभूत हो गया था। मुझे लगा, किसी देश को स्वाभिमान एव आत्मरक्षा की प्रेरणा लेनी हो तो वियतनाम से बढकर कोई दूसरा आदर्श नही हो सकता। उसने अमरीका से भी लोहा लिया और चीन के दाँत भी खट्टे कर दिये।

गुटनिरपेक्षता की तरह धर्मनिरपेक्षता का मामला भी काफी पेचीदा है। परसाई जी की रसाई उसमे भी कम नही कही जा सकती। एक जगह उन्होने लिखा है—

"बन्धु, मुझे लगता है सरकार धर्मनिरपेक्षता की जाँच कर रही थी। सरकार

पहले परीक्षा ले रही थी, बाद मे उसी को परीक्षा देनी पडी। मन्त्रियो, ससद सदस्य और नेताओं के दिलो पर से धर्मनिरपेक्षता की पट्टी उतरी तो वहाँ 'हर-हर महादेव' लिखा मिला।"

बनारस और अलीगढ विश्वविद्यालयो के सदर्भ मे धर्मनिरपेक्षता की नीति कितनी विफल हुई है कि यह उनकी नजर से चूका नही। स्वस्थ राजनीति को विश्वविद्यालयो मे निषिद्ध करके वहाँ कैसे गुरुओ की गुट राजनीति को भर दिया गया है इसकी पूरी तफसील उन्होने दी है और 'खाली जगह' भरने वाले 'सास्कृतिक' लोगों पर करारी चोट की है। यह दूसरी बात है कि बदले म उन्हे भी चोट सहनी पडी पर सच्चे व्यग्यधर्मी साहित्यकार की तरह वे अपने पथ से विचलित नही हुए और न दृष्टिकोण ही बदला। आज उनकी कही हुई बात ज्यादा सही रूप मे सामने आ रही है।

राजनीतिज्ञो मे जब उनकी नजर फिरती है तो साहित्यिको पर टिकती है। इधर दिनकर की उर्वशी छपी और उधर वे एक विश्वविद्यालय के उपकुलपति हो गये। परसाई जी ने लिखा "अब अगर समूचा हिन्दी विभाग उर्वशी क प्रचार मे लग जाय तो कोई हिन्दी वाला क्या बिगाड लेगा। बहुत काल तक रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना एक साथ काम करते रहे। इस पर परसाई जी ने सर्वेश्वर का वक्तव्य 'कोट' कर दिया—

"सच तो यह है कि मैं चारो ओर मूर्खो मे, कायरो और ढोंगियो मे घिर गया हूँ—उनसे ही लडता हूँ, जूझता हूँ, पराजित होता हूँ।"

आगे फिर रघुवीर सहाय इस बारे मे क्या कहते हैं वह भी सामने ला दिया, 'मैं गधो, आधे पागलो और मक्कारो के लिए जिम्मेदारी महसूस करता हूँ।"

—और अन्त मे, पृ० 142-43

इस सदर्भ मे उन्होंने मनोहर श्याम जोशी को भी घसीट लिया, यद्यपि वे दिनमानी मानव नही है। अन्तत धो धोकर हर पतित को पावन कर दिया।

मेरे विचार से 'परसाई' के लिए, जिसमे और चाहे जो हो 'पारसाई' कतई नही है, इतना काफी है। वे मधुपायी हैं, मधुत्यागी नही, मधुत्यागी होते तो पारसाई सार्थक होती। उर्दू मे पारसा 'टीटोटलर' को कहते हैं। अच्छा हुआ जो परसाई ने एक मात्रा कम कर दी। उन्ही के जैसे किसी ने कभी लिखा था—

जाहिद शराब पीने दे मसजिद मे बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो॥

—जगदीश गुप्त

भाषा की लपट

अन्य विधाओं की तरह ही व्यंग्य का संबंध भी मनुष्य-समाज से ही है पर उसका आयाम कुछ भिन्न है। व्यंग्य मुख्यत व्यक्तित्व के अंतर्विरोधों को, कथनी और करनी के फर्क को अपना विषय बनाता है। उसकी भाषा पाखण्ड पर चोट करती, उसे चीरती हुई निकलती है। यह भाषा सहलाती नहीं, जलाती है। इसीलिए व्यंग्य को 'भाषा की लपट' कहें तो गलत नहीं होगा। व्यक्ति के अंतर्विरोध सदा से रहे हैं, इसीलिए व्यंग्य की सत्ता भी सदा रही है। हिन्दी के सिद्ध और सन्त साहित्य मे पंडितों मुल्लाओं तथा पौराणिक धर्मावलंबियों पर गजब का व्यंग्य हुआ है। कबीर तो इसके बादशाह है। द्विवेदी जी के शब्दों मे उनके व्यंग्य से आहत व्यक्ति के सामने धूल झाड़कर चल देने के सिवा और कोई रास्ता ही नहीं होता। आधुनिक काल मे भारतेन्दु-युग मुख्यत व्यंग्य का ही युग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की व्यंग्य-रचनाएँ न केवल उस युग के लिए बल्कि आज के लिए भी उतनी ही प्रासंगिक हैं। बालमुकुन्द गुप्त लिखित शिवशंभु के चिट्ठों मे जो निर्भीकता और प्रखरता है वह आज के व्यंग्य साहित्य को देखते हुए भी दुर्लभ लगती है। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि कबीर का समय यदि चतुर्दिक पाखण्ड का समय था तो भारतेन्दु युग घोर विश्वासघात और छल का। इन दोनों युगों की रचनाओं मे अपने अपने समय की तस्वीर साफ है। आज के स्वतंत्र भारत की तस्वीर भी उससे अधिक निर्मल नहीं हुई है—बल्कि कुछ लोग कहेंगे कि धूमिल हुई है। स्वतंत्रता के बाद की राजनीति निरन्तर भ्रष्ट होती हुई देश को भी भ्रष्ट करती गयी है। सिद्धांत और नारे अर्थहीन हुए है। पवित्र शब्दों का अवमूल्यन हुआ है। कथनी और करनी की खाई गहरी हुई है। लोगो म क्षेत्रीयता, जातिवाद और भाई-भतीजावाद तेजी से पनपा है। जहाँ तक सम्पूर्ण भारतीय मानसिकता का सवाल है, उसका वृत्त भी विस्तृत नहीं हुआ है। एक ओर भारतीय जन मृत मान्यताओं और जड संस्कारों से मुक्त नहीं हो सका है तो दूसरी ओर भारतीय बुद्धिजीवी भी शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि को अपने जीवन का अंग नहीं बना पाया है। उसके हीनताग्रस्त मन पर आधुनिकता एक फैशन के रूप मे ही अधिक हावी है। मुक्तिबोध ने बिलकुल ठीक लिखा है, "नये ने पुराने का स्थान नहीं लिया। धर्म भावना गयी, लेकिन वैज्ञानिक बुद्धि नहीं आयी। धर्म ने हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष को अनुशासित किया था। वैज्ञानिक मानवीय दर्शन ने, वैज्ञानिक मानवीय दृष्टि ने

नैतिकता के विरुद्ध हैं। वे इस देश के लोगों की मानसिक जडता को तोडना चाहते हैं। अपनी व्यग्य-रचनाओ मे वे मरे हुए, सोये हुए लोगों को जगाने की कोशिश करते हैं। 'चूहा और मैं' शीर्षक रचना मे वे कहते हैं, "आदमी क्या चूहे मे भी वदतर हो गया है ? चूहा तो अपनी रोटी के हक के लिए मेरे सिर पर चढ जाता है, मेरी नीद हराम कर देता है। इस देश का आदमी कब चूहे की तरह आचरण करेगा ?"[1]

अपने समय के प्रति एक व्यग्य लेखक की दृष्टि तीखी आलोचनात्मक दृष्टि होती है। साथ ही वह अपने समय के प्रति एक दायित्व महसूस करता है। वैस तो ये दोनों विशेषताएँ लेखक मात्र के लिए जरूरी हैं पर एक समर्थ व्यग्यकार के लिए शायद कुछ ज्यादा जरूरी। परसाई में य दोनो विशेषताए हैं। इसीलिए वे अपने समय को उसकी पूरी तफसील म तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि से दखते हैं और उसकी वास्तविकताओ की तह मे जाने की कोशिश करते हैं। परसाई के लिए विपयो की कोई कमी नही है न उनकी कोई सीमा है। जिस प्रकार निबध-कार प० प्रतापनारायण मिश्र के लिए कुछ भी निबध का विपय हो सकता है उसी प्रकार परसाई के लिए कुछ भी व्यग्य का। इस सबध म परसाई की सूझ का लोहा मानना पडता है। यह इतनी वारीक है कि बात-बात म व्यग्य पैदा कर लेना परसाई के लिए एक सहज व्यापार है। वे सीधी सादी प्रचलित कहानिया म, कहावतो मे साधारण सी घटनाओं मे व्यग्य का मसाला पा जाते है। यहाँ तक कि वे अपने पिटने की घटना को लेकर भी व्यग्य कर लेते है—"पिटे तो तबादला करवाने, नियुक्ति कराने की ताकत आ गयी—ऐसा लोग मानने लगे हैं। मानें। मानने मे कौन किसे रोकता है! यह क्या कम साहित्य की उपलब्धि है कि पिटकर लेखक तबादले कराने लायक हो जाय। सन् 1973 की यह सबसे बडी साहित्यिक उपलब्धि है। पर अकादमी माने तो।"[2] परसाई की इसी विशेषता के कारण उनकी रचनाएँ गद्य की विधाओ की सीमा का अतिक्रमण करती है। वे कही निबन्ध की तरह लगती हैं, कही कहानी की तरह। कही निवन्ध मे कहानी कही कहानी मे निबध। कही सस्करण, कही रखाचित्र, कही इण्टरव्यू। निबधो का जनक मान्तेन कहता है, "I am the subject of my essays because I myself am the only person whomI know thoro ughly" परसाई भी इसी तरह बडी आत्मीयता से अपनी बात शुरू करते है। ऐसा लगता है जैसे अपने बारे म कुछ कहने जा रहे हो। धीरे-धीरे एक एक पक्ति आगे बढती है और उसमे से व्यग्य की शाखाएँ फूटने लगती है। एक ही रचना मे साथ-साथ कई लोगो पर व्यग्य सधता रहता है—ईश्वर पर, पूँजीवाद पर नेता पर, अफसर पर और जाने किस-किस पर। यह व्यग्य बडा तीखा और

1 वैष्णव की फिसलन, पृ० 39
2 वही, पृ० 89

खतरनाक होता है। इतना खतरनाक कि लेखक को पिटना भी पड जाता है।" व्यंग्य की हैसियत की चर्चा करते हुए परसाई लिखते है, "व्यंग्य की प्रतिष्ठा इस बीच साहित्य मे काफी बढी है—वह शूद्र से क्षत्रिय मान लिया गया है। व्यंग्य, साहित्य मे ब्राह्मण बनना भी नही चाहता क्योकि वह कीर्तन करता है।"[1] 'आँगन मे बैंगन' शीर्षक अपनी एक अन्य रचना मे अपने व्यंग्य-लेखन के सबध मे वे लिखते है : "मेरा एक मित्र कहता है कि तुम्हारे आँगन मे कोमल फूल नही लग सकते। फूलो के पौधे चाहे किसी घटिया तुकबन्द के आँगन मे जम जायँ, पर तुम्हारे आँगन मे नही जम सकते। वे कोमल होते है, तुम्हारे व्यंग्य की लपट से जल जायेंगे।"[2] व्यंग्य की इस दाहकता के कारण ही मैंने उसे 'भाषा की लपट' कहा है। कवि मुक्तिबोध ने भी अपनी कविता की तुलना सांप से की थी—

कोई सांप पहाडी
निकलकर भागता है लहरीली गति से
मानो मेरी कविता की कोई पांत।

—विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

1 वैष्णव की फिसलन, भूमिका
2 परछाइयों का जमाना, पृ० 83

पात्रों के बहाने लेखक की खोज

परसाई जी से व्यक्तिगत परिचय न होने के बावजूद, उनके लेखन के प्रति सहमति मे उपजी आत्मीयता के कारण, कभी-कभी उन पर जबरदस्त सस्मरण लिखने की इच्छा जगती थी। ऐसी प्रतिक्रिया उनके सजग पाठकों के मन मे भी होती है, ऐसा मैंने अनुभव किया। वैसे परसाई जी के पाठकों का दायरा बहुत बडा है। अखबार पढने वालों से लेकर साहित्य पढने वालों तक। महानगरों से लेकर गाँवों तक। अनुवाद के माध्यम से वे हिन्दी से इतर भाषाओं के पाठकों के बीच भी लोकप्रिय हैं।

एक बार मैं मद्रास से क्वेलन जा रहा था। मेरी सीट मे ही एक फौजी नवजवान बैठा था। छुट्टियों मे वह अपने घर वापस जा रहा था। उसने मलयालम की एक पुस्तक निकाली और पढने मे तल्लीन हो गया। उसकी तल्लीनता ने मुझे जिज्ञासु बना दिया। मैंने सोचा पूछूं तो सही कि इस मनोयोग से वह मलयालम के किस लेखक को पढ रहा है क्योंकि मलयालम के कुछ लेखकों के बारे मे मेरी जानकारी थी। मैंने उससे अग्रेजी मे पूछा—"आप किस लेखक को पढ रहे हैं?"

"हरिशकर परसाई।" उसने सधे स्वर मे यह नाम लिया।

मैं आश्चर्यचकित। खुश। गौरव महसूस करते हुए मैं कह गया—"ही इज अवर हिन्दी राइटर।"

फौजी ने मेरी ओर इस तरह ताका जैसे 'अवर' शब्द उसे खल गया हो। उसने प्रश्न किया—"डू यू नो हिम पर्सनली?"

"नो, आई नेवर मेट हिम।"

मेरे इस जवाब पर वह मुस्कराया। मेरे अन्दर की 'अवर' वाली दीवार मे दरार पड गयी। उसने पुस्तक पालथी मे रख ली। उसकी आँखें कुछ टटोलती-सी लग रही थी। उसने कहा—"आई थिंक हि शुड बी स्ट्राग, फियरलेस, सीरियस एण्ड कासस मैंन।" मैं समझ गया कि उसकी आँखें परसाई जी के स्वरूप को टटोल रही थी। मेरा सारा अह पानी हो गया। सच है लेखक कोई दीवार नही स्वीकार करता। उस समय मेरे मन मे भी परसाई जी का एक स्वरूप उभरा था। कुछ दिनो बाद जब मैंने उन्हे इलाहाबाद मे देखा। भूरे रग की खादी की शेरवानी पहने। मजबूत शरीर। कम बोलना। कुछ खोजती हुई आँखें। तब तुरत उस फौजी का वाक्य याद हो आया था—स्ट्राग, फियरलेस,

सीरियस एण्ड कासस मैन'''परसाई। कुछ ऐसा था कि उस समय उनसे राम-रमौवल भी नहीं हो सकी।

मैने देखा कि परसाई की रचनाएँ लोग कठस्थ किये है। कविता का कठस्थ होना समझ मे आता है। मगर गद्य को कठस्थ कर लेना आसान नही। इससे ही लेखक की शक्ति का अदाज होता है। तथा लेखन की प्रासगिता का अनुमान होता है जो आज के जीवन-सदर्भों से जुडा है। बादा मे एक गैर साहित्य गोष्ठी मे एक नवजवान वकील के मुँह से दैनिक घटनाओ और व्यक्तियो के सदर्भ मे परसाई की कितनी कहानियो का उल्लेख सुना। लोक भविन मे प्रचलित लोक कथाओ और कहावतो से लोग जिस प्रकार अपनी बातो की पुष्टि करते है ठीक उसी तरह परसाई द्वारा लिखी कहानियो से भी लोग अपनी बात की पुष्टि करते है। जन-जीवन मे किसी लेखक के गद्य का ऐसा प्रवेश उसके जनवादी होने का सबूत है।

मेरा एक ममेरा भाई है। घर मे हम लोग उसे सज्जन कहते है। रेलवे मे ट्रैक्सन विभाग मे काम करता है। रुचिकर बातें करता है। भाषा मे छतरपुरी बुन्देली का पुट। उसके आ जाने से परिवार म उल्लास छा जाता है। बच्चो मे खासतौर से। क्योकि वह परसाई जी की कहानियो को इस लय से सुनाता है कि श्रोता को व्यग्य की पूरी अनुभूति हो जाती है। और मै सोचता रह जाता हूँ कि परसाई जी की रचना-प्रक्रिया की आतरिक लय सज्जन की इसी टोन मे उभरती होगी। उसे परसाई की कहानियाँ सुनाने का अद्‌भुत चस्का है। खाना खाते समय भी वह शुरू कर सकता है। महफिल जमी हो तो सारी बातें बलाय-ताक रखकर वह कहानी शुरू कर देगा। और अगर कहानी शुरू हो गयी तो अत तक फिर कोई टस से मस नही होगा। उसके मुख से जो परसाई की कहानी सुन लेता है वह परसाई साहित्य को पढने को ललकने लगता है। कम से कम मेरे परिवार के सदस्य परसाई को ढूँढकर पढते है। और सज्जन की टोन मे पढने की कोशिश करते हैं। मै सज्जन से पूछता हूँ आखिर तुम परसाई के इतने मुरीद क्यो हो? जवाब होता है—" भाई साहब आजकल तो दफ्तर मे ही भेजा खाली हो जाता है। सीरियस रचनाओ मे का रखा है। आप ही बतलाइए आज के जीवन की कोई ऐसी विसगति नही जो परसाई जी की पकड से छटक जाय। फिर न भाषा का तुमार न घुमाव। सीधे-सादे बात शुरू की और व्यग्य की मार से असलियत खोल दी। मजा भी लीजिए और एजुकेट भी होइए।" यह सच है कि पाठक के पास आलोचक की भाषा नहीं होती। उसकी प्रतिक्रिया दो शब्दो मे या दो वाक्यो मे हो सकती है। मगर उसके आस्वादन के अनुभव की तीव्रता मे 'गूँगे के गुड का स्वाद' होता है।

परसाई जी हिन्दी के व्यग्य-लेखक है। इस प्रसग मे दो-तीन लेखको का नाम लिया जा सकता है। पर किया क्या जाय। किसी भी भाषा मे व्यग्य-लेखक कम होते हैं। क्योकि व्यग्य-लेखन मे जो जोखिम उठाना पडता है वह हर लेखक नही उठा पाता। व्यग्य-लेखन कम होता है इसीलिए साहित्य मे उसको कम

स्थान दिया जाता है। क्योंकि मोटे तौर में यह मान लिया जाता है कि गंभीर लेखन की अपेक्षा व्यंग्य में संवेदनात्मक संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। रचना का कैनवास छोटा हो जाता है। मगर यह भी सोचना लाजमी है कि जब खास व्यवस्था के तहत मनुष्य की संवेदनाएँ भोथरी हो जाती हैं जीवन में दिखावा, प्रपंच और खोखलापन घुस आता है, लोगों की खाल मोटी हो जाती है, तब मात्र व्यंग्य ही कारगर होता है। सामाजिक व्यवस्था जब ऐसा माहौल पैदा करती है तभी कोई व्यंग्य-लेखक पैदा होता है। आक्रामक तेवर के साथ धुंध छाँटता हुआ। जीवन का सत्य किसी प्रकार के खोखलेपन को बर्दाश्त नहीं करता। क्योंकि यह खोखलापन जीवन की प्रगति में अवरोध उत्पन्न करता है। लूनाचार्स्की ने इस ओर संकेत करते हुए कहा है—"Satirist is, first and foremost a very keen observer He has noticed several revolting feature about Society, which pose a problem to yow" इस प्रकार व्यंग्य की भावभूमि भी गंभीर ही होती है। व्यंग्य मात्र मनोरंजन नहीं करता। इस बहाने वह जीवन के रूबरू खड़ा होकर विसंगतियों को उभारता है। चिढ़ाता है। चोट करता है। सोचने को मजबूर करता है। और सबसे बड़ी बात यह है कि व्यंग्य पाठक को नैतिक विजय की अनुभूति से लैस करता है। व्यंग्यकार के अंदर भी बेचैन आत्मा होती है जो जरा से खटके में चौकन्नी हो जाती है और विषय के प्रति आक्रामक मुद्रा अख्तियार कर लेती है। यह मुद्रा चेतनासंपन्न दृष्टि के कारण बनती है। जो कबीर के व्यंग्य में भी मौजूद है, भारतेन्दु-युग के लेखकों में भी मौजूद है, आज के लेखकों में भी मौजूद है। इनकी रचनाओं में हम सामाजिक जुम्मेवारी का बोध अनुभव करते हैं। परसाई जी ने एक जगह लिखा है कि—"अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट नमूना है।" बात सच है। पर व्यंग्य की सहानुभूति यथास्थितिवादियों को रास नहीं आती। वह समाज के बहुसंख्यक भुक्तभोगियों का हिस्सा अवश्य बन जाती है। पहला वर्ग इसे उपेक्षित करता है, दूसरा वर्ग इसे लोकप्रिय बनाता है। कबीर जितने उपेक्षित किये गये, उतने ही लोकप्रिय भी हुए।

व्यंग्यकार परसाई की लोकप्रियता भी दूसरे वर्ग के बीच है। जो जीवन की विसंगतियों का समझता है। पाखंड और मिथ्याचारों को झेलता है। और इन सबसे मुक्त होकर जीवन तथा समाज में परिवर्तन का आकांक्षी है। परसाई जी का व्यंग्य इस वर्ग के लिए संघर्ष की मानसिकता बनाने में पुरजोर असर पैदा करता है।

आज तक की राजनीति ने देश की जनता को सिर्फ वोट बटोरने के लिए ही इस्तेमाल किया। तथा पूँजीवादी व्यवस्था ने सबंधों में दरार पैदा की। परिणाम-स्वरूप जीवन के हर क्षेत्र में अंतर्विरोध पैदा हुए। पाखंड, चतुराई, सिद्धान्त-हीनता तथा इस्तेमाल की प्रवृत्ति पूरे परिवेश में व्याप्त हो गयी। जनता की मूल-भूत आवश्यकताएँ पूरी नहीं हुईं। नारे थमा दी गयी। हो-हल्ला आरा-धारी की

दुनिया मे जनता का जीवन फँस गया। किसी भी लेखक की रचनाप्रक्रिया का निर्माण उसके चारो ओर फैली दुनिया और उसकी समझ के आधार पर बनती है। वह समाज मे घटने वाली घटनाओ तथा मनुष्यो के कार्यकलापो को वैचारिक धरातल पर पकडता है। उसकी रचनाओं का यथार्थ जीवन सत्य से उद्‌भूत होता है। ऐसा ही लेखक जनता का लेखक होता है। परसाई ऐसे ही लेखक है जिनका अस्तित्व जनता के जीवन से जुडा है। *सारिका मे 'गर्दिश के दिन' मे वे इस सत्य* को स्वीकार करते हैं— मैंने अपने को विस्तार दे दिया। दुखी और भी है। अन्याय पीडित और भी हैं। अनगिनत शोषित है। मैं उनमे से एक हूँ। पर मेरे हाथ मे कलम है और मैं चेतना सम्पन्न हूँ।"

यह चेतना ही लेखक को सघर्षशील बनाती है। उसकी सवेदना को विस्तार देती है तथा लेखक की पक्षधरता को निश्चित करती है। इसके बल लेखक पात्रो और घटनाओ के सबधो के बीच महत्त्वपूर्ण अर्थ खोज लेता है। यह खोज बिना गभीर चिंतन के नही उपजती। परसाई जी अपने इस सोत को भली भाँति मानते हैं। वे इसी आत्मकथ्य म लिखते है — 'यही कही व्यग्य का जन्म हुआ। *मैंने सोचा होगा, रोना नही लडना है। जो हथियार हाथ मे है, उसी से लडना* है। मैंने तब ढग से इतिहास, राजनीति और सस्कृति का अध्ययन शुरू किया। साथ ही एक औघड व्यक्तित्व बनाया। और बहुत गभीरता से व्यग्य-लेखन शुरू किया।"

देखने की बात यह है कि परसाई ने ढोंगी साधुओं की तरह रूप को औघड नही बनाया। औघड व्यक्तित्व बनाया। क्योकि औघडाई मे एक खास तरह का जीवट पैदा होता है निर्भीकता और निमगता आती है। ऐसा लगता है औघड व्यक्तित्व वाला लेखक ही सच्चा व्यग्यकार हो सकता है। कबीर भी औघड थे। प्रतापनारायण मिश्र भी। निराला और नागार्जुन मे भी औघाई मिलती है। *भारतेन्दु तो थे ही। परसाई भी इसी परम्परा मे आते हैं। वरन ऐसा लगता है* कि वे इस परम्परा म सबसे आगे निकल रहे है। सच है कि औघडी परम्परा के व्यग्य को नकलची और विदूषक आगे नही बढ़ा सकते। प्रारम्भ मे ही कबीर ने चेतावनी दे दी थी—"जो घर जारै आपनो चलै हमार सग।" परसाई कही न कही कबीर से बेहद जुडे है। यहाँ मैंने केवल हिन्दी की बात कहकर अपने को सकुचित किया है। विदेशी व्यग्य लेखको को भी यह औघडाई अपनानी पडी थी। मार्क ट्वेन को ले लीजिए। गोगोल को लीजिए। चेखव को लीजिए। मार्क ट्वेन के जीवन मे हर प्रकार का दुख आया। पर वह रोया नही। व्यग्य के सहारे समाज और सभ्यता को उघाडता चला गया। इसके उपन्यासो को पढने पर बराबर यह महसूस होता है कि मार्क ट्वेन ही अपने उपन्यासो मे याकी, टामसायर या फिन के रूप मे मौजूद है। नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' मे भी यही लगता है। इसी तरह परसाई जी अपनी कहानियो के पात्रो के पीछे खडे दिखलाई पड़ते हैं। एक सजग प्रहरी की तरह जिसे पाठक तुरत पहचान लेता है।

उनकी आवाज को पहचान लेता है। इनकी कहानियों मे आये पात्र आज के जीते-जागते पात्र होते है। उनमें से अधिकाश मुखौटेबाज होते है जो छल-बल से समाज को कुतरने मे लगे है और कुछ पात्र होते हैं जो सामाजिक विडम्बनाओ से उत्पन्न बोझ के नीचे दबे होते हैं। परसाई जी की वास्तविक पक्षधरता दूसरे प्रकार के पात्रो के साथ होती है। पहले प्रकार के पात्रो के मुखौटो को वे बडी निर्ममता से उघाडते है। जैसे 'मन्नू भइया की बारात' कहानी मे उनकी पक्षधरता लडकी के बाप के प्रति है जो इतना विवश है कि बिना मुंह खोले मर जाता है। इस कहानी का चाचा दहेज का लालची है जिसे परसाई जी जेबकतरा और लुटेरा साबित करते हैं। बारातियो को पागल। बौद्धिक पागल। ये सब गलत रिवाजों के पोषक हैं। इसीलिए शोषक भी। इसी तरह 'भोलाराम का जीव' कहानी मे उनकी पक्षधरता फाइल मे दबे स्वर्गवासी भोलाराम के जीव के प्रति है। बाकी पात्रो के माध्यम से व आज के सरकारी दफ्तरो मे फैली घूसखोरी, लूट-खसोट और गैरजुम्मेवारी का पर्दाफाश करते हैं। इस तरह कि उत्तेजना उत्पन्न होती है। तभी Swift का कथन याद आ जाता है—"I do not wish to entertain but to irritate... ..।"

कभी-कभी परसाई की कहानियाँ पढकर मेरे मन म एक अजीब-सी बात उभरती थी। काश परसाई जी म उनके कथा-पात्र मिलें और उनसे सवाल करें तो वे क्या उत्तर देंगे ? इस काल्पनिक साक्षात्कार मे कोई न कोई बात उभरेगी जरूर ?

मान लीजिए लेखक अपनी मेज पर बैठा लिख रहा है तभी अचानक स्वामी जी (एयरकडीशण्ड आत्मा कहानी का पात्र) लेखक के सामने आ धमकें और पूछें— 'महोदय, हम आत्मा को पवित्र करके मैया सा'ब को मुक्ति दिलाते है। इसमें आपको क्यों एतराज होता है ?"

परसाई जी उन्ह चुभती नजरो से देखेंगे और कहेंगे— 'स्वामी जी मुक्ति अकेले की नहीं होती। अलग से अपना भला नही हो सकता। मनुष्य की छटपटाहट है मुक्ति के लिए, सुख के लिए, न्याय के लिए। पर यह बडी लडाई इस तरह अकेले नही लडी जा सकती। अकेले वही सुखी है जिन्ह कोई लडाई नही लडनी।" ऐसे ही चोट खाये भगत जी (भगत की गत) आयें और गुर्राकर पूछें — तुम बडे खुचडपेंची हो यार ! मेरे ऊपर ऐसे-ऐसे अभियोग लगाय कि मेरा स्वर्ग छिनवा लिया ?"

लेखक मुस्कराकर कहेंगे— "मेरा व्यग्य विसगतियो, मिथ्याचारो और पाखडो का पर्दाफाश करता है बधु।"

वाप रे ! पर ये सब क्यों ? '

' इसलिए कि मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाना चाहता हूं।"

इसी बीच चाचा (मन्नू भइया की बारात) आत्मस्वीकृति निवदित करने लगें— भाई वैसे तो तुमने मेरी भद्द उडा दी। मुझे अपनी गलती मालूम हो

गयी हूँ, अब मैं आगे से अपने को सुधार लूँगा।"

परसाई जी का जवाब होगा—"ठीक है, अगर सुधार लोगे तो मुझे कोई एतराज नहीं। वैसे मैं सुधार के लिए नहीं बदलने के लिए लिखता हूँ।" तब तो चाचा को फिर आगे की बात सोचनी पड़ेगी। वे द्वन्द्व समेटे वहाँ से खिसक जायेंगे। फिर··· यदि चंदा चावन करने वाले सेवक जी आ जायें। रँगने चुँगने की कोशिश करें—"प्यारे भाई मुझसे देश की दुर्दशा देखी नहीं जाती। इसीलिए उसके सुधार के लिए जी-जान से जुटा रहता हूँ। मगर आप हमे भी नहीं छोड़ते ?"

लेखक गंभीर होकर कहेगा— "मैं लेखक के रूप में देश की दुर्दशा पर किसी भी रहनुमा से ज्यादा रोता हूँ।"

"आपको रोने की क्या जरूरत, हम लोग तो हैं ही। लेखक को तो राजनीति से दूर ही रहना चाहिए।"

"लेखक को राजनीति से दूर रखने की बात वही करते हैं जिनके निहित स्वार्थ हैं, जो डरते है कि कहीं लोग हमे समझ न लें।"

सेवक जी—'ऐसी राजनीति से क्या फायदा? आप कोई राजनीतिक पद भी तो नहीं पा सके ?"

"घुसपैठ की आदत नहीं है।"

सेवक जी के सारे तीर बेकार हो जायेंगे। सोचेंगे इस लेखक की आँख में धूल नहीं झोंकी जा सकती। इसी बीच सेवक जी से शिकायत करते हुए कोई कर्मचारी (कहानी 'सुदामा के चावल' के कर्मचारियों में से कोई भी जो सुदामा के चावल बीच में ही खा जाते हैं। कृष्ण तक पहुँचने नहीं देते) घुस आये—"साब इस लेखक की कलम तो बिच्छुओं जैसा डंक मारती है।"

तब परसाई जी गंभीर होकर कहेंगे—"मनुष्यनुमा बिच्छुओं और सांपों ने भी मुझे बहुत काटा है। पर जहर मोहरा मुझे पहले से ही मिल गया है।"

"कहाँ है तुम्हारा जहर मोहरा ?'

लेखक अपनी कलम की ओर संकेत कर देगा—"इससे झरता व्यंग्य ही है वह।" इसी बीच चाँद से उतरकर मातादीन सीधे लेखक के पास जायें और हड़काने लगें तो लेखक अपनी छाती कड़ी करके तुरत कह देगा—"इन्सपेक्टर साहब, मैंने तो बहुत पहले तय कर लिया था कि परसाई, डरो किसी से मत। डरे कि मरे।"

"तो इस कलम के बूते न तुम डरोगे न मरोगे ?"

"आप सही फरमा रहे हैं।"

"कैसे प्राणी हो तुम ?"

"वैसे सचमुच मैं बेचैन मन का संवेदनशील प्राणी हूँ।"

□

और अत मे चन्द बातें।

परसाई जी सच्चे रूप मे जनवादी लेखक है। जनवादी रचनाकार अपने समय की सारी हलचल को उभारता है। और ऐसी भाषा मे लिखता है जो पाठक को सहज ही ग्राह्य हो। कथ्य के अतिरिक्त शैली और वाक्य-विन्यास या शब्द-सयोजन से भी रचना ग्राह्य बनती है। परसाई जी के अनुभव जिन शब्दो और वाक्यो मे अभिव्यक्ति पाते हैं उनमे लेखक की बौद्धिक शक्ति का बराबर आभास मिलता है जिससे वे अर्थ को नये आयाम देते हैं। यथा—"वह थोडा आवारा है क्योंकि उसे प्यार करना है और हमारे समाज मे कोई स्त्री किसी शरीफ आदमी से प्यार नही करती।"

कथ्य को सँवारने के लिए परसाई जी ने कहानियों मे विविध प्रयोग किये हैं। उन्होने लोककथाओ की शैली, फतासी, चुटीली लघु कथाएँ, रिपोर्ताज शैली का प्रयोग किया है। कथ्य सहज रूप मे सम्प्रेषणीय बने" कैसे बने इसका उन्हे ज्ञात है। लोक जीवन मे प्रचलित कथा शैलियो मे लिखी गयी कहानियाँ साधारण से साधारण आदमी को ग्राह्य हो जाती है। चुटीली लघु कथाएँ तुरत याद हो जाती है। किसी भी कहानीकार ने परसाई जैसे प्रयोग नही किये है। उपन्यासो मे नागार्जुन ने बाबा बटेसरनाथ मे फतासी युक्त लोक शैली का प्रयोग किया है। इधर नाटको मे लोक शैलियो की उपयोगिता महसूस की जा रही है। परन्तु परसाई जी जैसे पहले ही इसकी उपयोगिता समझ चुके थे। जैसे उनके दिन फिरे, हनुमान की रेलयात्रा, सदाचार का तावीज, एक जोरदार लडके की कहानी, एक तृप्त आदमी की कहानी, दवा, दस दिन का अनशन आदि कहानियो मे ऐसे सार्थक प्रयोगो को देखा-परखा जा सकता है।

परसाई जी ने कहानियाँ लिखी है। उपन्यास लिखे हैं। निबध तथा रेखा-चित्र लिखे हैं। सस्मरण लिखा है। कई नामो से अखबारो मे कालम लिखे है। इन तमाम विधाओ मे आज भी लिख रहे है। फिर भी अन्य लेखको की तरह चुके नही और न भविष्य म चुकेंगे। क्योंकि—"बेचैनी······जो समाज मे है। वह सब शब्दो मे नही समा रहा।"

—अजित पुष्कल

लेखक को जानते हुए

परसाई जी एक ऐसे आदमी है जिनके लिए भाषा के विशेषण व्यर्थ लगते हैं क्योकि उन पर लिखने की तैयारी मे सबसे पहले जो बात मेरे दिमाग मे थी वह यह खोजना था कि परसाई जी से पहले का व्यग्यपरक गद्य कैसा था और निश्चित ही यह कहने की तबीयत होती है कि परसाई जी ने हिन्दी व्यग्य को साहित्यिक प्रतिष्ठा दिलाने का काम किया है—यही नही उन्होंने छिछले, सपाट, अर्थहीन, भोडे हास्य से हिन्दी गद्य को मुक्त करने का काम किया। एक तरह से उनका काम पिछली शताब्दी मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के काम की तरह महत्त्वपूर्ण है। यह सयोग है कि भारतेन्दु भी उत्तरशती मे रचनारत दीखते हैं। और परसाई जी भी। पर एक अर्थ मे भारतेन्दु का काम बिल्कुल भिन्न है। वे गद्य की प्रतिष्ठा के उन्नायक है और परसाई गद्य की अर्थवान सत्ता प्रतिष्ठित करने वाले है।—जब ये बाते मैं लिखने के लिए व्यवस्थित कर ही रहा था कि हठात् मुझे परसाई जी के व्यक्तित्व की याद हो आयी। और मुझे लगा परसाई जी सोचेंगे कि विमल भाषा के व्यग्य को उछालने का काम कर रहा है।

परसाई जी के बारे मे बातें इतनी कम है कि हम यह कहें कि परसाई जी निहायत सादे आदमी है तो सादगी के बारे मे अपनी कम जानकारी का ही सबूत देंगे। परसाई जी के व्यग्य पढकर उन्हे मिलना या उन्हे मिलकर व्यग्य पढना दो ऐसी अलग-अलग चीजें हैं कि दोनो को जानकर सिर्फ हैरत भी होती है। मतलब यह कि परसाई जिस तरह से व्यक्तिगत रूप मे मिलकर हैरत मे डालते हैं—उनका गद्य भी हैरानी मे डालने वाली चीज होता है। वर्षों पहले कलकत्ता मे जब उनसे मुलाकात हुई थी तो महसूस हुआ था जैसे इस आदमी से सौवी बार मिलना हो रहा हो। परसाई जी की शक्ल, उनका लिबास और उनकी बातचीत हमे उस पडोसी की याद दिलाती है जिस पर न सिर्फ हमे यकीन होता है बल्कि जिस पर हम ज्यादातर आश्रित भी रहते है। इसके बाद मुलाकातों का ऐसा सिलसिला है कि हर दफे परसाई जी अपने पुराने लिबास मे एक नये आदमी के तौर पर उभरते रहे है। परसाई जी की भाषा उधार लूँ तो कहना पडेगा वे एक प्याज है—आप एक परत उतारें तो दूसरी परत हाजिर मिलेगी।

अब अगर आप इस दूसरे पैराग्राफ का विवेचन करने बैठें तो आप पायेंगे कि इसमे विरोधाभासो के नमूने है कि परसाई जी सादे आदमी हैं और परसाई जी

हैरत मे डालने वाले भी, कि परसाई जी सौवी बार मिले आदमी है और यह कि परसाई जी हर बार नये आदमी की तौर पर नजर आते है। असल मे जैसे मैंने पहले ही कहा है परसाई जी को लेकर हर किस्म के विशेषण फिजूल लगते है। व न हिन्दी व्यग्य के महात्मा है और न हिन्दी गद्य के शिवप्रसाद सितारे हिन्द। यानी हम अगर उनकी किसी से तुलना भी करें तो तत्काल लगता है जैसे कोई चूक हो गयी हो।

असली बात यह है कि परसाई जी एक मुश्किल विषय हैं—अर्थात् उन पर लिखना बहुत मुश्किल काम है। कोई उन पर लिखे भी तो क्या—मसलन परसाई जी का जन्म किसी ऐतिहासिक घटना से जुड़ा हुआ नही है। मैं शुरू के दिनों परसाई नाम को गुलशेर खा शानी की तरह मुसलमान समझता था। गोकि सच्चे मायने में शानी ब्राह्मण और परसाई मुसलमान है।

परसाई जी एक साथ कई अखबारो मे नियमित कॉलम लिखते रहे है पर मैंने उन्हे कभी हडबडी मे नही देखा। वे निहायत फुरसत के लहजे मे बैठे या बातें करते नजर आते है। उनमे साधुओ जैसी निश्छलता है हालांकि प्रतिक्रियावादी परसाई जी को गुण्डा या विधर्मी तक कह देते है। जबलपुर जैसे निहायत बेजान शहर मे रहकर जानदार चीजें लिखने का काम सन्त या गुण्डा ही कर सकता है। आज जो लोग व्यग्य मे 'बैठे ठाले' कुछ कर गुजरने के मसूबे लिए आन्दोलन का झण्डा उठाये प्रकाशको और पत्रिकाओ के चक्कर लगा रहे है—परसाई जी के सामने वे बौने ही नही लगते बल्कि मूर्खता का प्रतिरूप लगते है।—यह मै इसलिए कह रहा हूँ कि जिस विधा को प्रतिष्ठा दिलाने का काम आत्म-सघर्ष के जरिये किया गया है उससे यश हासिल करने के लिए जो लम्बी कतार है, उनमे से अधिकाश व्यग्य के लक्ष्य से अपरिचित है अर्थ यह कि व्यग्य की सार्थकता उसकी सामाजिक प्रासगिकता मे निहित है।

परसाई जी के व्यग्य हँसाने या गुदगुदाने के लिए नहीं है अपितु व एक विवेकशील पाठक को रुलाने, सिर पीटने और ग्लानि महसूस कराने की भूमिका निभाते है। वे व्यग्य बताते हैं कि हमारा समाज, हमारे रिश्ते, हमारी व्यवस्था, हमारा राजनैतिक चिन्तन किस किस्म का पतनशील, अर्थहीन है। हमारी धार्मिक चेतना किस तरह सस्कृति की मूल-चूल से हटकर व्यवसायियों और प्रतिगामी ताकतो के लिए शोषण और व्यवसाय का जरिया बन चुकी है।

इस अर्थ मे परसाई के व्यग्य कविता हैं—क्योकि व विमानवीकरण की शक्तियों, उनके षड्यन्त्रो को अत्यन्त सग्रथित रूप मे प्रस्तुत करते हैं। भोलाराम का जीव मे लेकर उनकी ताजातरीन रचनाएँ प्रमाणस्वरूप देखी जा सकती हैं। धर्म, कला, सस्कृति, साहित्य के बारे मे तथाकथित आभिजात्य पर प्रहार करने का कोई सपाट फर्ज निभाना परसाई जी की व्यग्य-रचनाओ का विषय नहीं है—वे बहुत बारीकी से, गहराई से, उस विसगति, अन्तर्विरोध और अर्थहीनता के पक्ष उद्‌घाटित करते है, उन ताकतो को अनावृत करते है जो आज के सामाजिक

के सामने एक विरूप दुनिया निर्मित कर डालते हैं।

परन्तु परसाई जी को लेकर किसी किस्म का 'एकेडेमिक' लेख लिखने का मेरा इरादा नही है। परसाई जी के निबन्धों पर शायद कभी कुजियाँ लिखी जायें—परसाई जी की व्यग्य-गाथाएँ असल मे एक विवेकवान समाजशास्त्री के निष्कर्ष है—वे स्वय मे एक 'अकादमिक व्यवस्था' को जन्म देने वाली चीजें है अर्थात् यह बताने वाली कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा, साहित्य की शिक्षा और डिग्रियो के ढेर कितने बेमानी हैं। भारत की सामाजिक स्थिति मे, वर्तमान व्यवस्था मे यह सब न एक आडम्बर लगता है बल्कि आरोपित-सी चीज लगती है। इस माने मे परसाई जी के व्यग्य पुर्नविचार के लिए प्रेरित करने वाली सामग्री हैं।

व्यक्तिगत रूप से जो परसाई जी को ज्यादा जानते हैं उन्हे मालूम है कि परसाई जी नसरुद्दीन हैदर की तरह कितने 'प्रवीण' है। यहाँ 'चालाक' शब्द इस्तेमाल करता किन्तु 'चालाकी' मे धूर्तता का अश होता है--और परसाई जितने भी चालाक हो, उनमे इस किस्म की कोई चीज नही है। इस प्रवीणता का प्रमाण यही है कि परसाई जी ने अपने नाम का ऐसा 'हौव्वा' पैदा किया है कि प्रतिक्रियावादी तुरन्त डडे लेकर उन्हे पीटने दौडे।

वर्षों पहले ही हाउस म एक परसाई जी और लोहिया जी इकट्ठे यानी दो दरवाजो से अलग-अलग एक ही वक्त मे अन्दर घुसते देखे थे। व्यग्य का प्रभाव या लेखक दबदबा कहूँ ज्यादातर लोग राजनेता के पास जाने की बजाय परसाई जी के गिर्द जमा हुए थ।

एक निहायत सादगी-भरी मुस्कान म परसाई जी पूछते है, 'कैसे हो?' हालाकि इसका पुरजोर जवाब 'मजे मे हूँ' देते हुए कई बार लगता है जैस झूठ बोलते हुए पकडा गया हूँ अर्थात् परसाई जी से मिलते हुए सिर्फ सच कहने की इच्छा होती है,।

यह विचित्र-सा अनुभव है लेकिन परसाई जी से एक बार मिलने के बाद बार-बार मिलने की इच्छा होती है और अभी कितनी ही बार परसाई जी से मुलाकात होगी--क्या उन भावी मुलाकातो के ब्यौरे अभी जुटाना मुमकिन है? शायद परसाई जी के लिए यह सभव होगा क्योकि उन्होने कबीर की तरह भूत, भविष्य, वर्तमान को एक-सा बनाने की सिद्धि प्राप्त की है।

—गंगाप्रसाद विमल

बहुरंगी स्थितियो से निपटता 'मैं'

हरिशंकर परसाई के नाम से मेरा परिचय 'निकष' वाले दिनों मे हुआ था। यह 1954-55 की बात है। उनकी दो लघु कथाएँ 'निकष' के एक अंक मे छपी थी जिन्हे मैं लोगों को बड़े चाव से सुनाया करता था। एक मे बूचड़खाना चलाने वाले एक सेठ की कथा थी, वह अपनी मातृभक्ति का प्रमाण देते हुए गाय से कहता है कि हे माता, हम तुम्हारे पुत्र हैं, हमारे रहते हुए कोई दूसरा तुम्हारा वध करे, यह हमे बरदाश्त नही। हमी तुम्हे पूजेंगे, मारना होगा तो हमी तुम्हे मारेंगे। सामाजिक जघन्यता के भाँति भाँति के नमूने परसाई के पात्रा मे मिलते हैं और उनको विकृत तर्क-शृखला (परवर्स लॉजिक) की, जो पिछले पचीस वर्ष मे न सिर्फ उनके साहित्य मे, बल्कि हमारे सार्वजनिक जीवन मे भी बराबर बढती गयी है, यह शुरुआत भर थी।

पहली बार परसाई को मैंने 1956-57 मे देखा। वे आकाशवाणी इलाहाबाद की एक हास्य-गोष्ठी मे आये थे और उसमे मैं भी, बावजूद 30 साल की उम्र के, एक नवोदित लेखक की तरह शामिल हुआ था। तब तक परसाई नवोदित वाले निशान से कई इंच ऊपर आ चुके थे। उसके बाद शायद सिर्फ एक बार और वह भी चन्द मिनटो के लिए, मेरी-उनकी मुलाकात हुई। उन्हे निजी तौर मे जानने का मुझको आज (6-10-79) तक मौका नही मिला। मुझे नही मालूम कि बोलने के मामले मे वे मेरी तरह हैं या अज्ञेय की तरह, हँसने अश्क की तरह है या कुँअरनारायण की तरह, रहन-सहन, खान-पान म मण्टो या निराला के नजदीक हैं या पन्त और बच्चन के। मेरा इन मामलों मे अनजान होना ही इस बात की दलील है कि परसाई का कोई निजी जन-सम्पर्क एव सूचना-प्रसारण-विभाग नही है और है भी तो वह बहुत नाकामयाब है।

कई जाने माने लेखक, जिनमे से अधिकांश देश के एक विशेष भू-भाग से आने वाले हैं, आत्मकथ्य और संस्मरणात्मक निबन्धों के छीन के छींटे गिराते रहते हैं, वे 'मेरा हमदम मेरा दोस्त' जैसी शृखलाएँ चलाते हैं, फिल्मी स्टारो की तरह वे पाठकों के आगे अपनी-अपनी विशिष्ट छवि विभासित करते हैं, उस छवि मे उनके कहकहे लगाने की, छककर दारू पीने की, बीवियाँ छोड़ने और बीवियाँ रखने की, माशूका के साथ कहीं दूर जा बसने की, पारबाशी की, तपेदिक-प्लूरिसी की, आर्थिक संघर्षों की, लेखक-आलोचक-सम्पादक-प्रकाशक वर्ग मे मिलने वाले त्रास और उनकी नीचतापूर्ण कुटिलता की, सम्मान और लाभ के बड़े-बड़े अवसरों

को ठुकराने की और अन्त मे एक स्वतन्त्रचेता निर्भीक विजेता के रूप मे उभरकर आने की मुद्रा बार-बार देखने को मिलती है। इन शब्द-चित्रो को छायाचित्रो की मदद मे और भी मुखर बनाया जाता है।

पर लगता है कि परसाई को यह सब नही आता या नही रुचता, क्योंकि उनकी इन मुद्राओ का एक पाठक की हैसियत से मुझे कोई पता नही है। पुरातन जर्जर मूल्यों को निर्दयता मे तोडने वाले इस लेखक का यह पुरातन रवैया सचमुच अनोखा है कि वह पाठकों तक सिर्फ अपने लेखन की मार्फत पहुँचना चाहता है, अपने निबन्धो मे 'मैं' नामक पात्र को बार-बार बहुरगी स्थितियो मे डालते हुए भी वह असली 'मैं' को पाठकों के सामने बराबर गोपनीय बनाये रहता है।

परसाई को मैंने उनकी कथाओ की मार्फत जाना था, शायद इसलिए या जो भी कारण हो, आज भी मैं परसाई तक मूलत उनकी व्यग्य-कथाओं के लिए ही पहुँचना चाहता हूँ। 'सदाचार की तावीज' या उससे भी ज्यादा पुष्ट रचनाओ वाले सग्रह 'जैसे उनके दिन फिरे' की कथाओ के सहारे किसी भी साहित्य की विपन्नता टूट सकती है। इनमे व्यग्य की लगभग सभी क्लासिकी शैलियो का उन्होंने सार्थक प्रयोग किया है। लोककथाओं का, छद्म पौराणिकता का, पैरोडी-अन्योक्ति-अतिशयोक्ति का, गाली-गलौज, घिसाई, रगडाई का—हर व्यग्य-परक तरकीब का सहज अनायास खेल इनमे देखा जा सकता है। उनमे त्रिशकु की गाथा का नया रूप है, वैताल पचीसी की परिवर्धित कथाएँ है, चन्द्रलोक मे पुलिस अफसर के करिश्मे है, हनुमान की रेल-यात्रा और रामकथा के अभिनव सस्करण है। इन सबको आज की दैनन्दिन विसगतियों को उघाडने के लिए झटके की तरह इस्तेमाल मे लाया गया है। कथाओं के ताने-बाने में बार बार परसाई की मौलिकता और आविष्कारक प्रतिभा का साक्षात्कार होता है। व्यग्य-लेखन के लिए उनके पास अनेक भाँति के अमोघ अस्त्र-शस्त्र है, अनेक पैतरे भी। किसी भी स्थिति पर वे किसी भी कोण से प्रकट होकर अचानक हमला कर सकते है और जब तक वे उसे दबोच नही लेते तब तक उनकी कहानी बालकथा की सी सरलता और निर्दोषिता से चलती रहती है। परसाई की कहानियाँ हमेशा नयी सूझ से आती है, अपने को कही दोहराती नही है।

इसीलिए 'रानी नागफनी की कहानी' से मुझे खिन्नता होनी है। लगता है कि इस भरी-पुरी प्रतिभा को एक अपेक्षाकृत अदना मुद्दे पर लगाया गया है। व्यग्य के सारे उपकरणो को जो परसाई के पास इफरात मे है, अभी और बडे, और ज्यादा व्यापक मसलो पर महाकाव्यात्मक रूप मे केन्द्रित होना है।

व्यग्य के बारे म परसाई की दृष्टि साफ-सुथरी है। उसकी सार्थकता, उद्देश्य और प्रभावशीलता के बारे मे और उसके स्वरूप को लेकर परसाई के दिमाग मे कोई अस्पष्टता नही है। वे बेशुमार अर्धशिक्षित लेखको और पाठको की तरह 'हास्य-व्यग्य' को एक ही पदार्थ मानने की भूल नही करते। यह सही है कि

'सदाचार का तावीज' की 'कैफियत'-नामक भूमिका में उन्होंने व्यंग्य के बारे में अपना रुख स्पष्ट करते हुए कहीं-कहीं उसे हास्य से जोड़ने का भ्रम पैदा किया है, पर यह बारह-तेरह साल पुरानी बात हुई। इधर 'मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ' की भूमिका में परसाई ने व्यंग्य के क्लासिकी स्वरूप की बड़ी स्पष्ट व्याख्या की है। वे उसके उद्देश्य और रचनात्मक विधा की हैसियत से उसकी अनिवार्यता के प्रति पूर्णत आश्वस्त हैं। व्यंग्य के सारे उपकरणों से लैस होकर एक सचेत कलाकार की हैसियत से वे अब उस मंजिल पर पहुँच गये हैं जहाँ रानी नागफनी एक प्राइमरी हेल्थ सेंटर के मरीज की तरह पीछे छूटी हुई है। विशेषज्ञ सर्जन की हैसियत से शल्यक्रिया के लिए अब परसाई को प्राइमरी हेल्थ सेंटर की नहीं, किसी आल इण्डिया इंस्टीट्यूट आफ मेडिकल सायंसेज की पुकार सुननी चाहिए।

परसाई-साहित्य का एक विशाल खण्ड उनके व्यंग्य-निबन्धों और टिप्पणियों का है जिसने उनके अनगिनत पाठक और दर्जनों नकलची लेखक पैदा किये हैं। 'पगडण्डियों का जमाना', 'शिकायत मुझे भी है', 'और अन्त में' आदि संग्रह इस साहित्य के प्रतिनिधि हैं। उनकी 'कबिरा खड़ा बजार में' शृंखला की टिप्पणियाँ विशेष रूप से लोकप्रिय हुई हैं। राजनीति और हमारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को लेकर परसाई की नापसन्दगी और उनकी प्रतिबद्धता को यह साहित्य ज्यादा अभिधात्मक ढंग से उद्घाटित करता है।

इस साहित्य में इतना तो बिल्कुल साफ है कि वे किसका प्रत्याख्यान करते हैं, किसे नापसन्द करते हैं। हम पता चलता है कि वे प्रजावादी-समाजवादी, जनसंघी, नेहरूवादी लोगों, गांधी के नकलचियों और पुराणपंथियों आदि को नापसन्द करते हैं। ये सब उनके लिए हेय हैं, पर किनसे देश को श्रेय मिलना है, यह बात प्रायः अस्पष्ट रह जाती है। उसकी जगह हमें ऐसे सामान्य सिद्धान्त भर मिलते है कि रिश्वतखोरी, मुनाफाखोरी, बेईमानी, राजनीतिक पाखंड आदि बुरी चीज हैं और सही चीजें ईमानदारी, वाणी और कर्म की एकात्मता, आचरण की ऋजुता, साधनों की पवित्रता और सम्पत्ति का प्रत्याख्यान हैं।

परसाई ने 'कैफियत' में व्यंग्य-लेखक की समता एक डाक्टर से की है जिसके लिए रोग और रुग्ण व्यक्तियों को देखते रहने की मजबूरी है। पर समता यहीं नहीं खत्म होती। डाक्टर के आगे रोगी की चिकित्सा करते समय स्वस्थ शरीर और मन की एक आदर्श कल्पना रहती है। उसी तरह व्यंग्यकार के मन में भी आदर्श समाज और जीवन की क्वालिटी की एक कल्पना होती है जिससे मेल न खाने वाली हर स्थिति को वह विसंगति मानता है उसे विकृति समझकर उस पर हमला करता है। व्यंग्यकार उस आदर्श के प्रति बराबर आबद्ध रहता है। असंबद्ध व्यंग्यकार की कल्पना ही नहीं हो सकती क्योंकि तब वह किसी जगह पर मजबूती से खड़े होकर चीजों को अपनी निगाह से नहीं देख सकेगा, जोकर की तरह फुदकी लगाता हुआ स्टेज के एक कोने से दूसरे कोने तक फुदकता फिर रहेगा।

को ठुकराने की और अन्त मे एक स्वतन्त्रचेता निर्भीक विजेता के रूप मे उभरकर आने की मुद्रा बार-बार देखने को मिलती है। इन शब्द-चित्रो को छायाचित्रो की मदद से और भी मुखर बनाया जाता है।

पर लगता है कि परसाई को यह सब नही आता या नही रुचता, क्योंकि उनकी इन मुद्राओ का एक पाठक की हैसियत से मुझे कोई पता नही है। पुरातन जर्जर *मूल्यो को निर्दयता से तोडने वाले इस लेखक का यह पुरातन रवैया सच-*मुच अनोखा है कि वह पाठको तक सिर्फ अपने लेखन की मार्फत पहुँचना चाहता है, अपने निबन्धो म 'मैं' नामक पात्र को बार-बार बहुरगी स्थितियो मे डालते हुए भी वह असली 'मै' को पाठको के सामने बराबर गोपनीय बनाये रहता है।

परसाई को मैंने उनकी कथाओ की मार्फत जाना था, शायद इसलिए या जो भी कारण हो, आज भी मैं परसाई तक मूलत उनकी व्यग्य कथाओ के लिए ही पहुँचना चाहता हूँ। 'सदाचार की तावीज' या उसस भी ज्यादा पुष्ट रचनाओ वाले सग्रह 'जैसे उनके दिन फिरे' की कथाओ के सहारे किसी भी साहित्य की विपन्नता टूट सकती है। इनम व्यग्य की लगभग सभी क्लासिकी शैलियों का उन्होंने सार्थक प्रयोग किया है। लोककथाओं का, छद्म पौराणिकता का, पैरोडी-अन्योक्ति-अतिशयोक्ति का, गाली-गलौज, घिसाई, रगडाई का—हर व्यग्य-परक तरकीब का सहज अनायास खेल इनमे देखा जा सकता है। उनमे त्रिशकु की गाथा का नया रूप है, वैताल पचीसी की परिवर्धित कथाएँ है, चन्द्रलोक मे पुलिस अफसर के करिश्मे है, हनुमान की रेल-यात्रा और रामकथा के अभिनव सस्करण है। इन सबको आज की दैनन्दिन विसगतियो को उघाडने के लिए झटके की तरह इस्तेमाल मे *लाया गया है। कथाओ के ताने-बाने मे बार-बार* परसाई की मौलिकता और आविष्कारक प्रतिभा का साक्षात्कार होता है। व्यग्य-लेखन के लिए उनके पास अनक भाँति के अमोघ अस्त्र-शस्त्र है, अनेक पैंतरे भी। किसी भी स्थिति पर वे किसी भी कोण से प्रकट होकर अचानक हमला कर सकते है और जब तक वे उसे दबोच नही लेते तब तक उनकी कहानी बालकथा की सी सरलता और निर्दोषिता से चलती रहती है। परसाई की कहानियाँ हमेशा नयी सूझ से आती है, अपने को कही दोहराती नही है।

इसीलिए 'रानी नागफनी की कहानी' से मुझे खिन्नता होती है। लगता है कि इस भरी-पुरी प्रतिभा को एक अपेक्षाकृत अदना मुद्दे पर लुटाया गया है। व्यग्य के सारे उपकरणो को जो परसाई के पास इफरात म है, अभी और बडे, और ज्यादा व्यापक मसलों पर महाकाव्यात्मक रूप मे केन्द्रित होना है।

व्यग्य के बारे मे परसाई की दृष्टि साफ-सुथरी है। उसकी सार्थकता, उद्देश्य और प्रभावशीलता के बारे मे और उसके स्वरूप को लेकर परसाई के दिमाग मे कोई अस्पष्टता नही है। वे बेशुमार अर्धशिक्षित लेखको और पाठको की तरह 'हास्य व्यग्य' को एक ही पदार्थ मानने की भूल नही करते। यह सही है कि

'सदाचार का तावीज' की 'कैफियत'-नामक भूमिका मे उन्होंने व्यग्य के बारे में अपना रुख स्पष्ट करते हुए कहीं-कहीं उसे हास्य से जोडने का भ्रम पैदा किया है, पर यह बारह-तेरह साल पुरानी बात हुई। इधर 'मेरी श्रेष्ठ व्यग्य रचनाएँ' की भूमिका मे परसाई ने व्यग्य के क्लासिकी स्वरूप की बडी स्पष्ट व्याख्या की है। वे उसके उद्देश्य और रचनात्मक विधा की हैसियत से उसकी अनिवार्यता के प्रति पूर्णत आश्वस्त हैं। व्यग्य के सारे उपकरणो मे लैस होकर एक सचेत कलाकार की हैसियत से वे अब उस मजिल पर पहुँच गये हैं जहाँ रानी नागफनी एक प्राइमरी हेल्थ सेंटर के मरीज की तरह पीछे छूटी हुई है। विशेषज्ञ सर्जन की हैसियत से शल्यक्रिया के लिए अब परसाई को प्राइमरी हेल्थ सेंटर की नहीं, किसी आल इण्डिया इस्टीट्यूट आफ मेडिकल सायसेज की पुकार सुननी चाहिए।

परसाई-साहित्य का एक विशाल खण्ड उनके व्यग्य-निबन्धो और टिप्पणियों का है जिसने उनके अनगिनत पाठक और दर्जनों नकलची लेखक पैदा किये हैं। 'पगडण्डियों का जमाना', 'शिकायत मुझे भी है', 'और अन्त में' आदि सग्रह इस साहित्य के प्रतिनिधि है। उनकी 'कबिरा खडा बजार में' शृखला की टिप्पणियाँ विशेष रूप से लोकप्रिय हुई हैं। राजनीति और हमारी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को लेकर परसाई की नापसन्दगी और उनकी प्रतिबद्धता को यह साहित्य ज्यादा अभिधात्मक ढग से उद्घाटित करता है।

इस साहित्य मे इतना तो बिल्कुल साफ है कि वे किसका प्रत्याख्यान करते हैं, किसे नापसन्द करते हैं। हमे पता चलता है कि वे प्रजावादी-समाजवादी, जनसघी, नेहरूवादी लोगो, गाधी के नकलचियो और पुराणपथियो आदि को नापसन्द करते हैं। ये सब उनके लिए हेय हैं, पर किनसे देश को श्रेय मिलना है, यह बात प्राय अस्पष्ट रह जाती है। उसकी जगह हमे ऐसे सामान्य सिद्धान्त भर मिलते है कि रिश्वतखोरी, मुनाफाखोरी, बेईमानी, राजनीतिक पाखड आदि बुरी चीज हैं और सही चीजें ईमानदारी, वाणी और कर्म की एकात्मता, आचरण की ऋजुता, साधनो की पवित्रता और सम्पत्ति का प्रत्याख्यान हैं।

परसाई ने 'कैफियत' मे व्यग्य-लेखक की समता एक डाक्टर से की है जिसके लिए रोगो और रुग्ण व्यक्तियो को देखते रहने की मजबूरी है। पर समता यही नही खत्म होती। डाक्टर के आगे रोगी की चिकित्सा करते समय स्वस्थ शरीर और मन की एक आदर्श कल्पना रहती है। उसी तरह व्यग्यकार के मन मे भी आदर्श समाज और जीवन की क्वालिटी की एक कल्पना होती है जिसमे मेल न खाने वाली हर स्थिति को वह विसगति मानता है, उसे विकृति समझकर उस पर हमला करता है। व्यग्यकार उस आदर्श के प्रति बराबर आबद्ध रहता है। अप्रतिबद्ध व्यग्यकार की कल्पना ही नही हो सकती क्योकि तब वह किसी जगह पर मजबूती से खडे होकर चीजों को अपनी निगाह से नही देख सकेगा, जोकर की तरह चुटकी बजाता हुआ स्टेज के एक कोने से दूसरे कोने तक फुदकता भर रहेगा।

परसाई के मन मे भी आदर्श समाज की एक कल्पना है पर उनके साहित्य मे वह प्राय ईमानदारी, वाणी और कर्म की एकात्मकता, साधनहीनों के शोषण का निषेध, आचरण की ऋजुता आदि-आदि मे ही प्रकट होती है। वे अपनी वामपंथी विचारधारा और प्रतिवद्धता के लिए विख्यात हैं पर उनके साहित्य में जिस डार्मेटिक ढग से प्रतिपक्ष का प्रत्याख्यान होता है उसी तरह, उसी डार्मेटिक ढग से प्रतिपाद्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। इससे कुछ बड़े दिलचस्प नतीजे निकलते हैं। शायद इस सिलसिले से बहुतों को झटका लगे कि परसाई-साहित्य का सूक्ष्म अध्ययन करने से कहीं-कहीं लगता है कि वे स्थूल राजनीति में भले ही वामपंथी हों, नैतिक मूल्यों की दृष्टि से वस्तुत गांधीवादी हैं।

इस अस्पष्टता का मुख्य कारण यह है कि परसाई का निबन्धात्मक साहित्य अपनी सूझ-बूझ, मौलिकता, चटुलता आदि के बावजूद सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का कोई गहरा विश्लेषण नहीं प्रस्तुत करता और बात यहीं तक रह जाती है कि आज के सामाजिक विकारों का मूल कारण हमारी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था और नैतिक मूल्यों का ह्रास भर है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्यंग्यकार से अनिवार्यत यह अपेक्षा न की जानी चाहिए कि किसी पेशेवर समाज वैज्ञानिक की तरह वह विभिन्न सामाजिक प्रवृत्तियों का अध्ययन और विश्लेषण पेश करे। यह सही है, पर पाठक के मन मे इस प्रकार की अपेक्षा खुद परसाई ही ने जगायी है।

परसाई के लेखन म 'मैं' बहुत दिलचस्प चरित्र है। वह भैयाजी, सेठजी, अफसर, प्रजावादी समाजवादी, प्रेमी, निन्दक, ईमानदार, बेईमान—सबसे टकराता है। वह सबसे सीधी सादी बातें करता है और उसी प्रक्रिया मे परसाई के बहुरंगी पात्रों का विचित्र जीवन दर्शन, जो पर्वर्स लॉजिक के अन्यतम नमूनों में से है, उद्घाटित कराता चलता है। यह 'मैं' कभी तटस्थ द्रष्टा होता है, कभी विसंगतियों का व्याख्याता, कभी जोकर, कभी 'ओरैक्लि', कभी 'ह्विपिंग ब्वाय', कभी भीड का सामान्य अंग भर। फिर भी वह हर स्थिति से कुछ न कुछ ऐसा खींचकर ले आता है जो पाठक की रूढ धारणाओं को झकझोरे, उसे सोचने पर मजबूर करे।

पर 'मैं' की कमजोरी है कि वह अपने पाठक या श्रोता की बुद्धि के पैनेपन पर भरोसा नहीं करता। तभी, व्यंग्य-वृत्ति के बावजूद, वह संकेतों पर ही निर्भर नहीं रहता, किसी भी बात को समझाने के लिए वह उदाहरणों और दृष्टान्तों का घटाटोप पैदा करने लगता है। केवल व्यंजना मे उसकी आस्था नहीं है। जिन चीजों की वह विशद व्याख्या देता है, वे लाजमी तौर से हमेशा उस व्याख्या के लायक नहीं होतीं। वह स्पष्ट को सुस्पष्ट करने का लालच मुश्किल से रोक पाता है और कभी-कभी सीधे अभिधा पर उतरकर सिद्धान्त-वाक्य बोलने लगता है। अपने व्यंग्य-निबन्धों मे परसाई यही पाठक से अपने प्रति यह अपेक्षा

जगाते हैं कि व्यग्यकार की जगह अब वे पेशेवर समाज-विश्लेपक की ही भूमिका क्यो न स्वीकार कर लें और थोडी देर के लिए अकादमीय स्तर पर ही क्यो न वात कर ली जाय !

इसे कुछ उदाहरण देकर स्पप्ट किया जा सकता है। 'पेट का दर्द और देश का' मे 'मैं' पहले मिथ्याचार के किस्सो के एक पात्र की तरह आता है और मिथ्याचार की व्यापकता पर हमें झिझोडता है, फिर उसी वात को अभिधा मे इस तरह दोहराता है कि 'अपनी प्रवृत्तियो को झुठलाने और निस्पृहता का अभिनय करने की अपनी आदत ही पड गयी है।" (यहाँ पाठक पूछ सकता है ऐसा क्यो है ? या ऐसा कब नही था ?) फिर इसी वात को विनोदात्मक ढग से समझाने के बाद 'मैं' शुद्ध पोपवादी—'पाटिफिकल' मुद्रा मे बयान करता है कि 'इसी व्यापक मिथ्याचार मे यह भी शामिल है कि मैं तो नही खाना चाहता पर आप जबरन खिला रहे है।' इसके बाद मै को कुछ और भी समझाना जरूरी जान पडता है, अत वह उसी पाटिफिकल मुद्रा मे कहता है, "एक तरफ तो अपना यह दम भरना कि हम तो सबके सब आध्यात्मिक विश्वासो वाले है। भौतिक जगत् के प्रति हमारी अवज्ञा प्रसिद्ध है। · · दूसरी तरफ भोजन के प्रति यह ममता कि खाने को जीवन को सर्वोत्तम सुख माने बैठे है।" इसके आगे भी इसी *तथ्य* को 'मैं' पुनर्व्याख्यायित करता रहता है।

'वह जो आदमी है न' के अन्तिम तीन पैराग्राफ, 'छुट्टी वाला शोक' मे अन्तिम के ऊपर के दो पैराग्राफ, 'प्रेमपत्र और हेडमास्टर' के अन्तिम तीन पैराग्राफ इसी पाटिफिकल मुद्रा के नमूने है। कभी-कभी यह हालत आ जाती है कि सिद्धान्तवादियो और उपदेशको का मजाक उडाने वाला 'मैं' खुद सबसे भारी सिद्धान्तवादी और उपदेशक हो जाता है, दुनिया-भर के बोरो के खिलाफ जिहाद बोलने वाले 'मैं' की आखिरी परिणति खुद एक बोर मे हो जाती है।

इसी प्रक्रिया मे शब्दो की फजूलखर्ची भी शामिल है। परसाई के सूत्रवाक्य और सुभापित प्रसिद्ध है और वे खास तौर से उनकी लघुकथाओ मे मिलते है। पर अतिव्याख्या की प्रवृत्ति 'मैं' को शब्दो की मितव्ययिता के प्रति सचेत नहीं रहने देती, उसे अपने ही सूत्र के भाष्य, पुनर्भाष्य और पुनर्पुनर्भाष्य के लिए प्रेरित करती रहती है और मामूली को गैरमामूली दिलचस्पी देने की सम्भावना उसी अनुपात मे घट जाती है।

जो भी हो, परसाई मे ऐब्सर्ड को पकडने की आश्चर्यजनक क्षमता है। वह मरते हुए कवि मे दवा के तौर पर काव्यपाठ कराके कवि को जिला देती है, श्रोता को मार देती है, हृदय-परिवर्तन के डर से भागे हुए डाकू का हृदय भैया जी के सीने मे आरोपित कर सकती है, गणेश-पूजको के ही हाथो तेलियो के गणेश की ऐसी-तैसी करा सकती है, *इस समाजवैज्ञानिक तथ्य का अनुसधान कर* सकती है कि जाति परजाति मे शादी करने से जाती है, उससे **व्यभिचार** करने मे

नहीं। परसाई एक प्रगतिवान्, सजग और सक्रिय कलाकार है और अपनी प्रतिभा का वे इतना परिचय दे चुके और दे रहे हैं कि कहीं-कहीं प्रकट होने वाले कलात्मक अनगढ़पन और वैचारिक 'नेति-नेति-वाद' के बावजूद उनके बारे में लेखन के किसी पक्ष को लेकर किसी भी राय को अभी शायद अन्तिम नहीं माना जा सकता, अपनी किसी भी कृति से कल तक वे उसे आउट-आफ-डेट बना सकते हैं।

—श्रीलाल शुक्ल

पाठक के संस्कारों में घुला हुआ

सम्प्रति साहित्य निरन्तर बदलती हुई दुनिया के तूफानों के बीच निर्मित हो रहा है। यह स्वाभाविक है कि परिवेश के सुन्दर और खतरनाक दृश्यों की झलक साहित्य मे देखने को मिले। किन्तु क्या इसकी भूमिका इतनी-सी है। क्या व्यंग्य-कार परम्परागत ढग से हल्के-फुल्के हास्य की अथवा व्यंग्य की सृष्टि करके निरापद ढग से समाज म अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान सकता है? वैसे इस घन-घोर व्यावसायिक युग मे साहित्य भी एक बिकाऊ वस्तु हो गयी है या बना दी गयी। इसके कारणों का विश्लेषण करना हमारा ध्येय यहाँ नही है किन्तु यह अवश्य दुखदाई है कि व्यंग्य जैसी मारक और प्रभावशाली विधा को भी लेखक व्यावसायिक पत्रिकाओं मे चटनी और स्वाद के तौर पर इस्तेमाल किया जा रहा है। सायास पाठक को वास्तविकताओं से दूर ले जाने की कोशिश की जा रही है, उसकी रुचियों को भ्रष्ट किया जा रहा है और सही और सार्थक रचनाओं और रचनाकारो पर शारीरिक एव वैचारिक आक्रमण किये जा रहे है, फिर भी क्या यह सार्थक विधा और इसकी पैनी धार कुद हुई? मेरे विचार मे रवीन्द्र-नाथ त्यागी का यह कथन बहुत हद तक सटीक मालूम पडता है, कि यदि स्वतत्रता पूर्व साहित्य का जायजा लेना हो तो प्रेमचद का साहित्य हमारा मार्गदर्शन कर सकता है और स्वातत्र्योत्तर भारत का सही जायजा लेने के लिए हरिशकर परसाई का साहित्य हमारा सहायक हो सकता है। किन्तु यहाँ भी साहित्यिक दलालो ने भरसक इस वास्तविकता को धुंधलाने की कोशिश की है। जहाँ प्रेमचद की परम्परा और विरासत का जिक्र हुआ है वहाँ बडी मक्कारी से परसाई का नाम ओझल कर दिया गया है। सरकारी और व्यावसायिक रास्ता म जितना परसाई को पीछे धकियाया गया है पाठको के बीच परसाई को उतनी ही मकबूलियत और प्रसिद्धि मिली है और इसमे किसी भी निष्पक्ष और समझदार पाठक की दो राय नही हो सकती कि परसाई पिछले दो दशको के बहुचर्चित, विवादास्पद और महत्वपूर्ण हस्ताक्षर रहे, इतना ही नही, परसाई के बाद की पीढी मे कई ऐसे हस्ताक्षर है जो उनकी शैली और सार्थक विषयवस्तु के न केवल कायल है अपितु इस परम्परा को सशक्त ढग स आगे बढा रहे हैं।

साहित्य समाज का दर्पण है' आज हम इस कहावत को इसके सकुचित अर्थों म स्वीकार नही कर सकते। साहित्य बदलती हुई दुनिया का दर्पण मात्र ही नही है बल्कि उन क्रान्तिकारी परिवर्तनो मे सहायक भी है। आज का सच्चा

साहित्यकार शान्ति और प्रगति तथा परस्पर स्नेह सौहार्द के लिए कटिबद्ध है, वह कोरा सुधारक या उपदेशक नही बल्कि सम्पूर्ण रूप से इस व्यवस्था को बदलने के लिए तत्पर रहता है। स्वय परसाई ने अपनी एक किताब की भूमिका मे अपने विचार स्पष्ट किये है—"मैं सुधार के लिए नही बदलने के लिए लिखना चाहता हूँ। याने कोशिश करता हूँ ! चेतना मे हलचल हो जाए, कोई विसगति नजर के सामने आ जाए। इतना काफी है।" यद्यपि यही अतिम परिवर्तन नही है। दुनिया और मनुष्य को बदलने की प्रक्रिया के दौरान साहित्य स्वय भी बदलता है। इसके आयामो का विस्तार होता है। जीवनसौन्दर्य की अभिव्यक्ति की क्षमताएँ बढ जाती हैं। परसाई ने स्वय अपनी एक रचना 'सदाचार का तावीज' के बारे में लिखा है—"इसमे कोई सुधारवादी सकेत नही है। कुल इतना है कि तावीज बाँधकर आदमी को ईमानदार बनाने की कोशिश की जा रही है (भाषणो और उपदेशो से) सदाचार का तावीज बाँधे बाबू दूसरी तारीख को घूस लेने से इन्कार कर देता है मगर 21 तारीख को ले लेता है—उसकी तनख्वाह खत्म हो गयी। तावीज बँधा है मगर जेब खाली है। सकेत मैं यह करना चाहता हूँ कि बिना व्यवस्था मे परिवर्तन किये, भ्रष्टाचार के मौके बिना खत्म किये और कर्मचारियो को बिना अधिक सुरक्षा दिये, भाषणो, सर्कुलरो, उपदेशो, सदाचार समितियो निगरानी आयोगो के द्वारा कर्मचारी सदाचारी नही होगा।"

परसाई का लेखन अन्य व्यग्यकारो की भाँति न तो मनोरजन मात्र है और न ही वह सूचनार्धमिता का निर्वाह करता है। वह उन तमाम सामाजिक अन्तर्विरोधो, सम्बन्धो को उद्घाटित करने की प्रक्रिया मे निरन्तर सलग्न रहता है। यही कारण है कि उसका लेखन शीघ्र ही पाठक की चेतना का अग बन जाता है। वह जनचेतना अथवा स्पष्टतया वर्गचेतना का विकास कर पाने मे निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। परसाई हमेशा उन परिस्थितियो, अन्तर्विरोधो और विसगतियो को सामने रखते हैं जिनमे परिवर्तन की सम्भावना होती है या हो सकती है इसलिए निरन्तर उसके निजी यथार्थ मे और सामाजिक यथार्थ मे टकराहट होती रहती है। परसाई के ही शब्दो मे—"17 साल की उम्र से मेरा जीवन घोर दु खो से गुजरा, अब भी वैसा ही है। मैंने जब लिखना शुरू किया, यह व्यक्तिगत दु ख मुझ पर हावी था। मनुष्य अपने दु ख को महिमा-मडित करता है। इसमे उसे सुख मिलता है। यह स्वपीडन-प्रमोद (मेसाकिज्म) है। मेरी आरम्भिक रचनाएँ बहुत करुण हैं। ऐसी करुण कि उन्हे बिना रोये पढा नही जा सकता। पर कुछ समय बाद मैं व्यक्तिगत दु खं के इस मोहजाल मे बाहर निकल तटस्थ हो गया।" यही तटस्थता ही उसे व्यक्तिगत अनुभवो के सीमित दायरे से निकालकर वृहत् सामाजिक यथार्थ का अग बनाती है। इसलिए जो समकालीन यथार्थ लेखक के मन मे बराबर घुमडता रहता है उसमे से ही लेखक अपनी रचना की सामग्री के लिए सम्पूर्ण दृष्टि मे उन सारे तथ्यो की पडताल

करता चलता है जो सामाजिक जीवन मे गहरे जुडे है । इस सम्बन्ध मे एक बात साफ है कि परसाई जिस व्यापक जनसमुदाय के जीवन के बुनियादी तथ्यो-सवालो को सामने रखते है उसके लिए वह खुद समकालीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सदर्भ मे सही भाषा और चरित्र का चुनाव करते है ।

वस्तुपरक बोध और वैयक्तिक त्रिया का गहन एव सन्तुलित सम्मिश्रण है। वास्तव मे यही दो परस्पर गुम्फित तत्त्व परसाई के साहित्य को नयी अर्थवत्ता प्रदान करते है। उनके यहाँ हमे सोद्देश्य सभी कला के दर्शन होते है, माध्यम से निरन्तर जीवन और चरित्रो का विकास किया गया है, जिसे परसाई जी की कमजोरी कहकर उसे टाला गया है शायद वही राजनीतिक विषयवस्तु ही उनके लेखन की सबसे बडी शक्ति है, किसी भी पार्टी विशेष के घोषणापत्र अथवा सविधान के अध्ययन द्वारा पाठक शायद उतना सचेत नही हो सकता जितना परसाई जी के तेज और तीखे व्यग्य पढकर । यही कारण है उनके राजनीतिक विरोधियो द्वारा उन पर किसी प्रकार का ओछा आक्रमण सम्भव हो सकता है।

कोई भी विचार तभी अस्तित्व मे आता है जब वह वाणी ग्रहण करता है। प्रत्येक शब्द के पीछे एक विचार होता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, सही या गलत, विभिन्न अर्थों मे और विषयो मे, ध्वनियों और शब्दो मे एक शब्द अपने मे हमारी तमाम भावनाओं को समोहित करने की क्षमता रखता है। साहित्यिक भाषा विचार-वहन का एक सशक्त माध्यम है। इसलिए शायद लेखक लेखकीय सम्पूर्णता के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है । एक व्यग्यकार तो अपनी सामाजिक समझ, जिम्मेदारी और अपने आम आदमी के साथ खडे होने की तैयारी मे दूसरे लेखको मे अधिक सतर्क, दृष्टिवान और योद्धा होता है ।

परसाई जी के लेखन मे इस गम्भीर चुनौती का सफलतापूर्वक सामना हुआ है, एक ओर जहाँ शैली की विविधता और पुराने मिथको और पौराणिक पात्रो का नये सन्दर्भों और समसामयिक परिस्थितियो मे सोद्देश्य एव सफल प्रयाग हुआ है वही पाठक की रुचियो से स्त्री, नौकर की स्थितियो से उत्पन्न होने वाले भौंडे हास्य-व्यग्य को हटाकर पहली बार शिष्ट और सार्थक हास्य व्यग्य को स्थापित किया गया है। वैसे परसाई जी के व्यग्य की शिष्टता का सम्बन्ध उच्चवर्गीय मनोरजन से न होकर समाज मे सर्वहारा की उस लडाई से अधिक है जो आगे जाकर मनुष्य की मुक्ति मे जुडती है।

—केवल गोस्वामी

मेरा महबूब फ़नकार

हरिशंकर परसाई मेरे महबूब फ़नकार हैं। इसकी चंद वजूहात हैं। एक—वे हिन्दी के सबसे ज्यादा सुलझे हुए आदमी हैं। दो—उनमें अपनी बात के लिए जोखिम उठाने का माद्दा है। तीन—उनमें भावुकता, लागलपेट और वैचारिक लड़खड़ाहट कतई नहीं है और चार—मेरे पास बड़े नॉविल पढ़ने का वक्त नहीं है।

तीसरी और चौथी बात को खुलासा कहना चाहूँगा। इस जमाने में सीधी बात को उलझाकर कहना विद्वत्ता का सबूत माना जाता है और जिन लोगों के पास कहने को कोई खास बड़ी या नयी बात होती ही नहीं वे मुलम्मेबाजी और लिफाफेबाजी से रचनाओं में ऐसा समाँ बाँधते हैं गोया ये तर्जेबयाँ ही अच्छी रचना का मैयार हो। रंगीन रिसाले इन्हें हवा देते हैं और पाठक को मिलने वाली बौद्धिक खूराक दिलकश मगर पोपली, खुशबूदार मगर खोखली होती जाती है। अगर कोई सर्वे किया जाय, लोगों से पूछा जाय कि गुजिश्ता पाँच या दस बरसों में तुमने क्या-क्या खास चीजें पढ़ीं' 'तो पता चलेगा कि कुछ गिनती की रचनाएँ होंगी जो उन्हें याद भी रह पायी होंगी। और जो रचनाएँ उन्हें याद होंगी उनमें बेशक कई परसाई की होंगी।

लेकिन इस बात का एक पहलू और है। भावुकता शायद कुछ मिकदार में फ़नकार के लिए, या कहना चाहिए कि बड़ी रचना के लिए जरूरी चीज होनी है। आप इसे संवेदनशीलता या दिल पिघल जाने की कुव्वत या कुछ भी कह सकते हैं। परसाई में तर्क इतना ज्यादा है कि भावना की तरलता उसमें सूख गयी लगती है। ऐसा व्यंग्य लिखते-लिखते हो गया या ऐसा था इसीलिए उन्होंने व्यंग्य को चुना, मैं नहीं कह सकता। ढकोसलों को, दोगलेपन को, झूठी शान की खाल उधेड़ने में परसाई का जवाब नहीं, पर कोई आदमी ऐसा करने पर क्यों मजबूर है और करके भी क्या भुगत रहा है, उसके दिल पर क्या गुजर रही है, यही बता देते तो परसाई में और मंटो में फर्क ही क्या रह जाता? मंटो के पास अपार करुणा है शोषित लोगों के लिए। इसके अफसाना का मरकजी किरदार वह वर्किंग वूमन है जो शोषण और जिल्लत और खुद्दारी की जो इंतिहा हो सकती है—उसकी सरापा तस्वीर है—जिसे हम रंडी कहकर जानते हैं। क्यों मंटो बार-बार वहीं लौट सामाजिक यथार्थ इसे वेश्या पीड़ित मानवता की सबसे पुरअसर नुमाँ यथार्थ लेखक के मन में बराबर धुरे केन्द्र में इससे उलट वह लेता है जिसमें ...नी रचना की सामग्री के लिए सम्पूर्ण दृष्टि है न शोषित, जो सीर्फ छल करना

जानता है और इसके सिवा कुछ नही जानता। परसाई अगर वेश्या पर लिखते भी तो नेता की ही नजर से—जैसे 'आनन्दी'। और नेता पर वेश्या की नजर से लिखते तो 'अकाल-उत्सव' जैसी महान रचना। पर परसाई के पास ऐसी महान रचनाएँ कम ही हैं। शायद इसीलिए उन्होंने बडे उपन्यास नही लिखे। ये उन सैकडो पाठको की शिकायत का एक मुमकिन जवाब हो सकता है कि परसाई ने राग दरबारी के बाप क्यो नही पैदा किये ? जबकि वे कर सकते थे।

लेकिन परसाई परसाई थे। उन्हे मार्क ट्वेन नही होना था। उनके पास फिकरे है जो आप याद रख सकते है, किरदार नही। परफेक्शन के लिए एक्टिविस्ट के पास वक्त कहाँ ? आप मान सकते हैं कि राजनैतिक सक्रियता या फिक्रेमाश ने परसाई को मार्क ट्वेन नही होने दिया, लेकिन मैं उस जमाने की सोच रहा हूँ जहाँ से परसाई ने व्यग्य का अपना सफर शुरू किया था। व्यग्य के नाम पर हिन्दी के पास क्या था परसाई से पहले ? और क्या होगा परसाई के बाद ? मुझे तो आज का हर व्यग्य-लेखक परसाई की नकल करता मालूम होता है। जैसे वे कोई दिलीपकुमार हो ! उनकी शैली व्यग्य का पर्याय बन गयी लगती है। व्यग्य के पूरे मैदान मे परसाई यूँ भौह सिकोडे, तर्जे अमल की सरगोशियो मे मुब्तिला खडे है खोये हुए से गोया लिलिपुटियना के बीच गुलीवर खडा हो। किसी को परसाई का ऐसा कार्टून बनाना चाहिए। मजा रहेगा और तक्लीफ भी होगी।

□

परसाई जी के बारे मे सोचता हूँ तो बेसाख्ता इशा याद आ जाते है। शायद कुछ वक्त वक्त की बात होती होगी कि कोई गोर्की, कोई बाल्जाक, कोई जोला बन जाता है। वरना खाक मे क्या सूरतें होंगी जो पिन्हा हो गयी। परसाई जी ने मुझे कबीर का शैदाई बना दिया और मेरी जाती जिन्दगी के बाज मसाइल आप कैसे मानेंगे कि परसाई नही होते तो मुझे कुचलकर कचरा कर डालते। परसाई की सबसे अच्छी रचना वह है जो किसी किताब मे नही (आदम—ये माजरा क्या है ?) और सबसे अच्छी किताब वह है जो उन्होने अब तक लिखी नही (*कोई गोदान, कोई झूठा सच*)। *अखबारो मे छपने वाले उनके कॉलम* दाना इन्सानो मे राजनीति के लिए दिलचस्पी पैदा करते है और अदबी रिसाला मे शाया होनेवाले उनके तफसरे साहित्यकार को साहित्य की घोघा बसन्तियत से बाहर खुली हवा और धूप मे ला खडा करते है, यह उनकी सबसे बडी उपलब्धि है। और कौमी खिदमत भी। सैकडो नौजवान परसाई को पढकर सही राजनीति की तरफ खिचे होंगे और खिचेंगे। आने वाला वक्त उनके लिए हमारे मन मे मौजूद इज्जत को कई-कई गुना बढाकर इसे साबित करेगा।

□

मेरी इस छोटे-से कस्बे में एक छोटी-सी किराने की दूकान है। मैं ही मालिक हूँ मैं ही नौकर। मेरी जिन्दादिली अगरचे कुछ है तो उसका वाइस बच्चे, शायरी और परसाई। ज्यादा पढ़ने का वक्त नहीं मिलता। वे अखबार जरूर खरीदता हूँ जिनमे परसाई के कॉलम होते हैं। लोग ले जाकर नहीं लौटाते तो बड़ा खुश होता हूँ। आप नहीं जानते कई दफा घर की महिलाएँ भी खाली वक्त मे कुछ पढ़ लिया करती है। एक दफा एक साहब शिकायत करने आ गये—क्या द दिया यार कुरबान भाई ! फर्माइश हो गयी है कि 'स्टैंडिग किचन' बनवाकर दो। (गनीमत रही कि 'वाकिंग झाड़ू' की फर्माइश नहीं हुई।

आप इजाजत दें तो एक बात और कह दूँ ?

एक बार 'नवनीत' ने सवाल किया था कि टाइम कैप्सूल मे रखने के लिए किसी एक हिन्दी पुस्तक का नाम लीजिए वगैरह। दयानतदारी ऐसी अब कहाँ दिखाई देती है ? परसाई ने कहा 'राग दरबारी'। काश ! इतना 'असली इन्सान' सिर्फ मुठाठेयी ही नहीं होता !

—कुरबान अली

यह नाम, एक मुहावरा है

हरिशकर परसाई निर्विवाद रूप से हिन्दी के श्रेष्ठ व्यग्यकार है। किन्तु व इससे भी अधिक कुछ हैं। किसी भी अन्य भाषा की तरह हिन्दी के पास भी गिनती के ऐसे लेखक है जिन्होने अपने लेखन से पूरे साहित्य का तेवर, उसका मिजाज बदल दिया हो। हरिशकर परसाई उनमे से एक है यह मानने मे मुझे कोई सकोच नही। ललित निबन्ध लेखको और शिवानी जैसी कुछ 'सुरम्य' लेखिकाओ को छोडकर हर गद्यकार परसाई का ऋणी है, प्रकटत. कृतज्ञता ज्ञापन यद्यपि उनके लिए कठिन हो। परसाई जी की सबसे बडी देन यह है कि उन्होंने हिन्दी को नया मुहावरा दिया है।

उनसे मेरा पहला परिचय 'बैठे ठाले' की एक रचना से हुआ था। मैं उन्हें खोज-खोजकर पढने लगी और आश्चर्य करती रही कि ये पत्रिकाएँ अपनी सबसे अधिक गभीर रचनाओ को जिन स्तभो मे छापती हैं उनका नाम 'बैठे ठाले' या 'ताल-बेताल' क्यों रखती हैं? मुझे बाद मे पता चला कि इन्दौर से प्रकाशित 'नई दुनिया' का 'सुन भई साधो' स्तम्भ भी परसाई जी ही लिखते हैं। मैं उन्हे बहुत हँसोड और चुटीला आदमी समझती थी। बाद मे पता चला कि वे ऐसे नही है।

परसाई जी का उपन्यास 'तट की खोज' उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। हर अच्छे पुस्तकालय मे यह पुस्तक रहनी चाहिए और हर लडकी को यह उपन्यास पढना चाहिए। 'तट की खोज' की नायिका पूरे हिन्दी साहित्य की सबसे बहादुर और सबसे दुखी लडकी है। निराला के एक उपन्यास मे, मटो की कुछ कहानियो मे और शरच्चद्र साहित्य मे इस जात की नायिकाएँ है। पर वे भी इसके सामने कही नही टिकती। पहले मैं समझती थी कि ऐसी लडकियाँ कही नही होती। इतनी तर्कसिद्ध, तर्कपूर्ण और कि जिन्हें भावुकता छू भी न गयी हो। किन्तु अब जबकि मैं भागी हुई—भगाई हुई—भटकी हुई और जीती हुई कई तरह की लडकियो को अपनी ही पीढी मे देख चुकी हूँ मैं सोचती हूँ 'तट की खोज' की नायिकाएँ नही हैं समाज मे तो होनी चाहिए। कुछ है भी परन्तु कुण्ठाग्रस्त आधुनिक कथाकारो की लेखनी उनका ताप झेलने मे असमर्थ हैं। वे औरत के प्रति वही सामती रवैया पाले हुए है और उनकी यह कमजोरी सारी क्रान्तिकारिता के बावजूद उस जगह जाहिर हो जाती है जब उनकी 'कॉमरेड' नायिका के लिए अपने कार्य से भी अधिक आवश्यक नायक पर मर मिटना हो जाता है। परसाई जी के मन मे नारी के प्रति एक बहुत गहरा श्रद्धाभाव है जो उच्छ्वासो में **नहीं**, उसके **आत्मसम्मान**

को ललकारने मे और उसे अपने निर्णय स्वय ले सकने योग्य बनाने की चेष्टाओं मे अभिव्यक्त होता है।

मुझे याद नही आता कि हिन्दी क किस दूसर लेखक मे मैंने यह बात देखी! सम्भवत अमरकान्त और ज्ञानरजन मे। किन्तु कलात्मकता और किस्सागोई मे उसकी वैसी अपील नहीं हो सकी। परसाई जी समझते है कि क्रान्ति मशीनें नहीं इन्सान करते है और इन्सानो को अपने दैनन्दिन जीवन म पाखण्ड मुक्त करने के लिए वे घर-गृहस्थी की छोटी-छोटी विसगतियो की ओर सहानुभूतिपूर्वक उगली उठाते है और प्यार-भरी चुटकी लेते है। पूजा-पाठ का पाखण्ड, सच्चरित्रता का ढोग, मध्यवर्गीय झूठी शान का ढकोसला और गाधीवादी आदर्शवाद—इन पर अपने निबन्धो मे परसाई जी ने इतना प्रभावशाली लिखा है कि पाठक पर उसका प्रभाव और सस्कार पडे बगैर रह ही नही सकता। वे जिनकी भाग गयी हैं, पाठक जी का केस, राग विराग आदि ऐसी ही कतिपय रचनाएँ है।

विवाह के बारे मे परसाई जी का निश्चित मत यह लगता है कि उसका निर्णय स्वय लडका-लडकी को करना चाहिए और उसका आधार प्रेम ही होना चाहिए। प्रेम-विवाह मे भी नारी की नियति वही रह जाती है जो पारपरिक विवाह मे, उसकी स्थिति मे कोई विशेष अतर नही पडता इस ओर शायद परसाई जी का ध्यान बाद की रचनाओ मे नही गया। उनका आग्रह केवल एक रूढि को तोडने मे है। 'इक्कीस वर्ष का युवक देश की सरकार चुन सकता है, अपने लिए अपनी मर्जी से पत्नी नही चुन सकता।' व बडी तकलीफ के साथ कहते है। इसी निबन्ध मे एक और महत्त्वपूर्ण बात परसाई जी ने शाश्वतता के लिए कही है—शाश्वत केवल मूर्खता होती है।

परसाई जी की एक विशेषता उनकी सहजता है। उनकी किसी रचना पर दुरुहता या क्लिष्टत्व का आरोप नही लगाया जा सकता। अस्पष्टता का भी नही। वे स्पष्ट रूप से जानते है कि उन्हे क्या कहना है। इसलिए उनका लेखन छोटे से बडे तक, हर स्तर के पाठक के लिए सहज रूप से बोधगम्य और प्रभावशाली है। इसका कारण उनकी सुलझी हुई जीवन-दृष्टि और वैज्ञानिक विचारधारा ही नही, उनकी महान लेखकीय क्षमता भी है जो सहज ही उन्हे कबीर प्रेमी ही नही, कबीर और प्रेमचद का योग्य वारिस भी बना देती है।

परसाई जी के बारे म एक और रोचक तथ्य यह है कि वे कई वर्षों से निरतर व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओ के लिए लिख रहे है, किन्तु आज तक किसी ने उन्हे व्यावसायिक लेखक नही कहा, उनकी आस्थाओ पर सदेह नही किया। व्यावसायिक पत्रिकाओ वाले भी जानते है कि परसाई जी क्या है और पाठक भी। दोनो का काम एक-दूसरे बगैर नही चलता। और परसाई जी वहाँ भी अपनी जी की बात खुल्लमखुल्ला कहने से बाज नही आते। चाहे धर्म हो चाहे राजनीति, चाहे भ्रष्टाचार हो, चाहे सदाचार, परसाई जी किसी को कोई रियायत देने को तैयार नही।

मैं तो निरंतर उनकी रचनाएँ खोज-खोजकर पढ़ती हूँ और उनकी पुस्तकें ही मित्रों के जन्मदिन, विवाह आदि पर उपहारस्वरूप देती हूँ। यद्यपि उनकी पुस्तकें हर समय और हर जगह आसानी से नहीं मिलतीं। मैंने उनके चुटीले वाक्यों का एक अलग संग्रह बना रखा है जिसे बार-बार पढ़ती और सोचती हूँ। मुझे बहुत तकलीफ हुई थी उस समय जब यह समाचार आया था कि कुछ 'भारतीय संस्कृति के उन्नायक' उनके घर पर जाकर उन्हें पीट आये थे। सारे देश के साहित्य प्रेमियों ने उस समय जिस रोष का इजहार किया? वह परसाई जी के लिए सारे देश के प्यार का द्योतक है। और उन मूल्यों के लिए भी जिनके लिए परसाई जी निरन्तर लिख रहे हैं।

—मंजु पाल

नाविक के तीर

सवाल उठता है—परसाई मे क्या है जो मुझे सबसे अच्छा लगता है? व्यग्य का मूल उद्देश्य पाठको मे असामाजिक तत्त्वो के प्रति घृणा पैदा करना। व्यग्य जीवन मे साक्षात्कार कराना है। परसाई का व्यग्य जीवन की आलोचना तो करता ही है, साथ ही साथ विसगतियो, मिथ्याचारो और पाखण्डो का पर्दाफाश करता है। उनके व्यग्य का स्वर सुधारवादी नही है बल्कि बदलाव का है। वे बुनियादी मुद्दो पर उँगली उठाते हैं। उनके व्यग्य में मूल्यो की आपाधापी का ही चित्रण नही मिलता है बल्कि उसमे नये मूल्यो की तलाश की छटपटाहट भी दिखाई देती है।

यूँ तो मुझे परसाई का सारा लेखन ही पसन्द है। चाहे वो कहानी हो, उपन्यास हो, साहित्यिक हो, राजनैतिक हो या अखबार स्तम्भ, पर उनका राजनैतिक व अखबार स्तम्भ मुझे विशेष पसन्द है। सवाल पैदा होता है, राजनैतिक लेखन क्यो? आज के युग मे राजनीति बहुत बडी निर्णायक शक्ति है। राजनीति हमारे जीवन का एक अभिन्न अग है। उससे कतराना एव बडी मूर्खता है। अखबार स्तम्भ मे मुझे जनयुग का—आदम ये माजरा क्या है? सारिका का—कबिरा खडा बजार मे, करट का—माटी कहे कुम्हार से विशेष पसन्द है।

पढकर क्या होता है? पढकर कचोट पैदा होती है। परसाई का व्यग्य तिलमिला देना है। चेतना मे हलचल पैदा करता है। सोचने को मजबूर करता है।

दूसरे क्या सोचते है? व्यावसायिक पत्रिकाएँ हमेशा फरमाइशी चीजें लिखवाती है। नकली पाठक उसे ही असली व्यग्य समझता है। ये नकली पाठक व्यग्य-लेखन की समूची अन्दरूनी प्रक्रिया को भूलकर व्यग्य-लेखन को एक मजाक और व्यग्यकार को एक मजाकिया आदमी मान लेते है। क्योकि उनके शब्दो में —मजा आ गया। पढने पर हँसी आती है। मगर ऐसे लोगो का व्यग्य-बोध सतही होता है। वे हास्य और भौंडेपन के नीचे आक्रोश, करुणा या पीडा की जो अलर्धारा बहती है उसे नही समझते। परसाई का व्यग्य अपने सतही स्वरूप मे चाहे जितना हास्योन्मुख हो उसका उद्गम पीडा, अशाति, विचलन या आवेग म होता है। आमतौर पर पाठको ने ताल-बेताल या बैठे ठाले का हास्य-व्यग्य ही पढा है। जो अधिकतर फूहड या घटिया हास्य है। निम्नस्तर का व्यग्य-विनोद है जिसे व्यग्य के लेबल पर पेश किया जाता है तो पाठक की समझ का

क्या दोष ?

परसाई ने चुटीले व्यंग्य लिखे हैं उसके द्वारा देश में फैली ढेर सारी विकृतियों का पर्दाफाश किया है। उनका व्यंग्य उस व्यवस्था पर पूरी चोट करता है जिसके कारण ये विकृतियाँ पैदा हुई हैं। जो हर रोज बढ़ती जा रही है। देश में परिश्रमी और मेहनतकशों की कोई कीमत नहीं समझी जाती। देश की नौकरशाही भ्रष्ट है। पेंशन की अर्जी मंजूर कराने के लिए रिश्वत देनी पड़ती है। योग्य व्यक्तियों की अवहेलना की जाती है। नालायक ऊँचे ओहदों पर बिठाये जाते हैं। गणतन्त्र दिवस दिखावा मात्र है। ढोंग है। समारोहों में देश की सही तस्वीर पेश नहीं की जाती है। चुनावों में लोगों पर जातिवाद नामक भूत सवार रहता है। यह सारी बातें सही हैं तथा स्वीकारने योग्य हैं। परसाई ने देश में फैले भ्रष्टाचार, ढोंग, रूढ़ियोंबद्ध धर्म और अंधविश्वासों पर आक्षेप किया है। मुखौटों को व्यंग्य के नुकीले बाणों से हटा उसे नंगा किया है। उनकी रचनाओं में साफ तौर से यह आभास मिलता है कि इन सारी विसंगतियों के मूल में पूँजीवादी व्यवस्था है।

परसाई के व्यंग्य के नुकीले तीर सत्ता पर चोट करते हैं। बड़े-बड़े धन्ना सेठों एवम् देश के तथाकथित बुर्जुआ नेताओं पर सीधा वार करते हैं। दिल्ली के तख्त पर विराजने वाले भाई जी और उनके चेले-चपाटे भी परसाई के व्यंग्य-बाणों के शिकार बनते हैं। कबिरा खड़ा बजार में उन्होंने चोटी के नेताओं पर व्यंग्य किये हैं। उनकी सही हालत क्या है जायजा लिया है। ऐतिहासिक चीज़ है। कबीर का मूल स्वर व्यंग्य है। काव्य-यात्रा में व्यंग्य किया है। कबीर जैसा फक्कड़पन अन्दाज परसाई में मिलता है।

देश की गिरती हालत, महँगाई, बेकारी, भ्रष्टाचार, घूस, अवसरवाद, छात्र आन्दोलनों की दिशाहीनता, अध्यापकों की गुटबाजी, शोध-कार्यों की निस्सारता एवं रोजमर्रा की जिंदगी के आम पात्र और स्थितियों से लेकर एक व्यापक सामाजिक अकर्मण्यता, पारम्परिक रूढ़ियों की मोहविष्टता, अफसरशाही, सार्वजनिक विघटन परसाई की व्यंग्य सीमा में तो आते ही हैं, साथ ही साथ वे आज की ज्वलंत समस्याओं को भी उठाते हैं। मसलन भूमिहीन किसानों की झोंपड़ियों में आज भी जमींदारों के पालतू गुंडे आग लगा देते हैं। हरिजनों को जिंदा जला दिया जाता है। आन्दोलन करने वालों को देशद्रोही, गद्दार कहकर, देश की तथाकथित लोकतांत्रिक सरकार खुलेआम उन्हें गोलियों से भून रही है। अपने हक की माँग करने वाले गरीब और मेहनतकश पुलिस की गोली डंडों के शिकार बनते हैं। ये सारे विषय परसाई की लेखनी से अछूते नहीं रहे हैं। परसाई के व्यंग्य में तल्खी और तरारे का भाव है।

यथार्थ व आदर्श में सिद्धान्त व व्यवहार में कथनी और करनी में जो परस्पर असमानता है या इन दोनों के बीच की जो खाई है उसको पाटने की परसाई ने रचनात्मक तरीके से चेष्टा की है, और उन्होंने इस खाई (विसंगति) को जितना

अधिक गहरे जाकर पाटा है, उससे व्यग्य मे उतना ही कचोट, तीखापन उभर आया है। स्वतन्त्रता के बाद के भारतीय जनजीवन की पूरी तस्वीर उनके व्यग्यो मे दिखाई देती है। उनके व्यग्य नावक तीर है।

रोचक संस्मरण—परसाई की एक कहानी के बारे मे मेरा !

एक नौजवान जिनसे दुआ-सलाम तक जान-पहचान थी, एक दिन मेरे घर आ टपके। बोले—आपके पास कोई अच्छी-सी कहानी की पत्रिका हो तो दो। मैंने सारिका का वह अक जिसमे परसाई की "एक लडकी पाँच दिवाने" कहानी थी पढने को दी। आठ-दस दिन बाद वह नौजवान गाधी-चौक मे मिले। मैंने उनसे अक लौटाने को कहा। और उनसे उस कहानी के बारे मे राय पूछी, तो वे सुरती फाँककर बोले—मजा आ गया। वाह साहब, क्या लिखते है ! मैंने तो वह पाँच बार पढ ली। *तुम्हारी भाभी को भी पढाया। मगर कल मेरी छोटी साली उनसे* माँग कर कॉलिज ले गयी। उसको लौटाते ही मै आपको दे दूंगा। वाह साहब, दिन बीतते गये मगर उनके चेहरे की मुस्कान आँखो की नकारात्मकता और दुसरी पुस्तक माँग ले जाने की ललक कभी खत्म न हुई। आज दिन तक शायद वह साली अपने पाँच दिवानो को ढूंढ रही है और मैं वह कहानी।

—मनोहर महेचा

जनता का हमदम

प्रिय कमला प्रसाद जी !

आपका पत्र मिला। परसाई जी के लखन के सदर्भ मे पाठकीय प्रतिक्रिया समकालीन अनेक लेखको से भिन्न है। परसाई जी विगत तीन दशकों मे लिख रहे है। इस अवधि मे पाठकों की रुचियों मे निरन्तर विकास हुआ है। अपनी रचनाशीलता के प्रथम दशक मे परसाई जी को अत्यधिक सघर्ष करना पडा है। उनके लेखन से त्रस्त होकर उनकी छवि मठाधीशो और परम्परावादियों ने ऐसे व्यग्यकार के रूप मे पेश करनी चाही थी जो एक लतीफेबाज या हँसोड की हो सकती थी। मठाधीशों तथा उन्ही के समान व्यक्तित्व के लोगों ने और उनके प्रभामडल के सदस्यो ने एक ओर तो परसाई जी के व्यग्यो का उपयोग अपने मित्रो पर रोब गालिब करने मे किया और दूसरी ओर तीक्ष्ण प्रहार मे बचने के लिए आलोचना को कवच बनाया था। पर उनका भ्रम शीघ्र ही टूट गया। 'भोलाराम का जीव' की दुर्द्धर्षता से जिस प्रकार नारद का मोह भग हुआ था हिन्दी पाठको को भी यथार्थ को पहचानने मे देर न लगी ! परसाई जी की रचनाओ का स्वागत हुआ। हालाँकि दूसरे दशक तक स्थिति यह हो गई कि परम्परावादियो, धार्मिको और नीतिवादियो को अनेक बार कथाओ मे निहित व्यग्य मे आघात पहुँचा, पर यथार्थ से मुँह चुराना कठिन है। वे व्यग्य की तीक्ष्णता और उसकी आधार भूमि यथार्थ को नकार न सके। एक प्रतिक्रिया उस समय ऐसी भी थी, "यार लिखता गजब है, बडी दूर की कौडी लाता है, पर कभी-कभी अति भी करने लगता है। हाँ, जहाँ तक आदमी की बात है, बडा धाकड है, अच्छे-अच्छो की बखियाँ उधेड देता है।" क्या इस प्रारम्भिक प्रतिक्रिया मे परसाई जी के व्यक्तित्व आस्वाद के धरातल, सामाजिक यथार्थ के प्रति पाठकीय चेतना के निर्माण की भूमि साफ दीखती है। वस्तुत अपनी सर्जना के प्रारभिक दशक मे ही परसाई की ख्याति एव सशक्त व्यग्यकार के रूप मे हुई। प्रकारान्तर मे परसाई जी ने स्वतन्त्रचेता बुद्धिजीवियो को आदर्श के कोटरों से मुक्त कर स्वच्छन्द वातावरण दिया है।

पहले पुरानी पीढ़ी के पाठको को परसाई जी अच्छे लगते थे, पर उनके रूप को या व्यग्य चित्रो मे वर्णित पौराणिक धार्मिक चरित्रो का किसी नये रूप मे आना अखरता था। हनुमान सेवक ही रह जाये या नारद एक चुगलखोर अथवा पटरी बिठानेवाले ही वर्णित हो, यह उस पीढ़ी के पाठकों को बर्दाश्त न

था। वास्तव मे वे यथार्थ की कटुता मे परिचित थे इसलिए आदर्शों के समक्ष यथार्थ को स्वीकार न करना उनकी मजबूरी थी। अभी-अभी तो उन्हे अपने बलिदान से आजादी मिली थी, उसकी गाथा वे भूले न थे। स्वाधीनता के कुछ वर्षो म ही ऐसे लोगों का मोहभग हुआ जब उन्ह दुहरे मूल्यो के बीच जीना पडा। यथार्थ के धरातल पर वे छटपटाए। उनका स्वप्न था कि आजादी के बाद उनका मकान होगा, दोनो जून भरपेट खाना मिलेगा और तन ढाँकने को कपडा उपलब्ध होगा। अपनी सरकार उन्हे सभी कुछ पर्याप्त रूप मे दिलायेगी। उन्हे ये पता नही था कि विदेशी शक्तियों द्वारा पनपाया गया पूँजीवाद उनके शोषण को दुगुणित कर देगा। जो कुछ हुआ उसका चित्रण बुद्धिक समाजवादियो ने किया भी है। वास्तविकता का सीधा साक्षात परसाई जी के द्वारा हुआ और यह प्रक्रिया चलती रही। परसाई जी की सर्जना इस समय दो उद्देश्यो का साधन कर रही थी। वे एक ओर समाज, शासन-रूढियो के द्वारा होने वाले अपघातो से निकलने की प्रेरणा दे रहे थे, दूसरी ओर अपने प्रगतिशील विचारो से एक चेतन, जागरूक, यथार्थ का साक्षात् करने वाली पीढी तैयार कर रह थ। कहा जाय कि परसाई जी ने अपने सघर्ष से प्रबुद्ध पाठक वर्ग तैयार किया है तो अत्युक्ति न होगी। कई पाठको को परसाई की रचनाओ को पढकर उत्तजित होत पाया है। उन्ह अपने ऊपर क्रोध करते पाया है कि जो घटित हो रहा है उसकी ओर हमारी दृष्टि पहले क्या नही गई थी। हमारा एहसास भी ता यही है। परसाई-का पाठक अपने आसपास की विसगतिया और विद्रूपताओ से चौंकता है और चौकन्ना भी होता है। उनकी रचना शैली के पसन्द आने का कारण यह है कि वह सहज वार्तालाप की नई विधा म होती है। लोक कथाओं, पौराणिक वृत्तो मे परसाई जी दूसरी कथा भरते है जो घाव करती है। मुझे कुछ ऐसी बाते क्या कभी भूलेंगी—जैसे एक राजा के चार बेटो की कथा है जिसम उत्तराधिकार की परीक्षा हुई और फिर चारो के गुणो का बखान हुआ। उनम चौथे राजकुमार को सिंहासन इसलिए दिया गया क्योकि उसमे बडे जैसा परिश्रम दूसरे के समान साहस और लुटेरापन, तीसरे के समान बेईमानी और धूर्तता सब थी। राजनीति के मोहरे कैसे बदलते हैं, कृष्ण और सुदामा की मित्रता की कथा प्रसिद्ध है। क्या बुर्जुआ सत्ता की यही राजनीति नही हो गयी? परसाई जी ने लिखा कि कृष्ण राजनीतिज्ञ थे, राज्य के रहस्य जानने वाले कैसे अछूता जाने देते। सुदामा ने दो लोक न पाये थे, कुछ लाख रुपयो म ही दो मुट्ठी चावल और लोकों की कथा गढी थी। आज का पाठक राजनीति के इन दावपेंचो को अच्छी तरह जानता है, उसे परसाई जी के कृतित्व म समकालीन समस्याओ के उद्भव और समाधान के चित्र मिलते हैं। व्यग्यकार के रूप मे परसाई जी के कृतित्व की सार्थकता यहाँ सिद्ध है। उनके सैकडो व्यग्य-चित्र, रूपक, व्यग्य, सामाजिक विसगति, भ्रष्ट राजनीति, अधविश्वास, बेमेल विवाह, धार्मिक कठमुल्लापन, चारित्रिक स्खलन, बौद्धिक दिवालियापन, गबन आदि की सजीव व्याख्या करते

है। भेड़ें और भेड़िये, पाठक जी का केस, मौलाना का लड़का, पादरी की लड़की, पेमिनी प्लैनिंग, रागविराग, इतिश्रीरिमर्चाय, अपनी-अपनी बीमारी, सदाचार का तावीज, प्रेम की बिरादरी, धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे आदि सभी कथाओं मे व्यंग्य ने एक उद्देश्य साधा है और व्यवस्था के प्रश्न उठाये हैं। ये रचनाये मुझे एक-एक करके याद आ रही है। परसाई जी की एक विशेषता दूसरों से अलग करती है, वह यह कि जो अपने को न बख्शे, अपनी कमजोरी को न छिपाये, वह दूसरों के प्रति मुरौवत क्यों करेगा ? पाठकों को यही मुख्य रूप से प्रभावित करता है। व्यंग्य का शास्त्र परसाई जी को आता है क्योंकि वे माटी से विलग नही होते हैं। ऐसा लेखन प्रतिबद्ध लेखक का ही हो सकता है। उन्होंने अपनी प्रतिबद्धता का कर्म बताया कि "हम छोटे छोटे लोग हैं। हमारे प्रयास छोटे-छोटे है। हम कुल इतना कर सकते है कि जिस देश समाज और विश्व के हम हैं और जिनसे हमारा सरोकार है उनके इस संघर्ष मे भागीदार हों जिससे बेहतर व्यवस्था और बहतर इन्सान पैदा हो। (माटी कहे कुम्हार से) पिछले दो वर्षों से करंट इसलिए पढ़ता हूँ कि परसाई जी उसमे लिखते है। मैं सोचता हूँ कि दल बदल हो रही है कुर्सियाँ बदलती है चेहरे बदलते है, पर परसाई जी की निगाह मे कुछ नही बदलता। जिसे बदलना चाहिए वह पर्दे के पीछे है। बदलने की तैयारी हो रही है, उसकी प्रक्रिया जारी है। परसाई जी इसका उस कुर्सी से मतलब नही उनके सामने चेहरे साफ है। करंट से ही मैंने सबके चेहरे पहचाने है। औसत पाठक को परसाई जी के समानान्तर अनुभव करने का सुख मिलता है। अनुभव को वह अपना अनुभव मानता है। यह बात समकालीन व्यंग्य-लेखकों मे कम ही है। सामान्य पाठकों की व्यंग्य की बात पटखनी लगाने के समान है। दूसरों को पटखनी कुछ 'सजेस्टिव' नही होती, इसलिए नाम और व्यंग्य लेख के शीर्षकों पर पाठकों की दृष्टि सबसे पहले जाती है। जिसमे हनुमान, नारद, कैकेयी, विभीषण, यमराज, ईसा या अन्य कोई चरित्रों के चेलों मे परिवर्तन आ जाय तो वह प्रासंगिक है परिश्रम साध्य नही। परिश्रम साध्य व्यंग्य की आयु अल्प होती है। और वह प्रभुविष्णु भी नही रहता है। पाठकों की नयी पीढ़ी ही नही बल्कि समाज का युवा वर्ग आज मूल्य विघटन का शिकार है। उसका भविष्य डावाँडोल है इसीलिए वह चिन्तित है, कदाचित् इसी कारण व्यंग्य की शक्ति मे इजाफा हुआ है। प्रारम्भ मे व्यंग्य की प्रभावशीलता कम आँकी जाती थी, आज वह स्वतन्त्र विधा बन गया। आज का समाज जिन तीन वर्गों मे विभाजित है वे उच्च, निम्न और मध्य वर्ग हैं। उच्च वर्ग शोषक वर्ग है, निम्न वर्ग निराश वर्ग है और मध्य वर्ग को समाज की नीति, संस्कृति, सदाचार, धर्म, शिष्टाचार, मूल्यों आदि का ठेकेदार करार कर दिया गया है। उच्च वर्ग से क्रान्ति की कोई आशा नही है। मध्य वर्ग को जागरूक बनाया जा सकता है। इसके भ्रम और मोह दोनों को तोड़ने का कार्य नेतृत्व के मुखौटों को खोलने और यथार्थ से साक्षात् कराने पर सम्भव है जो वस्तुतः व्यंग्य के बिना सम्भव नहीं।

व्यंग्य वैसे भी आधुनिक युग का सबसे सशक्त औजार है जो आदमी को प्रगति-पथगामी बना सकता है। पाठक इसे नजरन्दाज नहीं कर सकते, इसलिए वे वेझिझक परसाई को खोजते है। उनकी रचनाधर्मिता की सबसे बडी सफलता यह है कि वे पाठको मे एक व्यक्तित्व और चिन्तक मानवतावादी के रूप मे स्वीकार किये गये है। सबसे बडी कसौटी किसी लेखक की यह होती है कि विरोधी तबका भी दबी जबान ही सही, उनके अस्तित्व को स्वीकार करे। पिछले चुनाव के समय कतिपय विरोधियो ने परसाई जी का नाम अपने बौद्धिक प्रवचनो मे 'मरा मरा' कहकर राम कहने वालो की भाँति लिया था और अपनी भँडास निकाली थी। जो भी हो, परसाई जी एक लोकप्रिय व्यंग्यकार इसलिए है कि वे यथार्थ के प्रति सवेदनशील है। उनके प्रति पाठकीय प्रतिक्रिया सत्यकथा पढने वालो जैसी नही है, वह एक समझदार व्यक्ति की है। आज का पाठक अपने चारो ओर के वात्याचक्रो से असपृक्त नही है। उसमे निर्भीकता है और वह स्वातन्त्र्य पूर्व के मूल्यो का हिमायती नहीं है। अधिकाश मे वर्तमान पाठक स्वतन्त्रता के बाद का जन्मा मनुष्य है। शोषण-विहीन समाज के निर्माण की प्रक्रिया मे क्रान्तिकारी सहयोग देने का माद्दा उसमे नही है। परसाई जी का कृतित्व जैसे राशि-राशि सर्जन ही उसे क्रान्तिपथगामी बनायगा (जहाँ तक पाठक और लेखक की बात है, परसाई जी अब तक के व्यंग्य-चित्रकारो मे हिन्दी मे शीर्षस्थ है और निराला तथा मुक्तिबोध की परम्परा मे हैं।

—बलभद्र तिवारी

26 अगस्त, 1973

(अ) हरिशंकर परसाई के नाम मायाराम सुरजन का खत

प्रिय भाई,

यूँ तुम इस पत्र के अधिकारी नही हो क्योंकि जब 5-6 महीने पहिले मैंने 50 वर्ष पूरे किये थे तो तुमने मुझ पर कोई प्रशसात्मक लेख लिखना तो दूर रहा, बधाई की एक चिट्ठी तक नही भेजी। इसीलिए जब तुम पिटकर 'आल इंडिया' से कुछ ऊपर के 'फिगर' हो गये तो मैंने तुम्हारी मातमपुरसी तक नही की। सच तो यह है कि तुम्हारी पिटाई से मुझे कुछ प्रसन्नता ही हुई थी। इसलिए कि कम-से-कम तुम्हारी लेखनी के लिए कुछ और नया मसाला मिलेगा।

फिर भी, बहुत दिनो से तुमसे मुलाकात नहीं हुई, इसलिए यह सार्वजनिक पत्र लिखे ही देता हूँ ताकि लोगो को यह मालूम हो जाये कि तुम्हारे भी 50 वर्ष पूरे हो गये हैं। दरअसल उम्र तो चलती ही रहती है। बात तो उपलब्धियो की है। इस उम्र मे तुम्हारी कलम ने बहुत कुछ जौहर दिखाये हैं और उसकी वजह से तुम्हे अखिल भारतीय ख्याति भी प्राप्त हुई है। पर इससे क्या हुआ ? तुम अभी भी ऐसे मकान मे रहते हो, जिसमे बरसात का पानी चूता है, जिसके चारो ओर कोई खिडकियाँ नही और कोई मकान बनाने लायक कमाई तुम कर नही पाये। उम्मीद थी कि सन् '72 मे राज्य सभा के जो चुनाव हुए थे उसमे तुम्हारा भी एक नाम होगा, लेकिन चुनाव तो तुम लड नही सकते। जो लोग वोट देने वाले हैं, तुम उनकी ही बखिया उधेडते रहते हो, तब राष्ट्रपति ही तुम्हें मनोनीत करें यही एक विकल्प बाकी है। वहाँ तक तुम्हारा नाम पहुँचने के बावजूद पश्चिम बगाल बाजी मारी ले गया। दरअसल वहाँ भी बिना ऊँची सिफारिश के कोई काम नही हो सकता। अगले साल फिर कुछ उम्मीद की जा सकती है, और तुम कुछ करोगे नही, इसीलिए इस लेख के द्वारा उन लोगो को याद दिलाना चाहता हूँ जो एक बार फिर इसकी पहल करें। चुनाव लडने का नतीजा तो तुम देख ही चुके हो। मुझे सिर्फ 5 वोट मिले थे और प० द्वारका प्रसाद मिश्र मेरी मदद इसलिए नहीं कर सके कि राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन, काग्रेसाध्यक्ष कामराज तथा केन्द्रीय मन्त्री मोरारजी देसाई ने श्री ए० डी० मणि के नाम वचन वोट देने का परवाना भेज दिया था।

दरअसल सिद्धान्तो के चिपके रहने से कुछ होता नही, थोडी-बहुत चमचा-गिरि तो करनी ही पडेगी, मुसीबत यह है कि सत्ता रोज-रोज बदलती है और चमचे कुछ इस धातु के बनते हैं कि सत्ता के साथ उनके भी रग बदल जाते हैं।"

तुमसे ऐसा कुछ बन सके तो मेरी सलाह है कि कुछ उद्योग जरूर करो।

म०प्र० मे रहकर लिखा-पढी मे क्या रखा है। तुम अगर दिल्ली मे रहो तो हो सकता है कि आगे-पीछे घूमने से तुम्हे भी कोई स्कॉलरशिप मिल जाये। एकाध स्टेनोग्राफर भी मिल सकता है और कुछ साल तक तुम सुखी रह सकते हो। यह तो हम कई बार विचार हो चुके हैं कि इस तरह की हेराफेरी के लिए दिल्ली का मौसम बहुत अनुकूल पडता है।

सिद्धान्तो से तो मै भी बहुत चिपका हुआ हूँ। लेकिन अखबारो की हालत यह है कि महँगाई का एक झोका भी नही सह सके। पिछले साल कुछ बडे अखबारो ने अपने विज्ञापन दर बढा दिये तो हमारे जैसे बहुत-से छोटे अखबार विज्ञापन मार्केट से आउट हो गये। सरकार की हम जरूर दाद देते रहते है जो भले ही कुछ न करे, लेकिन छोटे अखबारो के साथ हमदर्दी जरूर बताती रहती है। तुम्हारी दशा इससे कुछ अलग नही। तुम्हारी लेखनी पर खुश होकर तुम्हे हर साल एक दो पुरस्कार मिल जाते है और इसका यह अर्थ लगा लेना चाहिए कि तुम इससे अधिक और कोई अपेक्षा मत करो।

मेरी सलाह मानो कि अपनी कुटिलता छोड दो। और तुम इससे बाज नही आते। अभी जब तुम पिटे थे तो जबलपुर नगर सघ चालक दवडगाँवकरजी न तुम्हे आश्वस्त किया था कि भविष्य मे तुम्हारे साथ ऐसी किसी घटना की पुनरावृत्ति नही होगी। बेचार दवडगाँवकरजी का सीधा आशय यह था कि अगली बार सघ तुम्हारी रक्षा करेगा और एक तुम हो कि इसका यह अर्थ लगा लिया कि तुम्हारी पहिली पिटाई सघ के स्वयसेवको ने ही की थी। इसीलिए तो हनुमान वर्मा का कहना है कि हम लोग तुम्हारा जो मरणोपरान्त साहित्य प्रकाशित करेंगे, उसका नाम 'परसाई ग्रथमाला' न रखके 'परसाई विषवमन' रखेंगे। कौन जानता है कि तुम हमे यह मौका दोगे या नही या हम लोग ही पहिले चल देंगे।

पिटने के बाद तुमने पुलिस द्वारा कुछ न किये जाने की गुहार लगाई। अफसोस है कि शेषनारायण राय के मामले के अनुभव से तुमने कुछ नही सीखा। दरअसल, पुलिस समदर्शी है। अगर कभी तुम किसी पुलिस थाने के सामने से निकले होगे तो एक बडे से बोर्ड पर तुमने 'देशभक्ति और जनसेवा' पढा होगा। बात सीधी-सी है। जनसेवा का मतलब होता है—बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। तुम एक हो और पिटाई करने वाले अनेक। एक का साथ देना जन-सेवा नही होती। जिस पक्ष के लोग ज्यादा हो उनका साथ देना ही जनसेवा का प्रतीक है, और वही देशभक्ति। इतनी छोटी-सी बात तुम्हारी समझ मे बहुत पहिले आ जानी चाहिए थी।

तुम्हारा ख्याल है (और बहुत लोग भी ऐसा ही सोचते है) कि तुम बहुत अच्छे व्यग्यशिल्पी हो। मैं भी तुम्हे जान रस्किन की कोटि का समझने लगा था। लेकिन आज किताबें उलटते पुलटते समय तुम्हारी एक किताब 'हँसते हैं रोते है'

हाथ लग गयी । डेढ रुपये की इस किताब को तुमने मुझे दो रुपये में बेचा था। उस पर तुर्रा यह कि प्रथम पृष्ठ पर यह लिख दिया 'दो रुपये में भाई मायाराम का सस्नेह'। आठ आना की इस ठगी को तुम व्यंग्य के आवरण में छुपाना चाहते हो।

ज्यों-त्यों करके तुम्हे साहित्य सम्मेलन में लाये। तुमने कुछ अच्छे काम भी किये। लेकिन राजनांदगाँव सम्मेलन की सबसे बडी उपलब्धि तुमने आदरणीय डॉ० बलदेव प्रसाद जी मिश्र द्वारा दिये गये भोज को माना। सम्मेलन के अध्यक्ष प० प्रभुदयाल जी अग्निहोत्री को भी तुमने नही छोडा। ऐसी स्थिति में तुम साहित्यकारों के बीच में कैसे 'पापुलर' हो सकते हो। इसलिए (श्री हनुमान वर्मा क्षमा करें) हनुमान का ख्याल है कि जिसे तुम व्यंग्य समझते हो, दरअसल वे चुटकुले है।

साहित्य की बात छोडो। मैं तुम्हे तुम्हारे ही आईने में देखना चाहता हूँ। कुछ ऐसी आदतें हैं जिन्हें तुम या तो बिल्कुल छोड सकते हो या सीमित कर सकते हो। यह जरूरी नही कि 'किक' मिलने पर ही अच्छे साहित्य की रचना की जा सकती है। मैंने ऐसा कुछ नही किया। इसके बाद भी श्रीबाल पाडेय ने मुझे अच्छा सम्पादक और कवि मान लिया। यह एक ऐसी सलाह है जिस पर अमल करने के लिए मैं बार-बार तुमसे आग्रह करता रहा हूँ।

तुम्हारे साहित्य का क्या जिक्र करूँ। वह अपने आपमे समृद्ध है और किसी की प्रशसा का मोहताज नही। बहुत से व्यग्यकार वाक्य के वाक्य उडा लेते है और स्वनामधन्य अखबारों मे वे छप भी जाते है। अगर तुम्हारा साहित्य इस लायक न होता तो वह चोरी क्यो की जाती।

थोडा लिखा, बहुत बाँचना। 51वी जन्मग्रंथि पर मेरा अभिनन्दन लो और नये वरस के लिए कुछ अच्छे सकल्प करो।

तुम्हारा
—मायाराम सुरजन

रायपुर 7 सितम्बर, 1973

(ब) खुले पत्र का खुला जवाब : मायाराम सुरजन को परसाई का

प्यारे भाई,

देशबन्धु रायपुर-जबलपुर मे तुम्हारा खुला पत्र मेरे नाम पढ़ा।

आखिर हम लोग वर्षगाँठो पर एकाएक ध्यान क्यों देने लगे ?

तुम अपनी परम्परा मे हट गये। तुमने 14-15 संस्मरण लेख लिखे हैं, उन लोगो पर जो मृत हो गये है। इस बार तुमने ऐसे मित्र पर लिखा है, जो मारा नही पीटा गया है। याने तुम्हारी लेख-प्रतिभा तभी जागृत होती है जब कोई अपना मरे या पीटा जाय।

मैं जानता हूँ तुम अत्यन्त भावुक हो। मैंने तुम्हारी आँखो के आँसू देखे है। बन सका तो पोंछे भी है। तुमने भी मेरे आँसू पोंछे है। पर हम लोग सब विभाजित व्यक्तित्व (स्पीलिट पर्सनालिटी) के है। हम कही करुण और कही क्रूर होते हैं। इस तथ्य को स्वीकारना चाहिए।

पिछले 25 वर्षो से हम लोग मित्र रहे है। एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी। यार, निम्न-मध्य वर्ग के लोगो के अलग सघर्ष होते है। इसे समझें। अब न्यूज प्रिंट के सकट का कष्ट तुम भुगत रहे हो। लेकिन तुमने कभी 'कल' की परवाह नही की। 50 साल की उम्र मे तुम ढीले क्यो हो रहे हो ?

जहाँ तक मेरा सवाल है—मैं नही जानता, मुझे यश कैसे मिल गया। मैंने अपना कर्तव्य किया। पिटवाया पत्रकार मित्रो ने मुझे लगातार छापकर। वर्ना मैं कही समझौता करके 'मोनोपोली' मे बैठ जाता। उन्हे बाध्य किया जाता है कि वे 'फिएट' कार खरीदें क्योकि यह कम्पनी की इज्जत का सवाल होता है।

मैं कबीर बना तो यह सोचकर कि—

कबीरा खड़ा बजार मे लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूंके आपनो चले हमारे साथ॥

साथ ही—

सुन्न महल मे दियना बार ले आसन से मत डोल री तोहे पिया मिलेंगे।

मैं आसन से नही डोला तो थोडा यश मिल गया। पर तुम्हारा लिखना ठीक है कि साधना और यश के बाद भी ,मेरा घर चू रहा है। पर यह हम जैसे लोगो की नियति है। गालिब ने कहा है—

अब तो दर ओ-दीवार पे आ गया सब्जा गालिब,
हम बयाबां मे है और घर पे बहार आई है।

तो यह चुनने का प्रश्न है। अपनी नियति मैंने स्वय चुनी। तुमने भी। मुझे किसी ने बाध्य नही किया था कि मै लिखूं और ऐसा प्रखर व्यग्य लिखूं। यह मेरा अपना निर्णय था। जो निर्णय मैंने खुद लिया। उसके खतरे को समझकर लिया। उसके परिणाम भोगने के एहसास के साथ लिया।

जहाँ तक राज्य सभा की सदस्यता का सवाल है, तुम लडे और हारे। पर तुम विचलित नही हुए, इसका मैं गवाह हूँ। और तुम उसके गवाह हो कि राज्य सभा मे मनोनीत होन की पहल मैने नही, एक बडे ज्ञानी राजनैतिक नेता ने की थी। मुझे अपन एक घनिष्ठ मित्र का तार और ट्रक मिले। मै गया क्योकि मित्र का बुलावा था। पर तब तक केन्द्र शासन इस अहकार मे था कि उसने बगाल जीत लिया, इसलिए सिद्धार्थ शकर र की चल गयी और मेरे समर्थक राजनैतिक पुरुष की नही चली। इन्दिराजी ने उनसे पूछा था मेरे सम्बन्ध मे। पर उन्होने टालमटोल का उत्तर दिया। व जानत थे कि उनका अवमूल्यन हो रहा है और सिद्धार्थ की चल रही है, इसलिए मुझे शिकायत नही, वे भी मेर लेखक बन्धु है।

बात यह है कि जिन्दगी को मैं काफी आर-पार देख चुका हूँ। चरित्रों को मैं समझता हूँ वरना लेखक न होता। मैन उक्त बात उन महान राजनैतिक नेता से कह दी। उनका जवाब था, ऐसा तो नही हुआ। मुझसे इन्दिराजी ने इस सम्बन्ध मे बात ही नही की।

अब हाल यह है कि लगभग 500 चिट्ठियाँ भारत भर से मेरे पास आयी है। हर डाक से आती जा रही है। जवाब दना कठिन है पर; कुछ जवाब देना जरूरी है। यह यशपालजी की चिट्ठी है।

प्रिय परसाई जी,

21 जून की घटना का समाचार 15 जुलाई के दिनमान द्वारा मिला। आपकी व्यग्य प्रतिभा का कायल वर्षो से हूँ। आपके दृष्टिकोण समर्थक भी हमारे समाज के रूढिग्रस्त अन्धविश्वास के क्षय के उपचार के लिए आप अनथक परिश्रम से जो इजेक्शन देते आ रहे है उसके लिए आभार अनुभव करता हूँ। 21 जून को आपको निष्ठा और साहस के लिए जो प्रमाण पत्र आपको दिया गया उसके लिए मेरा आदर स्वीकारे। आज से बीस-पच्चीस साल पहले मैं जब 'जन युद्ध' या अन्यत्र ऐसा कुछ लिखता था तो भारतीय सस्कृति की पीठ मे खजर भोकने और हिन्दू धर्म भावना के हृदय मे छुरी मारने के अपराध मे मुझे भी धमकी-भरे पत्र मिलते थे। आपके लिए धमकियाँ पर्याप्त नही समझी गयी। यह आपके प्रयत्न स अधिक सार्थ होने का प्रमाण है।

इस उम्र और स्वास्थ्य मे भी आपके साथ वार्ड और विचार स्वतन्त्रता के

लिए सब कुछ देने और सहने के लिए तैयार है।

—आपका यशपाल

इधर कितनी ही चिट्ठियां आयी हैं। संघर्षात्मक और भावात्मक भी। एक देवी जी की चिट्ठी आयी कि हमें क्या एहसास था कि आपके साथ भी ऐसा होगा। पर आप तो लडाकू आदमी हैं। फिर वे गालिब का शेर लिखती है—

ये लाश बेकफन असद-ए खस्ता जाँ की है,
हक आफरत-को अजब आजाद मर्द था।

मैं क्या जवाब देता ?

मैंने गालिब का दूसरा शेर जवाब मे लिख भेजा—

हमने माना कि तगाफुल न करोगे लेकिन,
खाक हो जायेंगे हम तुमको खबर होने तक।

इससे उनकी रूमानी भावना को तृप्ति मिली होगी।

फिर एक को मैंने लिख दिया—

काफले तो बहुत तेज रौ मे मगर,
रहबरों के कदम लडखडाने लगे।

मित्र मुझे जीवन मे अच्छे मिले, हालांकि शत्रु मैंने ज्यादा बनाये। पिछले दिनों बीमार बहनोई, जो अब देह त्यागकर गये हैं की सेवा करते-करते भोपाल मे बीमार पडा तो रमन कटनी लौटने के पहले मेरे होटल आये। मैं सो रहा था, तो रमन मैनेजर के पास दो सौ रुपये मेरे लिए जमा करके चले गये। तुम पूछोगे बहनोई को स्वर्गीय क्यों नही कहते। मुझे पिता की ही खबर नही मिली कि वे स्वर्ग मे हैं या नर्क मे।

तो मित्र ऐसा है कि—

मैं तो तनहा ही चला था जानिबे मंजिल मगर,
लोग मिलते गये और काफिला बनता गया।

यह मंजिल शोषणविहीन, न्यायपूर्ण समतावादी समाज की स्थापना है। इसके लिए मैं प्रतिबद्ध हूँ।

मैं तुम्हारे जीवन-संघर्षों को जानता हूँ। तुम्हारी मानसिक पीडाओं को भी। मित्र मध्य वर्ग के बेटे होकर भी तुमने इतना किया यह तुम्हारे ही दमखम की बात है। पर अब आगे मत बढाओ। जितना है उसी को सम्भालो और सवरो, तुम श्री रामगोपाल माहेश्वरी कभी नही हो सकते। यह मैंने तुमसे पहले भी कहा था। इस उम्र मे योजना बनाकर काम करना चाहिए। पर तुम्हारा और मेरा चरित्र ऐसा रहा है कि 50 साल की उम्र मे भी 20-22 साल के लडके की तरह बर्ताव करते हैं। है न ?

संघर्ष मैंने बहुत किये है। मैं 18 वर्ष की उम्र मे माता-पिता की मृत्यु के कारण छोटे भाई-बहनों का माता-पिता हो गया था। इसलिए मैं संघर्षों से डरा

कभी नहीं। जो स्थिति सामने आयी, उससे निपटा। यह जो मामला मेरे साथ गुजरा उसे भी मैं पचा गया। मुझे क्या पता था कि यश लिखने से अधिक पिटने में मिलता है, वरना मैं पहले ही पिटने का इन्तजाम कर लेता।

सस्नेह

—हरिशंकर परसाई